

पाञ्चाली

यह उपन्यास भारतीय परंपरा और
संस्कृति विमर्श का माध्यम है।
- प्रो. सदानंद प्रसाद गुप्त



शची मिश्र



पाञ्चाली

उपन्यास
शची मिश्र



पाञ्चाली (उपन्यास)
सर्वाधिकार - शची मिश्र

प्रकाशक : रेडग्रेड बुक्स
942, मुहूर्तिगंज, प्रयागराज-3 उत्तर प्रदेश, भारत

आवरण चित्र : ईशान त्रिवेदी
टाइप सेटिंग : श्री कम्प्यूटर्स, प्रयागराज

समर्पित

आज की स्त्रियों को
जिन्हें सीता से परित्याग की शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व,
द्रौपदी से शक्ति ऊर्जा और निर्वाह का
पाठ पढ़ना आवश्यक है।

निवेदन

महाभारत एक महाकाव्य। मैं नहीं जानती इसमें कितना मिथक और कितना इतिहास है, किन्तु द्रौपदी, नारी की शाश्वत गाथा अवश्य है। हजारों वर्षों से स्त्री, टुकड़ों में द्रौपदी को जी रही है... कभी वह पुरुष से अपमान और लांछना सहती है, तो कभी उसके भीतर की ऊर्जा बनती है; कभी त्याग से उसके उत्थान की सीढ़ी बनती है, तो कभी उसके अहं के आगे विवश हो जाती है।

लोक मानस ने द्रौपदी को जब भी उद्धृत किया, सदा व्यंग्य-विद्रूप के साथ पाँच पुरुषों की भोग्या के रूप में ही उद्धृत किया, उसकी ऊर्जा से वह स्त्रियों को सदैव ही दूर रखता रहा। द्रौपदी को पाँच भाइयों को पति के रूप में वरण करना पड़ा यह किसका दोष था? समाज उसकी इस स्थिति के दायित्व से स्वयं को मुक्त कर लेता है। तब भी यही हुआ था। पाण्डवों के समक्ष असमर्थ द्रुपद ने भी ईश्वर के लेख का आश्रय लेकर अपनी दिव्य पुत्री को पाँचों पाण्डवों को सौंप दिया था। तब भी न तो समाज पर प्रश्न उठा था और न ही युधिष्ठिर की 'धर्म बुद्धि' पर, न ही युधिष्ठिर को धर्मराज के पद पर आसीन करते समय द्रौपदी के प्रति किए गए उनके आचरण की विवेचना की गई थी।

पाँच पुरुषों को वरण करने वाली द्रौपदी, अपने पतियों के कारण भरी सभा में अपमानित हुई। अपमान भी कैसा? गुरुजन, पितामह, पतियों और सभा में उपस्थित सभी पुरुषों के समक्ष उसे निर्वस्त्र करने का प्रयास किया गया, ऐसे घृणित व्यवहार का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता... इसके उपरांत भी वह अपने उन्हीं अधम पतियों को, वरदान शब्द में लिपटी दया के माध्यम से मुक्त करवाती है और उनके अस्तित्व को बचाए रखने के लिए दुःख पीड़ा सहती, तेरह वर्षों तक उनके स्वाभिमान और शक्ति की रक्षा के लिए ऊर्जा प्रदान करती वन-वन भटकती रहती है।

द्रौपदी आजीवन सहधर्मिणी बनी रही, किन्तु जिसके हठ के कारण वह पाँच पुरुषों की भोग्या बनी, उसी के लांछन पूर्ण निर्णय से अंत में एकाकी निर्जन प्रदेश में अपने प्राणों को विसर्जित किया। पाँच पतियों के प्रति सेवा भाव, निष्ठा और कर्तव्य-निर्वाह के कारण एक और वह सती के आसन पर विराजमान हुई, वहीं युगों पश्चात भी व्यंग्य और उपहास की पात्र बनी रही।

विचित्र है उसका जीवन। विचित्रता और विरोधाभासों के बीच वह सदैव विशिष्ट रही। जितनी बार भी उसके अस्तित्व को मिटाने, उसे पराजित और अपमानित करने का प्रयास किया गया, वह नई ऊर्जा के साथ पुनः खड़ी होती रही।

मैंने इसी द्रौपदी के भीतर की स्त्री को जीवंत करने का प्रयास किया है। लोगों को क्यों नहीं उसके भीतर की छुपी हुई स्त्री दिखाई देती, जिसके अपने सुख-दुःख हैं, अपनी इच्छाओं के लिए एक साधारण स्त्री की भाँति पति का मुँह देखती है। क्यों पाण्डवों की महारानी कभी-कभी स्वयं को साधारण स्त्री की तुलना में अकिंचन पाती है। कृष्ण... उस युग पुरुष के लिए किस कन्या के हृदय में आकर्षण नहीं रहा होगा, फिर कृष्णा अपवाद कैसे रहती? नियति ने भी तो नाम को माध्यम बना लिया था। कृष्ण और द्रौपदी के संबंधों के कई आयाम हैं। कृष्ण के साथ द्रौपदी के अलौकिक प्रेम और सख्य भाव को भी कुरु सभा में अपमान के साथ उद्धृत किया गया। द्रौपदी को अपमानित करते हुए दुर्योधन ने व्यंग्य से कहा था कि, “सुना जाता है कि पति के सखा वासुदेव

कृष्ण के साथ इसकी अभेद प्रीति है, जिसकी कोई लौकिक संज्ञा नहीं हैसचमुच अलौकिक है; इस लौकिक जगत में एक स्त्री के लिए एक पुरुष के वरण का विधान है, किन्तु पंच पतियों के वरण के पश्चात भी अन्य पुरुष की प्रिया हैं, अतः वह वेश्या समान है।”

कृष्णा और कृष्ण की अलौकिक प्रीति का निर्वाह भी उसी कुरु सभा में हुआ, जब सारा लौकिक जगत अंधा और बहरा हो गया था, उस समय सैकड़ों कोस दूर उसी अलौकिक प्रीति ने उसकी पुकार सुनी और उसके सम्मान की रक्षा की।

कृष्ण और द्रौपदी की अलौकिक प्रीति, सख्य भाव और निकट हृदय सम्बन्ध का कोई दूसरा उदाहरण इस जगत में अन्यत्र नहीं है... यही प्रीति भी द्रौपदी की ऊर्जा का स्रोत भी रही। द्रौपदी की कथा केवल तीन पात्रों-कृष्ण, कृष्णा और कर्ण की है, अन्य पात्र तो इन चरित्रों का विकास ही करते रहे।

व्यास रचित महाभारत कथा में कुरु सभा में कर्ण ने दुर्योधन को द्रौपदी के अपमान के लिए उकसाया था, किन्तु मेरे मन ने कभी इसे स्वीकार नहीं किया; इस विषय में इतना ही कह सकती हूँ कि इतिहास सदैव विजेताओं का होता है... इस न्याय से युधिष्ठिर धर्मराज बन गए और कर्ण।

कर्ण जैसा पराक्रमी, दानी और वचन का निर्वाह करने वाला व्यक्ति, जो निःसंदेह विचारवान और शीलवान भी था, वह किसी स्त्री के विषय में इस प्रकार के शब्द अपनी जिह्वा पर नहीं ला सकता था, वह भी उस स्त्री के लिए, जिसके प्रति उसके हृदय में कोमल भावनाएँ और सम्मान था। निःसंदेह वह सम्मान ही था, जिसके कारण स्वयंवर में प्रश्न उठाए जाने पर उसने अपना धनुष वापस रख दिया था... अन्यथा कर्ण अपने कवच कुण्डलों के साथ इतने समर्थ थे कि वह द्रौपदी का हरण कर लेते और तत्कालीन समाज में कन्या का हरण कोई निन्दित कर्म नहीं था। भीष्म ने अपने भाइयों के लिए अंबा, अंबिका और अम्बालिका का हरण किया था, कृष्ण ने रुक्मिणी के प्रेम को स्वीकार कर उनका हरण किया था; किन्तु यह कर्ण का चरित्र नहीं था।

कर्ण ने अपने उदात्त चरित्र से जो मापदण्ड स्थापित किए हैं, उसके आगे सब के चरित्र बौने हैं। महाभारत के इस तथाकथित धर्म-युद्ध में सब का चरित्र स्वलित हुआ... युधिष्ठिर ने झूठ का सहारा लिया, अर्जुन ने शिखण्डी के पीछे छुप कर पितामह को शर शर्या पर सुलाया, भीम ने नियम के विरुद्ध दुर्योधन को मारा, अर्जुन ने निःशस्त्र कर्ण का वध किया और शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा करने वाले स्वयं कृष्ण ने दो बार अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ा... पर कर्ण; कालिमा की एक महीन रेखा भी नहीं।

मेरी यह रचना, द्रौपदी (स्त्री) के मन को समझने का प्रयास है। यदि विश्व की आधी जनसंख्या (स्त्री) स्वयं की क्षमता और कर्तव्य को समझ ले, तो यह पृथ्वी पूरी न सही किन्तु बहुत अंशों में सुन्दर हो जाएगी। आज की स्त्री को सीता और द्रौपदी दोनों को ही समझने की आवश्यकता है। सीता से परित्याग की शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व, उसे द्रौपदी से शक्ति ऊर्जा और निर्वाह का पाठ पढ़ना आवश्यक है।

- शची मिश्र

अनुक्रम

- [1. आरुहण](#)
- [2. कृष्ण](#)
- [3. सखी](#)
- [4. शिखण्डी](#)
- [5. स्वयंवर](#)
- [6. भिक्षा](#)
- [7. खाण्डवप्रस्थ](#)
- [8. सखा](#)
- [9. पार्थ](#)
- [10. इंदुप्रस्थ](#)
- [11. राजसूय](#)
- [12. द्यूत](#)
- [13. अरण्य](#)
- [14. संधि](#)
- [15. महासमर](#)
- [16. . कर्ण](#)
- [17. . हस्तिनापुर](#)
- [18. . कुंती](#)
- [19. द्दारका](#)
- [20. महाप्रस्थान](#)

1. आरोहण

बदरी आश्रम पहुँचकर हमने संन्यासियों से विदा ली और आगे चल पड़े। मार्ग निरन्तर कठिन होता जा रहा था। हम सबकी काया दो महीने से अधिक समय से केवल कंद मूल खाने और निरन्तर चलते रहने के कारण क्षीण हो गयी थी।

कई दिनों से आँखों के सामने हिम से आच्छादित पर्वत-शिखर दिखाई दे रहे हैं, किन्तु उन तक पहुँचने का मार्ग समाप्त ही नहीं हो रहा है। संन्यासियों ने बताया था कि यहाँ से आगे जाने वाला मार्ग, पर्वत शिखर पर समाप्त होता है और वहीं से स्वर्ग का द्वार खुलता है... वहाँ केवल वही व्यक्ति जा सकता है, जो आजीवन धर्म के पथ पर चला हो और सांसारिक मोह माया से मुक्त हो चुका हो; किन्तु जो पूर्ण रूप से पवित्र नहीं है, वह एक सीमा से आगे नहीं जा पायेगा।

युधिष्ठिर को स्वयं के धर्मात्मा होने में संशय नहीं था, इस कारण वे सशरीर स्वर्ग जाने की कामना अपने हृदय में बहुत दिनों से पाले हुए थे। जब भी इस प्रकार की चर्चा ज्ञानियों, संन्यासियों के बीच होती थी, उस समय उनकी आँखों में एक चमक आ जाती थी।

पार्थ, दिव्य शक्तियों को प्राप्त करने के लिये पहले भी हिमालय की यात्रा कर चुके थे, किन्तु यह मार्ग उनके लिये भी अपरिचित था। हम सब ने वनवास के समय भी कुछ समय हिमालय के गंधमादन क्षेत्र में व्यतीत किया था; यहीं पर भीमसेन ने मुझे स्वर्ण कमल लाकर दिये थे। उन दिनों हम सब पार्थ की अगुवानी के लिये ही हिमालय के क्षेत्र में निवास कर रहे थे और भीमसेन मेरी इच्छा पूर्ति के लिये एक ढेर सारे स्वर्ण कमल लेकर आये थे। मैं सोचने लगी कि कितना निश्छल मन है उनका... मेरी प्रसन्नता के लिये स्वयं को कठिनाई में झोंकने से नहीं झिझकते और मेरी इच्छा? मैंने एक पति को दूसरे पति के लिये कठिनाइयों में झोंक दिया था। यदि मैं स्वर्ण कमल की माला भीमसेन के गले में डालने की इच्छा से उनसे स्वर्ण कमल माँगती, तो मेरी माँग उचित थी, किन्तु मैंने तो...। मैं भीमसेन से सदैव दुर्लभ ही माँगती थी, चाहे वह कीचक की मृत्यु हो या स्वर्ण कमल।

मेरे मोटे खुरदुरे वस्त्र इस प्रदेश की शीत से, मेरी जर्जर काया की रक्षा नहीं कर पा रहे थे। हिम शीतल वायु, शरीर में तीर की भाँति लगती थी। शीतल वायु के तीक्ष्ण प्रहार से बचने के लिये मैंने अपनी दूसरी मोटी धोती को दोहरा करके अपने शरीर के चारों ओर लपेट लिया था। अगले ही क्षण मुझे अपने प्रयास पर हँसी आने लगी जिस शरीर को त्याग देने का लक्ष्य लेकर चल रही हूँ, उसे अब बचाने का प्रयास क्यों कर रही हूँ? सरल नहीं है प्राणों को त्याग देना, निश्चय कितना भी दृढ़ क्यों न हो, परिस्थिति सामने आने पर मन मस्तिष्क और सभी इंद्रियाँ स्वाभाविक रूप से शरीर की रक्षा के लिये तत्पर हो जाती हैं, यही सत्य है। जहाँ जाकर प्रयास समाप्त हो जायेंगे, वहीं पर आत्मा शरीर को त्याग देगी।

शीत से मेरी हड्डियों और माँसपेशियों में पीड़ा और खिंचाव होने लगा था। यद्यपि दिन के समय सूर्य की किरणें प्रखर होकर चमकती थीं, किन्तु बर्फीली हवा उस ताप को शरीर तक पहुँचने से पहले ही ठंडा कर देती थी।

मार्ग नीरव है। आगे-आगे मेरे पति चल रहे हैं और मैं सब के पीछे थकी हारी चल रही हूँ। अचानक मुझे अपने आगे आपके चलने का आभास होने लगा। चार हाथ के अन्तर पर घुटने से

नीचे वही आपके चरण मेरे आगे आगे चल रहे हैं। यह कैसी अनुभूति है? भ्रम है या मेरी कल्पना, कुछ पता नहीं। घबराकर ऊपर देखती हूँ तो कुछ भी दिखाई नहीं देता। मेरे आगे चलने वाले आपके पैर लुप्त हो गये, किन्तु अभी-अभी तो वे मेरे आगे आगे चल रहे थे! पूरा शरीर सिहर उठा, कहाँ खोजूँ? सखा, आ जाइये, मेरे साथ न सही मेरे आगे आगे ही चलें, मुझे रास्ता दिखायें; मैं एक पग भी आपके बिना नहीं चल पाऊँगी।

मैं अस्वस्थ हूँ। छाती भर कर साँस नहीं ले पा रही हूँ, हाँफ रही हूँ... कदाचित ताप भी है, किन्तु मैंने किसी से कुछ भी नहीं कहा। साथ-साथ चलते हुए भी सब मुझसे अलग हैं। मेरा शरीर काँप रहा है, किन्तु मेरी ओर देखने की किसी को आवश्यकता नहीं है। मेरे पैर फट गये हैं, उनसे रक्त निकल रहा है; अत्यधिक शीत से वे सुन्न हो गये थे, जैसे कि वे मेरे शरीर के अंग ही न हों। एक एक पग उठाने के लिये मुझे पूरी शक्ति लगानी पड़ रही है।

अंततः मैं गिर पड़ी। मैंने अपने शक्तिहीन कंठ से प्रयास करके भीमसेन को लक्ष्य करके पुकारा 'रुको!'

मेरा स्वर सुनकर भीमसेन तत्परता से पलटे, मानो मेरी सहायता के लिये ही वे मेरे आगे-आगे चल रहे थे। वे मुझे उठाने के लिये आगे बढ़े, किन्तु युधिष्ठिर ने उनकी बाँह पकड़कर उन्हें रोक दिया। भीमसेन आश्चर्य चकित थे। युधिष्ठिर आगे-आगे न चल कर भीमसेन के साथ साथ चल रहे थे, मानों, उन्हें यह आशंका थी कि मुझे विपत्ति में देखकर भीमसेन महा प्रस्थान के समय लिये गये निर्णय कि 'कोई किसी के लिये न तो रुकेगा, न ही किसी प्रकार की सहायता करेगा' की अवहेलना करके मेरी सहायता करेंगे और वह उन्हें रोकने के लिये ही उनके साथ-साथ चल रहे थे।

युधिष्ठिर के लिये उनके नियम... प्रेम, दया, कर्तव्य और सम्बन्धों से सदैव ही ऊपर थे। आज भी उन्होंने महा प्रस्थान के पूर्व लिये गये निर्णय को भीमसेन के समक्ष दुहराया।

भीमसेन कुछ क्षण रुक कर बोले, "यह तो सती थी, फिर इस प्रकार से क्यों गिरी... क्या स्त्री होने के कारण यह शक्तिहीन है और हमारे साथ चलने में असमर्थ है?"

"नहीं" कुछ क्षण के मौन के पश्चात युधिष्ठिर ने आगे कहना आरम्भ किया, "इसमें बहुत सारे गुण हैं, दुर्लभ क्षमताएँ हैं; किन्तु अपने एक दोष के कारण यह इस अवस्था में पहुँची।"

'क्या?' भीमसेन दुःखी थे। उनके स्वर में आश्चर्य था।

"वह हम सबकी विवाहिता थी, किन्तु वह एक से अधिक प्रेम करती थी।"

'किससे?' भीमसेन ने धीरे से कहा। उनके स्वर में कोई आश्चर्य नहीं था, मानों वह जानते हुए भी युधिष्ठिर के मुँह से अपना नाम सुनना चाहते थे।

"अर्जुन से... पांचाली, अर्जुन के प्रति अधिक समर्पित थी।" युधिष्ठिर ने भीम के जीवन भर के सत्य को तोड़ दिया। मैं भीम से सबसे अधिक प्रेम करती थी, यह भीम जानते थे। उन्होंने वालंधरा से विवाह के पश्चात भी कभी भी मेरी उपेक्षा नहीं की थी, इसी विश्वास के साथ, कि मैं उनसे बहुत प्रेम करती हूँ... पहले जैसा ही प्रेम आजीवन करते रहे। उन्हें मेरे प्रेम पर विश्वास था, किन्तु युधिष्ठिर ने उनका मोह भंग कर दिया था।

मैं इस पीड़ा में भी मुस्करा उठी... युधिष्ठिर के जीवन का अंतिम झूठ। क्या युधिष्ठिर को भय था कि भीम अपना नाम सुनकर उनकी आज्ञा की अवहेलना करके मेरा साथ देते? मेरे मन ने कहा 'हाँ' और मैं एक क्षण के लिये संतुष्ट हो गयी।

मैं समझ गयी थी कि युधिष्ठिर को अपने सशरीर स्वर्ग पहुँचने की इच्छा और प्रयास में कोई बाधा स्वीकार नहीं है। वह सदैव अपनी लालसा के चलते सब कुछ त्यागते रहे; आज पत्नी को भी मार्ग में त्याग दिया... उस पत्नी को, जिसे अपनी लालसा के कारण सारी नैतिकता, धर्म और समाज को ताक पर रख छोटे भाई से छीन लिया था और कुछ समय बाद वे अपने भाइयों को भी त्याग देंगे। युधिष्ठिर अपनी इच्छा और अहंकार को क्यों नहीं त्याग पाते।

हस्तिनापुर से इनका प्रस्थान भी तो स्वयं के धर्म-ध्वज होने के अहंकार और सशरीर स्वर्ग प्राप्त करने की लालसा के कारण ही हुआ था। केवल युधिष्ठिर ही सबको अपने से अलग कर के अकेले अपने लिये जी सकते हैं।

मेरे जी में आया कि मैं भी युधिष्ठिर से कुछ कहूँ, किन्तु मैंने वह कटुता अपने भीतर समेट ला... अब कहने सुनने का कोई अर्थ नहीं था। मैं एक बार फिर से आहत हुई थी, किन्तु अब क्या अंतर पड़ता है; मेरे जीवन का आरम्भ ही ज्येष्ठ पाण्डव ने आघात से किया था। जीवन में मुझे जितने भी आघात लगे, सभी युधिष्ठिर ने ही दिये थे, यह अंतिम भी शिरोधार्य है।

एक इच्छा अभी भी शेष रह गयी थी, वह थी पार्थ को स्पर्श करने की। इच्छा हुई कि हाथ बढ़ा दूँ और पार्थ मेरे हाथों को कुछ समय... नहीं... जब तक मेरे प्राण न निकल जायें, थामें रहें; किन्तु पार्थ बहुत आगे जा चुके थे, मेरा वह उठा हाथ निर्जीव सा गिर पड़ा।

मैं हस्तिनापुर का राजभवन छोड़कर पाण्डवों के साथ चल रही थी। मेरे लिये राजभवन और वन, समान हैं। पहले भी तो मैं राजभवन और वन, इन्हीं दो के बीच जीती रही हूँ। इन्द्रप्रस्थ का भवन, अर्जुन के बिना मेरे लिये वन जैसा ही था। वही पार्थ आज मुझसे बिना, एक शब्द कहे बिना मुझे स्पर्श किए जहाँ खड़े थे वहाँ से वैसे ही आगे बढ़ गये। मैं भी सारे मोह माया से मुक्त होकर इन्द्रप्रस्थ से निकली थी, किन्तु आज इस समय न जाने क्यों पार्थ को लेकर एक इच्छा शेष रह गयी थी।

“क्या हम सब स्वर्ग पहुँच पायेंगे?” भीम ने आहत स्वर में पूछा।

“नहीं” युधिष्ठिर का स्वर सपाट था।

“क्यों?” भीमसेन का स्वर कठोर था। वे अब सब कुछ युधिष्ठिर से जानना चाहते थे।

युधिष्ठिर कुछ क्षण शांत रहे और पुनः कहना आरंभ किया, “तुम सब अपने-अपने दोष के कारण मार्ग में ही शांत हो जाओगे; सहदेव में अपने ज्ञान का अहंकार था, नकुल के भीतर अपने सौन्दर्य को लेकर अभिमान था, अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ योद्धा होने का अहंकार था और तुम अपने क्रोध को नियंत्रित कर पाने में अक्षम रहते हो, इस कारण तुम सब स्वर्ग नहीं जा पाओगे।” युधिष्ठिर के स्वर में शांति के साथ एकदम अकेले पड़ जाने की पीड़ा भी झलक रही थी।

मैं सोचने लगी, युधिष्ठिर कब किसके साथ थे? वे तो सदैव अपने सिद्धान्तों के साथ अकेले ही रहे। भीमसेन ने मेरे पैरों के निकट अपनी गदा रख दी, मानो उसे मेरी रक्षा का भार सौंपकर विवशता में बड़े भाई की आज्ञा मान कर जा रहे हों।

नकुल के सौन्दर्य के अहंकार को काल ने स्वयं ही धूमिल कर दिया था; युद्ध की विभीषिका ने सहदेव को बैरागी बना दिया था... लोभ तृष्णा बची थी तो केवल युधिष्ठिर के मन में, सशरीर स्वर्ग जाने का लोभ, मार्ग ढूँढ़ने की तृष्णा। लोभ तृष्णा छोड़ दें तो स्वर्गारोहण संभव नहीं था।

मैं भी तो सब कुछ छोड़कर बहुत कुछ साथ लेकर चल रही थी। बहुत सारे लोभ की गठरी मेरे पास थी। शरीर का त्याग करके अपने सखा परम ब्रह्म श्रीकृष्ण में स्वयं को समाहित करने का

लोभ क्या छोटा मोटा लोभ है? आत्मा को तो पहले ही सखा को समर्पित कर चुकी थी... शरीर देह, धर्म के कारण विभक्त था। अब इस बंधन का त्याग करके अपने परम सखा से संयुक्त होना चाहती हूँ।

युधिष्ठिर, भीम का हाथ पकड़कर आगे चल पड़े। मैं उन्हें आगे बढ़ते देखती रही। जिसे अंतिम समय में छूना चाहती थी, वह बिना मेरी और देखे आगे बढ़ गया... जिसने हाथ बढ़ाकर मुझे उठाना चाहा, उसके हाथों को रोक दिया गया... यही मेरा जीवन रहा।

हाँ, महाराज युधिष्ठिर के सत्य के बारे में मैं आज भी स्पष्ट नहीं जानती, कि मैं पार्थ से अधिक प्रेम करती थी या भीमसेन से। भीमसेन मेरे निकट थे, मेरी भावना से जुड़े रहते थे, मेरा सभी प्रकार से ध्यान रखते थे; मैं उनके कर्तव्य से संतुष्ट थी... किन्तु पार्थ! पार्थ ने तो जीवन भर मुझे आघात ही दिये हैं। उन्हें पूरी तरह पाने की चाह थी! नहीं पा सकी... इस कारण लालच बढ़ता रहा, मन मृगतृष्णा के पीछे भागता रहा। इस दौड़ में मैं समझ ही नहीं पायी, कि किसके लिये किसकी उपेक्षा कर रही हूँ मैं... क्यों अर्जुन के लिये बावली रहती थी? सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने की महिमा के कारण, या अन्य किसी कारण से? हाँ, सर्वश्रेष्ठ की ही ललक थी, अन्यथा अन्य भी तो श्रेष्ठ थे... किन्तु भीम का बल, नकुल की सुन्दरता, सहदेव का ज्ञान, ये सब मेरे सौन्दर्य और दिव्यता के सामने कम थे। मेरी श्रेष्ठता का अहं ही मुझे पार्थ की ओर खींचता था और मैं अपने इसी अहं और लालसा के कारण एक भ्रम के मरुस्थल में आजीवन भटकती रही। किन्तु आज पार्थ को इस प्रकार विमुख होकर जाते देखकर मेरा वह बावलापन समाप्त हो गया। अब इससे क्या अन्तर पड़ेगा... जिसके पीछे चलते हुए मैंने अपना जीवन क्षार किया, व्यथा और अपमान भोगा, आज वही एक बार भी मुड़कर नहीं देख रहे हैं। यदि एक बार मुड़कर देखते, दो बोल, बोल कर अंतिम विदा लेते, तो मैं उनके जीवन भर के दोष और अन्याय को हृदय से क्षमा कर देती, किन्तु...।

अचानक कर्ण की स्मृति उभर आयी। सारे जीवन मैं कर्ण की स्मृति को स्वयं से दूर नहीं कर पायी। मैं जीवन भर कर्ण को भी जीती रही... कभी स्वयं को अपराधी मानती थी, कभी कर्ण मेरे अपराधी बन गये... कभी करुणा से मेरे निकट आये, कभी अपनी महानता से मुझे अपने चरणों में झुका लिया। जीवन भर यह सूर्य पुत्र, सूर्य की भाँति प्रतिदिन उदित और अस्त होते रहे थे। कर्ण के प्रति अपने भावों को लेकर कभी भी मुझे कुंठा नहीं होती थी, क्यों कुंठा हो! जब मेरे भाग्य में सभी कुंतीपुत्र ही पति के रूप में लिखे थे, तो ज्येष्ठ कौन्तेय को लेकर क्यों कुंठा होती?

मेरे समक्ष स्वयंवर के कर्ण खड़े हो गये। मैं सोचने लगी, यदि मुझे स्वयंवर में कर्ण ने प्राप्त किया होता और वे महा प्रस्थान का संकल्प लेते, तो निश्चित रूप से मुझे इस प्रकार इस निर्जन स्थान में हिंसक पशुओं का आहार बनने के लिये छोड़कर नहीं जाते। वे अवश्य रुक गये होते, मेरी सेवा शुश्रूषा करते और मेरे स्वस्थ होने पर ही वे आगे बढ़ते। यदि मैं स्वस्थ नहीं होती तो मुझे अपने कंधे पर उठाकर स्वर्ग तक चलते, या निश्चित रूप से मेरे लिये स्वर्ग स्थानित करके मेरी अंतिम साँसों तक यहीं बैठे रहते... मेरे पतियों जैसी कठोरता तो निश्चित रूप से ज्येष्ठ कौन्तेय कभी नहीं करते। कर्ण एक ऐसा चरित्र, जिसके सम्मोहन से मैं कभी निकल ही नहीं पायी; आज अंतिम समय में भी उनकी स्मृति सुखद लग रही है।

एक लालसा, इस पीड़ा में भी उभर आयी... क्या मृत्यु के बाद मेरी आत्मा की भेंट कर्ण की आत्मा से होगी? यदि हुई, तो पृथ्वी पर भोगी गयी मेरी यंत्रणा बहुत अंशों तक कम हो जायेगी।

मुझसे दूर जाते मेरे पतियों के आकार छोटे होते होते विलुप्त हो गये और इस निर्जन प्रान्त में

चारों दिशाओं से निकलकर मेरे जीवन का अतीत, मेरे आँखों के समक्ष खड़ा होने लगा।

2. कृष्णा

काम्पिल्य नगर के विशाल जनसमूह का हर्षोल्लास, दसों दिशाओं से प्रतिध्वनित होकर और भी गंभीर होता जा रहा था। यज्ञाहुति का सुगंधित धुआँ और लयबद्ध मंत्रोच्चार की ध्वनि मिलकर एक दिव्य पावन संसार की रचना कर रही थीं। वस्त्र और स्वर्णाभूषणों से अलंकृत गजों के समूह की स्वर्ण घंटियों का स्वर, उस हर्षोल्लास को एक लय सा देता हुआ प्रतीत हो रहा था, जैसे कि सम्पूर्ण जगत ही संगीतमय हो उठा हो।

यज्ञ मण्डप में चारों ओर स्वर्ण से भरे कलश, स्वर्ण थालों में रेशमी और ऊनी वस्त्र, भाँति-भाँति के फल, मेवे और मिष्ठान भरे हुए रखे थे, जीवनोपयोगी सामग्री और अन्नों से गाड़ियाँ भरी हुई थीं और दो शीविकायें यज्ञशाला के बाहर रखी हुई थीं। यज्ञशाला के बीच में सुसज्जित रथ पर आरूढ़ एक तेजस्वी कुमार, जिसके शरीर पर उत्तम कवच था, हाथों में खड्ग लिये हुए बार बार गर्जना कर रहा था और उसकी एक एक गर्जना पर विशाल जनसमुदाय उन्मत्त होकर गरज रहा था। इतना उल्लास, इतना कोलाहल... एक बार लगने लगा कि धरती उस कोलाहल का भार सहन करने में असमर्थ होकर विचलित न हो जाये। यदि विचलित हो भी रही होगी तो इस हर्षोन्मत्त जनसमुदाय को इसका आभास कहाँ हो रहा होगा।

मैं यज्ञवेदी के पास खड़ी हूँ। मैं कौन हूँ? यह यज्ञशाला, आचार्य मंत्रपाठी ब्राह्मण, राजसी वेशभूषा में दम्पति, जो करबद्ध, ऋषि के समक्ष नत खड़े हैं, कौन हैं? विशाल जनसमूह एक बार पुनः जय जयकार करने लगा।

“महाराज द्रुपद की जय!”

“पान्चाल राज्य की जय!”

महर्षि याज उपयाज की जय!”

महाराज ने हाथ उठाकर जनसमूह का अभिवादन स्वीकार किया। दोनों ऋषियों ने भी दोनों हाथों को उठाकर प्रसन्न मुद्रा में जन समुदाय को आशीर्वाद दिया।

तो मैं द्रुपद नरेश की यज्ञशाला में ऋषि याज-उपयाज की कृपा से उत्पन्न हुई हूँ। मैं अपने प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ ही रही थी, कि महारानी ने मुझे आलिंगन पाश में बाँध लिया और ‘मेरी पुत्री’ कह कर वह बार-बार मेरा मस्तक चूमने लगीं। नृप की आँखों में भी सारे विश्व का वात्सल्य उमड़ आया... उन्होंने भी भाव विभोर होकर मेरी ओर देखा, मेरे सिर पर हाथ रखकर स्नेह वर्षा की और मेरे सिर को सूँघकर आशीर्वाद दिया। एक हर्ष मिश्रित उल्लास चारों ओर व्याप्त था।

आकाश से होने वाली गंभीर बाणी ने समस्त जन समुदाय को शांत कर दिया, “हे राजन! यह कन्या पृथ्वी की समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ एवं सुंदरी हैं और दुष्ट क्षत्रियों का संहार करने के लिये प्रकट हुई हैं; यह सुमध्यमा, समय आने पर देवताओं का कार्य सिद्ध करेगी और इसके कारण क्षत्रियों में बहुत बड़ा भय प्राप्त होगा।” सभी चित्रलिखित से खड़े रह गये... आकाशबाणी ने सबको क्षण भर के लिये स्तंभित कर दिया था। नृप दम्पति सहित समस्त जनसमुदाय ने आकाश की ओर देखकर देवताओं को बार बार प्रणाम किया।

महाराज और महारानी ने ऋषियों को साष्टांग प्रणाम किया। उनको देखकर हम दोनों ने भी उनका अनुसरण किया और दोनों ऋषियों ने आशीर्वादों की अजस्र धारा बहा दी। महारानी ने पुनः

हाथ जोड़कर निवेदन किया कि, “भगवन्! ऐसी कृपा करें, जिससे मेरी ये दोनों संतानें मेरे सिवा किसी और को अपनी माता न समझें।”

‘तथास्तु।’

मुझे आश्चर्य हुआ कि ये कैसी इच्छा? ऐसी इच्छा का उठना स्वाभाविक है; पर इतनी तीव्र, कि इसके लिये ऋषि की कृपा की आवश्यकता हो! ऋषि और मंत्रोच्चार करने वाले ब्राह्मणों ने हम दोनों के ऊपर पुष्प और अक्षत फेंक कर आशीर्वाद दिया। ऋषि ने युवक का नामकरण किया-“यह द्रुपद कुमार ‘धृष्ट’ (समर्थशील) तथा ‘द्युम्न’ (तेजोमय कवच कुंडल एवं क्षात्र तेज) के साथ उत्पन्न होने के कारण धृष्टद्युम्न नाम से प्रसिद्ध होगा।” एक बार पुनः धृष्टद्युम्न पर पुष्प वर्षा हुई एवं उनकी जय जयकार होने लगी।

वे मेरे बड़े भाई हैं। लौकिक नियमों के विपरीत सहोदर हैं, यह मुझे अच्छा लगा... लगा कि मेरा उनके साथ बहुत पुराना सम्बन्ध है; उस समय से, जब से कोई शिशु अपने प्रिय को पहचानता है। यदि मेरा कोई शैशव और बाल्यकाल रहा होता, तो साथ-साथ बढ़ते खेलते इतना ही प्रेम होता, इससे अधिक कदापि नहीं। मेरी और धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति सहज न होने पर भी मेरा प्रेम सहज था, पूर्ण था इसमें किसी प्रकार की दुविधा नहीं थी।

मैं सम्मोहित सी अपने अग्रज को देखती रही। अस्पष्ट से मंत्रोच्चार मेरे कानों में पड़ रहे थे ‘कृष्णा’... मैं चौंक उठी। मेरा भी नामकरण हुआ है, अब मैं ‘कृष्णा’ हूँ। कुछ समय पूर्व यज्ञ वेदी से उत्पन्न मैं, अब अनाम और अज्ञात नहीं हूँ, द्रुपद नरेश और महारानी सौत्रमणि अब मेरे पिता-माता हैं और मैं द्रुपद पुत्री कृष्णा हूँ। मेरा परिचय पूर्ण हो गया... मुझे नाम, कुल, पिता और प्रतिष्ठा सब कुछ प्राप्त हो गया।

मैं पुनः सोचने लगी, कि क्या मुझे सभी उत्तर मिल गये? कदापि नहीं। अभी तक मुझे जो भी उत्तर मिला है, वह जिज्ञासाओं को शांत करने वाला उत्तर नहीं है, वरन् मुझे एक सीमा में बद्ध करने वाला उत्तर है। इसके अतिरिक्त बहुत से प्रश्न मेरे मन में उथल-पुथल मचा रहे हैं, जो कि अभी तक अनुत्तरित हैं। मैं प्रश्नों से निकलकर उस विशाल आयोजन को दर्शक बनकर देखने लगी।

यज्ञशाला विशाल थी। विशालता के साथ साथ वह भव्यता और शुचिता से भी परिपूर्ण थी। अनगिनत खंभों के ऊपर एक विशाल पर्ण आवरण था, जिसे हरे बाँसों और पत्तों के सहारे बाँधकर बनाया गया था। यज्ञशाला को सप्त पुरियों की मिट्टी एवं समस्त पवित्र नदियों का जल मिलाकर लीपा गया था। यज्ञशाला के चारों ओर दो हाथ ऊँची मिट्टी की दीवार का घेरा बना हुआ था, जिस पर दोनों ओर कला निपुण महिलाओं ने भाँति-भाँति के पुराणों, उपनिषदों की कथाओं को चित्रों के माध्यम से उकेरा था। सुन्दर रंगों से चित्रित कथाएँ, इस यज्ञशाला को और भी भव्य बना रही थीं। लगता था यह यज्ञ भी भविष्य में इन चित्रों के साथ उकेरा जाने वाला है।

यज्ञ मण्डप के भीतर विशाल यज्ञ वेदी थी, मंत्रोच्चार करने वाले ब्राह्मणों के बैठने के लिये मृग चर्म और ब्रह्मा, आचार्य और वाचक के बैठने के लिये रत्न खचित स्वर्ण चौकियाँ थीं, जिन पर श्रेष्ठ और दुर्लभ प्रजाति के मृग चर्म बिछे थे। यज्ञ कुंड के बगल में स्वर्ण की चौकियों पर नवग्रह, षोडश मातृकाओं को अंकित किया गया था, यज्ञशाला के भीतर बाहर हर स्थान पर एक भव्यता और शुचिता वर्तमान थी।

महाराज द्रुपद ने ऋषि युगल को उनके लिये रखी गयी समस्त सामग्री, गौओं के समूह, अन्न,

वस्त्र और स्वर्ण को नत होकर समर्पित किया। राजकुल के सभी सदस्यों ने ऋषियों और ब्राह्मणों को प्रणाम किया।

महाराज द्रुपद ने दोनों ऋषियों से शिविका में बैठने का अनुरोध किया दोनों ऋषि प्रसन्न मुद्रा में विराजमान हुए और महाराज ने अन्य राजपुरुषों के साथ शिविका को अपने कंधों पर उठा लिया। यज्ञशाला से कुछ दूर चलने के पश्चात दोनों शिविकाओं के लिये निर्धारित सोलह शिविका वाहकों ने आगे बढ़कर अपने कंधों को महाराज व राजपुत्रों से बदल लिये।

यज्ञ का आयोजन पूर्ण हो चुका था, लोगों के हृदय का उत्साह और प्रसन्नता, शांत होकर स्थाई संतोष में परिवर्तित हो गयी थी।

* * *

महाराज द्रुपद अपने परिवार के साथ राजभवन की ओर बढ़े। मैं भी मंत्रमुग्ध सी धृष्टद्युम्न के साथ चल रही थी। यज्ञशाला से निकलते निकलते संध्या, रात्रि में परिवर्तित होने लगी। चारों ओर दीप मालिकाओं का झिलमिल प्रकाश अलग ही छटा बिखेर रहा था। मुझे सब कुछ नया-नया और भव्य लग रहा था और मैं सब कुछ देखती और उसे समझने का प्रयास करती हुई चल रही थी।

सहसा मैं लाखों दीपों से जगमगाते आँगन में पहुँच गयी। विभिन्न शुभ चिह्नों... कमल, स्वस्तिक, कलश की आकृति में सजी हुई दीप मालिकाओं से पूरा राजभवन जगमगा रहा था। मैं सबके साथ चलती हुई राजभवन की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। राजभवन की श्वेत पत्थर की सीढ़ियों पर कलात्मक फूल पतियों, में जड़े बहुमूल्य रत्न दीपों के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई दे रहे थे और मैं आश्चर्यचकित, चारों ओर देखती हुई चल रही थी।

अंतःपुर में राजपरिवार की महिलाएँ और दासियाँ हमारे स्वागत के लिये खड़ी थीं। महाराज और महारानी ने आगे बढ़कर राजमाता को प्रणाम किया। धृष्टद्युम्न ने भी आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने उन्हें अंक में भर कर आशीर्वाद दिया। धृष्टद्युम्न के मुक्त व्यवहार की तुलना में मैं संकुचित हो रही थी। मैं भी राजमाता के चरण स्पर्श के लिये झुकी, कि उन्होंने मुझे अपने आलिंगन में ले लिया... 'अहा मेरी पौत्री याज्ञसेनी' कह कर उन्होंने मेरे माथे को चूमकर मुझे अपने हृदय से लगा लिया।

सारा अंतःपुर हम दोनों के स्वागत में उमड़ पड़ा था। एक वृद्धा सेविका ने पहले धृष्टद्युम्न की आरती उतारी और फिर वह मेरी ओर बढ़ी। महिलाओं का समूह मंगल गीत गा रहा था। दीप स्तम्भों पर बहुत सुंदर व बड़े बड़े दीप जल रहे थे। उन दीपों के ऊपर पारदर्शी काँच का आवरण था, जिसके कारण दीपों की ज्योति स्थिर व प्रखर थी।

पूरे परिवार में उत्सव जैसा वातावरण है, किन्तु इस उत्सव में भी सबके मुख पर अलग अलग भाव हैं। मातामही, निश्चल प्रेम प्रवाहित करती हुई, किन्तु अन्य माताएँ, भाई बहन... किसी के मुख पर मेरी उत्पत्ति को लेकर किंचित भय है तो कोई असहज, कि क्या मैं इनके बीच सहज भाव से रह पाऊँगी? किसी के मुख पर दुविधा झलक रही थी, कि मेरे प्रति उनका व्यवहार किस प्रकार का हो। न जाने कितने प्रश्न सब के मुख पर झलक रहे थे।

मैं सहज नहीं जन्मी थी। मेरी उत्पत्ति दिव्य थी, इस कारण मैं लोगों के समक्ष प्रश्न के रूप में खड़ी थी। विशिष्ट रूप से उत्पन्न होने के कारण मेरी गरिमा भी विशिष्ट होगी... यही मेरी विशिष्टता उन्हें सामान्य नहीं रहने दे रही थी। यज्ञशाला में हुई भविष्यवाणी भी किसी से छुपी नहीं थी कि, मैं 'कृष्णा' सम्पूर्ण क्षत्रियों का विनाश करने के लिये ही पैदा हुई हूँ, तो मेरा स्वभाव और

आचरण कैसा होगा। भविष्य में मैं ऐसा क्या करूँगी, जिसके कारण महान विपत्ति आयेगी? कहीं इस विपत्ति के बीज मैं इस राजमहल में तो नहीं बो दूँगी।

यज्ञ वेदी के मध्य भाग से उत्पन्न होने के साथ ही जिन अबूझ प्रश्नों का आरम्भ मेरे मन में हुआ था, वह अभी तक अनुत्तरित ही थे। मैं कौन हूँ? वह कौन सी अभिलाषा है, जिसकी पूर्ति के लिये महाराज ने कठिन यज्ञ करके मुझे प्राप्त किया है... क्या वह अभिलाषा इतनी बड़ी है कि मुझे और धृष्टद्युम्न को प्राप्त करके महाराज द्रुपद के साथ-साथ पूरा पाञ्चाल समुदाय इतना प्रसन्न है!

मैं अभी तक असहज हूँ। अचानक ही एक आवरण उतरता है और मैं स्वयं को एक युवती के रूप में पाती हूँ। यज्ञ में अनुष्ठान करके मुझे प्राप्त करने वाले अब मेरे माता-पिता हैं, उनके संबंधी मेरे संबंधी हैं। मुझे जो आदेश दिया जा रहा है, मैं यंत्रवत उसे पूरा करती जा रही हूँ... दासियों के अनुरोध पर उठ बैठ रही हूँ, वस्त्र बदल रही हूँ।

मातामही ने अपने साथ बिठाकर मुझे भोजन कराया और एक प्रौढ़ा दासी के संरक्षण में मुझे सोने के लिये एक कक्ष में भेज दिया। मैं दासी के साथ अपने शयनकक्ष में आयी। यहाँ आकर मुझे शांति मिली। दासी ने यह कह कर कि, 'मैं बाहर सो रही हूँ, आवश्यकता होने पर मैं उसे बुला लूँ' मुझसे विदा ली।

मैं पलंग पर लेट गयी, किन्तु मन में इतनी उथल-पुथल है कि निद्रा आँखों से कोसों दूर थी। पलंग पर करवट बदलते बदलते न जाने कब मुझे निद्रा आ गयी।

प्रातः काल चलने वाली मंद शीतल वायु मेरे शरीर को सिहराने लगी। पक्षियों का कलरव सुनकर मैं नींद से जाग गयी और पलंग से उतर कर खिड़की के सामने खड़ी होकर बाहर देखने लगी। नीले विस्तृत आकाश के एक कोने में लालिमा छिटक रही थी। मैं पल-पल परिवर्तित होती प्रकृति को देखने लगी। जब मेरा आविर्भाव हुआ था, उस समय संध्या थी धीरे-धीरे घिरने वाली कालिमा को झुठलाता हुआ सारा राजप्रासाद असंख्य दीपों के प्रकाश से जगमगा उठा था... किन्तु यह प्रकाश भिन्न है। उस प्रकाश में एक सीमित क्षेत्र प्रकाशित होता था, पर इस समय विस्तृत नभ और भूभाग को कौन प्रकाशित कर रहा है? नभ के कोने में छिटकने वाली लालिमा अब स्वर्णिम होकर चारों ओर फैल गई थी।

मैं इस विशाल प्रकृति और उसके परिवर्तित होते रूप के समक्ष आश्चर्य चकित थी। मैं स्वयं को समझाने लगी कि अभी मुझे इस संसार में आये हुए समय ही कितना हुआ है। मैं भलीभाँति समझ रही थी कि मुझे प्रतिक्षण नवीन स्थितियों का सामना करना है, हर क्षण मुझे बहुत कुछ सीखना है। न जाने कब मेरा सामंजस्य इस प्रकृति परिवार और समाज के साथ पूरा होगा। अभी तो विस्मृत सी मुग्ध भाव से सब कुछ देख रही हूँ।

एक युवा परिचारिका ने आकर मुझे प्रणाम किया, "देवी! मैं आपकी दासी नंदा हूँ; आप स्नान कर वस्त्राभूषण धारण करके मातामही के पास चलें, आपको किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो मुझे आदेश दीजिए।" नंदा मेरे सामने खड़ी हो गई। अभी मेरे पास उसे देने के लिये कोई आदेश नहीं था।

उसने खिड़कियों पर लटके वस्त्र पटल को इकट्ठा करके उन्हें रेशमी डोरी से बाँध दिया। सारा कक्ष प्रकाश से भर गया। यह प्रकाश, रात्रि के प्रकाश से सर्वथा भिन्न था, श्रेष्ठ था, अद्भुत था और हर स्थान पर समान रूप से प्रकाशित हो रहा था।

मुझे आश्चर्य चकित भाव से खिड़की के पास खड़े होकर बाहर देखते हुए देखकर परिचारिका

समझ गयी और बिना मेरे कुछ पूछे ही कहने लगी “देवी, यह सूर्य देव हैं; इनके निकलने से ही रात्रि का अंधकार मिटता है और एक नया दिन आरम्भ होता है।”

मैं आश्चर्यचकित थी। मेरी स्थिति विचित्र थी। कभी लगता था कि मैं बहुत कुछ जानती हूँ, किन्तु अगले क्षण लगता था कि बहुत कुछ ऐसा भी है, जिससे मैं अनजान हूँ। किन्तु एक बात है, किसी भी नवीन स्थिति से साक्षात्कार होते ही लगने लगता कि यह मेरे लिये नया नहीं है, मैं उसे जानती हूँ और यह परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हो रहा था कि एक क्षण बाद ही वह नवीनता वर्षों पुरानी अनुभूति जैसी लगती है।

मैं नंदा द्वारा इंगित स्नानागार की ओर बढ़ गई। वहाँ दो दासियाँ पहले से ही उपस्थित थीं। एक सेविका मेरे केश और आभूषण खोलने लगी और दूसरी ने मुझे अपने शरीर पर लपेटने के लिये एक वस्त्र दिया। मैंने अपने वस्त्र खोल दिये और मोटे सफेद चादर जैसे वस्त्र को अपने चारों ओर लपेट लिया। उन्होंने मुझे लिटा दिया और एक दासी मेरे शरीर पर लेप लगाने लगी, दूसरी मेरे केश खोल चुकी थी। ‘अद्भुत!’ सुनकर मैंने पीछे मुख घुमाकर देखा, वह दासी मेरे केशों को हाथ में लेकर आश्चर्य से देख रही थी।

आपके सौन्दर्य की भाँति ही आपके केशों का सौन्दर्य भी अद्भुत है... महीन, घुँघराले, काले, चमकीले और भव्य... ऐसी केश राशि मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखी। इसकी सुगंध भी इस लोक से परे लगती है, भाँति भाँति की जड़ी बूटियों, धूप, अगर तगर के धुएँ से भी ऐसी सुगंध नहीं आ सकती है। मैं सुन रही थी वह कहती जा रही थी ... इन्हें आवश्यकता ही नहीं है किसी प्रकार से सुगंधित करने की। आपके शरीर से उठने वाली नील पद्म की गंध की भाँति ये गंध भी जन्मजात ही है।” वह दासी देर तक मेरे केशों को हाथों में लिए सम्मोहित सी खड़ी रही।

स्नानागार में कल रात्रि वाली प्रौढ़ा दासी ने प्रवेश किया। उसने दासियों के इस प्रकार सम्मोहित देखकर कहा “शीघ्रता करो, देवी का अंग-प्रत्यंग अद्भुत है; लगता है कि साक्षात् इन्द्रपुरी की अप्सरा यज्ञवेदी पर प्रगट हो गयी है... क्यों तुझे क्या हुआ?” उस प्रौढ़ा दासी ने दूसरी से पूछा।

दूसरी दासी की भी स्थिति पहली वाली जैसी थी। वह सुगंधित लेप को मेरे पैर में लगाकर रुक गयी थी। “मैं सोच रही हूँ कि इस लेप को लगाऊँ या नहीं, क्योंकि इस लेपसे तो अधिक मोहक गंध राजकुमारी के शरीर की है, इसी उहापोह में रुक गयी हूँ।”

“चलो शीघ्रता करो।” प्रौढ़ा दासी दोनों को आदेश देकर मेरे निकट भूमि पर बैठ गई। दोनों दासियाँ शीघ्रता से अपने काम में लग गईं। प्रौढ़ा दासी ने मुझसे कहना आरंभ किया-“राजकुमारी, मुझे आपकी माता और मातामही ने आपकी धात्री के रूप में नियुक्त किया है।”

मैंने उसे देखा वह मुझे बहुत सौम्य और स्नेहमयी लगी। उसने मुझे बातों बातों में बताया कि वह मेरी माता के साथ उनके पिता के घर से ही आयी थी। वह मेरी माँ की विशेष दासी थी, इसी कारण उन्होंने उसे मेरी संरक्षिका के रूप में नियुक्त किया है।

मैं दोनों दासियों की मुखाकृति को देख रही थी। दोनों ही आश्चर्य चकित अभिभूत सी मुझे स्नान करवा रही थीं, जैसे कि मैं कोई दिव्य मूर्ति होऊँ और जरा सी असावधानी से कहीं खंडित न हो जाऊँ। उसमें से एक अधिक वाचाल लग रही थी, बोली “राजकुमारी एक बात कहूँ, आप अन्यथा तो नहीं मानेंगी?” ‘नहीं।’ मैंने कहा। “आपके अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य अद्भुत है; मैं स्त्री

होकर भी सराहना करने से स्वयं को नहीं रोक पा रही हूँ... मुझे पता नहीं कि किसी के रूप सौन्दर्य का वर्णन, विद्वान लोग किस प्रकार से करते हैं, किन्तु आप मुझे अपनी मति के अनुसार करने दीजिये...।”

मैं हँस पड़ी। उसका प्रलाप चलने लगा... देख तो राजकुमारी की भौंहों की आकृति, ऐसी सुन्दर लगता है कि उन्हें यत्न से सँवारा गया है... आँखें कितनी विशाल और उनके कोर कैसे कजरोरे हैं; पलकें तो ऐसी, जैसे भौंहों को ढँक लेगी। नासिका की उठान ऐसी कि कोई उपमा ही न सूझे, कपोल ऐसे पुष्ट और रक्तिम, कि कुशल से कुशल प्रसाधन करने वाली उनके पहले से प्रसाधित होने के भ्रम में पड़ जाये। होंठ तो ऐसे, जैसे कि विधाता के कुशल शिल्पी ने यत्न से गढ़ा हो और ऐसे कोमल, जैसे छूते ही रक्त छलछला कर निकल पड़ेगा... आकृति ऐसी कि बिना हँसे ही हँसती हुई प्रतीत होती है, विबुध के मध्य का छोटा सा गड्ढा, जिसमें सारा विश्व सौन्दर्य से मोहित होकर गिर पड़े और सुन्दर ग्रीवा की त्वचा इतनी स्निग्ध और पारदर्शी, कि कुमारी यदि ताम्बूल खाये तो गले से नीचे उतरता ताम्बूल का लाल रंग बाहर से दिखाई देने लगे।” वक्ष पर दृष्टि डालते ही वह चुप हो गयी। संकोच और मर्यादा ने उसकी जिह्वा पर नियंत्रण लगा दिया।

मैं पलटकर पेट के बल लेट गयी। उसने पीठ पर से वस्त्र हटा कर लेप लगाना प्रारम्भ किया और मानों स्वयं से कह रही हो... इतनी सुन्दर पीठ और कटि मैंने अपने जीवन में नहीं देखी, जी में आ रहा है कि उसे देखती ही रहूँ और उसने लेप लगा कर उसे मलमल कर उसने उतार दिया। मैं उठ कर बैठ गई। वह मेरे पैरों पर लेप लगा रही थी। वह मेरे पैरों को मुग्ध दृष्टि से देख रही थी और आश्चर्यचकित थी। लगता है उसकी कल्पना थक गयी थी और वह मौन हो गई थी। कुछ देर बाद वह फिर बोली, “राजकुमारी, मैं क्या कहूँ, ऐसा रूप इस धरती पर नहीं है लगता है; पूरा स्नानागार आपके रूप से जगमगा उठा है।”

दोनों ही दासियाँ मेरे रूप को देखकर आश्चर्यचकित हैं; अन्तर केवल इतना है कि एक की जीभ चल रही थी और दूसरी का मन बोल रहा था। थोड़ी देर चुप्पी छायी रही। धात्री उठ कर चली गई थी। दूसरी दासी ने मेरे केशों का प्रक्षालन करके उसे मोटे कपड़े में लपेट दिया वह अब मेरे सामने आ गयी। अपलक मुझे देखती रही और बोली, “राजकुमारी! हम दासियाँ आपके रूप का वर्णन क्या कर पायेंगी? बड़े बड़े विद्वान कवि भी आपके रूप का वर्णन करके उसे आँखों के सामने खड़ा नहीं कर पायेंगे, मेरी आँखों में जीभ होती या जीभ में आँखें होतीं, तो मैं कुछ कह पाती।”

मैं अपने शरीर को पोंछ, अधोवस्त्र पहन, एक उत्तरीय से अपने शरीर को ढँक कर प्रसाधन कक्ष में आकर दर्पण के समक्ष बैठ गई। धात्री वहाँ पर आभूषणों की एक पेटी और कई जोड़े वस्त्र लेकर बैठी थी। कल संध्या के पश्चात भी मैंने स्वयं को दर्पण में देखा था... कितना अन्तर है कल और आज में। कल मैं रत्न जड़ित आभूषणों, रेशमी वस्त्रों और विशिष्ट केश विन्यास से सजी थी। मेरे उस रूप को देखकर लोग कह रहे थे कि, मानों साक्षात् लक्ष्मी जी वैकुंठ धाम छोड़कर पृथ्वी पर चली आयी हैं।

“क्या इंद्र प्रिया शची इनसे अधिक सुंदर हो सकती हैं?”

“ऐसा रूपवान वर भी इनके लिये विधाता ने कहीं बनाया है?”

लोगों के मुख पर कौतूहल था। अनेक प्रश्न थे, किन्तु आज मैं अपने प्राकृतिक रूप में थी और स्वयं की दृष्टि में भी अद्भुत लग रही थी। पहली दासी, जो सैरन्ध्री थी, उसने मेरे सिर पर लपेटे

वस्त्र को खोल कर मेरे केश को पीठ पर फैला दिया और एक लोहे के पात्र में जलते हुए अंगार को लेकर आई और उसे मेरे पीछे रख कर उसके ऊपर कोई चूर्ण डाल दिया। सुलगते चूर्ण से सुगंधित धुआँ उठने लगा और सैरन्धी मेरे केश को उठते हुए धुएँ के ऊपर फैलाने लगी तो धात्री ने उसे टोका “इसे बाहर ले जा, यह व्यर्थ में धुआँ फैला रहा है।”

सैरन्धी, धात्री को प्रश्न सूचक दृष्टि से देखने लगी। धात्री ने उठकर मेरे केशों को अपने हाथ में ले लिया, “इस दिव्य गंध की बराबरी कोई गंध कर सकता है... इसे और सुगंधित बनाने में भला कौन समर्थ है।”

धात्री, आभूषणों की पेटी खोलकर मेरे पैरों के पास बैठ गई। वह एक एक आभूषण हाथ में लेती, मन ही मन कुछ सोचती, उसे रख कर दूसरे को उठाती दुविधा में बैठी रही। उसने अपने हाथों में एक कंगन उठाया। मैंने लिपटे वस्त्र से बाहर अपना हाथ धात्री की ओर बढ़ा दिया। धात्री ने कुछ क्षण रुक कर वह कंगन मेरे हाथों में पहना दिया और दूसरा भिन्न बनावट का लेकर कलाई के पास उसे रख कर दोनों को आपस में मिलाने लगी कि कौन सा कंगन मेरी कलाई में सुंदर लगेगा। धात्री की दुविधा समाप्त नहीं हो रही थी, मानों वह निर्णय नहीं कर पा रही थी कि आभूषण के साथ मेरी कलाई अधिक सुंदर दिखाई दे रही है या आभूषणों के बिना अपने प्राकृतिक सौंदर्य से अधिक दीप्त हो रही है। अंत में धात्री बोली, “ये आभूषण आपकी शोभा को बढ़ा रहे हैं या छुपा रहे हैं, मैं समझ नहीं पा रही हूँ; बिना आभूषण के ही आपका रूप दिव्य लग रहा है।”

“इन केशों को मैं किस शैली में बाँधूँ कि उनका अद्भुत सौंदर्य न छिपे।” धात्री के बाद सैरन्धी ने भी अपनी विवशता जता दी।

मैं हँस पड़ी। पूरा प्रसाधन कक्ष मेरी हँसी से भर गया। मेरी हँसी के साथ सभी सेविकाएँ हँस पड़ीं... मुक्त हास्य, अपनी वय और श्रेणी की सीमा को लाँघ कर।

“धात्री! तुम नाम मात्र के शुभ सूचक आभूषण ही पहनाओ, केश अभी नम हैं, मैं उन्हें खुला ही रखूँगी।” मैंने धात्री और सैरन्धी दोनों की दुविधा को समाप्त किया। दोनों के हाथ स्फूर्ति से भर कर चलने लगे और मैं थोड़ी देर में दर्पण के समक्ष सँवरी खड़ी हुई। भारी भरकम साड़ियों को किनारे करके मैंने एक पतले सुनहरे किनारे की श्वेत साड़ी को पसंद किया था और हाथों में एक सरल हीरक पंक्ति के कंगन, कानों में छोटे-छोटे हीरे के कर्णफूल, व गले में एक पतली माला पहनी थी। न बाजू न पछेली, न अँगूठियाँ, न ही सिर पर कोई आभूषण... घुँघराले, काले नीलाभ केश को खुला ही छोड़ दिया था। संध्या की तुलना में मेरा शरीर स्फूर्ति भरा व सहज लग रहा था।

कल तो मैं भव्य समारोह और विशाल जन समुदाय के बीच कठपुतली की तरह उठ बैठ रही थी, किन्तु आज मैं स्वयं को जानना चाहती हूँ। किसी की पुत्री, पौत्री और बहन होना ही मात्र परिचय नहीं होता है, यह तो परिवार के ताने बाने में मेरा परिचय था, किन्तु अभी तो मेरा यही परिचय पूर्ण नहीं है। मैं किस प्रकार से लोगों से मिलूँ, किस प्रकार का व्यवहार करूँ, कुछ भी नहीं समझ पा रही हूँ।

धात्री ने मेरे असमंजस को भाँप लिया और बोली, आपको महारानी और राजमाता जैसा आदेश दें आप वैसा कीजिएगा और कुछ समय तक मौन रह कर सब कुछ समझने का प्रयास करें, धीरे धीरे आप सब कुछ समझ जाएँगी।

मैंने धात्री के कथन को मौन स्वीकृति दे दी और अपनी सारी जिज्ञासाओं को मैंने समेट लिया, कि कुछ समय तक मौन रहकर सब कुछ समझने का प्रयास करूँगी।

जब मैं अंतःपुर की बैठक में पहुँची, तो कक्ष भरा हुआ था। मातामही, कक्ष के मध्य में एक आसन पर बैठी थीं। मुझे कक्ष में आते देखकर माता ने मुझे अपने निकट बुलाया और मातामही को प्रणाम करने के लिये संकेत किया। मैंने मातामही को प्रणाम किया। मैंने कल संध्या के समय भी मातामही को देखा था, किन्तु इस समय वे अधिक भव्य लग रही थीं। उनकी सौम्य मुखाकृति से स्नेह छलकता था। मैंने माँ के निर्देशानुसार सबको प्रणाम किया। छोटे-छोटे बच्चों ने मुझे प्रणाम किया। मातामही ने मुझे अपने निकट बैठा लिया। धृष्टद्युम्न भी वहीं बैठे थे। उन्होंने धृष्टद्युम्न की ओर देखकर कहा, “यह तुम्हारा ज्येष्ठ सहोदर; तुम दोनों तो एक दूसरे को भलीभाँति जानते हो न” अपने प्रश्न पर उन्होंने हँस कर स्वयं स्वीकृति दे दी।

हाँ यह सच है मैं सबसे अधिक धृष्टद्युम्न को जानती हूँ... वे अग्नि की ज्वाला से मुझसे पूर्व उत्पन्न हुए थे। हम दोनों का इस संसार के साथ साक्षात्कार एक साथ ही प्रारम्भ हुआ था और मैं इस समय धृष्टद्युम्न को ही अपने सबसे अधिक निकट पा रही थी। मुझे धृष्टद्युम्न का नाम सुनने में बड़ा कठोर लग रहा है। मैंने मन ही मन उनके नाम को संक्षिप्त कर लिया ‘द्युम्न’।

कल मैंने कानों में अपने लिये अनेक नाम सुने थे ‘श्यामा’, राजकुमारी तो श्यामा हैं, तप्त कंचन सा रंग हैं इनका। कोई दासी मुझे देखकर कह रही थी। यज्ञ से उत्पन्न मैं ‘यज्ञसेनी’ थी, दुपद पुत्री ‘द्रौपदी’ और पांचाल कुमारी ‘पांचाली’ तो मैं थी ही। ऋषिवर ने मेरा नामकरण कर दिया था कृष्णा। द्युम्न मुझे अपने सहोदर लग रहे थे। सहोदर ही क्यों, हम दोनों जुड़वा उत्पन्न हुए थे... पहले वे और फिर उसके तत्काल बाद मैं।

“महाराज पदार्पण कर रहे हैं”, दासी ने निवेदन किया तो सब लोग संयत हो गये। महाराज के, कक्ष में आते ही मातामही को छोड़कर सभी लोग खड़े हो गये। महाराज ने आकर मातामही को प्रणाम किया और उनके निकट बैठ गये। पुनः मेरी ओर देखते हुए कहने लगे कि, “माँ, मैं कल अपनी पुत्री को ठीक से देख ही नहीं पाया, अतिथियों को विदा करने में व्यस्त रहा... आज देर तक आप लोगों के साथ बैठूँगा।”

पिताश्री धृष्टद्युम्न को आँखों से ही अपने हृदय में उतार लेना चाहते थे। उन्हें देखते हुए वे अभिभूत व ऐसे भावुक हो गये जैसे उन्हें कोई दिव्य अक्षय निधि मिल गई हो।

“पुत्र, कैसी अद्भुत है न तुम्हारी बेटी! निहारते रहो, जी ही नहीं भरता; मेरे मन में एक इच्छा बार बार घुमड़ रही है, कहूँ?”

“कहो माँ, मुझसे कैसा संकोच, आदेश दो” पिताश्री प्रसन्न थे।

“इसका विवाह किससे करोगे? इसके योग्य इस आर्यावर्त में कोई है भी?”

पिताश्री हँसने लगे “माँ, अभी अभी यह पैदा हुई है, अभी तो मैं इसके पिता होने का सुख भोगूँगा; फिर तो जो संसार की रीति है, यह भी विदा होगी।”

“मेरी तो इच्छा है तुम श्रीकृष्ण को क्यों नहीं जामाता बना लेते... उनके समान तो कोई भी नहीं है। विधि ने तो जैसे नामकरण में ही आदेश दे दिया है, कृष्ण और कृष्णा।” मातामही अपनी ही बात पर खिलखिला कर हँस दीं। उनकी हँसी में पूरे परिवार की हँसी मिल गयी।

“अभी तो इसको योग्य करना है; शिक्षा, रीति रिवाज, कला कौशल, बहुत कुछ सीखना है इसे... इन सबकी व्यवस्था भी हो गई है; कल से दोनों की शिक्षा आरम्भ हो जायेगी। कृष्णा, तुम मेरी माँ से पाक कला सीख लो, इनके समान स्वादिष्ट पकवान कोई भी नहीं बना सकता... कुशल से कुशल रसोइये को भी इनकी सहायता लेनी पड़ती है।” बात समाप्त करते करते पिताश्री

हँस पड़े।

मैं भी धीरे धीरे सहज होती जा रही थी। थोड़ी देर परिवार में समय बिता कर पिताश्री धृष्टद्युम्न को साथ लेकर बाहर चले गये। उसके बाद मातामही भी अपने कक्ष में चली गयीं और धीरे धीरे अन्य बड़े लोग भी अपने अपने आवास की ओर चल दिए। कक्ष में परिवार की केवल युवा स्त्रियाँ और छोटे बालक एवं बालिकाएँ ही रह गयीं।

श्रीकृष्ण! कौन है ये श्रीकृष्ण, जिसे मातामही मेरे योग्य मान रही हैं? कहाँ के नरेश हैं... ऐसा क्या है उनमें, जिसके कारण मातामही की इच्छा मेरे लिये उपयुक्त वर के रूप में उठी है; क्या मेरी ही भाँति ही वे भी लौकिक व्यवहार से भिन्न उत्पन्न हुए हैं?

“क्या सोच रही हो कृष्णा?” भाभी हँसती हुई मेरे पास सरक आयीं। पहली ही दृष्टि में वे मुझे बहुत सरल और रूनेही लगीं।

“कुछ नहीं भाभी।”

“श्रीकृष्ण के बारे में सोच रही हो?”

‘नहीं...’ मैं हड़बड़ा गयी, जैसे कि किसी ने मेरी चोरी पकड़ ली हो।

“तुम्हें पता नहीं है कि श्रीकृष्ण कौन हैं, तभी इस प्रकार कह रही हो; पता होता तो ऐसा न कहती।” कहकर वह हँस दीं।

“तो तुम्हीं बता दो न भाभी।” मेरी बड़ी विवाहित बहन ने ठिठोली करते हुए कहा।

भाभी अपनी हँसी को दबाते हुए कुछ देर चुप रहीं।

“आप स्वयं बतायेगी या मैं बताऊँ?” दीदी ने उन्हें फिर छेड़ा।

“दीदी, आपके सामने मैं क्या बता पाऊँगी; आप मेरे साथ साथ अपना भी बता दीजिये, एक साथ ही सारी सूचना कृष्णा को मिल जायेगी।”

हम तीनों खिलखिला कर हँस पड़ीं। दीदी ने कहना आरंभ किया, “कृष्णा! भाभी की बड़ी इच्छा थी कि उनका विवाह श्रीकृष्ण से हो। इनके पिता जी ने प्रयास भी किया, किन्तु संभव नहीं हुआ तो इन्होंने जयमाल भइया के गले में डाल दी और उन्हीं को श्रीकृष्ण के साँचे में ढाल रही हैं; भइया कुछ कुछ ढल भी गये हैं।”

“वह कैसे हुआ?” उनकी छोटी अबोध पुत्री पूछ बैठी।

“अरे बेटी, विवाह के बाद काले जो होते जा रहे हैं तेरे पिताजी।”

मैं सबके साथ हँस पड़ी। मुझे ननद-भाभी की ठिठोली में रस आने लगा था।

“दीदी, अब आप अपना बताइये न।” भाभी कहाँ छोड़ने वाली थीं।

“कृष्णा, मैं इस परिवार की सबसे बड़ी बेटी थी; मातामही और पिताश्री की भी इच्छा थी कि मेरा विवाह श्रीकृष्ण से हो। घर में चर्चा चली तो मुझे भी कल्पना में श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। किन्तु भाभी की तरह मेरा भी हृदय टूट गया। मेरे श्वसुर मेरी बुआ के ज्येष्ठ हैं। बुआ की बड़ी इच्छा थी, सो वह मुझे अपने ज्येष्ठ के सुपुत्र के लिये ले गयीं; अब तुम्हारा भाग्य...”

“ऐसा क्या है श्रीकृष्ण में, जो आप दोनों के ही हृदय में उनके लिये आकर्षण उत्पन्न हो गया था?” मैंने उन दोनों से पूछा।

“ऐसा क्या नहीं है कृष्णा; मैं तुम्हें क्या क्या बताऊँ। वह मथुरा नरेश हैं तो द्वारकाधीश भी हैं... बहुत ही पराक्रमी। अपने आततायी मामा कंस को मारकर उनकी कारा से अपने माता-पिता को मुक्त कराया, अनेक राक्षसों का वध किया, इन्द्र तक को परास्त कर चुके हैं; इस आर्यावर्त में

सर्वत्र पूज्य हैं। हाँ, उनकी आठ आठ रानियाँ भी हैं। यह तो उनके परिचय का एक छोटा सा अंश भर है; उनमें बहुत कुछ है जो वर्णन से परे है। पिताजी कई बार उनसे कांपित्य नगरी में आने के लिये आग्रह कर चुके हैं; सुना है वह शीघ्र ही आने वाले भी हैं, तुम स्वयं देख लेना। इतना समझ लो, आर्यावर्त की हर कन्या उन्हें पति के रूप में पाने की कामना करती है; कामना तो कर ही सकती है न भाभी” बात को अंत में दीदी ने हँसी की ओर मोड़ दिया।

“हाँ, कामना तो कर ही सकती है। कृष्णा, अब आप भी श्रीकृष्ण को पति के रूप में प्राप्त करने की कामना करें।” भाभी ने हँसते हुए कहा।

मुझे लग रहा था कि मैं जैसे वर्षों से इस परिवार का अंग हूँ। कल सायंकाल अपनी माताओं के मुख पर मैंने जो एक प्रश्न देखा था, कि हम दोनों के संरक्षण का भार किसके ऊपर पड़ेगा, वह प्रातःकाल तक समाप्त हो गया था। पूरे राजभवन में यह बात फैल चुकी थी कि मेरी माता सौत्रमणि ने यज्ञकुंड से धृष्टद्युम्न के उत्पन्न होने के पश्चात् ऋषि से एक पुत्री की प्रार्थना की थी, जिसके कारण कौरवों का विनाश हो, साथ ही यह भी प्रार्थना की थी कि दोनों संतानें उनके सिवा किसी अन्य को अपनी माँ न समझें। माँ की इस अभिलाषा से मेरी शेष माताएँ प्रसन्न थीं। आज उनके मुख पर दुविधा के स्थान पर तटस्थता का भाव था।

माता सौत्रमणि आज गर्वित थीं। आज तक वह संतान सुख से वंचित थीं, किन्तु आज वह दो विशिष्ट संतानों की माता थीं। उनके हृदय का अभाव समाप्त हो गया था। वह ऐसे तृप्त थीं मानों उन्होंने गर्भधारण करके ऐसी दिव्य और सुंदर संतानों को जन्म दिया हो।

चार दिनों में ही मुझे लगने लगा कि मैं परिजनों के साथ वर्षों से रह रही हूँ। मेरी माता और मातामही प्रतिदिन मुझे जो कुछ बतातीं, मैं तत्काल ही उसे समझ जाती। उन्हें मेरी बुद्धि और स्मरण शक्ति पर आश्चर्य होता। मैंने चार दिनों में ही रहन सहन, वेशभूषा, खान पान सब कुछ अपना लिया था। मेरे माता-पिता मेरी प्रगति से संतुष्ट थे, किन्तु मेरे मन में अभी भी बहुत से प्रश्न शेष थे। मैं किससे पूछूँ यह समझ नहीं पाती थी। सबसे बड़ा प्रश्न तो मुझे स्वयं को लेकर था, कि वह कौन सा कारण था जिसके लिये मेरी और द्युम्न की उत्पत्ति की कामना मेरे माता-पिता के मन में उत्पन्न हुई। मैंने धात्री, जिन्हें मैं अब धाय माँ कहती थी, उनसे पूछने का निर्णय किया, क्योंकि वह मुझे अपनी पुत्री के समान स्नेह करती थीं, साथ ही साथ वे लगभग पैंतीस वर्षों से यहाँ थीं; उनका ज्ञान इस परिवार के बारे में सबसे अधिक था। वे मेरी माँ की विशेष सहायिका भी थीं, अतः उनके अतिरिक्त कोई अन्य मेरी जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सकता।

* * *

“महाराज द्रुपद कुछ मास पूर्व ही पांचाल देश के महाराज बने थे। एक दिन जब वे सभा में बैठे थे, एक तेजस्वी किन्तु निर्धन ब्राह्मण, सभा में आये। उस ब्राह्मण के मुख पर तेज था। उसे रोकने का साहस किसी में नहीं था, इसी कारण वे सीधे महाराज द्रुपद के समक्ष खड़े हो गये और बोले, “द्रुपद! तुमने मुझे पहचाना?”

महाराज चुप रहे। वे उन्हें पहचान गये थे। वे भारद्वाज मुनि के पुत्र द्रोण थे। भारद्वाज मुनि के आश्रम में ही महाराज के पिता ने उन्हें अध्ययन करने के लिये भेजा था। भारद्वाज मुनि, महाराज द्रुपद के पिता महाराज पृषत् के मित्र भी थे। वर्षों तक महाराज ने आश्रम में रह कर अध्ययन किया था। वहाँ द्रोण से उनकी मित्रता थी। उन्होंने द्रोण को वचन दिया था कि वे जब पांचाल देश के राजा बनेंगे, तो उन्हें यथेष्ट धन, भूमि देकर अपने निकट रखेंगे।

द्रोण अपने पिता के बाद आश्रम में निर्धनता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनका एकमात्र अबोध शिशु एक दिन दूध माँगने लगा। उसने अपने मित्रों से दूध के बारे में सुना था कि दूध, श्वेत रंग का मीठा स्वादिष्ट पेय होता है। माँ ने उसे आटे में गुड़ घोलकर पीने के लिये दे दिया। द्रोण का पुत्र उसे पीकर प्रसन्नता से नाचने लगा कि मुझे पता है दूध कैसा होता है, मैंने आज दूध पीया है।

शिशु अबोध था, किन्तु उसकी माता कृपी बहुत आहत हुई। अपने पति के समक्ष उन्होंने अपने जीवन के किसी अभाव का वर्णन कभी नहीं किया था, किन्तु आज वह अपने एकमात्र पुत्र को एक घूँट दूध भी नहीं पिला सकी। नेत्र भर आये और उन्होंने जीवन में पहली बार अपने पति को अर्थाभाव का आभास कराया। उन्होंने द्रोण से अपने मित्र महाराज द्रुपद से एक गाय माँगने के लिये कहा। द्रोण अपने मित्र के पास एक गाय माँगने आये थे। महाराज उस निर्धन ब्राह्मण को देखकर असमंजस में पड़ गये... न तो उठकर उनका सम्मान किया और न ही उन्हें प्रत्यक्ष पहचाना।

कदाचित वे सोचते थे कि यदि मैं इन्हें अपना मित्र कहूँगा, तो दरबारीगण मुझ पर हँसेंगे कि, मुझे गुरुकुल में यही मित्र मिला था। महाराज ने संकोच में उन्हें पहचानने से मना कर दिया था। तब वे उतने परिपक्व भी नहीं थे। नए नए राजा बने थे, राज मद में डूबे थे। अहंकार ने उन्हें ढक रखा था। उन्हें यह भी स्मरण नहीं रहा कि उनके बाल मित्र के पिता उनके पिता के मित्र थे और उनके गुरु थे, वे बोले, “एक राजा की एक गरीब ब्राह्मण से कैसी मित्रता? मित्रता तो समान स्तर के लोगों से होती है; हाँ आप आये हैं, इस कारण मैं आपको यथेष्ट धन दूँगा कि आप सुख से जीवन यापन कर सकें।” महाराज ने कोषाध्यक्ष को धन देने के लिये संकेत किया। वह ब्राह्मण, महाराज के आँखों में आँखें डाले देखते रहे। एक क्षण के लिये महाराजा को लगा कि वह ब्राह्मण क्रोध में आकर उन्हें शाप न दे दे, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। मैं साँस रोके धाय माँ से सुन रही थी कि वह ब्राह्मण जिस प्रकार सभा में आकर खड़े हुए थे, वैसे ही खड़े खड़े तत्काल सभा से बाहर चले गये।

बाद में महाराज दुःखी हुए। उन्होंने द्रोण को ढूँढ़ने का भी प्रयास किया, किन्तु वह अपना आश्रम छोड़कर जा चुके थे। वर्षों बीत गये, महाराज धीरे धीरे इस घटना को भूल गये। एक दिन उन्हें सूचना मिली कि द्रोण अब हस्तिनापुर में कौरवों को शिक्षा दे रहे हैं। द्रोण के हस्तिनापुर जाने की सूचना से महाराज दुःखी हुए। द्रोण उनके वही मित्र थे, जिनके साथ रहना महाराज को अच्छा लगता था। उनका युद्ध कौशल महाराज को मंत्रमुग्ध कर देता था और आजीवन मित्र बनाये रखने के लिये प्रेरित करता था। उनके जैसा युद्ध कौशल और दक्षता किसी क्षत्रिय में भी नहीं थी, किन्तु उन्हें उस समय न जाने क्या हुआ कि वे ऐसे मित्र के समक्ष ऐसा अनर्थ कर बैठे।

कुछ समय पश्चात महाराज को ज्ञात हुआ कि वे उनके यहाँ से जाने के पश्चात अपने घर न जाकर, सीधे भगवान परशुराम के पास गये। उस समय परशुराम अपना सर्वस्व दान करके वन गमन की तैयारी कर रहे थे। द्रोण को देखकर उन्होंने कहा कि “ब्राह्मण श्रेष्ठ! मेरे पास मेरा शरीर एवं धनुर्विद्या ही शेष है, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?” तब द्रोण ने उनसे सारे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग, उपसंहार तथा रहस्य सिखाने की प्रार्थना की। परशुराम ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन्हें धनुर्विद्या की सम्पूर्ण शिक्षा दी।

द्रोण अब हस्तिनापुर में आचार्य द्रोण थे। उनकी ख्याति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। जिस तीव्रता से द्रोण की ख्याति बढ़ रही थी, उतनी ही तीव्रता से महाराज की पीड़ा बढ़ रही थी। अब वे

पछता रहे थे कि यदि द्रोण आज पांचाल देश में रहते, तो उनके पुत्रों में भी अर्जुन जैसा धनुर्धर, भीम और दुर्योधन जैसे गदाधर योद्धा होते, उनके नेतृत्व में पांचाल सेना अधिक कुशल एवं समर्थ होती। उनमें ही सामर्थ्य थी कि वे आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ सेना का निर्माण कर सकते थे। महाराज के मन में कई बार यह भी आया कि जाकर क्षमा माँग लूँ, मित्र ही तो हैं... किन्तु पता नहीं कौन रोक रहा था उन्हें... राजा होने का अहंकार या अहंकारवश लिये गये तुच्छ आचरण की ग्लानि।”

धाय माँ इतना कह कर चुप हो गयीं। मैं आश्चर्य से सुन रही थी। मैंने पूछा “फिर आगे क्या हुआ?”

“एक रात्रि जब महाराज सो रहे थे, सेनाध्यक्ष ने उनसे तत्काल मिलने की अनुमति माँगी। महाराज चौंक कर उठे। सीमा प्रान्त से सूचना आयी थी कि हस्तिनापुर की सेना ने सीमा पर आक्रमण कर दिया है।

“तो क्या द्रोणाचार्य ने हमारे देश पर आक्रमण किया था?” मैंने उत्सुकता से पूछा।

“नहीं; आक्रमण किशोर युवराजों ने किया था।”

धाय माँ फिर चुप हो गयीं। मैं आगे का वर्णन सुनना चाहती थी, इसलिये पूछा ‘क्यों?’

“उनके गुरु द्रोणाचार्य ने गुरु दक्षिणा में महाराज द्रुपद को बंदी बनाकर लाने का आदेश दिया था।”

“फिर क्या हुआ?”

“महाराज, तत्काल सेना के साथ सीमा प्रान्त की ओर बढ़े। वहाँ कौरवों की छोटी सी सेना खड़ी थी। युद्ध के आरम्भ होते ही कौरवों की सेना महाराज की सेना में तीर की भाँति घुस गयी। एक युवक अपना रथ उनके रथ के निकट लाकर, फुर्ती से कूद कर महाराज के रथ पर चढ़ गया और अपनी तलवार उनके कंठ पर रख दी, युद्ध ठहर गया।”

“तुम कौन हो, क्या चाहते हो?” महाराज ने पूछा।

“मैं हस्तिनापुर नरेश पाण्डु का पुत्र अर्जुन हूँ।”

“मैं तुम्हारे देश का शत्रु नहीं हूँ, फिर तुमने हमारे देश पर आक्रमण क्यों किया?” नरेश, उस युवक के समक्ष भयभीत नहीं थे।

“मैं आपको अपने गुरु के आदेश से बंदी बनाता हूँ।”

“तुम्हारे गुरु कौन हैं?” महाराज ने पूछा।

अर्जुन मुस्कुराए। उनके मुख पर गुरु के ज्ञान का तेज झलक उठा, “वे युद्ध विद्या के महान ज्ञाता हैं; उन्होंने वर्षों तक हम लोगों को शिक्षा दी है... हमारी शिक्षा पूर्ण होने पर उन्होंने गुरु दक्षिणा स्वरूप आपको बंदी बनाकर लाने का आदेश दिया है... एक क्षण रुककर अर्जुन पुनः बोले... आप भी उन्हें जानते होंगे; उनका नाम आचार्य द्रोण है, वही हमारे गुरु हैं।”

द्रुपद, द्रोण के समक्ष खड़े थे। सारा अतीत एक बार आँखों के सामने घूम गया। द्रुपद सिंहासन पर बैठे थे और द्रोण, सभा में उनके समक्ष खड़े थे। उन्होंने उन्हें पहचानने से मना कर दिया था। मैं आश्चर्यचकित थी। महायज्ञ का अनुष्ठान करके मुझे और द्युम्न को प्राप्त करने वाले पिता, कभी बंदी बन कर सिर झुका चुके हैं।

“अब तुम्हारा राज्य मेरे अधीन है; आज कौन दरिद्र है?” द्रोण ने कहा था। “किन्तु मेरे पिता का राज्य तो उनके पास है; कौन सा राज्य द्रोण ने अर्जुन के द्वारा जीता था।” मैंने तत्काल कहा।

“बता रही हूँ।” धाय माँ ने बिना उत्सुकता व विकार के, सपाट ढंग से कहा। मेरे हृदय की

धड़कन बढ़ गयी। कहीं इसी इतिहास में तो हम दोनों के जन्म का रहस्य नहीं छिपा है। महाराज आहत हुए और द्रोण से बोले “मुझे मार डालो, किन्तु मेरा उपहास मत करो।”

“मैं तुम्हें मारना नहीं चाहता हूँ, तुम्हें अपना मित्र बनाना चाहता हूँ; किन्तु तुमने कहा था कि मित्रता समान लोगों में होती है, अतः गंगा का उत्तरी भाग में रखता हूँ और दक्षिणी क्षेत्र तुम्हें देकर अपना मित्र बनाना चाहता हूँ, स्वीकार है?”

महाराज चुप रहे।

एक राजा के अपमान का बोझ एक ब्राह्मण ने अपने कंधे से उतार कर फेंक दिया, किन्तु उस ब्राह्मण का अपमान एक क्षत्रिय नरेश के ऊपर कई गुणा अधिक भारी होकर बढ़ गया। महाराज, आधा राज्य गँवाकर और जीवन भर के अपमान का बोझ लेकर कांपित्य नगरी लौट आये।

धीरे धीरे सब कुछ सामान्य होने लगा, किन्तु सब कुछ सामान्य होते हुए भी सामान्य नहीं था। महाराज चिंता में डूबे रहते थे, अपमान की ज्वाला से उनका हृदय धधकता रहता था। वे द्रोण को परास्त करके उनका वध करके अपने अपमान का बदला लेना चाहते थे, किन्तु द्रोण कोई साधारण योद्धा नहीं थे और न ही उनके शिष्य ही साधारण थे, इसलिये महाराज अपनी इच्छा पूर्ति के लिये कोई युक्ति ढूँढ़ रहे थे।

उन्हें पता चला कि पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा ऐसी संतान प्राप्त की जा सकती है जो कि उनकी मनोकामना पूरी कर सके। महाराज ने अनेक ऋषियों से इस प्रकार का यज्ञ कराने की प्रार्थना की, किन्तु सबने मना कर दिया। एक ब्राह्मण की हत्या के लिये एक ऋषि, यज्ञ करवा कर साधन उपलब्ध करवाये, कदापि नहीं।

एक दिन ज्ञात हुआ कि दो ऋषि भाई याज और उपयाज, यज्ञ के द्वारा इच्छित पुत्र की प्राप्ति करवा सकते हैं, जो द्रोणाचार्य का वध कर सके। ये ऋषि बंधु अन्य ऋषियों के विपरीत बहुत लालची थे। महाराज ने उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार धन देने का प्रस्ताव रखा, तब जाकर उन्होंने यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया।

एक दिव्य रथ का निर्माण कराया गया, जिस पर बैठकर महाराज का इच्छा पुत्र, युद्ध में द्रोण का वध करेगा। यज्ञशाला में उस रथ को भी मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित किया गया था। पन्द्रह दिनों तक यज्ञ चलता रहा। महाराज और महारानी दोनों ने अन्न त्याग दिया था, वे केवल दूध और फल खाते थे, वह भी संध्या के समय। हम सभी लोग एक विचित्र मनःस्थिति में जी रहे थे कि क्या होगा।

इस यज्ञ को लेकर किसी के मन में भय था, तो किसी के संदेह और किसी को पूर्ण विश्वास। जैसे जैसे दिन बीतता जा रहा था, हमारी चिंता भी बढ़ती जा रही थी कि यदि यज्ञ सफल नहीं हुआ तो क्या होगा? मैंने भी अन्न त्याग दिया था, सायंकाल थोड़ा सा दूध फल खा लेती थी। धाय माँ अपनी गाथा सुनाने लगी थीं। मैंने बीच में रोक कर पूछा

“फिर क्या हुआ?”

“अंत में वह दिन भी आया। महाराज और महारानी, यज्ञ कुंड में अंतिम आहुति डालने के लिये खड़े हुए। उपस्थित जन समुदाय की साँस एक क्षण के लिये रुक गयी। पाठ करने वाले सौ से अधिक ब्राह्मणों का स्वर भी भय मिश्रित उत्तेजना से काँपने लगा था।

यज्ञ कुंड में अंतिम आहुति के पड़ते ही अग्नि की ज्वाला, यज्ञ मण्डप के शिखर तक धधक उठी। उस ताप को महाराज महारानी सह न पाये और दो पग पीछे हट गये। उस ज्वाला के तीव्र

प्रकाश से सबकी आँखें चौंधिया गई थीं। उसी धधकती ज्वाला के भीतर से एक युवक ने यज्ञकुंड से बाहर पैर रखा। उनकी आभा स्वर्ण के समान थी, वे साक्षात् अग्निदेव के पुत्र लगते थे। उनके शरीर पर उत्तम कोटि का स्वर्णिम कवच था और उनके हाथों में खड्ग ढाल था। उस अग्निपुंज से निकलकर वे दिव्य रथ पर चढ़ गये और मेघ के समान घोर गर्जन करने लगे। उनकी गर्जना के उत्तर में विशाल पांचाल समुदाय भी गरज उठा।

उसके बाद आप उत्पन्न हुई। आपकी माता की इच्छा थी कि उनकी एक पुत्री हो, जो कौरवों का विनाश कर सके।

महाराज तो केवल द्रोणाचार्य से ही बदला लेना चाहते थे, किन्तु महारानी अपने पति को पराजित करके बंदी बनाने वाले कुल का भी विनाश चाहती थीं, अतः उन्होंने अन्त में अपनी इच्छा, ऋषि के समक्ष रख दी। ऋषि ने एक क्षण के लिये सोचा और बोले, ‘दिया।’ आप यज्ञ वेदी से उठने वाले धुएँ के मध्य से प्रकट हुईं।” धाय माँ इतना कह कर चुप हो गयीं। यज्ञ मण्डल की स्मृति मेरे मस्तिष्क में एकदम ताजा थी... मैंने द्युम्न को रथ पर बैठ कर गर्जना करते हुए देखा था।

“आपकी माता ने आगे बढ़कर आपको सहारा देकर वेदी से उतारा।”

“मुझे याद है, लेकिन इसके पहले भी मेरी माता ने या ऋषि ने कुछ कहा था?” मेरी उत्पत्ति के पूर्व मेरे विषय में जानना कुछ शेष है या नहीं, यह सोचकर मैंने धाय माँ से पूछा। धाय माँ कुछ समय चुप रहीं। पुनः सोचते हुए बोलीं, “हाँ, ऋषि ने कहा था कि, “यह कन्या भी विशेष होगी और इसके कारण भारत वर्ष का इतिहास बदल जायेगा।”

“सच में ऐसा कहा था ऋषियों ने!”

“हाँ राजकुमारी, यह सत्य है।” कह कर धाय माँ चुप हो गयीं।

मैं सोचने लगी, यज्ञ का आयोजन तो पुत्र की इच्छा के लिये हुआ था, जो द्रोण का वध कर सके; किन्तु मैं कौन सा इतिहास बदलने का कारण बनूँगी। भारतवर्ष कोई छोटा राज्य तो नहीं है, वह तो एक विशाल भू-खण्ड है, जिसके अंतर्गत अनेक राजा महाराजा हैं। क्या बदलेगा? सारे राज्य मिल कर एक बड़ा राज्य बन जायेंगे? किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि मैंने आकाशबाणी के शब्दों को सुना था... ‘क्षत्रियों का विनाश’ सुनने में मुझे कोई भ्रम नहीं हुआ था। तो क्या कोई भयंकर विनाश भारतवर्ष का इतिहास बदलेगा?

* * *

मेरे और द्युम्न दोनों के शिक्षा की अलग-अलग व्यवस्था हुई। मेरे लिये साहित्य और ललित कलाओं की, तथा द्युम्न के लिये सैन्य शिक्षा के साथ साथ साहित्य धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि विषयों की। मुझे यह अन्तर अच्छा नहीं लगता था; मैं भी सभी विषयों का अध्ययन करना चाहती थी।

हम दोनों साहित्य और कला की शिक्षा, आचार्य से एक साथ ही लेते थे, किन्तु कला का मेरा क्षेत्र विस्तृत था। द्युम्न जहाँ कलाओं की परख की शिक्षा ग्रहण करते थे, वहाँ मुझे कलाओं में निपुण बनाने का प्रयास किया जा रहा था। साहित्य में मेरी रुचि थी... काव्य तो मेरा प्रिय विषय था; मैं उसे पढ़ती और उसी में डूब जाती, मन अपने आप कविताएँ करने लगा और मैं उसे पुस्तिका पर अंकित करने लगी।

कलाओं में मुझे चित्रकला रुचिकर लगती थी। मेरी आलेखन पुस्तिका में परिवार के अधिकांश सदस्यों के चित्र, दृश्य, फूल पौधे, पशु पक्षी के चित्र अंकित हैं। मेरा किसी व्यक्ति का हूबहू चित्र

बना लेना लोगों को आश्चर्यचकित करता था, किन्तु कविताएँ मेरी व्यक्तिगत थीं मेरे अंतर्जीवन के साक्ष्य जैसी, जिसे मैंने कभी किसी को नहीं पढ़ाया।

मैं अपनी शिक्षा समाप्त होने के बाद भी वहाँ से नहीं उठती थी, द्युम्न के साथ बैठी रहती थी। आचार्य कुछ नहीं कहते और द्युम्न को पढ़ाते रहते। द्युम्न चुप रहते, किन्तु मैं नहीं। चाहे न्याय शास्त्र हो या अर्थशास्त्र, द्युम्न आचार्य की कही बातों को ग्रहण करते थे, वे प्रश्न कम ही उठाते थे; किन्तु मेरा अध्ययन प्रश्न से ही आरम्भ होता था।

धर्म की शिक्षा देने वाले आचार्य के समक्ष मैं अत्यधिक प्रश्न करती थी। परंपरा से चले आ रहे तथ्य व अवधारणा मुझे उसी रूप में स्वीकार नहीं थी, मैं उन अवधारणाओं के पीछे छुपे हुए तथ्यों को जानना चाहती थी। आचार्य कभी कभी मेरे प्रश्नों के समक्ष निरुत्तर हो जाते थे, या उनके उत्तर मुझे संतुष्ट नहीं करते थे और तब वहाँ से मेरा अपना चिंतन आरम्भ होता था।

द्युम्न के कई विषयों की शिक्षा राजभवन के बाह्य भाग में होती थी। मेरी भी इच्छा होती कि मैं वहाँ भी द्युम्न के साथ जाकर पढ़ूँ... देखूँ कि न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र में कौन कौन सा ज्ञान छिपा है। किन्तु मुझे मातामही और पिताश्री से इसके लिये अनुमति नहीं मिली।

जब द्युम्न बाहर आचार्यों से इसकी शिक्षा लेते थे, तो उस समय मुझे भीतरी भाग में स्त्रियोचित शिक्षा दी जाती थी। अनेक कुशल महिलाएँ मुझे चौंसठ कलाओं में पारंगत बनाने के लिये प्रयास करती थीं। यह प्रयास हम दोनों के लिये ही दुःसह होता था, किन्तु हम दोनों ही विवश रहते थे। मैंने आधारभूत संगीत और लोकगीत का भी अभ्यास किया। आधारभूत संगीत की शिक्षा आचार्य देते थे, किन्तु लोकगीत और ढोलक बजाना, सिखाने का दायित्व एक शिक्षिका, चित्रा को दिया गया।

मातामही का कड़ा आदेश है, मुझे बैठना ही पड़ता है; यद्यपि मेरे मन में कभी भी इन कलाओं को सीखने की इच्छा नहीं रही। चित्रा, ढोलक के दोनों ओर सधे हाथों से थाप देती थी, किन्तु मेरा हाथ उस ताल को नहीं पकड़ पाता था। आज मातामही भी बैठी हैं। उन्हें ज्ञात है कि मैं चित्रा के वंश में आने वाली नहीं हूँ। एकाध बार उसने ढोलक पर हाथ चलाकर दिखाया और पुनः मुझसे वैसे ही चलाने के लिये कहा। मैं अलग अलग दोनों ओर चला ले गई, किन्तु तालबद्ध ढंग से दोनों ओर थाप देना मेरे वंश का नहीं था। चित्रा, ढोलक वापस लेकर थाप देकर गाने लगी... भाव और अर्थ मेरे समक्ष खुलने लगे।

रामचंद्र जी ने अयोध्या में यज्ञ का आयोजन किया है, किन्तु सीता, वन में हैं। यज्ञ में उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। रामचन्द्र, आश्रम में सीताजी के समक्ष खड़े सीता से क्षमा माँग रहे हैं और अयोध्या चलने का अनुरोध कर रहे हैं। सीता आहत होती हैं कि आज स्वार्थ के कारण उन्हें मेरी सुधि आयी है। राम आगे बढ़कर सीता का स्पर्श करना चाहते हैं, अब सीता फुफकार उठती हैं, “हट जाओ निर्दयी राम” और धरती माता से अनुरोध करती हैं कि, वे उन्हें अपनी गोद में छिपा लें... और धरती फट जाती है। उसके भीतर से निकलने वाले स्वर्ण सिंहासन पर बैठकर सीता धरती की गोद में समा जाती हैं। मातामही शांत होकर सुन रही थी।

सीता का प्रसंग मेरे लिये नया नहीं था, किन्तु आज गीत सुनकर मैं पुनः विचार करने लगी, ‘हट जाओ निर्दयी राम!’ गीत में राम के लिए इस प्रकार का संबोधन! हाँ, विद्वजन ऐसा संबोधन मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिये नहीं गढ़ सकते थे। गढ़ा तो लोक मानस ने, उसमें भी छोटे वर्ण की दासी ने, जहाँ जीवन यापन के लिये अर्थोपार्जन में उसकी भागीदारी पति के समान है। वह अपने

पति के अनुचित आचरण पर उसकी भ्रसना कर सकती है; किन्तु इस राज परिवार की स्त्रियाँ, जहाँ पुरुष की ही सत्ता है, भ्रसना करना तो दूर, विरोध में मुँह भी नहीं खोल सकतीं। लोकगीत, लोक मानस में रचे जाते हैं, उनका जीवन उन गीतों में बसता है। आज चित्रा का एक पत्नी के रूप में व्यक्तित्व, मुझे राज परिवार की स्त्रियों से अधिक समर्थ और सुदृढ़ लग रहा था।

गीत तो वहीं रह गया, मैं सोचने लगी, यदि जनमानस स्त्री को सीता जैसी बनने की शिक्षा देता है, तो उसकी शिक्षा में केवल इतना ही क्यों समाहित रहता है कि पति, सास-ससुर की सेवा करो, सब कुछ सह कर मौन रहो... स्त्रियों को यह क्यों नहीं बताया जाता है कि यदि पति का आचरण अनुचित है, तो ऐसे पति का सर्वथा परित्याग कर दो, जैसे कि सीता ने कर दिया था। यदि मेरे पति मेरे साथ अनुचित व्यवहार करेंगे, तो मैं भी उन्हें त्याग दूँगी, मेरे मन ने भीतर ही भीतर एक निश्चय ले लिया।

पाक कला में मेरी रुचि है; मेरे बनाये पकवान को मातामही और द्युम्न बड़े प्रेम से खाते हैं और प्रशंसा भी करते हैं। मातामही कहती हैं कि कृष्णा जैसा भोजन बनाने की कला किसी में नहीं है। जितनी शीघ्रता से द्युम्न, खड्ग चलाते और शर संधान करते, उतनी ही शीघ्रता से मैं चार चार चूल्हों पर एक साथ चार चार पकवान बनाती थी। मातामही मुझे भोजन पकाते देखतीं तो मंत्रमुग्ध रह जाती हैं। मेरी यह कला और क्षमता मुझे अन्य कलाओं को न सीखने की इच्छा में तारणहार बन जाती है। मैं प्रतिदिन पाकशाला में जाकर कोई न कोई व्यञ्जन नये ढंग से अपने हाथों से बनाती हूँ। द्युम्न परिहास करते हैं कि, “मैं पिताजी से कहूँगा कि इसका विवाह खूब बड़े परिवार में करें, जिससे इसे प्रतिदिन ढेर सारे लोगों के लिये भोजन बनाने का सुख मिलता रहे।”

“मैं प्रतिदिन क्यों भोजन बनाऊँगी? हाँ, कभी इच्छा होगी तो कोई पकवान बना दूँगी।” मैं तत्काल उत्तर देती थी।

“मैं वर पक्ष के लोगों से तुम्हारा गुणगान करते समय यह भी कहूँगा कि महोदय, आपको अपने पाकशाला के लिये रसोइये की आवश्यकता नहीं होगी, हमारी कृष्णा सौ लोगों का भोजन बिना किसी सहायक के प्रसन्नतापूर्वक तैयार कर लेती है।”

मैं भी कुछ बोलना चाह रही थी कि मातामही बोल उठीं, “अरे, कृष्णा, पति के हृदय का मार्ग उसकी जिह्वा से होकर जाता है; तू तो अपने हाथ के भोजन से पति को ही नहीं पूरे परिवार का हृदय जीत लेगी।”

द्युम्न हँसते हुए हाथ धोकर बाहर चले गये।

आचार्य हम दोनों को पढ़ा रहे थे। प्रसंग त्रेता युग के श्री रामचंद्र जी का था, कि किस प्रकार उन्होंने आततायी राक्षसों को मार कर पृथ्वी पर धर्म की स्थापना की थी। आचार्य ने आगे कहना आरम्भ किया, “पृथ्वी पर जब जब अधर्म बढ़ जाता है, तब तब भगवान विष्णु अवतार लेकर पृथ्वी पर आते हैं और दुष्टों का संहार करके पुनः धर्म की स्थापना करते हैं।”

मैंने पूछा, “यह तो द्वापर युग है, क्या इस युग में भी जब पाप बढ़ जायेगा, दुष्टजन, सज्जनों को कष्ट देने लगेंगे तो पुनः ईश्वर का अवतार होगा?”

“हाँ, काल गणना के अनुसार ईश्वर का अवतार हो चुका है।”

‘कहाँ?’ मैंने आश्चर्य से पूछा।

“मथुरा में... गणना से यह अवतार श्रीकृष्ण के रूप में संभव है; उन्होंने अपने बाल्यकाल में ही अनेक असंभव कार्य किए हैं, अनेक राक्षसों का वध किया है, इन्द्र तक को चुनौती देकर गोवर्धन

पर्वत को अपनी तर्जनी पर उठा लिया था...।”

आचार्य कह रहे थे, मैं अभिभूत सी सुन रही थी। तो क्या श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष हैं! उनका जन्म दुष्टों के विनाश के लिये हुआ है। सहसा मेरे समक्ष मेरे जन्म की भविष्यवाणी घूम गयी, ‘इसके कारण दुष्टों में बड़ा भय उत्पन्न होगा, यह पृथ्वी पर अधर्म का विनाश करके धर्म की स्थापना के लिये उत्पन्न हुई है।’

मैं और कृष्ण... क्या ईश्वर ने दोनों को एक ही उद्देश्य से पैदा किया है? नाम में भी तो कितना साम्य है, कृष्ण और कृष्णा। आचार्य कहते जा रहे थे ... यह सृष्टि समाप्त हो जायेगी और तब नया युग आरम्भ होगा, कलियुग... उस युग में भी जब पाप बढ़ जायेगा, ईश्वर गौड़ ब्राह्मण के घर में कल्कि नाम से अवतार लेंगे और पापियों का संहार करेंगे; इसके पश्चात सतयुग की स्थापना होगी।

मेरा मन उचट गया था। आचार्य से क्षमा माँगकर उठ गई। आचार्य आश्चर्यचकित थे कि मैं प्रतिदिन की भाँति तर्क न करके आज केवल श्रोता बनी रही।

* * *

मातामही का प्रयास रहता था कि मैं राजपरिवार की अन्य कन्याओं और वधुओं की भाँति बैठकर आपस में बातचीत करूँ, उनके जैसी सज्जें सँवरूँ, चादरों पर बेल बूटे काढ़ूँ, किन्तु मुझे अन्य स्त्रियों की भाँति दिन भर भारी साड़ी और जेवरों से लदे हुए इधर-उधर बैठ कर बातें करना, मुँह में पान चबाते हुए घूमना अच्छा नहीं लगता था और न ही उन कन्याओं और वधुओं को मेरे साहचर्य की लालसा थी।

मेरी माता और मातामही मेरा अध्ययन रुकवाने के विषय में सोच रही थीं, क्योंकि जितना ज्ञान मैं अर्जित कर चुकी थी, उनके विचार में उतना भी आवश्यकता से अधिक था। किन्तु एक दिन महर्षि व्यास ने मेरे पिता से मुझे सभी विषयों का अध्ययन करवाने के लिये कहा, तो सभी आश्चर्य चकित रह गये। त्रिकालदर्शी महर्षि व्यास ने मेरे भावी जीवन में इसकी आवश्यकता समझी होगी। कारण पूछने का प्रश्न ही नहीं था। पिताश्री ने उनका आदेश शिरोधार्य कर लिया। अब मैं प्रसन्न थी।

मेरी शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हो गया। द्युम्न के साथ साथ आचार्य मुझे भी पढ़ाने लगे। तर्कशास्त्र, कर व्यवस्था, न्याय पद्धति, धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र सभी विषयों की शिक्षा के समय मेरे मस्तिष्क में तत्काल प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं और मैं आचार्य के समक्ष उन्हें रखती हूँ। मेरी शिक्षा द्युम्न के विपरीत, तार्किक रहती है।

मेरे आचार्य कहते हैं कि क्षत्रियों के लिये युद्ध में वीरगति प्राप्त करना गर्व की बात है। क्षत्राणियों को भी अपने पति, पुत्रों एवं बंधुओं को प्रसन्नता पूर्वक युद्ध में भेजना चाहिए... वे युद्ध में गये हैं, इस कारण उन्हें गर्वित होना चाहिए न कि भय से ईश्वर के समक्ष उनके प्राणों की रक्षा के लिये प्रार्थना करनी चाहिए। यदि वे वीरगति प्राप्त करते हैं तो भी उन्हें प्रसन्न होना चाहिए कि वे स्वर्ग में देवताओं के साथ विराजमान हो रहे हैं।

मैं इस धारणा से सहमत नहीं हूँ। मैं कभी भी द्युम्न को युद्ध क्षेत्र में नहीं भेजना चाहूँगी; अपने पति और पुत्रों को भी नहीं। मुझे तो अपने प्रिय जन अपने पास चाहिए... मुझे युद्ध नहीं चाहिए। विधाता ने पुरुषों में युद्ध की लालसा क्यों दी है!

मेरा अध्ययन अबाध रूप से चल रहा था। मैं द्युम्न की भाँति खड्ग का अभ्यास नहीं कर

सकती थी, किन्तु युद्ध से सम्बन्धित पुस्तकीय ज्ञान को ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं थी। मैं भी द्युम्न के साथ बैठती। आचार्य जब द्युम्न से प्रश्न करते तो मैं तत्काल उत्तर देती। आचार्य झुँझला जाते और कहते “राजकुमारी, राजकुमार धृष्टद्युम्न जब युद्ध क्षेत्र में जायेंगे, उस समय आप इनके साथ नहीं रहेंगी, अतः इन्हें एकाग्रचित्त होकर सीखने दीजिए। आचार्य का स्पष्ट संकेत मुझे वहाँ से जाने के लिये रहता था, किन्तु मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होता। यदि द्युम्न संकेत करते तो मैं अवश्य वहाँ से उठ जाती और दूसरे कक्ष में बैठकर पर्दे के पीछे से सुनती रहती।

आचार्य को मेरे पर्दे के पीछे होने का आभास रहता था, किन्तु वे मौन रहते थे। आचार्य विवश रहते थे। मेरी जिज्ञासाएँ और तर्क कभी समाप्त ही नहीं होते थे। आचार्यों ने संकेत से मातामही के पास निवेदन किया कि मेरे कारण राजकुमार का अध्ययन में ध्यान भंग होता है। मातामही ने एक दिन स्नेह से मुझे अपने पास बिठाया और पूछा, “आचार्य तुम्हें जो कुछ पढ़ाते हैं, उसे तुम ग्रहण करती हो न?” “अधिकांशतः नहीं, क्योंकि वह ज्ञान पूरा उसी रूप में मुझे ग्राह्य नहीं होता; मेरे मन में प्रश्न उठते हैं, मैं उन्हें आचार्य के समक्ष रखती हूँ और कभी कभी तो दो आचार्यों के पढ़ाये गये विषयों में विरोधाभास झलकता है तो मैं आचार्यों से उसका निराकरण करने के लिये कहती हूँ, तर्क वितर्क करती हूँ और अंत में मुझे जो उचित लगता है उसे ही ग्रहण करती हूँ।” मातामही को मुझसे इतने स्पष्ट उत्तर की अपेक्षा नहीं थी। मैं मातामही के समक्ष आचार्यों के ‘निवेदन’ से अनभिज्ञ नहीं थी। मातामही ने मुझे समझाने का प्रयास किया कि, “स्त्रियों को अधिक तार्किक नहीं होना चाहिये; सदैव तर्क करने की प्रवृत्ति उनके वैवाहिक जीवन में कटुता पैदा करने वाली होती है।”

‘क्यों?’ मैं अपने स्वभाव के अनुसार प्रश्न कर बैठी।

“कुछ प्रश्नों को मन में दबा लेना ही ठीक रहता है; कभी कभी असमय उठाया गया प्रश्न स्वयं को विकट स्थिति में डाल देता है।” मैं चुप रही। “तुम्हारा अपनी बौद्धिकता का प्रदर्शन भी ठीक नहीं है... इसी कारण लोग तुम्हें अहंकारी कहते हैं, बहने व अन्य बहुएँ तुमसे खुलकर बात नहीं करती हैं; तुम्हारे आचार्य प्रत्यक्ष तो कुछ नहीं कहते हैं किन्तु उनकी बातों से लगता है कि तुम उनके समक्ष भी शिष्टाचार नहीं करती। श्वसुर कुल में जाओगी, पति भी इस प्रकार का आचरण सहन नहीं करेंगे। पुत्री, पति को ज्ञान तर्क और बौद्धिकता से वश में नहीं किया जा सकता, उन्हें तो प्रेम, सेवा और सम्मान से वश में किया जाता है...। मातामही ने अपने वार्तालाप का अंतिम भाग बड़े स्नेह व कोमलता से कहा।

मुझे भी लगा कि वे मुझे स्नेह से ही वश में कर सकती हैं, अधिकार और अनुशासन से मैं किसी के वश में नहीं आने वाली हूँ यह मैं भी भली-भाँति जानती हूँ... तुम्हें अन्य स्त्रियोचित ज्ञान व कलायें भी सीखनी चाहिए। तुम्हें न तो शिल्प आता है न संगीत, न पुष्प सज्जा और न ही प्रसाधन और केश विन्यास... किसी का भी न तो तुम्हें पूर्ण ज्ञान है और न ही सीखने की इच्छा; ले देकर एक रसोई बनाना जानती हो; विवाह के बाद इन पुस्तकों के ज्ञान और तर्क से जीवन नहीं चलेगा, बहुत हो गयी तुम्हारी शिक्षा।”

कहने को तो मातामही कह गयीं, किन्तु वह जानती थीं कि उनके कहने से कोई अन्तर नहीं आने वाला है, क्योंकि मेरी शिक्षा की व्यवस्था महर्षि व्यास के कहने से हुई है, अतः वह मातामही के कारण रुकने वाली नहीं हैं। मैं थोड़ी देर उनके पास बैठकर वापस आ गयी।

द्युम्न प्रातःकाल उठ जाते और नित्यकर्म से निवृत्त होकर तलवार चलाना, विभिन्न प्रकार के

तीरों को पहचानना और उन्हें छोड़ना, रथ, गदा, अश्व संचालन, भाला फेंकना आदि का अभ्यास करते। जब मैं उनसे इस विषय में पूछती तो कभी बताते और कभी टाल जाते कि तुम्हें यह सब जानने की क्या आवश्यकता है, वैसे भी मैं तुम्हें बहुत कुछ बता चुका हूँ।

मैंने दिव्यारूतों के बारे में सुना था। मुझे विश्वास था कि वे द्युम्न के पास होंगे। मैंने उन्हें दिखाने के लिये कहा तो द्युम्न हँसने लगे। उन्होंने मुझे बताया कि दैवीय अस्त्र क्या हैं, कैसे मंत्रों द्वारा उनका आवाहन किया जाता है और कैसे वह अपना कार्य करके वापस चले जाते हैं। मैंने कहा, एक अस्त्र का आवाहन करके मुझे दिखाइये, तो उन्होंने मुझे बताया कि उन्हें व्यर्थ में नहीं बुलाया जा सकता है और उनका उपयोग भी सही ढंग से होना चाहिए, अन्यथा वे सम्पूर्ण सृष्टि को ही नष्ट कर डालेंगे।

मातामही मेरी अन्य शिक्षाओं के प्रति सदैव सचेत रही। मेरी उदासीनता भी उन्हें विचलित नहीं कर पायी। मेरे कक्ष में अनेक स्त्रियों का आना जाना लगा रहता था। मैं अनिच्छा से ही सही पर सब कुछ सीखती हूँ। इन स्त्रियों में एक चन्द्रकला है, वह मुझे लोगों के बीच कैसे बोलना, उठना बैठना चाहिये, किस प्रकार से पति का हृदय जीतना चाहिए, जब कि महाराजाओं की एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं; उन्हें कैसे अधिक से अधिक समय तक अपने आकर्षण में बाँधकर रखा जाए, समझाने का प्रयास कर रही है। “मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानती हूँ कि मेरे पति मुझे पाकर गौरवान्वित होंगे और आजीवन किसी दूसरी स्त्री की कामना उनके हृदय में नहीं उठेगी।” मेरे कहने पर चन्द्रकला हँसने लगी। “राजकुमारी! पुरुष जाति का मन बहुत शीघ्र ही एक स्त्री से भर जाता है; आपके पति भी कुछ समय बाद आप से बहुत कम आयु की राजकुमारी को अपनी पत्नी बनाएँगे, उसके बाद अन्य को... यह सिलसिला कब तक चलेगा, पता नहीं। कदाचित् तब, तक जब तक कि उनके पुत्रों का विवाह न होने लगे।” “नहीं चन्द्रकला; मैं रूपवती हूँ, अग्नि से उत्पन्न होने के कारण गौरव शालिनी भी हूँ, मुझे सपत्नी का भय नहीं है।” मैंने किंचित अहंकार से कहा। “नहीं राजकुमारी, पुरुष के मन में एक को प्राप्त करते ही दूसरी की कामना जन्म लेने लगती है, अतः आप भी अन्य राजकुमारियों की भाँति स्वयं को इस सत्य के साक्षात्कार के लिये सदैव प्रस्तुत रखें, अन्यथा आपको भारी आघात लगेगा। निःसंदेह आप अपूर्व सुन्दरी, गौरव शालिनी और विदुषी हैं; जितने गुण व क्षमताएँ आपमें हैं, किसी एक स्त्री में असंभव है, किन्तु...।”

चन्द्रकला ने जिस विश्वास से अपनी बात कही, उससे मेरे विश्वास में एक दरार सी पैदा होने लगी, क्या मैं अपने पति का अन्य स्त्री से विवाह सहन कर पाऊँगी? कदापि नहीं। मेरे मन ने मुझे उत्तर दिया। मैंने चन्द्रकला से कहा, “मैं उनसे वचन लूँगी कि वे अन्य स्त्री से विवाह न करें।”

चन्द्रकला पुनः हँसने लगी, “राजकुमारी, पुरुष अपनी पत्नियों से किए गये इस प्रकार के वचन को सदैव ही तोड़ते रहते हैं।”

चन्द्रकला ठीक कह रही थी। मेरे पिता की तीन पत्नियाँ हैं, श्रीकृष्ण की आठ पत्नियाँ हैं। उन्होंने भी तो कितनी पत्नियों के दिये गये वचनों को तोड़ा होगा। एक अज्ञात भय चुपके से मेरे अंतःकरण में आकर बैठ गया।

चन्द्रकला मुझे बता रही है कि राजमहल की अन्य स्त्रियों के साथ मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिए। अभी मैं पितृकुल में हूँ, इस कारण मेरा मेरे पिता की अन्य पत्नियों के साथ व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए; मेरे पिता की अन्य संतानों के साथ मेरा मेलजोल, बातचीत कैसी होनी

चाहिए। मैं उससे अपने स्वभाव के अनुरूप तर्क वितर्क कर रही थी कि चन्द्रकला ने कहा, “राजकुमारी! आप अपने ज्ञान को अपने भीतर समेटने का प्रयास करें; इनका आपके व्यवहार में प्रकट होना, न तो पितृकुल में आपकी मर्यादा बढ़ायेगा और न ही श्वसुर कुल में आपके सुख सौभाग्य को... यदि आप अपने अहंकार को नियंत्रित करने में सफल हो गईं, तो आपका आगामी जीवन अधिक सुखद रहेगा।”

मुझे आश्चर्य हुआ क्या मुझ में ज्ञान का अहंकार है। मैंने कहा, “मैं तो केवल गौरव और आत्मसम्मान के साथ रहती हूँ; मेरा आत्मसम्मान से रहना अन्य लोगों को मेरा अहंकार क्यों लगता है?”

चन्द्रकला कुछ क्षण चुप रही, फिर बोली, “आप गौरव व आत्मसम्मान से रहती हैं, इसमें अलग क्या है? यहाँ सभी स्त्रियाँ आत्मसम्मान के साथ रह रही हैं; राजभवन में आपके समान आयु की आपकी बहनें और भाभियाँ हैं, आपस में सब मिलती जुलती हैं, हास परिहास करती हैं, किन्तु आपके निकट नहीं आती हैं... आपसे उनकी आत्मीयता क्यों नहीं है, कभी आपने विचार किया?”

मैं सोचने लगी। चन्द्रकला सच कह रही है। इस प्रकार बैठकर आपस में हास परिहास करने में मेरी रुचि नहीं थी और न ही उनकी बातें मुझे अपने बौद्धिक स्तर की लगती थीं, अतः मैंने कभी इनके निकट जाने का प्रयास ही नहीं किया। कभी कभी मुझे यह अवश्य लगता था कि मैं इनसे इतनी अधिक भिन्न क्यों हूँ... किन्तु मैं इस विचार को अपने मन से झटक देती थी कि यदि मेरी उत्पत्ति भिन्न है, तो सामान्य राजकन्याओं जैसी मेरी रुचियाँ कैसे हो सकती हैं।

* * *

मैंने अपनी सम्पूर्ण शिक्षा, जिसे लोग वर्षों में प्राप्त करते हैं, उसे वर्ष भर में ही पूर्ण कर लिया। आचार्यों ने पिता से निवेदन किया कि राजकुमारी सभी विषयों और कलाओं में निष्णात हो गयी हैं, अतः अब वे स्वाध्याय और अभ्यास करें।

कभी कभी मुझे लोगों के मुख पर एक प्रश्न दिखाई देता है, यहाँ तक कि मेरी माता सौत्रमणि और पिता द्रुपद के मुख पर भी यह प्रश्न झलकता है कि क्या मैं एक सामान्य स्त्री की भाँति अपना जीवन बिता पाऊँगी, क्योंकि मैं सामान्य ढंग से उत्पन्न नहीं हुई हूँ और उस समय की आकाशवाणी उन्हें भयभीत करती है।

हम दोनों में बहुत कुछ समान होते हुए भी बहुत अन्तर है। मैं किसी विनाशकारी घटना का कारण हूँ और द्युम्न एक इच्छापूर्ति का साधन। कारण को टाला जा सकता है; कम से कम टालने का प्रयास तो किया ही जा सकता है; किन्तु अदम्य इच्छा, जिसकी पूर्ति का साधन प्राप्त कर लिया गया हो, उस इच्छा को मन में समेट लेना सरल नहीं है।

द्युम्न अपने जन्म का कारण जानते हैं। पिता की जिस अदम्य इच्छा के कारण उनका जन्म हुआ है और उन्हें क्या करना है, वे यह भी जानते हैं। लक्ष्य में कोई दुविधा नहीं है कि आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ योद्धा द्रोण का उन्हें वध करना है... कदाचित्त इस कारण वे स्वभाव से भी गंभीर हैं। उनकी यह गंभीरता उनके व्यक्तित्व को एक भव्यता देती है। पिताश्री उन्हें कठिन सैन्य शिक्षा दिलवा रहे हैं और द्युम्न पूरी निष्ठा और परिश्रम से अभ्यास कर रहे हैं।

मैं ही नहीं, सम्पूर्ण आर्यावर्त इस सत्य को जानता है कि द्युम्न का जन्म द्रोण के वध के लिये ही हुआ है। कभी कभी मेरे और द्युम्न के हृदय में एक संशय सिर उठाने लगता है कि द्रोण जैसे

दुर्धर्ष योद्धा को युम्न कैसे मार पायेंगे? युम्न युवा हैं, शक्तिशाली हैं, दिन दिन उनका पराक्रम निखर रहा है, किन्तु संशय कभी साथ नहीं छोड़ता है।

आज द्रोणाचार्य और युम्न की कोई तुलना नहीं है, किन्तु भविष्य में क्या युम्न इतने पराक्रमी हो जायेंगे कि द्रोणाचार्य का पराक्रम उनके आगे फीका पड़ जायेगा? अन्यथा कैसे? ऋषि का यज्ञ तो असफल नहीं हो सकता है। युम्न, यज्ञ की ज्वाला से दैवीय कवच और अस्त्र शस्त्र के साथ प्रकट हुए थे, अतः परिणाम में संशय नहीं है, किन्तु मन में नाना प्रकार के प्रश्न उठते ही रहते हैं।

मैं और युम्न कभी कभी अपने भविष्य की बातें करते हैं, क्योंकि हम दोनों का भविष्य अन्य लोगों की भाँति सीधा और सरल नहीं है। क्या द्रोण वध के पश्चात मेरे पिता के लिये युम्न की उपयोगिता समाप्त हो जायेगी, क्या बाद में भी पिताश्री इतना ही स्नेह युम्न पर बनाये रखेंगे? मेरे प्रश्नों का मुझे कोई उत्तर नहीं मिलता। मुझे चिंता होती है, क्योंकि द्रोण वध के बाद का उनका भविष्य ज्ञात नहीं, ऋषियों ने भी इस विषय में कुछ नहीं बताया था। पिताश्री के हृदय में उस इच्छा के आगे इस इच्छा पुत्र के भविष्य के लिये कोई इच्छा भी तो नहीं उत्पन्न हुई थी।

समस्त क्षत्रियों के विनाश के बाद मेरा क्या भविष्य होगा? मैं भी क्षत्राणी हूँ... उस महासंग्राम के बाद मैं जीवित रहूँगी या नहीं। भविष्य में मेरा परिवार होगा या नहीं, यदि होगा तो उनका भविष्य क्या होगा... कहीं यह महासंग्राम मुझे, युम्न और हमारे परिवार को तो नहीं निगल जायेगा? युम्न का द्रोण वध के बाद का भविष्य और मेरे जीवन के उद्देश्य का कारण तथा मार्ग अज्ञात है... इतना अधिक अज्ञात, कि कल्पना करने का भी कोई सूत्र नहीं मिलता।

* * *

मेरा जीवन अब दो भागों में बँट गया है; एक भाग युम्न के चारों ओर घूमता रहता है और दूसरा परिवार और परिवेश से अपना सामंजस्य बिठाने का प्रयास करता है। मातामही सदैव श्रीकृष्ण का गुणगान करती रहती हैं। जब भी वह मुझसे प्रसन्न होतीं, तत्काल ही कृष्ण का विवाह श्रीकृष्ण से करने की उनकी इच्छा प्रकट हो जाती है। मातामही और परिवार की अन्य स्त्रियों दासियों से सुन सुनकर मेरे भी मन में प्रश्न और जिज्ञासा उठने लगी है कि, क्या है श्रीकृष्ण में! वह महाराज हैं? अनेक हैं, पराक्रमी हैं? मेरा मन तत्काल कहता है कि पराक्रम शून्य होते ही महाराजाओं का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, वे चतुर, नीति कुशल हैं आदि। किन्तु ऐसा क्या है श्रीकृष्ण में, जो हर कन्या उन्हें पति के रूप में पाने की कल्पना करती है? वह श्याम वर्ण भी हैं... मैं भी तो श्यामा हूँ, मेरे मन ने मुझसे धीरे से कहा।

कुछ तो है श्रीकृष्ण में, जिसकी चर्चा सुन सुनकर मैं उनके आकर्षण में बँधती जा रही हूँ। बिना देखे ही वर्णन मात्र से मेरे मन में इतना आकर्षण उत्पन्न हो रहा है। इतनी श्रद्धा, इतना प्रेम और दर्शन की इतनी ललक, कि स्वयं को श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित करने की कामना मन में उठने लगी है। क्या मेरी यह इच्छा सामान्य है या विधाता स्वयं अपनी इच्छा को प्रेरित कर रहा है? कभी कभी मैं स्वयं के विषय में सोचकर उलझन में पड़ जाती हूँ।

मैं धीरे धीरे कृष्ण को जीने लगी हूँ, भिन्न भिन्न रंगों में भिन्न भिन्न आयामों में, प्रतिदिन, प्रतिपल। प्रातःकाल आँख खुलते ही मन में श्रीकृष्ण... और प्रारम्भ हो जाता है मेरा कृष्णमय जीवन। चलते-फिरते बातचीत करते हुए मैं कृष्ण की कृष्णा होती हूँ, दर्पण में स्वयं को निहारते हुए मुझे मेरा प्रतिबिम्ब अपना नहीं लगता, वह प्रतिबिम्ब तो कृष्ण प्रिया का लगता है। वस्त्राभूषणों को जैसे मैंने कृष्ण के लिये ही धारण किया है और तब मैं दर्पण में स्वयं को कृष्ण की आँखों से

देखती हूँ, स्वयं को सराहती हूँ।

वाटिका में घूमते समय कृष्ण मेरे साथ रहते हैं, मन में उठने वाले हर प्रश्न का समाधान करते हैं, हर इच्छा का अनुमोदन करते हैं। किसी नई प्रजाति के पक्षी को देखकर सोचती हूँ कि यह कौन सा पक्षी है? उत्तर मुझे कृष्ण दे देते हैं।

इच्छा होती है कि वाटिका के सरोवर की सीढ़ियों पर पानी में पैर डालकर बैठूँ। कृष्ण कह देते हैं चलो बैठें और सीढ़ियों पर मेरे साथ बैठ जाते हैं। मैं पानी में अपने पैरों को हिलाती हूँ, तो कृष्ण के युगल श्याम चरण भी पानी में हिलने लगते हैं। अचानक मैं लय को तोड़कर पैरों को जोर से छपा छप पटकने लगती हूँ। छींटे उड़ते हैं मैं और कृष्ण दोनों भीग जाते हैं। कुछ समय पश्चात मेरे पैर कृष्ण के चरण हो जाते हैं और जोर जोर से पानी को हिलाकर उछाल कर मुझे भिगो देते हैं। मन में अनवरत वार्तालाप चलता रहता है। कभी अपनी किसी बात से मैं लज्जित हो जाती हूँ, कभी अपने उत्तर से कृष्ण मुझे लज्जित कर देते हैं। झूले पर बैठती हूँ; कृष्ण पीछे से मुझे झूला झुलाते हैं, मैं झूले पर एक किनारे बैठती तो नंदा मुझे सचेत करती, “राजकुमारी, बीच में बैठिये! मैं अनसुनी कर देती हूँ; उसे क्या पता कि मेरे पाश्व में कौन बैठा है।

प्रातःकाल मखमली घास पर चलती हूँ तो कृष्ण मेरा हाथ पकड़कर साथ-साथ चलते हैं... पीताम्बर पहने, घुँघराले बालों में ऊपर मयूर पंख लगाये। मुखाकृति अस्पष्ट ही रहती है... कभी देखा ही नहीं है तो मुखाकृति स्पष्ट कैसे होती?

मैं सम्पूर्ण रूप से कृष्णमयी हो गयी हूँ। श्रीकृष्ण के आकर्षण ने मुझे चारों ओर से लपेट रखा है। लगता है मैं जो कुछ भी हूँ आज कृष्ण के कारण ही हूँ, कृष्ण के लिये ही हूँ; कृष्ण से परे मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है। यदि कृष्ण के आकर्षण का बंधन थोड़ा सा भी शिथिल पड़ा तो मैं बिखर जाऊँगी, मेरे पास अपना कहने के लिये कुछ भी नहीं बचेगा। मैंने अपने मन को कृष्ण को समर्पित कर दिया है। शरीर तो तुच्छ है; उसकी आवश्यकता मात्र इतनी ही है कि उसके भीतर मन रहता है। तन तो मन को ढोता भर है... मन की तुलना में तन सदैव गौण ही रहता है।

श्रीकृष्ण की चर्चा सुन सुनकर मेरे मन में कृष्ण साकार हो गये हैं। मेरे हृदय में मानों कृष्ण के अंतर्मन की परतें खुलने लगी हैं। मैं कृष्ण की रुचियों को जानती हूँ, मुझे पता है कि मेरा कैसा शृंगार कृष्ण को प्रिय लगेगा, मेरे उठने बैठने की, बोलचाल की कौन सी भाव भांगिमा कृष्ण को भायेगी। मुझे लगता है कि कृष्ण के मन में एक प्रिया स्त्री की जो कल्पना है, मैंने उसके अनुरूप स्वयं को ढाल लिया है। कृष्ण को तो मैंने अपने हृदय में बसा लिया है, किन्तु क्या कृष्ण के हृदय में मेरा कोई स्थान है?

कृष्ण मेरी दिव्य उत्पत्ति, मेरा अनिंद्य सौन्दर्य, जिसे लोग इस लौकिक जगत से परे बताते हैं; सुंदरी ही क्यों, लोग मुझे विदुषी भी कहते हैं, रूप और बुद्धि का दुर्लभ संयोग कहते हैं, उसके विषय में कृष्ण अनभिज्ञ हैं? सम्पूर्ण आर्यावर्त की तिल तिल सूचना रखने वाले, बहुत अंशों तक उसे संचालित करने वाले इस युग पुरुष को कृष्णा के बारे में कुछ भी नहीं ज्ञात? उसे देखने के लिये उनके हृदय में कोई उत्कंठा पैदा नहीं हुई?

सबके वर्णन के आधार पर मैं श्रीकृष्ण के मुख मण्डल की रेखा खींचने का प्रयास करती हूँ। कभी कोई उनके स्मित हास्य का वर्णन करता, तो मैं उसे अपनी आँखें बंद करके हृदय से देखने का प्रयास करती हूँ। वह स्मित हास्य हृदय में चित्रित तो होता है, किन्तु हर क्षण बदलता रहता है और आँखों के खुलते ही वह लुप्त हो जाता है... हृदय से आलेखन पुस्तिका तक का मार्ग मेरी

तूलिका पूरा नहीं कर पाती है, हर रेखा अधूरी रह जाती है, हर भाव अपूर्ण रह जाता है।

कृष्ण की आँखें। सुनी सुनाई बातों से कितने ही आकार में आँखों को उतारने का प्रयास किया है। लोगों का वर्णन अधूरा रहता है; उनकी जिह्वा, रेखा नहीं खींच पाती है और मेरे हाथों की तूलिका भी ठगी सी रह जाती है। मैंने अपने हृदय की आँखों से देखकर कृष्ण की अनगिनत जोड़ी आँखें बना डाली हैं; कितनी ही भावों भंगिमाओं से भरी अनगिनत जोड़ी आँखों से मेरी आलेखन पुस्तिका भरी हुई है। अनेक जोड़ी होते हुए भी सबमें एक ही विशेषता है, वे आँखें मेरी ओर देखती हैं, उनमें मेरे प्रति अनुराग भरा है; मेरे प्रेम का प्रतिदान देती हैं ये आँखें, मुझे आमंत्रित करती हैं ये आँखें, मुझे अपनी आँखों में छुपा लेने को आतुर हैं ये आँखें।

मेरी चित्रकला को सभी उत्कृष्ट कहते हैं। चित्रकला के शिक्षक मुझे निष्णात बताकर विदा ले चुके हैं, कि राजकुमारी अब अभ्यास करती रहें। अभ्यास ही तो कर रही हूँ कृष्ण को उकेरने की... नासिका, ललाट, चिबुक, किन्तु मेरी सारी कल्पनाएँ मिलकर भी एक रेखा नहीं खींच पाती। सब कुछ बन जाता है... हाथ, पैर, सिर, केश, वेशभूषा, आभूषण, मुकुट पर मुख मण्डल की कल्पना साकार नहीं हो पाती। अनेक विकल्प सामने आते हैं, किन्तु मन अगले ही क्षण उसे नकार देता है... ऐसा नहीं, वैसा नहीं; तो कैसा? पता नहीं। थक कर तूलिका रख देती हूँ। यहाँ मेरी कल्पना मेरा साथ छोड़ देती है... बिना कृष्ण को देखे उनका चित्र बनाना संभव नहीं।

मैं दिन रात कृष्ण की कल्पना में ही जी रही हूँ। मेरे जीवन में कुछ भी नया आता है, तो उसे कृष्ण से जोड़कर जीने लगती हूँ। उनका रूप तो मेरी कल्पना साकार नहीं कर पाती है, किन्तु मैं अपने भावनाओं की परछाई कृष्ण की आँखों में देख लेती हूँ।

3. सखी

आज द्वारका से आया दूत, पत्र लेकर सभा में उपस्थित हुआ है कि, श्रीकृष्ण कांपित्य नगरी आ रहे हैं। यह सूचना अंतःपुर तक हवा के झोंके की भाँति पहुँच गयी और इस सूचना के साथ ही अंतःपुर में एक प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। मातामही के हृदय की कामना प्रबल होकर मुखर हो गयी है कि “मैं स्वयं श्रीकृष्ण से कृष्णा का पाणिग्रहण करने का प्रस्ताव रखूँगी; ऐसी अलौकिक कृष्णा के योग्य और कौन है इस आर्यावर्त में?” वह जिसे भी पाती है, अपने पास बिठाकर अपना हृदय की कामना में भागीदार बनाने लगी है।

मेरे भीतर भी एक नवीन अनुभूति पैदा होने लगी है। हृदय मनमाने ढंग से धड़कने लगा है। कभी वह तीव्र गति से धड़कता और कभी लगता मानों वह ठहर गया हो, हर धड़कन जैसे कृष्ण कृष्ण कह रही है। एक विचित्र सम्मोहन में बँध गयी हूँ।

श्रीकृष्ण आ रहे हैं। जिन्हें अब तक मैंने केवल कल्पना में ही जिया है, जिसकी एक एक रेखा को कल्पना में साकार करने का प्रयास करती आयी हूँ, वे यथार्थ में कैसे होंगे? मेरी कल्पना के अनुरूप या उससे भिन्न, कल्पना से श्रेष्ठ या...। एक विचित्र पुलक मेरे शरीर में भर गयी है... तन और मन दोनों ही चंचल हो गये हैं। मैं अनावश्यक रूप से इधर-उधर घूम रही हूँ। कोई भी चतुर व्यक्ति मेरे मन की इस उद्विग्नता को भाँप सकता है, इसी कारण मैं भाभियों, दासियों और बहनों से कटी कटी घूम रही हूँ।

अभी तक श्रीकृष्ण के आने की तिथि की सूचना अंतःपुर में नहीं पहुँची है। मैं अधीर हो रही हूँ कि कब आर्येण श्रीकृष्ण और कब मैं उनका दर्शन करूँगी? मन के भीतर एक शंका उभर रही है कि श्रीकृष्ण के आगमन की कल्पना से अभी मैं जितनी उत्साहित हूँ, उतने उत्साह से क्या उनके समक्ष खड़ी हो पाऊँगी?

आज मुझसे ठीक से भोजन भी न खाया गया। दोपहर में मैं अपने पलँग पर लेटी करवटें बदलती रही।

प्रतिदिन की भाँति सायंकाल पिताश्री मातामही के पास आकर बैठे। पूरा राजमहल श्रीकृष्ण के आगमन से उत्साहित था। मातामही ने उनसे श्रीकृष्ण के आगमन की तिथि के बारे में पूछा। मेरा हृदय भी उन नियत तिथि को सुनने के लिये धड़क रहा था। पिताश्री ने सूचित किया कि इसी मास की शुक्ल पक्ष की दशमी को अर्थात् आज से पन्द्रह दिन बाद श्रीकृष्ण का आगमन होगा।

श्रीकृष्ण के आगमन की सूचना से द्युम्न भी बहुत प्रसन्न हैं। मेरी भाँति उन्होंने भी श्रीकृष्ण के विषय में बहुत कुछ सुना है। श्रीकृष्ण हम दोनों को देखने की ही इच्छा से कांपित्य नगरी आ रहे हैं। द्युम्न को आश्चर्य होता था कि अधिकांश दरबारी उन्हें ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं भी सोचने लगी, उस दिन आचार्य भी श्रीकृष्ण के अवतार पुरुष होने की बात कह रहे थे। मातामही भी बार बार इस प्रकार की बातें कहती थीं, किन्तु मैं कभी भी उनके विश्वास के साथ कभी जुड़ नहीं पायी थी।

द्युम्न की बहुत सी जिज्ञासाएँ थीं, जिनका समाधान वे श्रीकृष्ण से करना चाहते थे। हम दोनों अपनी अपनी जिज्ञासाओं के साथ श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब हमारी बातों का विषय बदल गया है। अब मैं न तो धर्म, न्याय प्रणाली पर तर्क करती और न ही कर पद्धति पर

प्रश्न उठाती हूँ... राजनीति भी मेरी रुचि से बाहर चली गयी है। हम दोनों ने श्रीकृष्ण के आने तक अपने सारे वाद-विवाद तर्क पर रख दिये हैं। अब द्युम्न श्रीकृष्ण के विषय में कुछ कहते तो मैं मंत्रमुग्ध सी सुनती रहती हूँ। मैं कुछ सुनी सुनायी बातों की चर्चा करती, तो द्युम्न उसे ध्यान से सुनते हैं। मेरी बहुत सी कृष्ण विषयक जिज्ञासाओं का द्युम्न समाधान करते, अनभिज्ञता की स्थिति में दरबारियों और आचार्यों से पूछ कर मुझे बताते हैं।

अंतःपुर मेरे भीतरी परिवर्तन पर आश्चर्य चकित था, विशेष करके मातामही, धात्री माँ। मातामही को लग रहा था कि कदाचित मैंने उनकी कही हुई बातों पर चिंतन मनन किया है, जिसके कारण मुझमें यह परिवर्तन आया है। उन्हें क्या पता कि श्रीकृष्ण ने मेरे जीवन की दिशा और दशा दोनों को ही घुमा दिया है, जिससे मैं सबको बदली बदली सी दिखायी दे रही हूँ।

* * *

मैं कैसे श्रीकृष्ण के सम्मुख खड़ी हो पाऊँगी! मेरे सारे अंग शिथिल न हो जायेंगे! मेरे प्रतिक्षण चंचल होते मन को मेरा विवेक क्या स्थिर रख पायेगा? मेरी बुद्धि उसे संयमित करके संचालित कर पायेगी? मेरे रोम रोम से फूट पड़ने वाला अनुराग छुपा रह पायेगा? विडंबना है, घोर विडंबना। एक ओर इतना उत्कट प्रेम, कि मैं अपना हृदय बिना श्रीकृष्ण को देखे ही उन्हें समर्पित कर चुकी हूँ और दूसरी ओर यह भी चाहती हूँ कि मेरे इस अनुराग का किसी को आभास भी न हो, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण को भी नहीं... ये कैसी इच्छा है? नहीं, यह इच्छा नहीं है मेरा मन तो यही चाहता है कि मुझे मेरे प्रेम का प्रतिदान मिले। यह तो नारी सुलभ संकोच है, जो मैं अपनी भावनाओं को सबसे छिपाए रखना चाहती हूँ... यहाँ तक कि उनसे भी, जिनके लिये मेरे मन में ये भावनाएँ उत्पन्न हुई हैं?

श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये मैंने अपना शृंगार स्वयं किया है। मैंने पीताम्बर धारी श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिये पीत परिधान का चुनाव किया है। पतली सुनहरी किनारी की साड़ी, जिसमें बीच बीच में छोटी छोटी सुनहरी बूटियाँ बनी हैं। लम्बे काले घुँघराले बालों को जान बूझकर खुला ही रखा है। मेरे खुले केश आवश्यकता होने पर मेरे मनोभावों के अतिरेक को छिपाने में भी समर्थ होंगे। मैं नहीं चाहती कि मेरे मनोभाव सार्वजनिक रूप से प्रकट हों। मैंने शरीर पर नाम मात्र के आभूषण ही धारण किए। मेरी सुगढ़ चम्पाकली जैसी अँगुलियाँ स्त्रियों तक की दृष्टि को बाँध लेती हैं। मैंने अपनी अँगुलियों में कोई आभूषण नहीं पहना, क्योंकि आभूषणों से मेरी अँगुलियों का सौन्दर्य छुप जाता है, इन्हीं हाथों से मुझे श्रीकृष्ण के चरणों को स्पर्श करना है।

नंदा मेरे प्रसाधन के समय मौन खड़ी मुझे देख रही थी। उसने अपने जीवन में राजभवन के भीतर शृंगार में बहुमूल्य वस्त्र और भारी आभूषणों से सुसज्जित रूप को ही राजभवन में देखा था। सरल आभूषण विहीन रूप उसकी शृंगार कल्पना से परे था। वह कुछ क्षण अपलक मौन होकर मुझे देखती रही और फिर बोली “आपका रूप तो अपरूप है... सच राजकुमारी, आपको किसी प्रकार के शृंगार की आवश्यकता ही नहीं है।”

मैंने मुख मण्डल को प्रसाधन रहित ही रहने दिया। प्रसाधन से मेरी स्वाभाविक कांति धूमिल हो जाती है। भारी आभूषण से मेरी ग्रीवा का सौन्दर्य छुप जाता है, इस कारण मैंने एक लड़ी की मोतियों की माला ही पहनी। पैरों में मैंने कुछ भी नहीं पहना। पैरों के आभूषण की खनक मेरी चाल में छुपी मेरी व्यग्रता को प्रकट कर सकते हैं, मेरे ध्यान को विचलित कर सकते हैं।

मैंने स्वयं को दर्पण में देखा बँधी हुई साड़ी को बार बार सँवारा, कलाइयों में पहने कंगन को कई बार घुमाकर देख चुकी हूँ। मुक्त केशों को भी कई प्रकार से व्यवस्थित करके देखा कि वह किस व्यवस्था में उपयुक्त लगेगी। सब प्रकार से संतुष्ट होकर एक बार पुनः मैंने दर्पण के समक्ष खड़े होकर श्रीकृष्ण की आँखों से स्वयं को देखा और अपने प्रशस्त ललाट पर मैंने एक छोटी सी मयूर पंखी टिकली लगा ली। अब मैं श्रीकृष्ण की नारी छाया मूर्ति लग रही थी।

अतःपुर का विशाल कक्ष श्रीकृष्ण के स्वागत के लिये सजाया गया था। जब मैं कक्ष में पहुँची, उस समय पूरा राज परिवार वहाँ बैठा था। मातामही के आसन के पास ही पिताश्री और श्रीकृष्ण के लिये आसन रखा गया था। मातामही के आसन के दूसरी ओर मेरे और पिताश्री की बगल में द्युम्न के लिये आसन रखा था।

दासी ने सूचना दी कि महाराज पधार रहे हैं। कक्ष क्षण भर के लिये विचलित होकर पुनः संयमित हो गया, किन्तु मैं स्वयं को सबकी भाँति संयमित नहीं कर पा रही थी। कुछ ही क्षणों के पश्चात श्रीकृष्ण और उनके पीछे पिताश्री ने कक्ष में प्रवेश किया। सभी सदस्य उनकी अभ्यर्थना में उठ खड़े हुए। श्रीकृष्ण ने आगे बढ़ कर मातामही के चरणों को स्पर्श करना चाहा, किन्तु मातामही ने उनके हाथों को रोक दिया, “नहीं श्रीकृष्ण, यद्यपि आप मुझसे वय में बहुत छोटे हैं, किन्तु मुझे विश्वास है कि आपमें ईश्वर का अंश है, कृष्ण आप मेरे चरण न छुएँ... आपको देखकर लगता है कि मैं मानव नहीं, किसी देव पुरुष के दर्शन कर रही हूँ... आपको देखकर मैं अभिभूत हूँ; इच्छा हो रही है कि मैं आपकी चरण वंदना करूँ।” मातामही अभिभूत थीं।

मातामही का वाक्य समाप्त होते ही श्रीकृष्ण का मुक्त हास्य कक्ष में भर गया “देवी! मैं एक साधारण मानव हूँ; अति साधारण ढंग से मेरा लालन पालन हुआ है... जो कुछ आप लोगों ने सुना है, वह ईश्वर द्वारा निर्धारित किया गया था, उसी ने मुझे माध्यम बनाया था, अन्यथा मुझमें कुछ भी विशेष नहीं है; मैं तो बचपन में जंगलों में घूम घूम कर गायें चराता था।” बात समाप्त करके श्रीकृष्ण हँस पड़े। मातामही के साथ साथ पूरा परिवार श्रीकृष्ण की हँसी के साथ हँस पड़ा। वातावरण सहज हो गया था।

मैं अपनी दृष्टि नीचे किए बैठी रही। श्रीकृष्ण का आगमन सुनकर सोचती थी कि उनकी छवि को अपने हृदय में बसा लूँगी, किन्तु आज जब श्रीकृष्ण साक्षात् मेरे समक्ष बैठे हैं तो मेरी दृष्टि उठ ही नहीं रही है। मन में बार बार श्रीकृष्ण की काल्पनिक छवि ही उभर रही है और मैं श्रीकृष्ण के चरणों में अपनी दृष्टि जमाये बैठी रही।

धीरे धीरे साहस करके दृष्टि ऊपर उठाई। श्रीकृष्ण हँस रहे थे। मैं आश्चर्यचकित रह गयी। वही छवि, वही मुखाकृति, जो मेरी कल्पना में मुझे निरंतर छलती रहती थी। कल्पना की धुँधली आकृति के पीछे यही आकृति तो छुपी रहती थी, यह कैसा चमत्कार है? कहीं मैं पुनः कल्पना में श्रीकृष्ण को तो नहीं देखने लगी? मैंने अपनी पलकों को झपका कर पुनः दृष्टि उठाई... नहीं यह कल्पना नहीं यथार्थ है। मेरे केश अनावश्यक रूप से आगे आ गये थे। मैंने धीरे से उन्हें पीछे किया और संयमित होकर बैठ गयी।

पिताश्री ने मेरा नाम पुकारा। अपना नाम सुनकर मैं चौंक कर उनकी ओर देखने लगी। पिताश्री ने पुनः कहा “कृष्णा! श्रीकृष्ण को प्रणाम करो।”

आदेश सुनते ही मेरा कंठ सूखने लगा, हथेलियाँ स्वेद से गीली होने लगीं। पैरों के कंपन को मैं नियंत्रित नहीं कर पा रही थी। मैं दृष्टि नीचे किए हुए ही श्रीकृष्ण के आसन की ओर बढ़ने लगी,

पर लग रहा था कि मेरे पैरों में किसी ने भारी भारी बेड़ियाँ डाल दी हैं, वे उठ ही नहीं रहे थे। बड़ी कठिनाई से चल कर मैं श्रीकृष्ण के पास पहुँची और घुटनों के बल बैठ कर दोनों हाथों से श्रीकृष्ण के चरणों को स्पर्श किया।

यह क्या? मेरी चेतना जैसे लुप्त होने लगी। आदेश था कि चरणों को स्पर्श करके हाथों को माथे पर लगाना। यही परम्परा थी, किन्तु यह क्या? कौन अदृश्य मुझे अलग से निर्देश दे रहा है? वह मेरा अंतःकरण है या स्वयं विधाता ? मैंने अपना तलाट श्रीकृष्ण के युगल चरणों पर रख दिया। श्रीकृष्ण के चरण शीतल हैं। मेरे तप्त उच्छ्वास, चरणों को स्पर्श करके वापस लौट मेरे मुख मण्डल को तप्त कर रहे हैं। मेरे कंपित अधर, श्रीकृष्ण की उँगलियों और नखों को स्पर्श कर रहे हैं... उनका उत्तरीय मेरे शरीर को स्पर्श कर रहा है। पता नहीं कितने क्षण इस विमूर्धता में बीत गये।

“उठो कृष्णा” माथे पर स्पर्श के साथ अपना नाम सुनकर मेरी चेतना लौटी। श्रीकृष्ण के स्पर्श करते ही मेरी साँसें थम गयीं, पलकें झपकना भूल गयीं। लोगों की दृष्टि में सौन्दर्य की अनिष्ट मूर्ति कृष्णा, मूर्ति बन गई। कठपुतली की भाँति; जिसके सारे सूत्र अब श्रीकृष्ण के हाथों में हैं, वह जैसा चाहें उसे संचालित करें।

मैं यंत्रचलित सी उठकर खड़ी हो गयी। “कृष्णा, मैं कृष्ण हूँ, तुम्हारा सखा। एक नाम वाले सखा होते हैं, इस नाते तुम मेरी सखी हो आज से .. अभी से... और आजीवन; तुम्हें आपत्ति तो नहीं?” फिर वही भुवन मोहिनी हास्या

वह क्षण मेरे लिये एक युग जितना विशाल हो गया और उस क्षण युग ने मुझे जीवन भर का मान सम्मान दे दिया। मेरा हृदय प्रसन्नता से हुलसने लगा। मैं सिर झुकाये चुपचाप वहीं खड़ी रही।

“बोलो सखी! मैं तुम्हें सखी कह सकता हूँ न?”

मैं सुनकर अभिभूत हो गयी और धीरे से स्वीकृति में सिर हिला दिया। मेरे मुख पर भी एक स्मित हास्य फैल गया।

मुझे मौन देखकर श्रीकृष्ण ने आगे कहना आरम्भ किया “सखी! तुम मेरी एक मात्र सखी हो; सखा कई हैं, रानियाँ भी आठ हैं मेरी, किन्तु यह स्थान मैंने आज तक किसी को भी नहीं दिया है, केवल एकमात्र तुम ही अधिकारी हो इसकी और सदैव एकमात्र ही रहोगी, मेरा यह वचन तुम्हें मित्रता की पहली भेंट है।”

मैं निहाल हो गयी। मुझे अपने प्रेम का आशा से अधिक प्रतिदान मिल गया। मैं श्रीकृष्ण की एक मात्र सखी हूँ, यह गौरव विश्व की किसी भी स्त्री को प्राप्त नहीं है। आज मेरा जन्म सार्थक हो गया है, मुझे श्रीकृष्ण के चरणों में स्थान मिल गया है। नहीं, चरणों से भी ऊपर... चरणों में तो दास या भक्त का स्थान होता है, सखी का तो समकक्ष होता है, दूसरे ही क्षण मुझे लगा कि मैं स्वयं को अपनी क्षमता और स्थिति से अधिक आँक रही हूँ; कहाँ श्रीकृष्ण एक युग पुरुष, महा पराक्रमी, जिसकी इच्छा से सम्पूर्ण आर्यावर्त संचालित होता है, बड़े बड़े नरेश जिनकी चरणों की वंदना का अवसर पाकर कृतार्थ हो जाते हैं, वहाँ मैं श्रीकृष्ण के समकक्ष... यह स्थिति मेरी कल्पना से परे है; ऐसी कल्पना, जो केवल मेरी धृष्टता ही हो सकती है, मुझे तो श्रीकृष्ण के युगल चरण ही चाहिये सेवा के लिये, मैं धन्य हो जाऊँगी। मैं धन्य हो गयी हूँ ‘सखी’ सुनकर। बस श्रीकृष्ण के स्मृति पटल से मुझे दिया गया वचन कभी लुप्त न हो, मैं इससे अधिक कुछ भी नहीं चाहती... मैं तो अपना सारा जीवन इसी के सहारे काट लूँगी कि श्रीकृष्ण ने मुझे अपनी सखी बनाया है। मैं अब

श्रीकृष्ण की सखी हूँ, मुझे इसके अतिरिक्त अब किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है।

* * *

एक विचित्र सम्मोहन में बँध गयी हूँ। मेरा तन-मन अब मेरा नहीं रहा। भीतर जाने वाली साँसें अब श्रीकृष्ण के गंध का ही पान करना चाहती हैं, आँखें अब केवल श्रीकृष्ण को ही देखना चाहती हैं, कान केवल कृष्ण कृष्ण ही सुनना चाहते हैं, जिह्वा मुखर होकर शुक सारिका की भाँति श्रीकृष्ण की ही रट लगाना चाहती है। रात्रि तो सबकी अपनी होती है, पर वह भी कहाँ है मेरी? सारी रात्रि कृष्ण की कल्पना में बीत जाती है... नींद कब आती है पता ही नहीं चलता; बस कुछ घड़ी के लिये चेतन मन सुप्त हो जाता है।

मेरा जी चाहता है कि मन की अनुभूतियों को कविताओं में ढालकर कागज पर उतार लूँ, चित्रों में उकेर लूँ; किन्तु छंदों और रंगों में क्या मेरी अनुभूतियाँ उतर पायेंगी, मेरी भावनाएँ क्या ऐसी ही जीती जागती कविताओं में ढल पायेंगी, मेरा अनुराग कौन से रंग और तूलिका के सहारे चित्रों में उतर पायेगा?

कहाँ से प्रारम्भ करूँ, क्या लिखूँ, किन भावनाओं से कन्नी काट जाऊँ? विचार तो हवा के झोंके की तरह आ रहे हैं... उन्हें पकड़ने का प्रयास करती हूँ तो वे चिड़ियों की भाँति उड़ जाते हैं। पलंग पर लेटे लेटे जिन भावनाओं को जी रही हूँ, उनको लिपिबद्ध करने के लिये लेखनी उठाते ही वह लुप्त हो जाती हैं।

मन सभी अनुभूतियों को सँजो लेना चाहता है। ये अनुभूतियाँ मेरे लिये बहुत मूल्यवान हैं। एक अनुभूति एकदम नई, एकदम अछूती जिन्हें मैंने कभी जिया नहीं था, अनुभव नहीं किया था, मन के भीतर ही भीतर कहीं दबी हुई थीं, शीशियों में बंद इन की गंध की तरह, जिसकी महक कभी शरीर में उतरी नहीं थी। मन की अनुभूतियों को कागज पर उतार लेना चाहती हूँ। समय के साथ साथ मन पर से ये धुँधली पड़ने लग जायेंगी। पर लेखनी से उतारना क्या सरल है? नहीं, असंभव लगता है। प्रयास में मन के दरवाजे नहीं खुलते हैं, पर प्रयास नहीं छोड़ूँगी।

बहुत कुछ पा लिया है आपकी सखी बन कर। सारा संसार नाम के आगे श्री लगा कर संबोधित करता है, किन्तु मेरे लिये अब आप सदैव कृष्ण ही रहेंगे... कृष्णा के कृष्ण। श्री लगाने से लगता है जैसे वे कृष्णा से दूर हो गये हैं, साथ छूटता सा लगता है; इसी से मेरे अंतर्मन ने कभी श्री नहीं लगाया। हाँ जीभ अभ्यस्त थी। प्रत्यक्ष संबोधन में आप कहती थी, पर मेरा मन कभी कभी उन्हें तुम कह कर भी संबोधित करता है। तुम में अधिक आत्मीयता रहती है। अधिकार रहता है और सबसे बड़ी बात कि छोटे बड़े का अंतर मिट जाता है। तुम्हारे बड़े होने का वय में, गुण में, सामर्थ्य में... सम्पूर्ण आर्यावर्त के एक मात्र नायक हो तुम, तुम्हारे महिमामय व्यक्तित्व के आगे मैं तो एक धूल का कण हूँ; यदि कुछ हूँ, तो वह केवल नाम का साम्य है, तुम कृष्ण और मैं कृष्णा और इसी नाम के नाते मुझे तुम्हारी सखी होने का गौरव मिला है। बहुत कुछ पा लिया है तुम्हारी सखी बन कर। हृदय के एक कोने को अनुभूतियों से भरा पाया है। कोई मेरा है जो मेरे लिये भी सोचता है। एक सखा है, जो जीवन में किसी भी क्षण बुलाने पर सामने होगा; यदि न भी हो तो उनके स्नेह और अपनत्व की अनुभूति मुझे कभी अकेला नहीं रहने देगी। आज मैं भरी भरी अनुभव कर रही हूँ। भराव मन को शांत करता है। इस चंचलता में भी मेरा मन एक प्रकार से शांत है।

तुम्हारा कहा एक वाक्य मेरे लिये एक ग्रन्थ जितना विशाल हो गया है, कितने सारे अर्थ कितनी भावनाएँ उभर आई हैं, लगता है कि तुम कानों के पास फुसफुसा कर सब कुछ कहते जा

रहे हो, मैं तुम्हारी बातों को धड़कते हृदय से सुनती हुई उसमें डूबती जा रही हूँ। मन के भीतर नई नई अनुभूतियों की परतें खुलती जा रही हैं, मन संवादों को भीतर ही भीतर बोलता जा रहा है, कान भीतर ही भीतर उन्हें सुनते जा रहे हैं, मेरा हृदय उसे अपने भीतर सँजोता जा रहा है और मैं जी रही हूँ।

तुम्हारी बातों में इतना सम्मोहन है कि उसने मेरे तन और मन को बाँध लिया है। मन बस उसे ही सुनते रहना चाहता है, उसी में भूख प्यास भूलकर भूले रहना चाहता है। इच्छाएँ उभर आयी हैं तुमसे बातें करने की, तुम्हारी बातें सुनने की, बातों से ही बातें निकलती रहें, प्रेम की भाँति बढ़ती रहें। हाँ, प्रेम की भाँति मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे प्रेम दो और प्रतिदान में मैं उसमें अपना ढेर सारा प्रेम मिलाकर तुम्हें लौटा दूँ... पुनः तुम उसमें अपना और अधिक प्रेम मिलाकर। इस प्रकार हमारे प्रेम का दान- प्रतिदान निरंतर चलता रहे, जब तक कि मैं सम्पूर्ण रूप से तुम्हारे प्रेम में सराबोर न हो जाऊँ।

4. शिखण्डी

आज प्रातःकाल से ही राजभवन में एक विचित्र प्रकार की शांति छायी हुई है। इधर-उधर की सूचनाओं से मैं केवल इतना ही जान पायी कि युवराज शिखण्डी वापस आ गये हैं। कौन हैं युवराज शिखण्डी? इतने दिनों में मैंने कभी इनका नाम नहीं सुना था। मैं किससे पूछूँ, कौन समुचित रूप से मेरी जिज्ञासा शांत करेगा? क्या मातामही? वे मुझे सबसे अधिक चिंतित लग रही थीं और पिछले कुछ दिनों से वे अस्वस्थ भी चल रही हैं। मैं अपनी जिज्ञासा किसी भी व्यक्ति के समक्ष प्रकट नहीं कर सकती। एकाध बार मेरे साथ ऐसा घटित हो चुका है कि मेरे प्रश्नों के उत्तर देने के स्थान पर लोग मौन साध जाते हैं, अतः अब मैंने लोगों से इस प्रकार की जिज्ञासाओं से संबंधित प्रश्न करना छोड़ दिया है; अब जो कुछ पूछना होता है मैं केवल धाय माँ से ही पूछती हूँ। वे भी जितना आवश्यक समझती हैं मुझे बताती हैं, शेष चतुराई से छुपा जाती हैं या कभी मुझे इधर-उधर बहलाने का प्रयास करने लगती हैं। मैं सब समझती हूँ, किन्तु मेरे पास कोई विकल्प नहीं होता है।

धाय माँ मेरे कक्ष में आयीं तो मैंने उन्हें रोक लिया और युवराज शिखण्डी के विषय में पूछने लगी। वह कुछ समय चुप रही। पुनः वह मेरे निकट बैठ गयीं। वे कुछ क्षण सोचती रहीं, मुझे लगा कि वे सोच रही हैं कि यदि उन्होंने नहीं बताया तो मैं अन्य लोगों से या स्वयं शिखण्डी से ही पूछने लगूँगी। उन्होंने कहना प्रारम्भ किया कि “आज से पच्चीस वर्ष पूर्व मझली महारानी के गर्भ से एक संतान पैदा हुई; वह संतान न तो पूरी तरह से पुत्र थी और न ही पुत्री। उनके अंगों का विकास नहीं हुआ था। महारानी उसका लालन-पालन पुत्र के रूप में करने लगीं और इस विषय में राजमहल में पूरी गोपनीयता बरती गयी।

जब युवराज लगभग छह सात वर्ष के थे, एक दिन खेलते खेलते उन्होंने राजभवन के मुख्य द्वार पर टँगी एक पुष्प माला को उतारकर अपने गले में डाल लिया। युवराज शिखण्डी के माला पहनते ही राजभवन में हाहाकार मच गया।

‘क्यों?’ मैंने अधीरता से पूछा।

“वे आपके और युवराज धृष्टद्युम्न के विषय में सुनकर वापस आये हैं।”

धाय माँ ने मुख्य कथा बीच में छोड़ दी। मेरी इच्छा हुई कि मैं उन्हें टोकूँ, किन्तु मैं मौन रही। धाय माँ की यह आदत थी कि आधी बात कह कर चुप हो जाना, उसी समय उन्हें अति आवश्यक कार्य याद आ जाना, या विषयान्तर कर देना... इसी कारण मैंने मौन रहना ही उचित समझा।

“वे वापस आये हैं, अर्थात् पहले यहीं रहते थे?”

“हाँ, किन्तु वर्षों पूर्व वे तपस्या करने के लिये राजभवन को त्याग कर कहीं चले गये थे।”

“वे तपस्या क्यों करना चाहते थे?” मैंने पूछा।

“आप तो अधीर हो जाती हैं; मैं जो कुछ जानती हूँ आपको बता रही हूँ। विचित्र थे कुमार शिखण्डी, पता नहीं उनके हृदय में क्या था। उनकी मनोकामना कोई नहीं जानता था। लोग जानते थे तो उनका कठोर तप। अब अंबा की कथा सुनो।”

मैं धाय माँ को कथा के विषयान्तर से रोकना चाहती थी, किन्तु मौन रही। काशी नरेश की तीन पुत्रियाँ थीं, अंबा, अंबिका और अंबालिका। उन्होंने अपनी तीनों पुत्रियों के लिये स्वयंवर का

आयोजन किया, जिसमें देश-विदेश के कई राजा महाराजा और युवराज आये। हस्तिनापुर नरेश चित्रांगद अविवाहित थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता देवव्रत भीष्म ने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। किन्तु काशी नरेश ने चित्रांगद को निमंत्रण नहीं भेजा।

‘क्यों?’

उनकी माता सत्यवती एक ‘धीवर’ की पुत्री थी, इस कारण क्षत्रिय समाज उन्हें अपने से हीन समझता था। हस्तिनापुर ने इसे अपना अपमान समझा और देवव्रत भीष्म उस स्वयंवर में पहुँच गये। उन्होंने वहाँ उपस्थित राज समाज को सावधान करते हुए तीनों कन्याओं को अपने रथ पर बिठा लिया और बिजली की चमक की भाँति वहाँ से तत्काल चले गये। किसी में भी उन्हें रोकने का साहस नहीं था। केवल शौभराज शाल्व ने उनका पीछा किया, किन्तु वह भी कुछ क्षणों में पराजित होकर लौट गये।

भीष्म तीनों कन्याओं को लेकर हस्तिनापुर की ओर चले। मार्ग में अंबा ने उनसे प्रार्थना की कि उनके हृदय में शाल्व के लिये प्रेम है, वह उन्हीं से विवाह करना चाहती है। भीष्म ने विश्वस्त सेवकों और सेविकाओं के साथ उन्हें राजा शाल्व के पास भिजवा दिया, तथा हस्तिनापुर पहुँचकर अंबिका और अंबालिका का विवाह चित्रांगद से करवा दिया।

अंबा जब शाल्व के पास पहुँची, तो शाल्व ने यह कहते हुए उसे स्वीकार करने से मना कर दिया कि भीष्म ने तुम्हारा हरण किया है; कन्या का हरण करने वाला ही उसका पति होने का अधिकारी होता है, अतः अब मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता; यदि मैं उन्हें युद्ध में परास्त करके तुम्हें बचा लेता तो बात अलग थी, अब तुम भीष्म के पास जाओ। अंबा पुनः भीष्म के पास गयी, किन्तु चित्रांगद ने यह कह कर कि, “जिस कन्या के हृदय में किसी अन्य पुरुष के लिये प्रेम है, उससे मैं कैसे विवाह कर सकता हूँ।” अंबा को अस्वीकार कर दिया। भीष्म ने पुनः उसे शाल्व के पास भेज दिया, किन्तु शौभराज शाल्व किसी भी प्रकार से अंबा को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुआ। अंबा छह वर्ष तक हस्तिनापुर और शौभराज की नगरी मर्तिकावती के बीच झूलती रही। अंत में अंबा ने भीष्म से कहा कि, आपने मेरा हरण किया है, अतः आप मुझसे विवाह करें। भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हुए अंबा से विवाह करने के लिये मना कर दिया। बेचारी अंबा कहीं की न रही।

धाय माँ विश्राम लेने के लिये चुप हो गयीं। मैं सोचने लगी कि पुरुष समाज का यह कैसा नियम है कि पुरुष हरण करे, फिर उसे जिसे चाहे सौंप दे, या यह सुनकर कि जिसका उसने हरण किया है, उसके हृदय में किसी अन्य के प्रति प्रेम है विवाह करने से मना कर दे और प्रेमी रक्षा करने में असमर्थ होने पर उसे त्याग दे।

अंबा क्रुद्ध थी। दो पुरुषों की प्रतिज्ञा और अहंकार के बीच उसका जीवन नष्ट हो रहा था। वह कई लोगों के पास गयी, अनेक देवताओं के समक्ष भी उसने अपनी पीड़ा का निवेदन किया, किन्तु कोई भी उसकी सहायता न कर सका, क्योंकि भीष्म का बल सब पर भारी था। अंबा, परशुराम के पास गयी। परशुराम महान योद्धा एवं क्रोधी ब्राह्मण थे, वे अनेक विद्याओं में निष्णात और क्षत्रियों के परम शत्रु थे। उन्होंने अंबा की याचना सुनकर भीष्म से उससे विवाह करने के लिये कहा। परशुराम, भीष्म के गुरु भी थे। यद्यपि परशुराम क्षत्रिय थे, किन्तु गंगा के अनुरोध पर उन्होंने भीष्म को अस्त्र-शस्त्र संचालन की शिक्षा दी थी। भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा के कारण अंबा से विवाह करने में अपनी असमर्थता जताई, तब परशुराम ने भीष्म से कहा कि “तुम मुझसे युद्ध

करे; यदि पराजित हो जाओगे तो तुम्हें अंबा से विवाह करना पड़ेगा।”

भीष्म ने स्वीकार कर लिया। परशुराम ने कहा कि, “मैंने पृथ्वी को कई बार क्षत्रियों से विहीन कर दिया था।”

“उस समय भीष्म या भीष्म के समान कोई क्षत्रिय पैदा नहीं हुआ था, आपने केवल तिनकों पर ही अपना प्रभाव दिखाया है; क्षत्रियों में तो तेजस्वी बाद में प्रकट हुए हैं... इस समय मैं आपके अहंकार को निःसंदेह चूर चूर कर दूँगा।” भीष्म ने उत्तर दिया।

तेईस दिनों तक युद्ध चलता रहा। अंत में भीष्म की माता गंगा व नारद मुनि के कहने पर युद्ध रुका। पहले परशुराम के धनुष छोड़ने पर ही भीष्म युद्ध समाप्त करने के लिए तैयार हुए थे। भीष्म ने न तो पहले शस्त्र छोड़ा और न ही पीठ दिखाई।

भीष्म सामान्य क्षत्रिय नहीं थे। वे गंगा के पुत्र थे और उन्हें इच्छा मृत्यु का वरदान प्राप्त था। अंत में कार्तिकेय ने उन्हें एक पुष्प माला दी, जो कभी मुरझाती नहीं थी और न ही उसकी सुगंध ही फीकी पड़ती थी और कहा कि, “जो व्यक्ति इसे पहनकर भीष्म से युद्ध करेगा, वह उन्हें मारने में समर्थ होगा।” अंबा वह माला लेकर अनेक स्वनामधन्य क्षत्रियों के पास गयी, किन्तु किसी में भी साहस नहीं था। वे तुम्हारे पिता के पास भी आयी थीं वे अपनी युवावस्था में महान योद्धा थे, किन्तु उन्होंने भी अंबा की याचना अस्वीकार कर दी।

अंबा निराश होकर उस माला को राजभवन के मुख्य द्वार पर टाँग कर चली गयी और वन में जाकर भगवान शिव की तपस्या करने लगी। शिव प्रसन्न हुए, वरदान भी दिया; किन्तु अगले जन्म के लिये। भीष्म को मारने की उत्कंठा में अंबा को स्वाभाविक के मृत्यु की प्रतीक्षा कठिन लग रही थी, अतः उसने स्वयं चिता सजाकर प्राणों की आहुति दे दी।

विधाता भी विचित्र खेल खेलता है। अंबा का पुनर्जन्म हुआ। जानती हो कहाँ?” धाय माँ ने मुझसे पूछा।

‘नहीं।’

“महाराज द्रुपद के घर, जिसके द्वार पर अंबा दिव्य पुष्पों की माला टाँग गयी थी।”

मैं आश्चर्य चकित थी।

“जब राजकुमार शिखण्डी ने वह माला अपने गले में पहनी, तो उन्हें अपने पूर्व जन्म की सम्पूर्ण स्मृति आ गयी। अंबा अगले जन्म में पुरुष बनना चाहती थी, जिससे कि वह भीष्म को मार सके; किन्तु उसका पूर्व जन्म स्त्री का था, इस कारण इस जन्म में वह पूर्ण पुरुष नहीं बन पायी और न ही पूर्ण स्त्री रही।

युवराज शिखण्डी ने उस दिव्य पुष्प हार को अपने गले से कभी नहीं निकाला। सभी भयभीत हो गये थे। भावी अनर्थ की आशंका सब को मृतप्राय कर गयी थी। किशोर होने पर युवराज शिखण्डी स्वयं राजमहल को त्याग करके तपस्या करने के लिये चले गये। युवराज के जाने से सभी लोग प्रसन्न थे। दुःखी थी तो उनकी माता, किन्तु वह भी मौन रहीं। धीरे-धीरे सभी उन्हें भूलने लगे। आज वर्षों बाद पुनः लौट रहे हैं युवराज शिखण्डी।”

“देखने में कैसे लगते थे युवराज; तुमने तो उन्हें किशोरावस्था में देखा होगा।” मैंने धाय माँ से पूछा।

“किशोरावस्था में उनकी काया किसी किशोरी की भाँति लगती थी; सुन्दर सिन्धु त्वचा, काले कोमल लम्बे केश, कोमल पतले हाथ पैर, लम्बी पतली उँगलियाँ, क्षीण कटि, सपाट

वक्षस्थल, स्वर किसी किशोरी की भाँति कोमल। जब वे स्नान करके अपने केशों को धूप में सुखाते, तो पीछे से लगता था कि कोई सुन्दर केशों वाली किशोरी अपने केश सुखा रही है।”

मैं उन्हें देखने के लिये उत्सुक हो रही थी। अभी वे अंतःपुर में नहीं आये थे, बाहर ही पिताश्री एवं द्युम्न से बातें कर रहे थे। स्नान के पश्चात वे भोजन के लिये अंतःपुर में आर्येंगे। अब मैं समझ गयी कि उनके आगमन से लोग प्रसन्न क्यों नहीं हैं उनकी भीष्म को मारने की पूर्वजन्म की प्रतिज्ञा, पुनर्जन्म और तपस्या सभी को ज्ञात है। न जाने कब भीष्म अपनी मृत्यु को समाप्त करने के लिये उद्यत हो जायें? वैसे तो हस्तिनापुर और पांचाल में संधि है, किन्तु कल क्या हो जाये कोई नहीं जानता। कुछ समय पूर्व हस्तिनापुर के राजकुमार, द्रोण के कहने पर पांचाल पर आक्रमण कर चुके थे, इस कारण युवराज शिखंडी की मनोकामना के कारण सबका भयभीत रहना स्वाभाविक लगता है।

मैं उठकर झरोखों से बाहर देखने लगी। एक लम्बे केशों वाले पुरुष, स्नान करके श्वेत धोती पहने बाहर टहल रहे थे। निःसंदेह वही शिखण्डी थे। दुबली पतली काया, रंग धूप में तप कर ताँबे जैसा हो गया था। लम्बा चेहरा भाव विहीन लगता था, किन्तु आँखें ... उनकी आँखें एक दृढ़ निश्चयी पुरुष की आँखें थीं, जिनमें उन्हें क्या करना है उसमें कोई दुविधा या संदेह नहीं झलकता है और उनके वक्ष पर वही दिव्य पुष्पों की माला थी।

सेवक ने उनके समक्ष भोजन ग्रहण करने के लिये निवेदन किया। शिखण्डी अंतःपुर की ओर बढ़ चले। उनका शरीर कसा हुआ था, उनकी चाल में एक शोभा थी, मानों सिंह शांत भाव से चल रहा हो।

मैं वहाँ से हट कर भोजन कक्ष में आ गयी। मैं द्युम्न को भोजन अपने सामने ही करवाती थी। आज भोजन की दो थालियाँ परोसी जा रही थीं, एक द्युम्न और एक शिखण्डी के लिये।

भोजन कक्ष में शिखण्डी और उनके पीछे पीछे द्युम्न ने प्रवेश किया। मैंने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया, किन्तु आशीर्वाद देने के स्थान पर शिखण्डी ने प्रणाम की मुद्रा में अपने दोनों हाथों को मेरे समक्ष जोड़ दिया, “कृष्णा, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, क्योंकि मैं तुम्हारा आभारी हूँ।”

मैं कुछ भी नहीं समझ पायी और उनकी ओर देखती रही। उन्होंने संकेत से मुझे मौन रहने का आदेश दिया।

“तुम भी खाओ।” शिखण्डी ने मुझे लक्ष्य करके कहा। मैं माता और मातामही के साथ भोजन करती थी। वैसे भी राजभवन में पुरुषों के भोजन करने के पश्चात ही स्त्रियों के भोजन करने की परम्परा थी, इस कारण मैं चुपचाप बैठी रही।

मैं कह रहा हूँ आज तुम भी मेरे साथ भोजन करो... पता नहीं जीवन में फिर कभी इस प्रकार एक साथ बैठकर भोजन करने के लिये संयोग मिले न मिले; बचपन में हम सब भाई-बहन एक साथ बैठकर भोजन करते थे।” उन्होंने पाक शाला सहायक को संकेत किया। भोजन आ गया और मैंने भी द्युम्न और शिखण्डी के साथ भोजन करना आरम्भ कर दिया।

भोजन के पश्चात द्युम्न और शिखण्डी मेरे कक्ष में आ गये।

शिखण्डी मेरा जन्म सुनकर आये थे और मुझसे विशेष रूप से मिलना चाहते थे। कक्ष में पहुँचकर हम सब बैठ गये। मैंने शिखण्डी से पूछा, “आपने मेरा आभार क्यों व्यक्त किया?”

“क्योंकि मुझे तुम्हारे कारण ही अपनी इच्छा की पूर्ति का अवसर मिलेगा।”

“मेरे कारण” मुझे आश्चर्य हुआ।

“हाँ कृष्णा, तुम्हारे कारण ही महायुद्ध होगा; उस युद्ध में मैं भीष्म को मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा।”

मैं आश्चर्यचकित थी। मैं, द्युम्न और शिखण्डी। महायुद्ध, द्रोण और भीष्म की मृत्यु... विधाता ने भविष्य का ये कैसा जाल बुना है और अभी न जाने क्या क्या सामने आना बाकी है। मैं शिखण्डी की ओर देखने लगी। उन्होंने स्नेह से मेरे सिर पर हाथ फेरा।

मैंने शिखण्डी से पूछा, “सभी कहते हैं मेरे कारण महायुद्ध होगा, आज आप भी यही कह रहे हैं; आप मेरे भविष्य के विषय में क्या क्या जानते हैं, कृपया मुझे बताइये; मेरा मन भविष्य की कल्पना करके कभी कभी हताश हो जाता है।”

“बहन, सुखद नहीं है भविष्य; तुम्हें उस महायुद्ध के पूर्व दुःख और अपमान भी भोगना पड़ेगा और उसी अपमान से महायुद्ध का अंकुर फूटेगा, इससे अधिक मैं तुम्हें कुछ नहीं बता सकता... बस इतना जान लो कि मैं, तुम, द्युम्न और श्रीकृष्ण सभी इसके पात्र हैं।” कृष्ण का नाम सुनकर मुझे संतोष हुआ कि यदि मेरे भविष्य में श्रीकृष्ण भी सम्मिलित हैं, तो मैं बहुत अंशों तक सुरक्षित हूँ; अब मेरे पास अब अपने भविष्य को लेकर भयभीत न होने और संतुष्ट रहने का पर्याप्त कारण है।

मैं शिखण्डी से कुछ और भी पूछना चाह रही थी, किन्तु संकोच हो रहा था।

“अब तो आप यहीं रहेंगे न?” मैंने पूछा।

“नहीं, तुमसे मिलने आया था, कल लौट जाऊँगा; वैसे भी यहाँ के लोगों के लिये मेरा यहाँ से चले जाना ही प्रसन्नता का कारण होगा।” अपनी बात पर वे स्वयं हँसने लगे।

“आप अन्यथा न मानें तो मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ।”

“कहो कृष्णा, अन्यथा मानने की कोई बात नहीं है; तुम मेरी बहन हो और वैसे भी मैं तुम्हारा आभारी हूँ।”

“आप स्त्री और पुरुष दोनों ही रूपों को जी चुके हैं, इस कारण मैं जानना चाहती हूँ कि आपको दोनों में क्या अन्तर लगता है?” मैं एक साँस में कह कर चुप हो गयी।

शिखण्डी एक क्षण चुप रहे और पुनः कहना आरम्भ किया “यदि पुरुष अपने किसी लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ता है, तो उसे बहुत से लोगों का साथ मिल जाता है, किन्तु स्त्री के साथ ऐसा नहीं होता है; उसे अपना युद्ध अकेले ही लड़ना पड़ता है और उस स्थिति में जो भी पुरुष उससे जुड़ता है, वह केवल उसके कारण नहीं जुड़ता, वरन् वह अपनी परिस्थितियों वश जुड़ता है, अतः तुम अपनी किसी इच्छा या उद्देश्य के लिये कभी किसी पुरुष की प्रतीक्षा मत करना... यदि करोगी तो तुम पूरे जीवन प्रतीक्षा ही करती रहोगी।”

शिखण्डी दूसरे दिन लौट गये। उनसे जाने के पूर्व मैंने पूछा -

“आप कब तक लौटेंगे?”

वे हँसे “तुम्हें जब मेरी आवश्यकता होगी मैं उपस्थित हो जाऊँगा।” ... पुनः रुक कर बोले, “तुम्हें चिंता करने की क्या आवश्यकता है, तुम्हारे साथ तुम्हारे सखा हैं; तुमने अपना सारा विश्वास उन्हें सौंप दिया है, अब तुम्हारा सारा दायित्व वही वहन करेंगे।”

दूसरे दिन द्युम्न ने मुझसे कहा कि, “मैं आश्चर्यचकित उन्हें देखता रहा; वे योद्धा हैं, किन्तु अपनी इच्छा से राज्य छोड़कर चले गये। मैं तो भान्य द्वारा प्रतीक्षण उस ओर ढकेला जा रहा हूँ, जिसके लिये मैं पैदा हुआ हूँ और तुम, पता नहीं कैसा जीवन तुम्हें मिले?”

मैं भी आश्चर्य चकित थी। शिखण्डी ने तप किया है भविष्य में झाँकने का... सामर्थ्य भी उन्हें प्राप्त है, अन्यथा वे इस प्रकार की बात न करते। शिखण्डी मेरे मन को भीतर तक झकझोर कर और सांत्वना देकर चले गये।

5. स॒वयं॒वर

इस बार श्रीकृष्ण का आगमन पूर्व निर्धारित नहीं था। पिताश्री को सूचना मिली थी कि श्रीकृष्ण कांपिल्य नगरी के मार्ग से यात्रा कर रहे हैं और पिताश्री ने पत्र द्वारा तत्काल अनुरोध किया कि वे उन्हें दर्शन दें और कुछ दिन कांपिल्य नगरी में विश्राम करें। श्रीकृष्ण ने केवल एक रात्रि के लिये विश्राम का अनुरोध स्वीकार किया। पूरा राजपरिवार उत्साहित हो गया। उनके स्वागत भोजन और शयन की व्यवस्था होने लगी, किन्तु मैं तो इन सबसे परे थी; मुझे व्यवस्था से कुछ भी लेना देना नहीं था... कृष्ण के दर्शन होंगे यही मेरे लिये सब कुछ है।

कभी-कभी मेरा मस्तिष्क मुझे सचेत करता है कि इतना आकर्षण उचित नहीं, मैं स्वयं पर संयम रखूँ मैं प्रयास भी करती थी। ऐसा लगता था कि कुछ सफलता भी मिल रही है; किन्तु कृष्ण को देखते ही मुझे न जाने क्या हो जाता है कि मैं तन-मन की सुधबुध भूल जाती हूँ और मेरा हृदय पहले जैसा ही प्रेम में धड़कने लगता है।

मातामही ने पिताश्री से कहा है कि वे इस बार श्रीकृष्ण से कृष्णा के विषय में वार्तालाप करें। उन्हें विश्वास है कि श्रीकृष्ण के मन में भी कृष्णा से विवाह करने की इच्छा है, इसी कारण कृष्णा के जन्म के पश्चात उनका इस परिवार पर और कृष्णा पर विशेष स्नेह है; तुम प्रस्ताव रखो, अनुमोदन अवश्य होगा।”

सदैव की भाँति पिताश्री, श्रीकृष्ण के साथ अंतःपुर में आये। उन्होंने मातामही को प्रणाम किया। मैंने भी उन्हें प्रणाम किया। श्रीकृष्ण ने मेरे झुकते हुए माथे को स्पर्श करते हुए कहा कि “तुम मेरी सखी हो, हमारा संबंध बराबरी का है; तुम मुझे प्रणाम करके अपने से बड़ा बनाती रहती हो।” मैं धीरे से मुस्कुरा दी। कुछ क्षण रुक कर श्रीकृष्ण ने पुनः परिहास किया “मैं तुम्हारा सखा हूँ, याद है कि भूल गयी; इस प्रकार से खड़ी हो कि देखकर लगता है कि तुम मुझे पहचानती भी नहीं हो।” बात समाप्त करके श्रीकृष्ण हँस पड़े।

मैं भी हँस पड़ी। प्रत्यक्ष कुछ नहीं कह पायी, मन में भीतर ही भीतर बहुत कुछ कह दिया, बहुत कुछ अनकहा भी रह गया। क्यों नहीं मैं सखा से कुछ भी कह पाती हूँ? कदाचित् सब कुछ कहा नहीं जा सकता है... कभी कहना चाहूँ तो भी नहीं कह सकती, शब्द समाप्त हो जाते हैं, उनमें भावनाओं को बाँधने की क्षमता भी नहीं होती। मन शब्दों से बहुत अधिक जी जाता है। शब्दों में हृदय नहीं होता और न ही वे धड़कते हैं, जबकि भावनाओं को मैं धड़कते हृदय से जीती रहती हूँ। उनके साथ साँसों की गति भी होती है... साँसों से भावनाएँ जीवित लगती हैं और शब्द, एक सीमा के बाद खोखले और धिसे हुए लगते हैं। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मैं अपनी भावनाओं को प्रकट करना ही नहीं चाहती, मानों उनकी सुगंध उड़ जायेगी; वह सुगंध, जिसमें भावनाएँ हैं, स्पर्श की अनुभूतियाँ हैं, शरीर के निकटता की गंध है, समूचा एक गंध रूप है, जो मेरी भावनाओं में भरा हुआ है। अपनी इन भावनाओं को मैं स्वयं से भी छिपाती हूँ, मानों वह अनुभूतियाँ बाहर आते ही गंधहीन होकर बिखर जायेंगी।

प्रतिदिन की भाँति पिताश्री सायंकाल अंतःपुर में मातामही के पास आये। मातामही बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। मेरा हृदय भी धड़क रहा था कि क्या कहा होगा श्रीकृष्ण ने... प्रस्ताव को स्वीकार किया अथवा नहीं। अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओं ने मुझे घेर रखा था कि

मेरा जीवन अब किस दिशा में जायेगा।

पिताश्री के भीतर आते ही मैं लज्जावश कक्ष से बाहर चली गयी। मातामही ने पिताश्री के समक्ष अपना प्रश्न दुहराया। पिताश्री कुछ क्षण मौन रहे। उनके मौन से मेरा हृदय बैठा जा रहा था। पिताश्री ने कहा, “मैंने श्रीकृष्ण के समक्ष निवेदन किया कि कृष्णा के जन्म के समय हुए नामकरण से ही मेरे मन में उसे आपके चरणों में समर्पित करने की इच्छा पैदा हुई थी, अतः आज आपसे निवेदन कर रहा हूँ। आप उसे अपने चरणों में स्थान देकर हमें कृतार्थ करें।

श्रीकृष्ण कुछ समय मौन रहे, फिर शांत स्वर में मुझसे कहने लगे, “महाराज द्रुपद! कृष्णा एक साधारण कन्या नहीं है; उसका जन्म पृथ्वी पर दुष्टों के नाश एवं धर्म की स्थापना के लिये हुआ है, अतः आर्यावर्त का श्रेष्ठ वीर पुरुष ही कृष्णा के पति के योग्य होगा; आप कृष्णा के लिये स्वयंवर का आयोजन करें।”

मातामही मौन होकर सुन रही थीं। निःसंदेह उनका हृदय भी व्याकुल हो रहा होगा।

श्रीकृष्ण के उत्तर से मैं व्याकुल हो गया; मैंने श्रीकृष्ण से ही पूछा “आपके अतिरिक्त आर्यावर्त में कौन श्रेष्ठ वीर है?”

“है, मेरे अतिरिक्त भी एक और है, एवं स्वयंवर के बिना कृष्णा के पाणिग्रहण का अधिकार किसी को नहीं है।”

“कौन है वह?” मैं व्यग्र हो गया था... मेरी चिर संचित अभिलाषा, क्षण में धराशायी हो गयी थी।

“तृतीय पाण्डव अर्जुन, मेरी बुआ का पुत्र; आयु में मुझसे एक वर्ष छोटा है और अर्जुन की वीरता आपसे छुपी नहीं है... अर्जुन मेरा छोटा भाई ही नहीं, अंतरंग सखा भी है; हमारी देह भिन्न है, किन्तु आत्मा अभिन्न है; उन्हें जामाता बनाकर आप यशस्वी होंगे।”

इतना सुनकर मैं अपने कक्ष में चली गयी। सखा आपने यह क्या कह दिया; आपने तो मुझे जीवन और मृत्यु दोनों एक साथ भोगने के लिये दे दिया। यह कोई क्षणिक उपहास तो है नहीं; आपकी इच्छा से निर्धारित किया गया मेरा जीवन है। हाँ सखा! आपकी इच्छा से। आप सदैव मेरे भाग्य विधाता रहे। नियति ने नाम का आश्रय लेकर इसे और अधिक सरल बना दिया था, इसी नाम के कारण मेरे परिवार के लोगों के हृदय में यह कामना उत्पन्न हुई कि आप मेरा पाणिग्रहण करें। परिजनों की इच्छा को सुनकर मेरा मन आपके आकर्षण में बिना कुछ सोचे समझे दौड़ पड़ा। मातामही के आग्रह पर ही पिताश्री ने आपके समक्ष प्रस्ताव का निवेदन किया... किन्तु वासुदेव! आपने मेरे लिये पाण्डु पुत्र अर्जुन को प्रस्तावित कर दिया और पिताश्री ने आपके आदेश को शिरोधार्य कर लिया और उसी क्षण अर्जुन मेरे लिये नियोजित वर बन गए थे। एक हूक सी उठी मन में... मैं जन्म से कृष्ण कृष्ण सुनती आयी थी, अब....।

हे यदुनन्दन! इस समय आप बहुत याद आ रहे हैं; याद आ रहे हैं कहना अनुचित होगा, क्योंकि याद वह आता है, जो भूला रहता है... मुझे तो कुछ भी नहीं भूला है; आपका रूप, आपका स्नेह भरी दृष्टि से मुझे देखना, स्नेह छलका कर अपनी सखी बना लेना, प्रणाम करते समय अपने कोमल स्पर्श से मुझे उठा देना, सारा शरीर झनझना उठता था मेरा। क्या है आपके स्पर्श में? कहीं वह मेरे भीतर आपके लिये जो आकर्षण और तृष्णा भरी हुई है, मन की उसी तृप्ति धरती पर पड़ने वाली स्नेह की बूँदों से उठने वाली गंध तो नहीं थी, जो मेरे शरीर को रोमांचित कर जाती थी? इस समय उस स्पर्श को मैं अपने रोम-रोम में भर कर जीना चाहती हूँ। हे मधुसूदन!

कदाचित् यह अनुचित था, तभी आपने मुझे यह दंड दिया। किस विषम परिस्थिति में आपने मुझे डाल दिया है; जी चाह रहा है कि मैं विरोध करूँ; किन्तु किसका और किसके लिये?

आप कहते हैं कि मैं अग्नि की वेदी से उत्पन्न हुई हूँ, इस कारण मुझमें बहुत अधिक मात्रा में क्रोध होगा... किन्तु सखा, मैंने तो आज तक किसी पर भी क्रोध नहीं किया है। मेरे हृदय को आपके स्नेह की आवश्यकता रहती थी, इसी कारण मेरे हृदय का एक कोना कभी कभी दग्ध रहता था और स्नेह पाते ही वह दग्धता शीतलता में परिवर्तित हो जाती थी... किन्तु आज लग रहा है कि आप ठीक कहते थे। मेरे हृदय के कोने में कहीं अग्नि छुपी हुई थी, जो आज धधक रही है और कंठ से निकल जाना चाहती है, अन्यथा आपकी यह कृष्णा अपनी ही अग्नि में भस्म हो जायेगी।

सखा, आप मुझे कितने नामों से बुलाते हैं... द्रौपदी, याज्ञसेनी, श्यामा, पांचाली और कभी-कभी कृष्णा। आपका मुझे कृष्णा कह कर बुलाना ऐसा लगता था, मानों आप मुझे अपने अंतरमन से बुला रहे हैं और मेरा जी चाहता था कि मैं आपके अंतरमन में समा जाऊँ, कृष्ण में कृष्णा विलीन हो जाये उसका अस्तित्व ही न बचे... वहीं घुलकर आपकी शिराओं में बहने वाले रक्त में मिल जाये, उसका अपना कुछ भी न बचे, न अंदर न बाहर। ये कैसी इच्छा है बनवारी, मेरे मन में आपके लिये, जिसे मैं कभी भी कह नहीं सकती हूँ। यदि कह पाती तो आप हँसते... कहते कि, मैं पागल हूँ... एकदम बनवासी अशिक्षित, जिसे सभ्य समाज का कोई विवेक नहीं है। आप भी तो वनवासी हैं, वन में गायें चराते हुए घूमते थे।

तभी तो इतना प्रेम करती हूँ आपसे। इस प्रेम में सभ्य समाज के नियमों की जटिलता नहीं है। है तो केवल एक नदी का प्रवाह... एक ही दिशा में पूरे वेग से बहने वाली पर्वतीय नदी का प्रवाह। नहीं, अंतर है नदी और मेरे प्रेम में। वेगवती नदी मार्ग में आने वाले बड़े बड़े शिला खण्डों को अपने वेग से मार्ग से हटा देती है, उठापटक कर चूर चूर कर डालती है। किन्तु मुझे मेरे पिता की प्रतिष्ठा, उनकी सामाजिक स्थिति और सबसे बड़ी मेरी अपनी मर्यादा ने मुझे कभी भी पर्वतीय नदी नहीं बनने दिया। मैं तो शांत शीतल जल की धारा की भाँति आपके प्रेम में आपके बाल्यकाल की क्रीडास्थली वृंदावन में बहने वाली यमुना की भाँति बहती रही।

अब मैं अपनी अबाध भावनाओं पर रोक लगाना चाहती हूँ, किन्तु नहीं लगा पा रही हूँ। मेरे हृदय में बहुत कुछ है जो उफन कर बाहर आना चाह रहा है। कभी कभी मुझे लगता था कि क्यों लगे अनुभूतियों और भावनाओं पर रोक? किन्तु अब प्रयास तो करना पड़ेगा... किन्तु आपके आकर्षण से उबरना क्या संभव है?

सखा! कठोर निर्णय बहुत कमजोर होते हैं। अभी कुछ क्षण पूर्व एक निर्णय लिया था कि आपके आकर्षण से स्वयं को मुक्त करने का प्रयास करूँगी; उतने हिस्से से मुक्ति का प्रयास, जो अनावश्यक रूप से मेरे जीवन में प्रवेश कर गया है। किन्तु सखा! यह निर्णय अपने हाथों से अपना गला दबाने जैसा है... अपने हाथों से अपना गला तो नहीं दबाया जा सकता है न! वैसे ही मेरा निर्णय भी सफल नहीं हो पायेगा, क्योंकि यह मेरे वश में नहीं है। थोड़ी देर के लिये विवेक, मन को वश में भी कर लेता है, किन्तु विवेक का दबाव कम होते ही मन उस पर भारी पड़ जाता है। ऐसा लगता है कि मन विद्रोह करके विवेक को पूरी तरह परे ढकेल कर अपने ढंग से साँस लेना चाहता है, जी भर कर जीना चाहता है।

मन के अनुसार जीना क्या सरल है। मन छोटी छोटी इच्छाओं की एक एक सीढ़ी चढ़ता जाता

है; पर मन को सीढ़ी उतरना नहीं आता है। मन कभी भी लौटकर पहली जगह नहीं आता; वहीं खड़ा रहता है, ऊपर जाने की आशा में।

हे सखा! अब आपकी जैसी इच्छा; मेरा जन्म से लेकर आज तक का जीवन आपकी इच्छा से ही चला है और भविष्य में भी चलता रहेगा, मैं तो एक कठपुतली मात्र हूँ, जिसके सारे सूत्र आपके हाथ में हैं।

* * *

अन्तःपुर में एक मौन व्याप्त था। लगता था समय जैसे ठहर गया हो। पिताश्री गंभीर थे। उनके मुख मण्डल पर उनका आंतरिक दुःख स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था। आज प्रातःकाल दूत से सूचना मिली थी कि सभी पाण्डव अपनी माता सहित वरणावत में रात्रि में विश्राम करते समय घर में आग लग जाने के कारण जलकर भस्म हो गये।

पिताश्री सायंकाल मातामही के समक्ष उपस्थित हुए और मातामही को धैर्य देकर स्वयं धैर्य धारण करने का प्रयास करने लगे। उन्होंने मातामही से कहा, “माँ, जब श्रीकृष्ण ने कृष्णा के लिये अर्जुन को उपयुक्त वर के रूप में प्रस्तुत किया तो उस समय मैं तत्काल कोई निर्णय नहीं लेने पाया, इस कारण मौन रहा... किन्तु कुछ समय पश्चात लगा कि इससे उत्तम निर्णय हो ही नहीं सकता है कि आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर मेरा जामाता हो; इस विचार ने मेरे हृदय के ताप को बहुत कम कर दिया था; इसने मेरे हृदय में द्रोण के मृत्यु की कामना को भी धूमिल कर दिया था। हस्तिनापुर जैसा समृद्ध और पराक्रमी राज्य मेरा सम्बन्धी होगा; भीष्म जैसे पराक्रमी और द्रोण जैसे व्यक्ति के संरक्षण में हस्तिनापुर के साथ हमारा राज्य भी सुरक्षित रहेगा। श्रीकृष्ण का प्रस्ताव मुझे राजनैतिक दृष्टि से भी उपयुक्त लगा था; किन्तु आज पाण्डव जीवित नहीं हैं यह शोक मेरे लिये महान है, लग रहा है कि हाथ में आयी निधि छूट गयी है।” पिताश्री चुप हो गये, कहने सुनने को अब कुछ भी शेष नहीं बचा था।

अंतःपुर में अब एक चिंता व्याप्त हो गयी है कि अब कृष्णा का विवाह किससे होगा? पिताश्री व माता के मुख पर चिंता की रेखाएँ स्पष्ट दिखायी देती हैं। मातामही के मन में एक भय समा गया है और वे दिन रात ईश्वर से इस चिन्ता से निकलने का मार्ग पूछती रहती हैं।

सब के दुःख ने मेरी चंचलता को समाप्त कर दिया है। मुझे इसका दुःख नहीं है कि पाण्डव आज जीवित नहीं हैं और न ही यह प्रश्न मेरे समक्ष है कि मेरा विवाह अब किससे होगा। मैं शांत हूँ तो केवल इस कारण कि मेरे माता-पिता दुःखी व निराश हो गये हैं... उनका दुःख और उनकी निराशा मुझे दुःखी और निराश कर रही है।

पहले मेरे मन में कभी प्रश्न उठता कि क्या मेरे पिता अपनी अन्य संतानों की भाँति ही मुझे और द्युम्न से प्रेम करते हैं, या हम दोनों को केवल अपनी इच्छापूर्ति का साधन मान कर सहेज रहे हैं? मेरा प्रश्न कभी मुझे बहुत व्याकुल कर देता था। अपनी असहज उत्पत्ति को लेकर मुझे कभी हीनता का भी आभास होता था, किन्तु मैं अपनी इस हीन भावना को अपनी दिव्यता और विशिष्टता से ढँकने का प्रयास करती थी और अपने भीतर दबाकर बाहर से विशिष्ट बनी रहती थी। किन्तु आज लग रहा है कि मैं कितने भ्रम में थी। आज मेरे हृदय की सारी दुविधाएँ और प्रश्न समाप्त हो गये हैं। माता-पिता के दुःख ने मुझे उनसे कस कर बाँध दिया है। उनकी हर व्यथित साँस मेरे हृदय में कसक रही है। मुझे लगता है कि मेरा विवाह ही उनके लिये चिंता का विषय है और मेरे विवाह के पश्चात उनकी भी चिन्ता समाप्त हो जायेगी, इस कारण मेरी इच्छा होती थी कि

मेरा विवाह हो जाये, जिससे मेरे परिजन दुःख से मुक्त हो जायें।

द्युम्न भी उतने ही दुःखी थे। वह जानबूझ कर मेरे पास आने से कतराने लगे हैं। कभी सामना होता तो आवश्यक कार्य की व्यस्तता दिखाकर बाहर चले जाते हैं। पता नहीं क्यों द्युम्न मुझे अपराध भावना से ग्रस्त लगते हैं। कदाचित वे माता-पिता के दुःख को दूर करने में स्वयं को असमर्थ पा रहे हैं, या उन्हें मैं दुःखी लग रही हूँ और वे मेरे दुःख का निवारण करने में असमर्थ हैं, जिसके कारण वे मेरे सामने आने का साहस नहीं कर पा रहे हैं। पता नहीं किन्तु इस विषम घड़ी में द्युम्न ने मुझसे दूरी बना ली है, इस कारण मैं स्वयं को पूरी तरह से अकेली पा रही हूँ। द्युम्न के अतिरिक्त कोई मेरे इतना निकट नहीं है जिससे मैं कुछ कहती। द्युम्न के हृदय की पीड़ा मुझे सबसे अधिक पीड़ित कर रही है।

* * *

इस बार श्रीकृष्ण का आगमन केवल एक दिन के लिये था। इतने कम समय के लिये आगमन सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि सखा दूर देश से आते थे... अश्वों, सेवकों और सैनिकों को पर्याप्त विश्राम की आवश्यकता होती थी, जिसके लिये लगभग तीन दिन का समय आवश्यक होता है। सखा के स्वागत सत्कार की व्यवस्था द्युम्न के ऊपर ही रहती है। द्युम्न बहुत प्रसन्न हैं उन्हें लगता है कि मेरे विषय में माता-पिता की चिन्ता का निराकरण श्रीकृष्ण अवश्य करेंगे।

सखा ने पिताश्री से एकान्त में वार्तालाप किया था। उस समय द्युम्न भी वहाँ उपस्थित नहीं थे और मैं भी सखा से बहुत कम समय के लिये ही मिल पायी थी। सखा, विदा लेने के समय अंतःपुर में आये थे, उसी समय मैंने भी उन्हें प्रणाम किया था। उन्होंने हँसते हुए अपना वही पुराना प्रश्न “कैसी हो सखी” दुहराया।

“अच्छी हूँ।” मैंने भी रटा रटाया सा उत्तर दे दिया।

सखा के प्रस्थान करने के बाद सभी को ज्ञात हुआ कि सखा ने पिताश्री को सुझाव दिया है कि वे मेरे लिये स्वयंवर का आयोजन करें, क्योंकि क्षत्रियों के लिये कन्यादान का श्रेष्ठ मार्ग स्वयंवर ही है, तथा सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर की परीक्षा के लिये ‘लक्ष्य भेद’ की शर्त भी रखें... इस प्रकार से जो प्रतियोगी सफल हो, उसी के साथ कृष्णा का विवाह करे।

मुझे आश्चर्य भी हो रहा था कि पिताश्री ने मुझे अपना वर चयन करने में इतनी स्वतंत्रता क्यों दी है, क्योंकि इसके पूर्व कन्याओं और पुत्रों के विवाह, दो परिवारों की सहमति से ही हुए थे। बाद में द्युम्न ने बताया कि श्रीकृष्ण ने यह सुझाव दिया है कि लक्ष्य भेद की शर्त रख कर कृष्णा के स्वयंवर का आयोजन किया जाये। द्युम्न ने मुझसे यह भी कहा कि श्रीकृष्ण कह रहे थे कि, उन्हें नहीं लगता है कि पाण्डव इस प्रकार से मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं; अर्जुन जीवित है, उनका हृदय ऐसा मानता है।”

“यदि मैं अपनी पसंद के व्यक्ति के गले में वरमाला नहीं डाल सकती, तो इसे मेरा स्वयंवर क्यों कहा जा रहा है?”

“श्रीकृष्ण ने कहा था कि अर्जुन इसे भेद सकते हैं।”

“पिताश्री क्यों मेरा विवाह अर्जुन से करना चाहते हैं, जबकि वे एक बार उन्हें पराजित करके अपमानित कर चुके हैं?” मैंने किंचित रोष से कहा।

“अर्जुन ने उन्हें अपमानित नहीं किया था, वह तो अपने गुरु की आज्ञा का अनुसरण कर रहे थे।”

मैं समझ गयी। अर्जुन मुझसे विवाह करने के पश्चात द्रोण के पक्ष में नहीं रहेंगे और उन्हें परास्त करके मारने का श्रेय द्युम्न को मिल जायेगा, जो कि अर्जुन के होते सम्भव नहीं हैं। क्या पता इसी प्रकार से मैं इतिहास बदलने का कारण बनूँ। मेरे विवाह के पश्चात अर्जुन, मेरे पिता और भाई के विरुद्ध युद्ध नहीं कर सकेंगे, यह सोचकर मुझे अपने पिताश्री पर क्रोध आने लगा। माँ ने भी केवल अपनी इच्छा पूर्ति के लिये एक पुत्री की कामना की थी। द्युम्न मुझे क्षुब्ध देखकर कहने लगे, "कृष्णा, अन्यथा मत सोचो; पिताश्री चाहते हैं कि तुम सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर की पत्नी बनो।"

मैं सोचने लगी कि पिताश्री ने पाण्डु पुत्र अर्जुन को लेकर अपने हृदय में कितनी कामनाओं को पाल रखा है, जबकि अर्जुन के जीवित होने में ही संदेह है; यदि अर्जुन जीवित नहीं है तो अब सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कौन हैं?

जी में आया कि द्युम्न से पूछूँ, किन्तु मौन रही। अर्जुन नहीं तो उनके समकक्ष दूसरा... किसकी इच्छापूर्ति प्रधान है, पिताश्री की या श्रीकृष्ण की? यदि पिताश्री की, तो उन्हें सब कुछ सर्वश्रेष्ठ चाहिये... सर्वश्रेष्ठ योद्धा पुत्र, सर्वश्रेष्ठ अलौकिक दिव्य पुत्री, सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर जामाता; कहीं भी कुछ भी उन्नीस नहीं, सब कुछ बीस; सबसे बीस... पर मेरा मन?

मेरे मन में झाँकने की न तो किसी को आवश्यकता है और न ही इच्छा। मेरे मन में भी कोई इच्छा हो सकती है, क्या कोई ऐसा सोचता है? क्योंकि मैं सामान्य किशोरी तो हूँ नहीं, जो बहनों भाभियों और सखियों से अपनी इच्छा कहती या बचपन से कोई इच्छा पालती। बचपन! मेरा तो कोई बचपन था ही नहीं। यदि कोई बचपन रहा होता तो जानती कि बाल मन पर व्यवहार और संस्कार कैसे अपनी छाप छोड़ते हैं, इच्छाएँ कैसे सुदृढ़ आकार ग्रहण करती हैं, बचपन से वयः संधि की सीढ़ियों पर पैर रखते समय हृदय में प्रेम की कोमल भावनाएँ कैसे पैदा होती हैं और उनकी अनुभूति कैसी होती है? दिन में जागते हुए कैसे सपनों को देखा जाता है? मैंने तो स्वयं को दर्पण के सम्मुख पूर्ण विकसित किशोरी के रूप में ही देखा था और अपने सौन्दर्य और देह यष्टि को आश्चर्यचकित होकर कुछ समय तक देखती रह गयी थी। सखा! पाण्डव, वरणावत में माता सहित अग्नि की भेंट चढ़ गये, यह जानने के बाद आपने मेरे विवाह के लिये अन्य किसी उपयुक्त वर का नियोजन नहीं किया तो पुनः मेरे मन में एक आशा की किरण जगी थी, कि कदाचित् आप मुझे अपने चरणों में स्थान दें, किन्तु... अब सब कुछ पुनः आपकी इच्छा के अनुसार हो रहा है।

* * *

स्वयंवर की तैयारी लगभग पूर्ण हो गयी थी। स्वयंवर सभा के निर्माण और सज्जा में शिल्पियों ने अपनी सारी कल्पनाएँ उड़ेल दी थीं। सेविकाएँ अवसर पाते ही वहाँ घूम कर आतीं और मेरे समक्ष उसका वर्णन करतीं, कि आपके स्वयंवर का सभागृह इन्द्र की सभा जैसा लगता है। वे सभा की छोटी-छोटी साज सज्जा का आश्चर्य चकित होकर वर्णन करती हैं।

अतिथियों का आना प्रारम्भ हो गया है और उन अतिथियों के लिये विशेष रूप से बनाया गया निवास स्थल दिन दिन भरता जा रहा है। अतिथियों के आने के साथ साथ पिताश्री, द्युम्न और मंत्रिमण्डल की व्यस्तता भी बढ़ती जा रही है।

मेरे हृदय में फूटे संशय का अंकुर दिन दिन बढ़ता जा रहा है कि, यदि पाण्डव जीवित नहीं हैं, तो स्वयंवर में इस प्रकार की शर्त क्यों रखी गयी है। सखा क्या चाहते हैं, मैं नहीं जानती। सखा ने मेरा प्रस्ताव भी लौटा दिया था, तो इस असंभव शर्त के साथ स्वयंवर के आयोजन का क्या

प्रयोजन है। मैंने द्युम्न से पूछा, “भाई, क्या तुम्हें लगता है कि यह स्वयंवर सफल होगा?”

द्युम्न निरुत्तर खड़े रहे।

मैंने पुनः पूछा, “कौन कौन आये हैं?”

“हस्तिनापुर से दुर्योधन अपने भाइयों और मित्र अंगराज कर्ण के साथ, जयद्रथ, शल्य, शिशुपाल, सात्यकी और जरासंध ...

मेरी इच्छा उन नामों को सुनने की नहीं थी, मैंने पूछा, “प्रतियोगियों के अतिरिक्त अतिथि?”

“हाँ, द्रोणाचार्य पुत्र अश्वत्थामा पहुँच चुके हैं; सायंकाल तक बलराम और श्रीकृष्ण भी पहुँच जायेंगे।” श्रीकृष्ण का नाम सुनकर मेरे हृदय में थोड़ा धैर्य हुआ।

मैंने सखा को प्रणाम किया, किन्तु प्रत्युत्तर में आज सखा ने आशीर्वाद और स्नेह के विपरीत अपने दोनों हाथों को प्रणाम की मुद्रा में मेरे सामने जोड़ दिया, “सखी, तुम्हारे कारण इस पृथ्वी पर धर्म की स्थापना होगी, अतः मैं आज तुम्हें प्रणाम कर रहा हूँ।”

मैं संकुचित हो गयी... मेरे सारे प्रश्न मेरे कंठ में अटक गये। सखा से मैं बहुत सारे प्रश्नों के उत्तर चाहती थी, क्योंकि सखा ही इस सारे आयोजन के कर्ता थे, उन्हीं की इच्छा से मेरा स्वयंवर हो रहा है और मैं चकित भ्रमित सी आने वाले हर क्षण को जीने के लिये विवश हूँ। थोड़ी देर बाद मैंने सखा से कहा “हे मधुसूदन! आप की आज्ञा से मेरे स्वयंवर का आयोजन हो रहा है; आपके आदेश के कारण ही मैंने अर्जुन को मन में धारण कर लिया था... आपने मुझसे कहा था कि अर्जुन में मेरा अंश है, अर्जुन की सारी प्राप्ति, जय-पराजय में मैं भागीदार हूँ। अर्जुन आपको अर्पित किए बिना जल भी ग्रहण नहीं करते और आपने मुझसे यह भी कहा था कि अर्जुन की होते हुए भी मेरी सूक्ष्म सत्ता के साथ मेरा और आपका सम्बन्ध चिरंतन और शाश्वत रहेगा... उस दिन से मैंने अपनी देहातीत सत्ता को आपकी ज्योतिर्मयी सत्ता में विलीन कर दिया था और मैं अपने देह के साथ पांचाल के राजभवन में आपके शेष अंश अर्जुन की प्रतीक्षा करने लगी; किन्तु अब, जब पार्थ जीवित नहीं हैं, तो आप ऐसे स्वयंवर का आयोजन किसलिये करवा रहे हैं, जिसकी सफलता संदिग्ध है? यदि कोई इस शर्त को पूरी कर लेता है तो क्या मैं उस व्यक्ति को पति के रूप में सहजता से ग्रहण कर पाऊँगी?... कहते कहते यत्न से धारण किया गया मेरा संयम टूट गया, बाणी अवरुद्ध हो गयी और अश्रु बहने लगे। थोड़ा संयमित होकर मैंने अपनी बात आगे बढ़ायी, “यदि कोई स्वयंवर की शर्त पूरी न कर सका, तो यह भी मेरा ही दोष होगा कि मैं ही सौभाग्यहीन हूँ और क्षत्रिय कन्या के लिये दुबारा स्वयंवर का प्रश्न ही कहाँ उठता है; ऐसी स्थिति में मुझे ब्रह्मचारिणी बन, कठोर साधनामय जीवन व्यतीत करना होगा।”

सखा हँसने लगे।

मुझे सखा पर क्रोध आने लगा कि सखा इस विषम परिस्थिति में भी कैसे प्रसन्न रह सकते हैं। मैंने एक क्षण के लिये सखा के मुख पर दृष्टि डाली और अगले क्षण अपनी आँखें झुका ली।

“सखी, मेरा हृदय कहता है कि पाण्डव जीवित हैं और सुरक्षित भी; वे समय आने पर प्रकट होंगे। यदि पार्थ के साथ कुछ भी अघटित घटता, तो मुझे अवश्य उसका आभास हो जाता, अतः तुम शोक और संदेह का त्याग करके इन जीवन्त क्षणों का जी भर कर आनन्द लो।” कह कर सखा हँसते हुए आगे बढ़ गये।

क्या है सखा के कथन में? क्या सचमुच में कोई रहस्य है, जिससे सभी अनभिज्ञ हैं! सखा ऐसा

परिहास तो नहीं कर सकते हैं। मेरा मन दुःख से निकलकर एक नई दुविधा में पड़ गया।

* * *

मेरा रथ, रंग मण्डप की सीढ़ियों के पास जाकर रुका। द्युम्न ने मुझे सहारा देकर रथ से उतारा। मेरा शृंगार अद्भुत था। सब कुछ श्वेत श्वेत... रेशमी वस्त्र, श्वेत पुष्प और श्वेत आभा बिखेरते हीरे के आभूषण। श्वेत वस्त्रों में मेरी काया का रंग मनोहर लग रहा था।

वरमाला के लिये स्वर्ण कमलों की माल बनवायी गयी थी, जिसमें अनगिनत बहुमूल्य रत्न जड़े थे। मैंने उसे हाथ में उठाकर देखा तो वह बहुत भारी थी। मैंने कुछ क्षणों के पश्चात ही भार के कारण वह वरमाला थाल में रख दी, तो मेरी दासियाँ हँसने लगीं। मैंने कहा, “बहुत भारी है, इसे कोई कैसे पहन सकता है!”

“राजकुमारी, यदि वह पुरुष आपको प्राप्त करने के योग्य होगा, तो यह वरमाला उसे फूल की माला की भाँति ही भारहीन लगेगी, अन्यथा जो माला का भार सहन नहीं कर सकेगा, वह आपके रूप का भार कैसे वहन करेगा” कह कर नंदा हँस पड़ी।

द्युम्न मेरा हाथ पकड़े हुए सभा की ओर चल पड़े। मैंने देखा, स्वयंवर सभा भव्य थी। दासियों ने सत्य वर्णन किया था। रंग मण्डप को सुंदर ढंग से सजाया गया था और राजाओं, चाहे वे प्रतियोगी हों या प्रेक्षक अतिथि; सब के बैठने के लिये सुन्दर आसन निश्चित किए गये थे। भाँति भाँति के वाद्ययंत्र, शुभ और मंगलकारी ध्वनियाँ बजा रहे थे।

मैं जैसे ही रंग मण्डप में पहुँची, आचार्यों ने वेदोक्त विधि से प्रज्ज्वलित अग्नि में आहुति दी और वेदपाठी ब्राह्मणों ने स्वस्ति वाचन प्रारम्भ किया। द्युम्न मुझे लेकर रंग मण्डप में नियत स्थान पर पहुँचे और मेघ गर्जन सी गंभीर बाणी में उन्होंने सभा को संबोधित किया, “जो वीर इस किंधारा धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर इन पाँच प्रस्तुत बाणों के द्वारा स्तंभ के ऊपर घूमते हुए लक्ष्य के प्रतिबिंब को जल में देखकर उसे भेद देगा, वही मेरी भगिनी कृष्णा को प्राप्त करेगा।”

एक एक करके नरेश, उन्नत ग्रीवा किए हुए आते, द्युम्न उनका परिचय देते। वे प्रयास करते और असफल होकर ग्रीवा झुका कर अपने आसन पर बैठ जाते। शल्य, शिशुपाल, दुर्योधन, जरासंध सभी प्रयास करके असफल होकर बैठ गये।

अंगराज कर्ण मंच पर पधारे। सखा ने द्युम्न को संकेत किया। उसी क्षण उपस्थित जन समुदाय में से किसी ने प्रश्न कि “इस वीर का परिचय? क्योंकि क्षत्रिय ही लक्ष्य भेद करके द्रुपद नंदिनी को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है, अन्यथा द्रोण पुत्र अश्वत्थामा भी प्रयास करने के अधिकारी थे।”

उस स्वर को सुनकर सभी क्षण भर के लिये ठिठक गये। द्युम्न ने सचेत होकर उच्च स्वर में कहा, “सारथी पुत्र कर्ण कितने भी वीर क्यों न हों, कृष्णा का विवाह उनसे नहीं हो सकता।”

कर्ण क्रुद्ध हो गये। कर्ण को क्रुद्ध देखकर द्युम्न ने अपनी तलवार निकाल ली। मैं भयभीत हो गयी, क्योंकि द्युम्न और कर्ण का कोई मेल नहीं था। मैंने कर्ण को संबोधित करके कहा, “अंगराज! मुझे प्राप्त करने के प्रयास के पूर्व कृपया अपने कुल और पिता का परिचय दें, क्योंकि स्त्री के लिये अपने भावी पति के परिवार का परिचय जानना आवश्यक है।”

कर्ण शांत हो गये और हाथों में उठाये किंधारा को पूर्ववत् रख दिया और मुझे संबोधित करते हुए धीरे गंभीर बाणी में कहने लगे, “द्रुपद नंदिनी! स्वयंवर के लिये भेजे गये निमंत्रण में विवाह की शर्त केवल लक्ष्य भेद था, जिसमें जाति कुल, पिता प्रतिष्ठा का कोई उल्लेख नहीं था तो अब

यह प्रश्न क्यों उठाया जा रहा है? यदि ऐसा विचार भी था, तो उसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया था; क्या केवल मुझे अपमानित करने के लिये ही निमंत्रित किया गया है, जबकि सम्पूर्ण आर्यावर्त इस सत्य को जानता है कि मेरे और अर्जुन के अतिरिक्त कोई अन्य धनुर्धर इस जटिल लक्ष्य का भेदन करने में असमर्थ है, साथ ही, जबकि अर्जुन अपनी माता और भाइयों सहित स्वर्गवासी हो चुके हैं, तो ऐसी स्थिति में ऐसी घोषणा के पश्चात अब यह प्रश्न...।” कर्ण ने अपनी बात अधूरी छोड़ दी। क्रोध और अपमान से उनका मुख मण्डल तमतमा रहा था। कुछ क्षण रुक कर उन्होंने पुनः कहना आरम्भ किया... “यद्यपि मुझे जन्म देने वाला कुल अज्ञात है, किन्तु मेरा व्यक्तित्व, जन्म से प्राप्त ये दिव्य कवच कुण्डल और मेरे पराक्रम से क्या मेरा वास्तविक कुल भाषित नहीं होता! मेरे पराक्रम के समक्ष बड़े स्वकुल नाम धन्य क्षत्रिय भी खड़े नहीं हो सकते हैं और यह सभा यह भी जानती है कि भगवान परशुराम ने मेरे लक्षणों को देखकर ही मुझे क्षत्रिय कहा था; अब कहाँ प्रश्न रह जाता है मेरे क्षत्रिय होने में और इसी कारण महाराज द्रुपद ने मुझे स्वयंवर का निमंत्रण भेजा था, क्योंकि वे भी मुझे क्षत्रिय ही समझते हैं।”

कर्ण कह रहे थे और मैं नतमुखी सुन रही थी। मेरे हृदय में कोई प्रश्न नहीं था, जो कुछ हुआ वह श्रीकृष्ण के संकेत से ही हुआ था। सखा के संकेत पर ही द्युम्न ने कर्ण के कुल का परिचय पूछा था, अन्यथा कर्ण ने कुछ भी नवीन नहीं कहा था... हम सभी इस तथ्य को जानते थे। जब कर्ण बोल रहे थे, उस समय मैं सम्मोहित सी खड़ी सुन रही थी। कर्ण के प्रश्नों का उत्तर न तो मेरे पास था और न ही द्युम्न के पास। मुझे स्वयं पर लज्जा आने लगी, कि सखा मुझे माध्यम बनाकर यह क्या करवा रहे हैं और उनकी क्या इच्छा है?

कर्ण शान्त हो गये। उन्होंने मेरे ऊपर एक भरपूर दृष्टि डाली। उनकी आँखें एक दृढ़ निश्चयी पुरुष की आँखें थीं, किन्तु मेरे एक प्रश्न ने उन्हें धनुष रखने पर बाध्य कर दिया था। मैंने मंच पर खड़े कर्ण के मुख पर एक तेज देखा था, किन्तु मेरे प्रश्न से वह तेज धीरे से पिघलकर हताशा में बदल गया था। कर्ण ने वापस जाने के पूर्व मेरी ओर एक दृष्टि डाली थी। मैं उस विषादपूर्ण दृष्टि को नहीं सह पायी और मैंने अपनी आँखें झुका ली।

वीर कर्ण, अपना मस्तक झुकाये अपने स्थान पर जा कर बैठ गये। कर्ण के इस अपमान के लिये मैं स्वयं को अपराधिनी मान रही थी, क्योंकि जन्म तो ईश्वर के अधीन है, फिर यह समाज उसे आधार बनाकर विधाता क्यों बन बैठता है?

सभा मण्डप में से एक से एक वीर उठ कर रंगमंच पर आते और असफल होकर लौटते रहे। स्वयंवर सभा का दारुण अंत निकट आ रहा था। अब मेरे पिता और द्युम्न के अपमानित होने की बारी थी। कर्ण के मुख मण्डल का अपमान अब धीरे धीरे मेरे पिता, भाई और मेरे ऊपर छाने लगा और मेरा भाग्य संकट में पड़ गया। सभा के मध्य से एकाध व्यंग्य बाण आकर मेरे पिता के हृदय को विदीर्ण कर रहे थे कि, “द्रुपद चाहते ही नहीं कि उनकी पुत्री का विवाह हो अन्यथा ऐसी शर्त क्यों रखते?”

“यदि अर्जुन जीवित नहीं है और कर्ण अनाम कुल गोत्र के कारण ग्राह्य नहीं है, तो इतने दुष्कर लक्ष्य को शर्त के रूप में क्यों रखा, क्या हम सबको अपमानित करने के लिये ही निमंत्रण भेजा था!”

कर्ण के वापस मुड़ते ही दुर्योधन अपने मित्र के अपमान से क्रुद्ध हो गये और स्वयंवर के बहिष्कार की घोषणा कर दी। सभा में भारी कोलाहल होने लगा। मैंने सखा की ओर देखा, उनके

मुख्य मण्डल पर वही चिर परिचित दबी मुस्कान थी। मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। अब मुझे समझने की आवश्यकता ही क्या थी, सब कुछ तो सखा के आदेश से ही हो रहा था। कोई भी सफल नहीं हो पाया तो मैंने पुनः सखा को किसी आशा से देखा कि कोई भी सफल नहीं हो पा रहा है तो क्या आप मेरा वरण करेंगे; आपके लिये तो कुछ भी असाध्य नहीं है; किन्तु आप सारे आयोजन में प्रेक्षक की भाँति बैठे रहे।

सहसा रंग मंच पर एक श्याम वर्ण का ब्राह्मण युवक अवतरित हुआ। किसी को भी आशा नहीं थी कि यह ब्राह्मण प्रतियोगी होगा। उस युवक ब्राह्मण ने आगे बढ़कर पूछा “मैं प्रयास करूँ?” मेरा सिर घूम रहा था... कर्ण की पीड़ा मेरे हृदय को साल रही थी। किसी में भी कुछ कहने का साहस नहीं था। पिताश्री और द्युम्न दोनों ही उस ब्राह्मण के प्रश्न पर मौन रहे। उस युवक ने शीघ्रता से ‘किंधारा’ को उठाया और पलक झपकते ही गोल गोल घूमने वाला चक्र टूट कर भूमि पर गिर पड़ा और उस धनुष से छूटा तीर, उस स्वर्ण मत्स्य की आँख में घुसा था... शेष चार तीर वैसे ही रखे हुए थे।

चक्र टूट कर भूमि पर गिर पड़ा, तब जाकर मुझे आभास हुआ कि मेरे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना, जिसके लिये सारा आयोजन हुआ था, घट चुकी है। मैंने सखा की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। सखा ने संकेत किया और मैंने यंत्रवत आगे बढ़कर वह स्वर्ण जयमाला उस ब्राह्मण युवक के गले में डाल दी।

इतने भव्य आयोजन का ऐसा अकल्पित अंत! मेरी सारी उत्सुकता, उत्तेजना समाप्त हो गयी। मन इस सत्य को स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि एक दरिद्र ब्राह्मण युवक, मेरा, महाराज द्रुपद की पुत्री कृष्णा का पति हो गया है।

मैंने पुनः सखा की ओर देखा। सखा उस विकट स्थिति को संभालने का प्रयास कर रहे थे।

“एक ब्राह्मण, राजपुत्री का पाणिग्रहण नहीं कर सकता।” एक नरेश का क्रुद्ध स्वर फूट पड़ा। इसके पश्चात् सभा में चारों ओर से रोष से भरे शब्द निकलने लगे। ब्राह्मण, राजपुत्री के स्वयंवर में भाग लेने का अधिकारी नहीं है; ब्राह्मण हमसे केवल दान और प्रणाम पाने का अधिकारी है, पर विवाह... यह क्षत्रियों का अपमान है, यह अपमान हम नहीं सहेंगे।

“हम क्षत्रिय धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मण का वध भी कर सकते हैं।”

“द्रुपद ही सबकी जड़ हैं, उन्हें ही मार डालो।”

नरेशों के क्रोध और रोष से भरे स्वर मेरे कानों में पड़ रहे थे। द्युम्न ने अपनी तलवार निकाल ली। कोलाहल के साथ-साथ वहाँ युद्ध आरम्भ हो गया। कर्ण, अमर्ष से भरे हुए थे। उन्होंने विजेता ब्राह्मण पर प्रहार किया। अगले ही क्षण दोनों परस्पर प्रहार करने लगे। कर्ण ने शंका व्यक्त की, कि, “आप कौन हैं? क्योंकि इन्द्र और अर्जुन के अतिरिक्त कोई भी मेरा सामना नहीं कर सकता।”

“मैं सम्पूर्ण शस्त्रधारियों और योद्धाओं में श्रेष्ठ हूँ और गुरु की कृपा से इन्द्रास्त्र और ब्रह्मास्त्र दोनों में पारंगत हूँ।”

कर्ण, ब्रह्मास्त्र को अजेय मानते हुए वहाँ से हट गये। विजेता ब्राह्मण का एक साथी असामान्य रूप से लम्बा और शक्तिशाली योद्धा दिखाई दे रहा था। उसने एक पेड़ को जड़ से उखाड़ लिया और भूमि पर पटक कर उसकी पतियाँ झाड़कर उसे ही गदा की भाँति घुमाने लगा।

लोग भूमि पर गिरने लगे। धनुर्धारी ब्राह्मण भी प्रखर होकर क्षत्रिय समुदाय पर प्रहार कर रहा

था। मैंने उस युवक को ध्यान से देखा। उसके शरीर का सौष्ठव, धनुष संचालन में उसकी त्वरा और शक्ति, उसकी वेषभूषा के विपरीत लग रही थी। उसके मुख मण्डल पर एक तेज झलक रहा था, जो कि वेदपाठी ब्राह्मणों के तेज के सर्वथा विपरीत, वीर क्षत्रियों वाला तेज था।

घड़ी भर में युद्ध समाप्त हो गया। लोग या तो मृत थे, अथवा आहत और भयभीत। पिताश्री ने उस ब्राह्मण युवक से अनुरोध किया कि वे अपना परिचय दें, जिससे उनके परिवार को सम्मान सहित निमंत्रित करके विवाह कार्य सम्पन्न किया जाये और उनके आने तथा लोकाचार पूर्ण होने तक वे राजभवन में ही रहें। किन्तु मेरे भावी पति ने मना कर दिया; वे उसी समय मुझे साथ लेकर अपने निवास पर वापस लौटना चाहते थे। मेरे पिता मुझे उपहार स्वरूप संपदा, जीवनोपयोगी वस्तुएँ, स्वर्ण, रथ, हाथी, घोड़ा, सेवक सेविकाएँ देना चाहते थे, किन्तु मेरे भावी पति ने कुछ भी ग्रहण करने से मना कर दिया। द्युम्न ने हम सबको रथ पर बिठाकर गंतव्य तक पहुँचाने का अनुरोध किया, किन्तु सब व्यर्थ। मेरे पति हठपूर्वक अपनी बात पर अड़े रहे। उनका हठ देखकर मुझे क्रोध आ रहा था, कि ये धनुर्धर मेरे पिता के प्रति इतना अहंकारी और अशिष्ट क्यों हैं? किन्तु मैं शांत खड़ी रही।

मेरे पति चाहते थे कि मैं अपने आभूषणों को भी उतार दूँ और वस्त्र भी बदल लूँ। उनके इस विचार पर मेरे पिता दुःखी हो गये। द्युम्न ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि हम लोगों ने वस्त्राभूषण के साथ ही कन्यादान का संकल्प लिया है, इसलिये अब ये वस्त्र और आभूषण हम वापस नहीं ले सकते; आपने वस्त्राभूषण से सुसज्जित कृष्णा को प्राप्त किया है। मेरे पति ने द्युम्न के इस अनुरोध को मान लिया, किन्तु रथ पर बैठने के अनुरोध को दुबारा भी त्याग दिया कि, “द्रुपद नन्दिनी को अभी से इस प्रकार के जीवन का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये।”

मैं पैदल ही मंडप से बाहर निकली और मन ही मन स्वयं से कहा कि, मैं इस प्रकार से चल लूँगी।

मेरे पति जब परिसर से बाहर निकलने लगे, तो मैं भी उनके पीछे-पीछे चलने लगी। उपस्थित ब्राह्मणों का समूह प्रसन्न था और उन्होंने हमें चारों ओर से घेर रखा था। मैं राजभवन से स्वयंवर स्थल तक रथ में बैठकर आयी थी, किन्तु इस समय मैं मण्डप की सीढ़ियाँ उतरकर पैदल चल रही थी। आज से पूर्व मैं कभी भी राजभवन के बाहर इस प्रकार से नहीं चली थी।

मैं अपने पति के पीछे चलती जा रही थी। चलते-चलते मैं स्वयंवर स्थल के मुख्य प्रवेश द्वार से बाहर निकल आयी। मेरे भीतर का मोह उमड़ पड़ा। मैं ठिठक कर खड़ी हो गयी। पलटकर पीछे देखा, रंग मण्डप के बाहर मेरे पिता, द्युम्न और कर्मचारी खड़े थे। मेरे पैर जड़ हो गये... पता नहीं उन्हें पीछे खड़ा देखकर, या आगे का जीवन सोचकर।

मैं विदा हो गयी। परिवार की कोई महिला वहाँ उपस्थित नहीं थी। मेरे पिता ने मेरी अपनी सहायिका नंदा को साथ भेजने का प्रस्ताव किया था, किन्तु व्यर्थ। वह भी वहाँ रुआँसी खड़ी थी। मैंने मुड़कर देखा, मेरे पति व उनके साथी दोनों धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे, मैं भी उनके पीछे पीछे चलने लगी।

मैंने राजभवन के ऊपरी तल पर खड़े होकर नगर के राजपथ, गलियों, पगडंडियों को देखा था। दूर दिखाई देने वाले खेतों खलिहानों, पोखरों बावड़ियों को देखा था। उन पर चलते हुए गायों के झुंड, गाड़ियों, लोगों, हाथी, घोड़े, रथ यहाँ तक कि भौंकते और दौड़ते कुत्तों को भी देखा था, किन्तु आज मैं उन्हें अपने साथ-साथ चलते देख रही थी। चरवाहे छोटी छोटी झुंडों में गायों को

हाँकते हुए ले जा रहे थे। एक कुत्ता मुझे देखकर भौंकने लगा, तो मैं डर गयी कि कहीं यह मुझे काट न ले।

कुछ दूर चलकर मेरे पति ने साथ चलने वाले ब्राह्मणों से विदा ली और नगरवासी जिस दिशा में रहते थे, उस मार्ग को छोड़कर नगर से बाहर जाने वाले मार्ग पर मुड़ गये। मेरे पति ने अपना उत्तरीय उतारकर मुझे दे दिया और कहा कि, मैं स्वयं को अच्छी तरह से ढँक लूँ और मैंने उस मोटे सफेद रंग की चादर से स्वयं को भलीभाँति ढँक लिया। उस चादर से मेरे वस्त्र आभूषण मुख मण्डल सब कुछ ढँक गया था। आकाश में चन्द्रमा दिखाई देने लगा। आज पौष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी थी। अपेक्षाकृत लम्बे ब्राह्मण, जिन्हें ये भइया कह रहे थे, वे आगे चल रहे थे। मेरे धीमी गति से चलने के कारण ये दोनों भी अपेक्षाकृत धीमी गति से चल रहे थे। मैं इस प्रकार के मार्ग में चलने की अभ्यस्त नहीं थी, इस कारण कभी मेरा पैर मुड़ जाता, कभी अगला पैर किस स्थान पर रखूँ, इस दुविधा में पड़ जाती। अपने आपको पूरी तरह से ढकने के कारण मुझे चलने में भी असुविधा हो रही थी और मार्ग भी धूल से भरा था।

कुछ दूर चल कर मेरे पति के भाई, मुख्य मार्ग छोड़कर एक अन्य मार्ग पर मुड़ गये। यह खेतों के बीच चलने वाली पगडंडी थी। पगडंडी धूल भरी ऊबड़-खाबड़ थी, जिस पर पेड़ों के सूखे पत्ते गिरे थे। कई जगहों पर पानी जमा था, जो कि पत्तों और मिट्टी के साथ मिलकर कीचड़ हो गया था। पता नहीं कौन-कौन से वृक्ष के पत्ते हैं ये। शीतकाल की समाप्ति पर बसंत ऋतु में इन पेड़ों पर नयी कोपलें फूटेंगी, आमों के वृक्षों पर मंजरियाँ लटकेंगी। प्रकृति का नियम पेड़ पौधे, फसलों पर तो निश्चित है, किन्तु जीव जन्तु और मानव पर! हाँ, कम से कम मेरा जीवन क्रम तो अभी तक अनिश्चित है।

मेरे पति मौन हैं। मार्ग में इन्होंने मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा। मेरे पति का परिचय क्या है, कौन हैं ये... इनका कुल वंश क्या है? मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ। मुझे मार्ग ठीक से नहीं दिखाई दे रहा है। एक दो बार ऊँची-नीची जगह पर पैर पड़ गया और मैं लड़खड़ाकर गिरते गिरते बची, पर मेरे पति इस मार्ग पर इस तरह से चल रहे हैं, मानों राजभवन के साफ चिकने फर्श पर चल रहे हों। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि इस प्रकार के ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर लोग किस प्रकार से चलते हैं और महिलाएँ माथे पर दो दो घड़े रखे कैसे सधी चाल से चलती रहती हैं।

मुझे राजभवन के ऊपरी तल से केवल मार्ग दिखाई देता था, ऊबड़ खाबड़ भूमि नहीं, न सड़े-गले पत्तों की कीचड़ और न ही मार्ग में चलने वाले पशुओं के खुरों से उड़ती धूल। मेरे पैर कीचड़ में सन गये थे। मैं अपने कीचड़ भरे पैरों को सह नहीं पा रही थी। जी मैं आ रहा है कि कब घर पहुँचकर उन्हें धुलवाकर चैन पाऊँ। पैर धुलवाने की इच्छा पर ध्यान आया कि क्या मेरे पति के घर में सेवक, दास दासियाँ होंगी या ये लोग स्वयं ही अपने कार्य करते होंगे।

ये धरती, खेत, पगडंडियाँ सब मेरे पिता के राज्य की ही थी, किन्तु आज इन पर चलते समय मुझे ये कितनी अनजानी लग रही हैं। यह अपनापन मुझे राजभवन के ऊपरी तल से ही देखते हुए क्यों लगता था? आज जब मैं इन पर चल रही हूँ तो पता नहीं कब और कैसे अंतर आ गया। ये मुझे भी अपने साथ साथ एक अनजाने भविष्य की ओर ले जा रही हैं। इन पर चलते हुए मेरा मन न जाने कितनी अनिश्चितताओं और दुश्चिन्ताओं से भरा हुआ है।

रात्रि हो गयी है, साथ ही साथ हवा में ठंडक भी बढ़ गयी है। चन्द्रमा के प्रकाश में सब कुछ धुँधला-धुँधला दिखाई दे रहा है। हम लोग एक गाँव के भीतर पहुँच गये, घरों के चूल्हों और

गौशाला की धूनियों से उठने वाला धुआँ गाँव की गलियों में भरा हुआ था। साँसों के साथ वह मेरी आँखों कंठ और छाती में भर गया और मैं जलन से खाँसने लगी। मैं थक गयी थी। मेरे पैरों और वस्त्रों से दुर्गन्ध आ रही थी। कहीं भी दो पल बैठने का स्थान नहीं दिखाई दे रहा था। मेरे सोच विचार के बीच मेरे पति आगे निकल जाते, तो मैं उनके निकट पहुँचने के प्रयास में जल्दी-जल्दी चलने लगती।

6. भिक्षा

कुछ दूर चलने के बाद मेरे पति गाँव के अंतिम छोर पर बने एक कच्चे घर के सामने खड़े हुए। तीन ब्राह्मण वहाँ पहले से ओसारे में बैठे थे। मुझे याद आ गया ये तीनों भी मेरे पति के साथ दर्शक-दीर्घा में उपस्थित थे, किन्तु जब कोलाहल और युद्ध आरम्भ हो गया, तो वे वहाँ नहीं थे। उनके पास पहुँचकर मेरे पति भी आश्वस्त हो गये। मैं समझ गयी कि यही मेरे पति का निवास और मेरी ससुराल है।

यह निवास मुख्य घर के पिछवाड़े में अलग सी एक कोठरी थी, जिसके सामने एक टूटा-फूटा फूस का ओसारा लटक रहा था। घर की दीवारें मिट्टी की थीं और उसके ऊपर फूस की छाजन थी। कक्ष के भीतर जाने के लिये एक छोटा सा द्वार बना था, साथ ही हवा के प्रवेश के लिये दो छोटे-छोटे गवाक्ष कटे थे और ओसारे में एक मिट्टी का चूल्हा बना था, जिसके पास में कुछ मिट्टी व धातु के बर्तन रखे थे।

मेरे आँखों के सामने अपने पिता के घर की पाकशाला घूम गयी, जहाँ केवल राज परिवार का ही भोजन बनता था... कितने ही निपुण रसोइये नित्य, नवीन व्यंजन तैयार करते रहते थे। मातामही ने मुझे भी पाक-कला में निपुण कराया था और मैं सोचती थी कि पति ही नहीं, सारे परिवार का हृदय मैं अपनी पाक कला से जीत लूँगी, किन्तु इस पाकशाला को देखकर मेरा मन सुन्न हो गया।

पाँचों में से जो वय में अधिक प्रतीत हो रहे थे, कुटिया के भीतर किसी को संबोधित करते हुए कहा “माँ! हम भिक्षा लाये हैं”

“तुम सब मिलकर भोग लगाओ” भीतर से किसी नारी का स्वर सुनाई दिया।

ये कैसा परिहास! मैं क्षुब्ध हो गयी। तभी एक श्वेत वस्त्रधारी भद्र महिला कक्ष से निकलकर द्वार पर आ गयी। उनका मुँह आश्चर्य से खुला रह गया “अरे! यह मैंने क्या कह दिया” आगे बढ़ कर वे शीघ्रता से मुझे भीतर लेकर चली गयीं।

भीतर मुझे एक चटाई पर बिठाकर वे तत्काल बाहर चली गयीं। कक्ष में एक छोटा दीपक जल रहा था, जिसके अस्पष्ट प्रकाश में पूरा कक्ष दिखाई दे रहा था। एक किनारे कोने में कुछ चटाइयाँ लपेटकर रखी थीं। उनके ऊपर तह करके मृगचर्म व कंबल रखे थे। खूंटियों पर कुछ कपड़े टँगे थे, एक दो कपड़े की गठरियाँ और मिट्टी के दो पात्र जिनमें अन्न रखा जाता है, कोने में रखे थे।

बाहर से देखने पर घर किसी कुम्हार का लगता था, क्योंकि बाहर बहुत सारे कच्चे व पके मिट्टी के बर्तन सहेज कर रखे थे और एक पेड़ के नीचे बर्तन बनाने वाली मिट्टी का ढेर लगा था। उसके निकट ही एक बड़ा ‘चाक’ गड़ा रखा था। मैं दुविधा में पड़ गयी कि कुम्हार के घर से ब्राह्मण का क्या सम्बन्ध है।

मैं चुपचाप निर्दिष्ट स्थान पर बैठी रही। मुझे अभी तक ज्ञात नहीं, कि किसने कठिन लक्ष्य भेद करके मुझे प्राप्त किया है। अर्जुन दिवंगत हो चुके हैं और कर्ण को मैं उनके कुल के आधार पर अयोग्य घोषित कर चुकी थी, तो यह धनुर्धर कौन हैं? निःसंदेह यह पुरुष सामान्य नहीं है। उस विषम स्थिति में, जब कि स्वयंवर की शर्त कोई भी व्यक्ति पूरा करने में असमर्थ था, इस पुरुष ने, “मैं प्रयास करूँ?” कह कर अनुमति माँगी, तो कोई भी पूरी तरह से अपनी चेतना में नहीं था, न

किसी ने उनका परिचय पूछा और न ही उन्हें अनुमति दी। सबका मौन ही उनके लिये अनुमति थी। श्रीकृष्ण भी मौन रहे। कौन हैं यह ब्राह्मण युवक, इनके पिता कौन हैं, इनका कुल और गोत्र क्या हैं? कितने ही प्रश्नों का बवंडर मेरे मस्तिष्क को मथ रहा था।

कुछ समय पश्चात माता ने अपने पुत्रों सहित कक्ष में प्रवेश किया और मेरे पास आकर चटाई पर बैठ गयीं। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात माता ने कहना आरम्भ किया, “पुत्री! मैं हस्तिनापुर नरेश पाण्डु की पत्नी हूँ और ये मेरे पाँच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव हैं; मैं धन्य हो गयी आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी, द्रुपद पुत्री कृष्णा मेरी पुत्र वधु बनीं।”

मैं धन्य हो गयी। पाण्डु पुत्र अर्जुन ने लक्ष्य भेद कर मुझे प्राप्त किया है, यह जान कर मैं रोमांचित हो गई। सखा ने अपना वचन निभाया। उनकी ही इच्छा थी कि पिताश्री मेरा विवाह अर्जुन से करें। इतनी देर से मुझे घेरने वाली दुविधा समाप्त हो गयी। मैंने आगे बढ़कर माता कुंती को प्रणाम किया। माता ने स्नेह से मेरे माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया... सारी शंकाएँ, दुविधाएँ समाप्त हो गयीं। अर्जुन की पत्नी बनकर मैं सम्पूर्ण आर्यावर्त की नारियों में श्रेष्ठ होऊँगी और यह गौरव व सम्मान मुझे अभावों में भी किसी प्रकार से दुःखी नहीं रहने देगा। मैं अपनी सेवा और प्रेम से विश्व की सबसे सुखी स्त्री बनूँगी।

मैं तो आश्चर्य हो गयी, किन्तु एक विचित्र सी शांति घर में फैली थी, जैसे कोई बवंडर सब कुछ मथ कर चला गया हो। कोई प्रसन्नता नहीं किसी के मन में, कोई उत्साह नहीं। इतना कुछ घटित हो गया, किन्तु कोई प्रतिक्रिया भी नहीं। माँ ने मुझे पीने के लिये जल दिया और बदलने के लिये अपनी एक मोटी सूती धोती दी। ओसारे के नीचे एक किनारे कोने में कच्ची नाली के पास नहाने-धोने के लिये एक बड़ा सा पत्थर रखा था, उस पर किसी ने एक घड़ा जल भर कर रख दिया था। माँ ने संकेत किया कि मैं वहाँ जाकर हाथ पैर धो लूँ वहाँ अँधेरा था। चन्द्रमा के प्रकाश में मैंने वहाँ बैठकर अपने पैरों को धोने का प्रयास किया। मेरे कीचड़ भरे पैरों से दुर्गन्ध आ रही थी और उन्हें छूने का साहस नहीं हो रहा था। मेरे पति खुरदुरे पत्थर का एक टुकड़ा लाकर मुझे दे गये, कि मैं उसके सहारे अपने पैरों को मल कर धो लूँ। मैंने उस पत्थर के टुकड़े की सहायता से अपने पैरों के कीचड़ को साफ किया और हाथ पैर मुँह धो कर वापस आने के लिये पैर पत्थर के नीचे रखा तो पैरों में पुनः मिट्टी लग गयी। पुनः मिट्टी में पैर रखने में मुझे घिन आ रही थी, किन्तु कोई विकल्प नहीं था। मेरी जूतियाँ कीचड़ से सनी थीं और उन्हें मैंने घर के बाहर ही सबकी देखा देखी निकाल दिया था। कोठरी में आकर मैंने अपने वस्त्रों को बदलकर माता की सूती मोटी धोती पहन ली और एक चादर से शरीर को भली भाँति ढँकते हुए ओढ़ लिया।

माँ, भोजन पहले ही पका चुकी थीं। उन्होंने एक दीपक चूल्हे के पास जला दिया। चूल्हे के निकट पाँचों पाण्डव भोजन करने के लिये बैठ गये। माँ ने रोटियों के ढेर से लगभग आधी रोटियाँ भीम के आगे रख दीं और कड़ाही में से आधा शाक भी निकालकर परोस दिया। पुनः क्रमशः युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव की थालियों में भोजन परोसकर आगे सरकाने लगीं। अर्जुन ने उन्हें संकेत किया कि वे उनकी थाली का भोजन कम कर दें। माँ ने एक दृष्टि अर्जुन पर डाली और रोटियाँ कम कर दीं।

सभी लोग चुपचाप अपनी थालियों से गौं ब्रास निकालकर भोजन करने लगे। यद्यपि मौन होकर भोजन करने का विधान है, किन्तु यह मौन असहज था। सबका अपना अपना मौन, जो कि एक दूसरे से सर्वथा अलग प्रतीत होता था। प्रथम पाण्डव का मौन स्थिर था, कोई ऊहापोह

नहीं हैं, बस एक दृढ़ता से भरा हुआ मौन। वे दंतचित्त होकर भोजन कर रहे थे। द्वितीय पाण्डव, जिनका वर्ण गौर होते हुए भी धूप और कठिन परिश्रम से तप सा गया था, वे बहुत शीघ्रता से भोजन कर रहे थे। उन्हें अपने अगल बगल देखने का न तो अवकाश था और न ही आवश्यकता। शरीर के अनुपात में भोजन और भोजन का ग्रास... जैसे कई दिनों का भूखा, सुस्वाद भोजन की थाली पर टूट पड़ा हो उनके भोजन करने का ढंग देखकर मेरी भूख जो कि पैदल चलकर आने के कारण जग गयी थी, वह भी समाप्त हो गयी।

श्याम वर्ण के अर्जुन बड़े अनमने ढंग से भोजन कर रहे थे। उन्होंने अपनी थाली में सामान्य से कम भोजन लिया था और उसे भी बड़ी अनिच्छा से खा रहे थे, मानो एक एक ग्रास उठाने के लिये उन्हें बहुत प्रयास करना पड़ रहा हो और मुख्याकृति भी कसी हुई, जैसे कि भीतर बहुत कुछ भरा है जो उफन कर बाहर आना चाहता है किन्तु उसे दृढ़ता से भीतर ही भीतर दबा रखा है।

मैं द्वार के पास लकड़ी के पीढ़े पर बैठी थी। शेष भाइयों के विपरीत इन्होंने एक बार भी दृष्टि उठाकर मुझे नहीं देखा, जबकि अन्य भाई मुझे एक दूसरे की दृष्टि बचाकर एक एक क्षण के लिये देख लेते हैं। दोनों छोटे पाण्डव शांति से भोजन कर रहे थे, उनके मुख पर हल्की सी उत्सुकता को छोड़कर कोई विशेष भाव नहीं था: जैसे जो कुछ भी हो रहा है उसमें न तो वे कारण हैं और न ही उनकी कोई भूमिका है।

माँ चिंतित थीं उनके मुख मण्डल पर एक तनाव था। उनके माथे पर आयु की रेखाओं के अतिरिक्त रेखाएँ उभर आयी थीं। सभी पाण्डव भोजन करके उठ गये तो माँ ने मुझे भोजन के लिये पुकारा। मैं माँ के पास जाकर बैठ गयी। माँ ने दो रोटियाँ मेरे आगे रख दीं और लोहे की कड़ाही से निकालकर थोड़ा सा शाक भी थाली में डाल दिया। माँ ने अपनी थाली में भी भोजन परोसा और ग्रास तोड़कर बोलीं “तुम भी खाओ।” मैं रोटि को तोड़ने लगी। यह रोटि सामान्य रोटियों से अलग, कड़ी और गहरे रंग की लग रही थी। मैंने मुँह में ग्रास डाला और धीरे धीरे चबाने लगी। आधी रोटि भी नहीं खा पायी कि मेरे जबड़ों में पीड़ा होने लगी। मुझे स्वयं पर लज्जा आने लगी कि ऐसी भी क्या सुकुमारिता, कि भोजन करने में ही मुँह में पीड़ा होने लगे। माँ मेरी स्थिति भाँप गयीं, किन्तु कुछ नहीं बोलीं। मैं पानी के सहारे जैसे तैसे रोटियाँ निगलने लगी।

भोजन के बाद सभी लोग कोठरी में आ गये। कोने में से चटाइयाँ उठा कर सबने अपनी अपनी चटाइयाँ बिछा लीं। ज्येष्ठ पाण्डव ने एक चटाई माता के लिये बिछा दी और मुझे संबोधित करके कहा, “तुम भी अपने लिये चटाई बिछा लो!”

मुझे कोई स्थान दिखाई नहीं दे रहा था, जहाँ मैं चटाई बिछाती। केवल प्रवेश द्वार के पास थोड़ी सी जगह थी, किन्तु वहाँ चटाई बिछाने से बाहर जाने का मार्ग रुक जाता था। मैं असमंजस में चटाई हाथ में लिये खड़ी रही।

व्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन किया गया। माँ की चटाई दीवार से सटाई गयी और पाँचों पाण्डवों की चटाई माँ की चटाई से खाली हुई जगह में सरका दी गयी। अब पाँचों चटाइयों के पैताने में थोड़ी सी जगह निकल आयी थी। माँ ने कहा, “तुम वहाँ अपनी चटाई बिछा लो।”

मैंने खाली स्थान में चटाई बिछा ली और चटाई के ऊपर बचा हुआ मृग चर्म भी बिछा लिया। मुझे भी एक मोटा खुरदुरा कंबल ओढ़ने के लिये मिला। माँ लेट गयीं। पाँचों पाण्डव माँ के शरीर की लम्बाई की ओर सिर करके क्रम से लेट गये और मैं पाण्डवों के पैरों की ओर लेट गयी। आभूषण मुझे कष्ट दे रहे थे। मैं धीरे धीरे आभूषणों को उतारने लगी।

मैं लेट गयी पाण्डवों के पैरों के पास। भूमि की कठोरता, मृगचर्म के स्पर्श की घृणा, चटाई का रूखापन, ओढ़े हुए कंबल की चुभन और पाण्डवों के फटे मैले पैरों की दुर्गन्ध से खुद को अलग करने की कोशिश करते हुए मैं दूसरी ओर मुँह फेर कर लेट गयी। नींद आँखों से कोसों दूर थी।

मुझे द्युम्न की याद आ रही थी। उन्होंने हम सबको गंतव्य तक रथ से पहुँचाने का अनुरोध किया था... हमारे साथ पैदल चलने का भी अनुरोध किया था, किन्तु सब व्यर्थ। पता नहीं मुझे क्यों लग रहा है कि द्युम्न यहीं कहीं मेरे आस-पास ही हैं; कक्ष के बाहर, पिछवाड़े की ओर या ओसारे में चूल्हे के पास खड़े होकर बाहर से झाँकने का प्रयास कर रहे हैं। मन न जाने कैसा हो गया है, इसी कारण चारों ओर भटक रहा है। नितांत अपरिचित परिवेश में अपने प्रिय को कल्पना में ही सही, देखना चाहता है। इसी कारण मुझे द्युम्न का अपने आस पास होने का भ्रम हो रहा है और मेरा मन भ्रम को सत्य मान रहा है।

मेरे जीवन में एक नए अध्याय का आरम्भ हो रहा है। अब तक मैं पान्चाल नरेश की पुत्री कृष्णा थी, अब आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन की पत्नी हूँ। हाँ, पत्नी हूँ। विवाह तो लक्ष्य भेद के धर्म से बँधा था, अतः लक्ष्य भेदन के साथ ही मैं अर्जुन की पत्नी हो गयी। अब केवल लोकाचार ही शेष है। धर्म को लोक सम्मत बनाने के लिये ही तो लोकाचार है। जिस प्रकार से गुरुजनों का निर्णय होगा, उसी प्रकार से सामाजिक संस्कार हो जायेगा।

त्रेता युग में मर्यादा पुरुषोत्तम राम और सीता का विवाह, शिव के धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने के धर्म से जुड़ा था। श्री राम ने तो प्रत्यंचा चढ़ाते समय उसे तोड़ ही दिया था और उसी क्षण आर्या सीता, श्री राम की धर्मपूर्वक पत्नी हो गयी थीं। कुछ ऐसा ही विधान विधि ने मेरे विवाह के लिये भी रचा था और मैं आज पाण्डु पुत्र अर्जुन की पत्नी हो गयी। एकादशी के चन्द्रमा की किरणों दोनों गवाक्षों से भीतर आ रही हैं और न जाने कितनी देर से मैं जग रही हूँ।

केवल मैं ही नहीं जग रही हूँ, शेष छह लोगों की आँखों में भी नींद नहीं है। सबकी शारीरिक भाषा, मानसिक उथल-पुथल का मैं कुछ कुछ आभास कर रही हूँ। बार बार लोगों का करवट बदलना, कभी साँसों का अनियमित होकर चलना... मुझे लग रहा है कि छह जोड़ी आँखों ने मुझे घेर रखा है और मेरी एक एक साँस का लेखा-जोखा रख रही हैं। भी सोचते सोचते न जाने कब मैं सो गयी।

कक्ष में एक निःशब्दता व्याप्त थी। मेरा हृदय इस निःशब्दता से धड़कने लगा, कि जीवन की इतनी महत्वपूर्ण घटना और उसकी प्रतिक्रिया... केवल निःशब्दता। किसी प्रकार की प्रसन्नता नहीं। सब के मुख मण्डल पर एक तनाव था और इस छोटी सी कोठरी में सूर्य का इतना प्रकाश तो आ ही रहा था कि मैं सबके मुख मण्डल पर छायी व्यग्रता और तनाव को भली-भाँति देख सकती थी। मुझे उस कक्ष में घबराहट होने लगी। मुझे यह निःशब्दता किसी पूर्व नियोजित कार्यक्रम का पूर्वाभास लग रही थी।

सभी प्रातःकालीन नित्य कर्म निपटाकर कक्ष में एकत्रित हुए थे। मुझे यह मौन बहुत लम्बा लग रहा है... अब इसे टूटना चाहिए। मेरे आगमन के साथ कोई विपत्ति आ गई है या समस्या खड़ी हो गयी है, मैं कुछ समझ नहीं पा रही थी। क्या विवाह संस्कार में व्यय होने वाले धन की उन्हें चिंता है या द्रुपद पुत्री इस अकिंचन परिवार में कैसे रहेगी, इसकी दुविधा। यदि कोई मुझे कुछ कहने की अनुमति देता तो मैं कहती कि अर्जुन को पति के रूप में पाने के बाद सारे भौतिक सुख साधन मेरे लिये तुच्छ हैं और मैं अपने पति के साथ इस कुटिया में भी इन्द्रलोक में रहने के समान

सुखी रहूँगी। कक्ष का मौन, भारी तलवार की भाँति मेरे ऊपर लटक रहा था। माता को देखकर लगता था कि वे कुछ कहना चाह रही हैं, किन्तु किसी संकोच के कारण नहीं कह पा रही हैं और शेष सभी लोग उसे सुनने के लिये बैठे हैं। सबका माँ पर एक प्रकार से दबाव लग रहा है कि, वे जो कहना चाह रही हैं, उसे कह कर असमंजस की स्थिति को समाप्त करें।

कुछ देर बाद माता ने कहना आरम्भ किया कि, “पान्चाली! मैंने यह सुनकर कि माँ हम भिक्षा लाये हैं, सब लोगों को बाँट कर उपभोग करने की आज्ञा दे दी और मेरे ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर ने इसे मेरी आज्ञा मानकर शिरोधार्य कर लिया है। सूर्य-चन्द्र अपने पथ से भ्रष्ट हो जाएँ, किन्तु यह अपने धर्म और मेरे आदेश से विमुख नहीं होगा, अतः...।”

माँ, पूरे वाक्य के अंत में ‘अतः’ कह कर चुप हो गयीं। मेरा हृदय धड़कने लगा कि यह अतः क्या है। जब मैं अर्जुन के साथ कुटिया पर पहुँची थी, तो युधिष्ठिर ने कक्ष के भीतर माँ को संबोधित करके कहा था कि, “माँ, हम भिक्षा लाये हैं।” इस प्रकार का हास-परिहास तो प्रत्येक घर में चलता ही रहता है, विशेष करके माँ और पुत्र का सम्बन्ध ही ऐसा होता है, जिसमें किसी प्रकार की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं होती है। पर इस परिहास ने ऐसा क्या कर दिया कि जिससे सारे परिवार में एक तनाव व्याप्त हो गया है... ऐसा तनाव, जो कल से समाप्त होने का नाम ही नहीं ले रहा है।

मैं माँ के मुख को देखने लगी। उनकी आँखें मुझे अपनी ओर देखते हुए देखकर झुक गयीं। मैंने एक दृष्टि अर्जुन पर डाली, किन्तु वह पालथी मारे अपने पैरों को देख रहे थे। मैंने उत्तर ढूँढने के लिये शेष पाण्डवों पर भी दृष्टि डाली, किन्तु उनके मुख मण्डल से मुझे कोई उत्तर नहीं मिल पाया। वहाँ जो कुछ था, वह असमंजस ही था।

कुछ समय पश्चात युधिष्ठिर ने मुझे संबोधित करते हुए कहा, “पान्चाली! माँ ने हम सबको तुम्हारा भिक्षा की भाँति उपभोग करने का आदेश दिया है।”

उसी क्षण माता कुंती बोल उठां, “युधिष्ठिर ठीक कह रहा है; मैंने ऐसा कहा था और मुझे झूठ से बड़ा डर लगता है।”

मैं हतप्रभ हो गयी कि यह कैसा विचार और कैसा निर्णय है। महाराज पाण्डु के वंश में ये कैसा अधर्म है! मैं कोई भिक्षा की वस्तु नहीं हूँ; मुझे तो स्वयंवर में लक्ष्य भेद करके अपने को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर प्रमाणित करके अर्जुन ने प्राप्त किया है। मैं क्षत्रिय धर्म के अनुसार जीती हुई हो सकती हूँ, सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर का पुरस्कार हो सकती हूँ; किन्तु भिक्षा तो कदापि नहीं। क्या पाँचों ब्राह्मण वेशधारी पाण्डवों ने मेरे पिता से सामूहिक याचना करके मुझे उपभोग के लिये माँगा था और मेरे पिता ने मुझे सम्मिलित उपभोग के लिये ही पाण्डवों को प्रदान किया था? यदि इस प्रकरण की सूचना सत्य नहीं थी, तो आदेश सत्य कैसे हो गया?

माँ को मिथ्या भाषण से भ्रमित करके मनोवांछित कहलवा लेना और उस पर धर्म की दुहाई देकर हठ करना कहाँ का धर्म है? क्या दर्शक की भाँति खड़े रहने से अधिकार प्राप्त हो जाता है... इस प्रकार से तो कन्या के विवाह में वर यात्रा में सैकड़ों हजारों की संख्या में लोग जाते हैं? जो धन सामूहिक प्रयास से प्राप्त किया जाता है, उस पर सबका अधिकार होता है; किन्तु मैं तो सामूहिक प्रयास भी नहीं हूँ; लक्ष्य भेदने का प्रयास तो केवल अर्जुन ने किया था और सफल रहे।

इतना नैतिक पतन। पिता के घर से मैं अपने विजेता पति के साथ निकली थी और मुझे भली-भाँति याद है, अब पंक्ति में ये पाँचों, ब्राह्मण की वेशभूषा में खड़े थे। अर्जुन के लक्ष्य भेदने के

उपरान्त जब मैंने वरमाला अर्जुन के गले में पहनाई, तो ये चारों निकट ही थे, किन्तु जब कोलाहल और युद्ध आरम्भ हो गया तो शेष तीन न जाने कहाँ चले गये और रात्रि में जब मैं भीम और अर्जुन के साथ इस कुटिया पर पहुँची, तो ये तीनों यहाँ ओसारे में पैर लटकाये हुए बैठे थे। ये लोग कम से कम तीन घड़ी पहले पहुँच गये होंगे... तो क्या इन्होंने अपनी माँ से कुछ भी नहीं कहा? घर से निकलते समय क्या माँ को सूचित नहीं किया थे कि किस उद्देश्य से कहाँ जा रहे हैं? लौटने पर माँ ने नहीं पूछा कि, "पाँचों साथ गये थे, तो शेष दो कहाँ हैं?" माँ ने नहीं पूछा कि जिस उद्देश्य से गये थे उसका परिणाम क्या हुआ? क्या इतना महत्वपूर्ण प्रस्थान माँ से गुप्त रखा गया था? यदि गुप्त रखा गया, तो उसे क्या बिना मिथ्या भाषण के गोपनीय बनाया जा सकता है? कितने ही प्रश्न नाग की भाँति मेरे मन में फुफकारने लगे। तो क्या इन तीन घड़ियों में कोई षड्यंत्र रचा गया था! क्यों माँ प्रसन्नता से स्वागत करने के लिये द्वार पर खड़ी नहीं थीं? यदि दुराव नहीं था तो क्यों अर्जुन के स्वयंवर में सफल होने की सूचना माँ को नहीं दी गयी थी और भिक्षा जैसे भ्रामक मिथ्या शब्द का आश्रय क्यों लिया गया?

मिथ्या और भ्रामक सूचना पर उसी परिप्रेक्ष्य में दिया गया उत्तर और पुनः उसके पालन का निर्णय, क्या सत्य की भाँति आलोचित है? यदि यह सब परिहास है, तो वह बहुत ही घृणित है। परिहास की भी एक समय सीमा होती है। मुझे लग रहा है कि यहाँ कुटिलता से मेरे लिये ताना-बाना बुना जा रहा है। यह किसका दोष है? मेरे रूप का या भाग्य का? भाग्य का लेख तो मैंने पढ़ा नहीं है, किन्तु मेरा रूप सदैव घातक रहा है।

जब मैं यज्ञ मण्डप में यज्ञवेदी से प्रकट हुई, तो मंत्रपाठी ब्राह्मण मंत्र पाठ भूलकर मेरे रूप को स्तब्ध होकर देखने लगे थे। स्वयंवर के रंग मण्डप में मैंने उपस्थित राज पुरुषों के मन की दशा को स्पष्ट देखा था। आज तक जिस अद्भुत रूप को मैं ईश्वर का वरदान मानती आयी थी, आज वह मुझे अभिशाप लग रहा है, क्योंकि मेरे अद्भुत अलौकिक सौन्दर्य के कारण ही सबके मन में ऐसी दुर्भावना पैदा हो रही है।

मेरा सर्वांग दहकने लगा। जी चाह रहा है कि मैं चीख-चीखकर इनका विरोध करूँ। मैं बार बार किसी उत्तर की आशा में अर्जुन को देख रही थी, किन्तु वे दृष्टि नीचे किए हुए बैठे रहे, मानो इस निर्णय से उन्हें कुछ भी लेना देना नहीं है।

जब मेरे पति अपनी माता और ज्येष्ठ भाई के कथन पर मौन रहे, तो मेरा मन विद्रोह करने लगा कि इस निर्णय से स्वयंवर का आयोजन और शर्त पूरी करने का क्या अर्थ रह गया? मैं वरमाला डाल चुकी हूँ, उसका कोई अर्थ नहीं है? इससे क्या मेरे धर्म का नाश नहीं होगा? इस असम्मानित जीवन को मैं कदापि नहीं सहूँगी। मुझे सबसे अधिक क्रोध अपने पति पर आ रहा था। वे वीर हैं; निश्चित रूप से विचारवान और शीलवान भी होंगे... पर वे अपनी पत्नी को शेष भाइयों की भोग्या बनाने वाले षड्यन्त्र पर क्यों मौन हैं! मेरा हृदय दहक रहा था, जी कर रहा है कि अग्निकुण्ड की वही धधकती ज्वाला बन जाऊँ और इन सबको भस्म कर दूँ, भले ही इसमें मेरे पति भी क्यों न भस्म हो जायें, जो निर्विकार रह कर अपनी पत्नी को अन्य लोगों की भोग्या बनाने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर मुझे एक वलीव लगने लगा।

हर माँ चाहती है कि उसकी पुत्रवधू भले ही बुद्धिमती, रूपवती न हो, किन्तु चरित्रवती अवश्य हो; भविष्य में पुत्रवती हो... अपने पति में मन, वचन और कर्म से अनुरक्त रहे... किन्तु ये कैसी माँ है, जो अपनी पुत्रवधू को पंचपति वरण करने का संकेत दे रही है; मेरे लिये क्या धर्म है? माँ

और पति के भाई की इच्छा अथवा अपना स्त्री धर्म? निःसंदेह अपना धर्म, अन्यथा मैं युगों युगों तक अपमानित होती रहूँगी... प्रत्येक युग में भ्रष्ट स्त्रियों के लिये एक प्रतीक बन जाऊँगी।

मैं चुप रह कर शांत होने का प्रयास कर रही हूँ। मुझे विश्वास है कि ऐसी अनैतिक सोच का इस कुटिया के बाहर समाज में कोई स्थान नहीं होगा और मैं अर्जुन की ही पत्नी बनूँगी... कोई नराधम इस प्रकार का कुत्सित विचार मेरे पिता के सम्मुख रखने का साहस नहीं कर सकता, चाहे वह मेरे पति का ज्येष्ठ भ्राता ही क्यों न हो। धृष्टद्युम्न की कृपाण एक ही क्षण में उसे उसकी धृष्टता का फल चखा देगी।

मैं अपने सारे प्रश्नों और तर्कों को मन में समेटे शांत बैठी रही। मैं जानती हूँ कि मेरा अद्भुत सौन्दर्य कुछ समय के लिये लोगों के विवेक को हर लेता है और कुछ क्षण तक लोग मुझे आश्चर्यचकित होकर निहारते रहते हैं। सखा भी तो मुझे पहली बार देखकर आश्चर्य चकित रह गये थे... दृष्टि नीची होने पर भी मुझे इसका आभास भलीभाँति हुआ था।

बाहर घोड़ों की टापों और रथ के पहियों की घरघराहट से मेरी विचार शृंखला टूट गयी। द्वार पर पाञ्चाल देश का ध्वज लहराते दो राजसी रथ आकर खड़े हो गये और अगले रथ से अपने राज्य के कुल पुरोहित को उतरते देखकर मैं एक छोटी बालिका की भाँति प्रसन्न हो गयी। अभी मुझे अपना परिवार छोड़े केवल एक रात्रि ही व्यतीत हुई थी, किन्तु इस समय लग रहा था कि मैं अपने परिवार से युगों से दूर थी और आज राज पुरोहित नहीं, वरन् साक्षात् अपने पिता को देख रही हूँ। सारी दुःखिताएँ मन मस्तिष्क से तिरोहित हो गयीं।

सारथी ने रथ से उपहारों के थाल उतारकर माँ के समक्ष रख दिया। माँ ने देखा तो उनमें पाँचों पाण्डवों, माँ और मेरे लिये राजसी वस्त्र थे। मैं आश्चर्य चकित हो गयी। पिताश्री ने सबको सादर आमंत्रित करने के लिये राज पुरोहित को भेजा था।

* * *

मैं अंतःपुर में पहुँचते ही मातामही की गोद में मुँह छुपाकर फफक पड़ी। पूरा राज कुल कल से आशंकित था कि, किस कुल का पुरुष, लक्ष्य भेद करके कृष्णा को ले गया। देखने में अति साधारण ब्राह्मण परिवार में, राजकुल में पत्नी कृष्णा कैसे जीवन यापन करेगी? न जाने कितने अंदेशों ने कल से सबको घेर रखा था।

मेरे साथ ही माँ और मातामही का भी रुद्ध स्वर फूट पड़ा। दासियाँ भी स्वयं को संयमित नहीं कर पायीं। धाय माँ भी हाहाकार कर उठीं। किसी को मुझसे कुछ भी पूछने का साहस नहीं हो रहा था। सबको लग रहा था कि सर्वश्रेष्ठ पाने की लालसा में उनसे यह कैसा अनर्थ हो गया। मैं भी किसी से कहने का साहस नहीं कर पा रही थी कि मुझे लेकर पाण्डवों ने किस प्रकार का निर्णय लिया है और न ही उस घृणित निर्णय की सूचना मैं अपनी जिह्वा पर ला सकती थी।

मैं मातामही के पास ही बैठी रही। मेरे आँसू थम ही नहीं रहे थे। मात्र एक रात्रि में मेरा जीवन पूरी तरह से बदल चुका था। मैं अनेक चिंताओं से घिरी थी और विवाह से पूर्व, विवाह को लेकर देखे गये मेरे सपने एक ही रात्रि में चकनाचूर हो गये थे।

मेरी माता ने आगे बढ़कर माता कुंती का स्वागत किया। थोड़ी देर में उस कक्ष में पिताश्री द्युम्न और पाण्डवों के साथ पधारे। पिताश्री ने युधिष्ठिर को संबोधित करके पूछा, “आप लोग किस वर्ण के हैं? आप लोगों को देखकर हमें संदेह हो रहा है; कृपया सत्य कहें, मैं विवाह का आयोजन करूँगा।”

“हम हस्तिनापुर नरेश पाण्डु के पुत्र हैं और यह हमारी माता कुंती देवी हैं” युधिष्ठिर ने उत्तर दिया। उन लोगों का वार्तालाप दूसरे कक्ष में मुझे स्पष्ट सुनाई दे रहा था। माँ पिताश्री और द्युम्न प्रसन्न हो गये। उनकी पुत्री को अर्जुन ने प्राप्त किया था, यह पिताश्री के लिये उनकी विर संचित अभिलाषा की पूर्ति थी। कुछ समय तक औपचारिक बातें होती रहीं और सबकी प्रसन्नता वार्तालाप में स्पष्ट झलक रही थी... किन्तु मेरा हृदय चिन्ता के कारण जोर जोर से धड़क रहा था कि अब आगे क्या वार्तालाप होगा? मुझे आशा थी कि पाण्डव अपनी घृणित इच्छा को मेरे पिता के सम्मुख प्रकट करने का साहस नहीं कर सकेंगे और उसे अपने हृदय में ही समेट लेंगे। पिताश्री विवाह कार्य सम्पन्न कराने के विषय में युधिष्ठिर से वार्तालाप करने लगे।

“विवाह तो मेरा भी करना पड़ेगा।” बात की दिशा को बदलते हुए ज्येष्ठ पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर ने मेरे पिता से कहा।

“जैसी आपकी इच्छा... आज्ञा दें; कन्या का वयन हो चुका है अथवा नहीं।”

“द्रौपदी हम सबकी पत्नी बनेगी, हमें माता ने ऐसी आज्ञा दी है और अभी मैं और भीम अविवाहित हैं।”

युधिष्ठिर के मुँह से ऐसी बात सुनकर मेरे पिता आश्चर्य चकित रह गये। कुछ क्षण के बाद उन्होंने कहा, “किन्तु मेरी रत्न स्वरूपा कन्या को अर्जुन ने स्वयंवर में लक्ष्य भेद कर प्राप्त किया है और स्वयंवर का आयोजन कृष्णा के वर वयन के लिये ही किया गया था।” पिताश्री का आश्चर्य उनकी बाणी में झलक रहा था।

“महाराज! हम लोगों में यह निर्णय हो चुका है कि आपके इस रत्न को हम लोग आपस में बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे; इस निर्णय को तोड़ना अथवा छोड़ना संभव नहीं है, अतः कृष्णा धर्म पूर्वक सभी की पत्नी बने।” युधिष्ठिर का स्वर लज्जाहीन था।

पुनः वही उत्तर सुनकर पिताश्री क्रोध और क्षोभ से भर गये। द्युम्न के लिये अब संयम रख पाना कठिन हो रहा था। वह पिता की ओर किसी कठोर निर्देश की आशा से देखने लगे। पिताश्री ने स्वयं को संयमित करके कहा कि, “एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ सुनी गयी हैं, पर जैसा तुम कह रहे हो, वैसा सुनने में कभी नहीं आया है... तुम धर्म के ज्ञाता हो; पवित्र हो, तुम्हें लोक और वेद के विरुद्ध ऐसा विचार मन में भी नहीं लाना चाहिये। तुम तो कुंती के पुत्र हो, तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्यों हो रही है?” प्रयास करने पर भी पिताश्री का क्रोध फूट पड़ा।

“धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है; हम उसकी गति नहीं जानते, इसलिये पूर्वकाल में प्रचेता आदि जिस मार्ग पर गये हैं, हम उसका अनुसरण करना चाहते हैं... मेरी बाणी कभी झूठ नहीं बोलती, मेरी बुद्धि कभी अधर्म में नहीं लगती; हमारी माता ने हमें ऐसा करने की आज्ञा दी है और मेरे मन में भी यही ठीक लगता है... यह अटल है, अतः राजन बिना किसी सोच-विचार के इसका पालन करें।”

पिताश्री क्रोध और अपमान से भरे स्वर में उठ खड़े हुए और “तुम कुंती और धृष्टद्युम्न मिलकर इस पर एक बार पुनः विचार करो।” कहते हुए कक्ष से बाहर चले गये। माता ने भी पिताश्री का अनुसरण किया।

पिताश्री माताश्री से कहने लगे कि इस विषम घड़ी में श्रीकृष्ण भी नहीं हैं, रात्रि में भोजन के पश्चात् वे न जाने कहाँ चले गये थे और प्रातःकाल वापस जाने की अनुमति उन्होंने मुझसे पहले ही ले ली थी। अब तक तीन प्रहर बीत चुके हैं, वे बहुत दूर चले गये होंगे; पत्राचार द्वारा विमर्श

करने का समय भी नहीं है।

उसी समय बाहर से आकर सेवक ने निवेदन किया कि महर्षि व्यास पधारे हैं। आशा की किरण पिताश्री के मुखमण्डल पर फैल गयी और वे शीघ्रता से बाहर चले गये और उनका सत्कार करके उनको साथ लेकर पुनः कक्ष में वापस आ गये।

पिताश्री ने महर्षि से निवेदन किया कि, महाराज! एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों की धर्मपत्नी कैसे हो सकती है; यह वेद और लोक दोनों के ही विरुद्ध है। तथा आशा से व्यास जी की ओर देखने लगे।

धृष्टद्युम्न, जो अब तक शिष्टतावश मौन थे, व्यग्रता से व्यास जी से कहने लगे, “महाराज! बड़ा भाई सदाचारी होते हुए, छोटे भाई की पत्नी के साथ कैसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है?”

व्यास जी मौन रहे।

पिताश्री व्यास जी को संबोधित करके कहने लगे कि “धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, इस कारण हम उसकी गति नहीं जानते हैं; यह धर्म है अथवा अधर्म, इसका निर्णय भी हम नहीं कर पा रहे हैं, अतः हम किसी भी प्रकार से ऐसी सम्मति नहीं दे सकते कि कृष्णा पाँचों पुरुषों की धर्मपत्नी बने।” और उत्तर की आशा से उनकी ओर देखने लगे।

महर्षि व्यास कुछ क्षण मौन रहे और प्रश्नवाचक दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देखा। युधिष्ठिर, पालित शुक की भाँति पुनः अपने कथन को दुहराने लगे कि, “मेरी जिह्वा कभी झूठ नहीं बोलती, मेरी बुद्धि कभी अधर्म में नहीं लगती; परन्तु इस विवाह में मेरे मन की प्रवृत्ति हो रही है, इसलिये यह किसी भी प्रकार अधर्म नहीं है... पुराणों में जटिला नामक कन्या ने सप्त ऋषियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था, कण्डु मुनि की पुत्री वाक्परी ने तपस्या से पवित्र अंतःकरण वाले दस प्रचेताओं के साथ, जिनका एक ही नाम था और वे आपस में भाई थे, विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था; उसी मार्ग का अनुसरण हम लोग भी कर रहे हैं... व्यास जी धर्मज्ञों में श्रेष्ठ हैं, वे भी गुरुजनों की आज्ञा को धर्म सम्मत ही कहेंगे और समस्त गुरुओं में माता परम गुरु मानी गयी है, इसी कारण हम लोगों को माता ने जो आज्ञा दी है, उसका पालन कर रहे हैं।”

“युधिष्ठिर जो भी कह रहा है वह सत्य है; मुझे झूठ से बड़ा भय लगता है।” माता कुंती, युधिष्ठिर की बात सुनते ही बोल पड़ी।

द्युम्न ने कहा, “गुरुजनों की आज्ञा यदि अन्यायपूर्ण लगे, तो भी उसका पालन करना धर्म होगा?”

सबकी बातें सुनकर महर्षि व्यास मौन रहे। कुछ क्षण पश्चात पिताश्री की ओर उन्मुख होकर बोले, “इस विवाह में एक रहस्य है मैं एकान्त में तुमसे कहूँगा।” और पिताश्री को एकांत में चलने का संकेत किया। पिताश्री उन्हें लेकर अन्य कक्ष में चले गये। उस कक्ष के द्वार भीतर से बंद हो गये। कुंती, युधिष्ठिर आदि भाई व द्युम्न, पूर्ववत् इसी कक्ष में बैठे रहे।

घड़ी भर पश्चात पिताश्री व्यास जी के साथ वापस कक्ष में लौटे। पिताश्री क्लान्त और श्रीहीन लग रहे थे। कुछ क्षण मौन के पश्चात पिताश्री कहने लगे, “जो विधाता ने रच रखा है, उसे टालना असंभव है; यदि साक्षात् भगवान् शंकर ने ऐसा विधान कर रखा है, तो यह धर्म है अथवा अधर्म, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है।” वाक्य समाप्त करते करते उनका स्वर अवरुद्ध हो गया और वह एक पराजित योद्धा की भाँति अपने आसन पर निढाल हो गये।

क्या द्रोण शिष्यों से उन्हें बार-बार पराजय ही भोगना है? एक बार अर्जुन उन्हें युद्ध क्षेत्र में

पराजित कर चुके थे और आज उनका ज्येष्ठ भ्राता उन्हीं के घर में उन्हीं की दिव्य पुत्री को माध्यम बनाकर उन्हें आजीवन अपमान की ज्वाला में जलते रहने की पराजय दे रहा है। ऐसी पराजय, जो कभी देखी सुनी नहीं गयी थी... जब तक सृष्टि रहेगी, सभ्य समाज रहेगा; उन्हें और उनकी पुत्री को लांछना और विद्रूप का पर्याय बनकर जीना पड़ेगा; उनकी मृत्यु के बाद भी उन्हें और उनकी दिव्य पुत्री को घृणा और अपमान के साथ उद्धृत किया जाता रहेगा।

* * *

दूसरे कक्ष में बैठी माँ यह सुनकर निःशब्द रोने लगीं। मेरे मन में आ रहा है कि जो कुछ भी हो रहा है, उसका चीख चीख कर विरोध करूँ... प्रश्न करूँ कि आतंकित करके अपनी इच्छा को धर्म मानने के लिये बाध्य करना क्या धर्म है? क्या इस संदर्भ में मेरे धर्म का कोई पक्ष नहीं है? माँ अपने कक्ष में जाने लगीं तो मैं भी उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ी।

“माँ! यह क्या अनर्थ हो रहा है? पिताश्री उनकी अनुचित इच्छा को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? युधिष्ठिर के इस तथाकथित धर्म के समक्ष इस लोक का धर्म, वेद क्यों नहीं खड़ा हो पा रहा है? क्या धर्म की व्याख्या करने वाले विद्वान, धर्म की व्याख्या व्यक्ति विशेष को देखकर करते हैं? क्या समर्थ व्यक्ति के लिये कुछ भी अधर्म नहीं है?”

क्षत्रियों के लिये कन्यादान का सर्वश्रेष्ठ मार्ग स्वयंवर होता है, यह मैं सुनती आयी हूँ; स्वयंवर में सर्वश्रेष्ठ के चुनाव के लिये योग्यता का निर्धारण भी नई बात नहीं है... श्रीराम ने धनुष भंग करके सीता को प्राप्त किया था; वैसे ही अर्जुन ने मुझे स्वयंवर में लक्ष्य भेद करके प्राप्त किया है। मैंने रंग मण्डप में वरमाला अर्जुन के गले में डाली और धर्मतः मेरा विवाह भी लक्ष्य भेदते ही अर्जुन के साथ हो गया।

क्या सीता का स्वयंवर धर्म सम्मत था और मेरा धर्म से परे; जो उसके निर्णय पर प्रश्न उठाया जा रहा है? यदि कुछ विवाद हूँढ़ने का प्रयास किया जाता है, तो इतना ही हो सकता है कि अर्जुन ने छद्म रूप धारण करके लक्ष्य भेद किया था, जिस पर रंग मण्डल में विवाद भी हुआ था... किन्तु वह विवाद वहीं शांत कर दिया गया था और मैं अर्जुन के साथ बिना किसी विवाद के वहाँ से विदा हुई थी, अतः अब किसी को भी प्रश्न उठाने का अधिकार नहीं है।

युधिष्ठिर से क्यों प्रश्न नहीं किया जाता कि क्या मेरे स्वयंवर का निर्णय धर्म से परे था? क्या अर्जुन का मुझे जीतना धर्मतः उचित नहीं था या मेरा अर्जुन के गले में पति स्वीकार करके वरमाला डालना अधर्म था? यदि लक्ष्य भेद करना धर्म संगत नहीं था तो मैं अर्जुन को प्राप्त ही नहीं हुई... इस स्थिति में मेरे विषय में किसी को भी कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है, निर्णय करना तो दूर की बात है। क्यों पिताश्री और व्यास जी सत्य को न मानकर अधर्म के सम्मुख मौन हैं?”

माता चुपचाप बैठी रहीं। मैं क्षोभ और अपमान से रोने लगी। कुछ क्षण पश्चात मैंने धैर्य धारण करके आगे कहा, “स्वयंवर में भाग लेने वाला हर पुरुष पत्नी प्राप्त करने के लिये आता है और कन्या किसी एक को वरमाला पहनाती है, यही स्वयंवर का धर्म है; इससे परे कुछ भी नहीं होता... कम से कम इस दृष्टि से तो कभी भी स्वयंवर नहीं रचा गया कि प्राप्तकर्ता कन्या का मनचाहे ढंग से विभाजन, व्यापार करे।

यदि कोई संशय हो तो दो ही स्थितियाँ बनती हैं... पहली, वह मुझे पत्नी के रूप में ग्रहण करें अथवा वे मेरा परित्याग करें। इन दोनों ही स्थितियों में उन्हें या उनके परिवार को मेरा विभाजन

करने का अधिकार नहीं है। अपने धर्म की रक्षा के लिये व्यक्ति त्याग करता है, न कि किसी का हरण... क्यों नहीं युधिष्ठिर अपने और अपनी माता के साथ धर्म की रक्षा के लिये स्वयं का बलिदान करते हैं; मुझ पर क्या अधिकार है उनका? मेरा स्वर उतेजना और क्रोध की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। माता मूर्तिवत हो गयी थीं, भीतर ही भीतर उनका रुदन चल रहा था। उनका दीर्घ उच्छ्वास स्पष्ट रूप से इंगित कर रहा था कि वे निरुत्तर हैं।

मेरे भीतर बहुत कुछ उफन रहा था, जो बाहर निकलकर उतर माँगना चाह रहा है... माँ, पिताश्री, महर्षि व्यास, कुंती से, अर्जुन से और उस युधिष्ठिर से भी। मैंने पुनः माता से प्रश्न किया “पिताश्री युधिष्ठिर का निर्णय क्यों मान रहे हैं? अपने जिस कुल का परिचय वे दे रहे हैं, उस कुल के श्रेष्ठ जनों से पिताश्री विवाह की वार्ता क्यों नहीं करते? उस कुल में शिरोमणि भीष्म हैं, पिता स्वरूप महाराज धृतराष्ट्र हैं, माता गांधारी हैं... क्या वे इस विवाह की सम्मति देंगे? जिस कुल का आधार लेकर युधिष्ठिर इस प्रकार के अधर्म की बात कह रहे हैं, उस कुल का मतव्य क्या है, उसको जानने की कोई आवश्यकता नहीं है? क्यों मेरे विवाह से संबंधित वार्तालाप युधिष्ठिर से हो रहा है, महाराज धृतराष्ट्र से नहीं? क्यों नहीं कुंती और युधिष्ठिर के वार्तालाप की धार्मिक व्याख्या पितामह भीष्म, कृपाचार्य और नीतिज्ञ विदुर कर रहे हैं? ये लोग जो भी निर्णय लेंगे, मैं बिना प्रश्न और दुविधा के उसे स्वीकार कर लूँगी।”

अब मैं धैर्य नहीं रख पा रही थी और जोर जोर से हिचकी लेकर रोने लगी। रोते समय भी मेरे प्रश्न और तर्क नहीं रुक रहे थे। मैं माँ को पकड़कर पूछने लगी कि “केवल मान सम्मान में अद्वितीय होने के कारण ही आपने मुझे पुत्री माना था? मेरे सुख-दुःख, मान-अपमान से आपका कोई प्रयोजन नहीं है?”

इतनी देर की चुप्पी के बाद माँ बोलीं “बेटी, भाग्य ही सारा ताना-बाना बुनता है और मनुष्य को मकड़ी के जाले में फँसे कीट की भाँति विवश रहना पड़ता है; भाग्य जिस सुरंग में ढकेलता है, मनुष्य को उसी में चलना पड़ता है।”

मुझे इस संकट की घड़ी में माँ की दार्शनिकता अच्छी नहीं लगी। उन्हें तो मेरे सुखद जीवन के लिये प्रयास करना चाहिये, किन्तु वे मौन बैठी हैं। मैंने आश्चर्य से पूछा “यदि मैं आपके गर्भ से पैदा हुई होती, तो भी आपका उत्तर यही होता? आप मुझे इस संकट से उबारने का कुछ भी प्रयास नहीं करती? मैंने आपका स्तन पान नहीं किया है, तो क्या प्रेम का संबंध छाती के दूध से होता है, जो माँ के भीतर से निकलकर शिशु के भीतर जाता है?”

“गर्भ धारण केवल आत्म संतोष ही देता है। उस पुत्री का भाग्य भी पिता ही निर्धारित करता है और जब पिता नरेश हो, तो उसके निर्णय में राज्य का हित भी जुड़ जाता है...” माँ इतना कह कर चुप हो गयीं। मुझे लगा कि माँ को कोई संकट दिखाई दे रहा है, जिसके कारण वे ऐसा कह रही हैं। कुछ देर चुप रह कर दीर्घ निःश्वास लेकर माँ ने पुनः कहा ...राज कन्याओं के सुख और दुःख दोनों ही राजप्रासाद की ही भाँति विशाल होते हैं... भारी आभूषणों की भाँति मर्यादा की भारी बेड़ियाँ भी उनके पैरों को कसे रहती हैं; भारी रेशमी वस्त्रों की तहों में पिता और पति की प्रतिष्ठा भी लिपटी रहती है। पाण्डव बलशाली हैं और श्रीकृष्ण उनके साथ हैं, इसलिए तुम्हारे पिता उनकी इच्छा का विरोध करने का साहस नहीं कर सकते।”

अब सब कुछ मेरे समक्ष स्पष्ट हो गया। मैं तड़प उठी। कितना मान था मुझे अपने पिता और भाई पर। अब तक मुझे लगता था कि मेरे पिता के समकक्ष इस पृथ्वी पर कोई दूसरा पिता नहीं है,

मेरे पिता सर्वश्रेष्ठ हैं, अद्वितीय हैं... पर यह मैं माँ के मुख से क्या सुन रही हूँ! मेरे हृदय में बसी अपने पिता की छवि डगमगाने लगी।

मैं हतप्रभ सी उठकर अपने कक्ष में आ गयी। पलंग पर औंधे मुँह लेटते ही वेग से रुलाई फूट पड़ी। मुझे लग रहा है कि मैं एक वस्तु बन गयी हूँ, जिसकी अपनी कोई इच्छा, विचार और भावना नहीं होती। यदि मुझे वस्तु मान लिया जाये, तो भी घर में उपयोग की निर्जीव वस्तुएँ भी सबकी अपनी-अपनी होती हैं; मुझ हाड़ माँस की सजीव, भाई की पत्नी को शेष चारों भाई भोगने की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

मैं यज्ञ की वेदी से अग्निशिखा सी उत्पन्न हुई थी। इस चराचर विश्व में जन्म लेने की प्रक्रिया से नितांत भिन्न, इसीलिए मैं विशिष्ट थी... क्या यही मेरे भाग्य की विडंबना है कि मैं विशिष्ट हूँ और इसीलिए विधाता ने भी मेरा भाग्य सामान्य राजपुत्रियों से भिन्न रखा है? युधिष्ठिर द्वारा एक निर्णय ले लिया गया था और पिताश्री को आदेश सा दे दिया गया और सारे प्रश्न वहीं समाप्त कर दिये गये। समाज, लोक, धर्म, मर्यादा किसी का भी विचार नहीं, बस आदेश और उस का अनुपालन। मुझे पूर्णतः विश्वास हो गया कि यह आदेश माँ का नहीं, वरन् प्रथम कौन्तेय युधिष्ठिर का है... माँ को तो बस इस कुटिल पापी नाटक का एक पात्र बनाया जा रहा है।

सीधे सीधे वर्तस्व न दिखाकर न जाने कहाँ से पौराणिक उदाहरण लाकर प्रस्तुत किए जा रहे हैं। हर युग की अपनी आवश्यकता के अनुसार युग धर्म, समाज और परंपराएँ होती हैं, किन्तु क्या वे परंपराएँ आज के युग में समीचीन हैं? उस व्यवस्था को एक सभ्य उन्नतिशील समाज में एक राजपुत्री के ऊपर क्यों थोपा जा रहा है? क्या इतिहास और पुराणों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है, जिसमें स्वयंवर में निर्धारित नियमों के अनुसार पुरुष ने जिस कन्या को प्राप्त किया है, वह उसकी पत्नी बनी हो?

क्यों धर्म के नाम पर इतने पाप किए जा रहे हैं? हाँ, पाप ही तो किए जा रहे हैं, अनगिनत पाप... एक नरेश की पुत्री के स्वयंवर धर्म को खण्डित करने का पाप, माँ को भ्रमित करने का पाप, छोटे भाई की पत्नी को भोगने की कुत्सित इच्छा का पाप, एक भाई को स्वयंवर में प्राप्त अपनी पत्नी को धर्मतः ग्रहण करने से विमुख करने का पाप, किसी स्त्री को पाँच की भोग्या बनाकर उसे विश्व के व्यंग्य विद्रूप उपहास और निंदा को ढोते हुए जीने का पाप, मेरे मन और आत्मा तक को कलंकित करने का पाप, एक स्त्री से उसके स्त्री होने के अधिकार से वंचित रखने का पाप, एक जीवित मानवी को वस्तु में परिवर्तित कर देने का पाप, मेरे पिता के कुल को अपमानित लांछित करने का पाप, अपने पूर्वजों को भी कलंकित करने का पाप... न जाने कितने पाप, तराजू के एक पलड़े में हैं और दूसरे पलड़े में क्या है; एक कुत्सित इच्छा की पूर्ति का अनैतिक प्रयास।

मैं व्यथा से तड़प रही हूँ। बार बार एक ही प्रश्न मेरे मस्तिष्क को मथ रहा था कि माता ने क्यों नहीं कहा कि उन्होंने भ्रमित होकर ऐसा आदेश दिया है और उनकी भावना किस परिप्रेक्ष्य में थी। यदि शब्द ही धर्म थे, तो भी मैं सम्मिलित भिक्षा नहीं थी; माँ ने क्यों नहीं अपने भ्रम का परिमार्जन किया? क्यों वे अपने पूर्व कथन को ही उद्धृत करती रहीं? एक बार कह देतीं कि उन्होंने भ्रमवश ऐसा कहा, तो आगे पीछे का आदेश स्वयं ही निरस्त हो जाता। माता कुंती एक स्त्री होकर ऐसा घृणित व्यवहार क्यों होने दे रही हैं?

क्या पाण्डव मुझे प्राप्त करने के लिये ही छद्म वेष में कांपित्य नगरी आये थे? यदि मुझे प्राप्त

करने की इच्छा थी, तो उन्हीं के पुत्र अर्जुन ने मुझे प्राप्त कर लिया था, फिर क्यों इस प्रकार का विवाद, माता और पुत्र मिलकर उठा रहे हैं? पाण्डवों की इस प्रकार की कुत्सित भावना के पीछे क्या इनकी कोई सुगठित योजना है?

सारे प्रश्न मेरी छाती पर चलते हुए मुझे रेंद रहे हैं। सब कुछ साफ-साफ समझ में आने के बाद भी लगता है कि, मन में इस प्रकार से तर्क वितर्क करके कदाचित् मैं इस स्थिति से बच जाऊँ? पता नहीं मन क्यों भ्रम में जीना चाहता है? दो चार पल भ्रम में जीती हूँ तो मन थोड़ा स्थिर हो जाता है, नहीं तो लगता है जैसे गहरे पानी में डूबती जा रही हूँ, जहाँ साँस लेने के लिये हवा नहीं है। तड़प रही हूँ... साँस रुक रही है और फिर मैं घबरा करके ऊपर निकलकर अपने प्रश्नों से जूझने लगती हूँ, तो उस समय लगता है कि कदाचित् मेरे मन में उठने वाले प्रश्न मुझे इस नारकीय जीवन से बचा लेंगे।

मुझे इस समय सब पर बहुत क्रोध आ रहा है कि क्यों नहीं सब लोग कुंती और युधिष्ठिर से प्रश्न करते... जैसे प्रश्न मेरे मन को मथ रहे हैं? स्वयंवर के अवसर पर ब्राह्मणों को भी दान दिया गया था। यदि ये लोग याचक की पंक्ति में खड़े होकर कुछ द्रव्य, स्वर्ग, भूमि और गौ प्राप्त करते, तो उसका उपभोग सम्मिलित होकर करते... किन्तु जब माँगकर कुछ नहीं लाये थे, तो युधिष्ठिर ने मिथ्या भाषण क्यों किया कि, “माँ हम भिक्षा लाये हैं?” मुझे तो अर्जुन ने प्राप्त किया था; मैं ‘हम’ की भिक्षा कैसे हो गयी? यदि स्वयंवर तक के मार्ग में आते-जाते कुछ भिक्षाटन भी किया होता, तो वे उसे बाँट लेते। यदि उनका नियमित कार्य भिक्षाटन ही था, तो बिना कुछ प्राप्त किए घर क्यों लौट आये? क्या पाँच युवा, स्वस्थ पुत्र, माता को उपवास करवाते?

ब्राह्मण याचक को केवल कच्चा अन्न और अन्य कच्ची सामग्री ही दान में देने का विधान है। आचार विचार की शुचिता के कारण पका भोजन देने का प्रश्न ही नहीं उठता... तो क्या इन लोगों को नियमित रूप से भिक्षा में मिले चावल, दाल गेहूँ को मुट्ठी भर भर कर फाँकने का आदेश माता देती थीं, जो उस दिन भी बाँटकर भोग लगाने की आज्ञा दे दी और स्वयं निराहार रहने का निर्णय लिया था? छद्म वेश धारण करना, मिथ्या भाषण करके भिक्षाटन करना, माँ को भ्रमित करना, भ्रम को सत्य मानने का हठ करना, क्या यही युधिष्ठिर का धर्म है?

मैं मृत सी पलँग पर पड़ी रही। न जाने कितने आँसू बहे, कितनी सिसकियाँ हिचकियों के साथ निकलीं, कितने ही जोड़ी दबे पाँव मेरे पलँग तक आये और चुपचाप वैसे ही वापस लौट गये; किसी में भी मुझसे कुछ कहने का साहस नहीं था। मैं स्वयं अपना मुँह तकिए से उठाने का साहस नहीं कर पा रही थी। मुझे ऐसा लग रहा था कि जैसे मैंने जान बूझ कर कोई बड़ा पाप किया हो और अब मैं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। बिना किसी अपराध के ये कैसा अपराध बोध मुझे घेर रहा है? अपराधी तो आज पूरा समाज है, जो मेरे साथ होने वाले अन्याय पर चुप है।

कहीं से भी कोई आशा की किरण नहीं दिखाई दे रही है, कोई भी मेरा रक्षक नहीं, कोई इस अधर्म के विरुद्ध खड़ा होने वाला नहीं; यहाँ तक कि किसी में इस पाप और अधर्म को पाप अधर्म कहने का साहस भी नहीं है... सभी इस अधर्म से लड़ने के पहले ही उसके सम्मुख पराजय स्वीकार कर चुके हैं।

सखा! कहाँ हो तुम? इस संकट की घड़ी का अंत करने के लिये क्यों नहीं आ रहे हो? तुम्हारी सखी कृष्णा की मर्यादा भंग हो रही है और तुम तो पाण्डवों के संबंधी हो? तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ पुरुष के रक्त संबंधी ऐसा घृणित विचार भी मन में कैसे ला सकते हैं? तुम्हें देखते ही इनके मन का

कलुष और दुराचरण सब नष्ट हो जायेगा।

न जाने कितनी देर तक मेरा मौन प्रलाप चलता रहा... मैं रो कर सखा को पुकारती रही, किन्तु मेरा स्वर कंठ के भीतर हृदय के प्राचीरों में ही सिर पटकता रहा। जीवन के युद्ध क्षेत्र में जब आज मैं अपने अस्तित्व को बचाने के लिये लड़ रही हूँ, तुम मुझे अकेला छोड़कर कहाँ हो? क्यों सखी बनाया था मुझे? क्यों यह विश्वास दिलाया था कि जीवन में कभी भी किसी भी विषम स्थिति में तुम मेरे पास होगे और मेरी रक्षा करोगे? मैंने तो तुम्हें अपना मान समझा था और स्वयं को तुम्हारे स्वाभिमान से जोड़ दिया था। सखा! कहाँ भ्रम हुआ था मुझे, तुम्हें अपना समझने में... या अपने विश्वास को तुम्हें सौंप देने में। आज तुम कहाँ हो; तुम्हारा एक नाम रणछोर भी है... आज मेरे संदर्भ में इस विषम घड़ी में अपना वही नाम सार्थक कर रहे हो क्या?

* * *

प्रातःकाल सूर्योदय के साथ ही मेरे दुर्भाग्य का भी उदय हो गया। आज का दिन पिछले दिनों से पूर्णतः भिन्न है। कोई प्रश्न नहीं, कोई दुविधा नहीं और न ही कोई विकल्पा। आज सब कुछ धर्म सम्मत है, कहीं भी कुछ भी जरा सा भी अधर्म नहीं है। महर्षि व्यास ने युधिष्ठिर के धर्म सम्मत वचन को सत्यापित कर दिया है कि, “जिस प्रकार और जिस कारण से यह सनातन धर्म अनुकूल कहा गया है और कुंती नंदन युधिष्ठिर ने जिस प्रकार से इसकी धर्मानुकूलता का प्रतिपादन किया है, उस पर विचार करने से निःसंदेह यही सिद्ध होता है कि यह विवाह धर्मसम्मत है।”

अब मुझे महर्षि व्यास के द्वारा यह भी ज्ञात हो रहा है कि यह तो पूर्व जन्म से ही निर्धारित था; मैंने अपने पूर्वजन्म में भगवान शंकर से ‘भगवन् पति दें’, पाँच बार कहा था, अतः महादेव ने मुझे अगले जन्म में पाँच पति का वरदान दे दिया। मैंने भ्रम का निराकरण चाहा था, “प्रभु! मैंने सर्वगुण सम्पन्न एक ही पति माँगा हूँ” किन्तु नहीं। यदि महादेव उस जन्म में मुझे पाँच पति देते, तो मैं स्वयं की त्रुटि मानकर संतोष कर लेती... किन्तु महादेव ने तो पूर्व जन्म में दर्शन देकर भी निराश लौटा दिया था; मैं तो चिर कुमारी ही काल के गाल में समा गयी थी। यदि पिछले जन्म के तप के फल को अगले जन्म के लिये स्थगित कर दिया था, तो उस भ्रम का संशोधन, जिसके लिये मैंने पूर्व जन्म में याचना की थी, क्यों नहीं कर सके। एक ही वर देते, पाँच पाँच की भोग्या बनने का शाप क्यों दे दिया?

जब कहने पर भी भगवान शंकर, भ्रम का निवारण नहीं कर पाये, तो माता कुंती अपने भ्रम का निवारण कैसे कर सकती हैं? जहाँ सब कुछ भ्रामक है, वहाँ उस भ्रम में एकाध भ्रम और जुड़ जाए इसकी संभावना तो सदैव ही बनी रहेगी। मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि मैं कोई सामान्य कन्या नहीं हूँ, मैं तो स्वर्ग लोक की लक्ष्मी का अवतार हूँ, जिसे कठिन तप करके दुपद पुत्री होने का सौभाग्य मिला है। पाण्डव भी सामान्य पुरुष नहीं हैं वह इन्द्र के अवतार हैं... हाँ, मुझमें शची का भी अंश है। मैं लक्ष्मी और शची के अंशों के संयोग की सार्थकता नहीं समझ पा रही हूँ।

घड़ी घड़ी एक नई कथा सुनकर मेरा हृदय दग्ध हो रहा है, घृणा बलवती होती जा रही है, होंठ टेढ़े हो रहे हैं। मैं नहीं समझ पाती कि बैकुण्ठ में विष्णु भगवान के पार्श्व में लक्ष्मी जी को कौन सा दुःख था, जो अपने अंश को पाँच इन्द्रों से विवाह करके जग का अपमान और घृणा भोगने के लिये पृथ्वी पर भेजा? कौन सा दुःख शची को था, जो देवेन्द्र की शय्या छोड़कर पाँच पुरुषों की भोग्या बनने के लिये अपने अंश को पृथ्वी पर भेजा? लक्ष्मी और शची ने अपने को क्यों आधा-

अधूरा किया? शरीर का तो अंश नहीं हो सकता, मन को ही बाँटा जा सकता है। आधे मन को कलुषित करके वे आधे-अधूरे मन से अपने-अपने पतियों के साथ कौन से पत्नी धर्म का निर्वाह कर रही हैं?

घृणा आती है मुझे इस प्रकार की कथाओं पर। किसको भ्रमित किया जा रहा है? एक झूठ को धर्म सम्मत बनाने के लिये कितने झूठ गढ़े जा रहे हैं, कितने पाप हो रहे हैं, यहाँ तक कि लक्ष्मी और शची के मर्यादा को भी कलुषित किया जा रहा है। व्यास जी त्रिकालदर्शी हैं, उन्हें मेरे और पाण्डवों के जन्म का इतिहास ज्ञात है, तो उन्हें यह भी ज्ञात होगा कि उन पाँचों इन्द्रों की पत्नियाँ वर्तमान में कहाँ-कहाँ जन्म लेकर किन किन नारायणों के साथ किस प्रकार के दाम्पत्य जीवन का निर्वाह कर रही हैं।

मेरा तन-मन प्रतिपल मर रहा है, किन्तु इस स्थिति में भी उसने आशा का साथ नहीं छोड़ा था। मेरे जीवन में सब कुछ आश्चर्यजनक रूप से घटित हो रहा है तो कुछ और भी आश्चर्य हो सकता है जो मेरे लिये सुखद हो। भाग्य के गर्भ में क्या छिपा है और विधाता, आश्चर्य के कितने आघात लगायेगा, यह कोई नहीं जानता। मैं बार-बार ईश्वर से प्रार्थना कर रही हूँ कि कहीं से मेरे सखा आ जाते और मुझे उबार लेते। न जाने ये कैसा विश्वास है मेरा सखा पर, कि हृदय का एक कोना हर क्षण सखा के आगमन की आशा को भी सँजोये बैठा है।

इस लोक के ब्रह्मा मेरे भाग्य को पढ़कर मेरे जीवन की भविष्यबाणी कर रहे हैं, “महानुभावा द्रौपदी चिरकन्या ही रहेगी, प्रतिदिन एक एक पाण्डु पुत्र से विवाह के बाद दूसरे दिन पुनः कन्या भाव को प्राप्त हो जायेगी... कृष्णा पाँच पतियों की पत्नी होकर भी इस लोक में सती कही जायेगी। सभी स्त्रियों की भाँति मेरी भी इच्छा सीता सावित्री की भाँति सम्मानित जीवन जीने की थी, किन्तु इस सतीत्व का आवरण मेरे ऊपर क्या व्यंग्य नहीं करेगा? हर स्त्री की इच्छा होती है कि उसे उसका पति ही जन्म जन्मान्तर में पति के रूप में मिलता रहे, किन्तु क्या मैं पाँच पतियों के साथ एक क्षण के लिये भी एक सामान्य स्त्री की भाँति जन्म जन्मान्तर तक साथ की कल्पना कर सकूँगी? मुझे तो विधाता ने इस प्रकार की कल्पना के सुख से भी वंचित कर दिया है।

क्यों ये बातें कही जा रही हैं? मात्र मुझे सांत्वना देने के लिये या कहीं विद्रोह करके मैं अपना अनर्थ न कर बैठूँ या मुझे मानसिक रूप से इस दायित्व को वहन करने के लिये प्रशिक्षित किया जा रहा है? पता नहीं... अभी तो मेरे सारे अंग मन मस्तिष्क शिथिल होकर अलग-अलग पड़े हैं।

कोई शुभ मुहूर्त नहीं निकाला गया कोई निमंत्रण नहीं बाँटा गया। पितृ कुल में कोई अतिथि नहीं आया और न ही श्वसुर कुल से कोई बारात आया। जो कुछ भी हुआ, राजभवन के परिसर के भीतर ही हुआ। वहीं वर पक्ष और वहीं कन्या पक्ष।

प्रातःकाल होते ही लोकाचार आरम्भ हो गया। मंगल गीत गाये जाने लगे। जैसे पशु को वधशाला ले जाया जाता है, वैसे ही मैं विवाह-मण्डप में लायी गयी। युधिष्ठिर वहाँ पहले से ही बैठे थे। मैं घृणा से सिहर उठी, आज से यह कुटिल प्रपंची पुरुष मेरा पति होगा और मुझे इसकी इच्छाओं का अनुसरण करना होगा, सम्मान करना होगा। कैसे कर पाऊँगी मैं; अभी तो मेरे हृदय में इनके प्रति अथाह घृणा भरी है। इस समय मेरी इच्छा हो रही है कि जैसे यज्ञ की वेदी से मेरी उत्पत्ति हुई थी, वैसे ही मैं विवाह-मण्डप में धधकते हवन कुण्ड में प्रवेश कर जाऊँ... किन्तु क्या यह संभव हो पाएगा।

व्यथित हृदय में केवल मंथन चल रहा है। कानों में कोई वैदिक मंत्रोच्चार नहीं उतर रहा है, न

मुख से कोई वचन और न ही कोई प्रतिज्ञा निकल रही है... निकल रहे हैं तो केवल विवशता के अश्रु।

दूसरे दिन भी प्रातःकाल से सब कुछ यंत्रवत चलने लगा। आज मैं भीम की परिणीता बनूँगी। भीम, सामान्य से विशाल शरीर, मुख मण्डल पर कठोर परिश्रम और वीरता से उत्पन्न कठोरता... उन्हें देखकर मुझे भय लगता है; दोहरा भया कल मैं युधिष्ठिर की परिणीता थी, आज भीम की बनूँगी... मेरा सर्वांग काँप रहा है... लग रहा है कि कहीं गिर न पड़ूँ। आज मुझे अन्य पुरुष की शय्या पर रात्रि व्यतीत करनी है। मुझे उबकाई आ रही है। अंदर की घृणा मानो शरीर से बाहर निकलना चाह रही है। दासी ने मुझे सहारा देकर माता-पिता के पास बिठा दिया और आचार्य मंत्रोच्चार करने लगे। पिताश्री ने आज पुनः वस्त्राभूषण से सुसज्जित एक दिन पूर्व युधिष्ठिर की परिणीता अपनी पुत्री कृष्णा का हाथ भीमसेन के हाथ में देकर कन्यादान किया।

तीसरे दिन प्रातःकाल मुझे लग रहा था कि मैं एक अधम स्त्री हूँ; मेरे स्पर्श से पितृ कुल की दीवारें फर्श सब कुछ अपवित्र हो जायेंगी... मैं आज एक ऐसी स्त्री हूँ, जिसे समाज घृणा की दृष्टि से देखता है। विवाह के बाद स्त्री का कुल गोत्र बदल जाता है, वह पति के कुल गोत्र की हो जाती है; किन्तु उसकी मर्यादा और शुचिता में कोई अन्तर नहीं आता है... वह पूर्व की भाँति ही पितृ कुल के देवगृह में जाकर कुल देवता को प्रणाम करती है, आसन पर बैठती है और परिवार के साथ भोजन करती है... किन्तु आज मुझे एक अपराध बोध घेर रहा है और मैं भीमसेन के कक्ष से बाहर निकलकर खड़ी हो गयी हूँ... कहाँ जाऊँ!

आज मैं पहली वाली कृष्णा नहीं रही। आज मैं किसी आख्यान नाटक से निकली हुई एक पतिता स्त्री हूँ। मेरे पैर द्वार पर ही जम गये। वहीं खड़ी मैं दासियों के आदेश की प्रतीक्षा करने लगी। मेरा अपना साहस समाप्त हो गया था। मुझमें मातामही के पास जाने का साहस नहीं था और न ही उन्हें स्पर्श करने, उनकी शय्या पर बैठने का। मुझे लगा रहा था कि मैं विश्व की सबसे घृणित प्राणी हूँ।

दासियों की दृष्टि मुझे भिन्न लग रही थी। वे मुझे विचित्र भाव से देख रही थीं। उनमें कहीं विधाता की लेखनी के प्रति भय था, तो कहीं मेरी स्थिति को लेकर करुणा। मुझे लग रहा है कि मैं सबकी दया की पात्र हो गयी हूँ।

अर्जुन से विवाह के समय मेरे भीतर कोई भावना शेष नहीं है... न प्रेम न घृणा और न ही उत्साह। जिस अर्जुन का परिचय पाकर मैं धन्य धन्य हो गयी थी, आज उसी अर्जुन के साथ विवाह के मण्डप में बैठी मैं घृणा से सिहर रही हूँ। आज मुझे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर एक कायर पुरुष लग रहा है, जिसका न तो कोई धर्म है न नैतिकता न चरित्र और न ही स्वाभिमान। जिस अर्जुन को मैंने मन मंदिर में स्थापित किया था, वह अर्जुन अन्य था... जिसकी शक्ति और पौरुष की छाया में मैं आजीवन निरापद रहती; किन्तु इस अर्जुन ने न जाने किस नैतिक आधार पर स्वयंवर में धर्म पूर्वक प्राप्त अपनी पत्नी को अपने ज्येष्ठों और अनुजों की भोग्या बना दिया है। आज मेरे पास अर्जुन को देने के लिये कुछ भी नहीं है... न तन न मन और न ही आत्मा और अब मुझे अर्जुन से किसी प्रकार की अपेक्षा भी नहीं है। पता नहीं समय के साथ क्या होगा, पर आज अर्जुन को पति के रूप में पाने की मेरी चिर अभिलाषा चिरनिद्रा में सो गयी है। क्या मैं भविष्य में अर्जुन को उतना प्रेम दे पाऊँगी, जितना मेरे हृदय में पहले संचित था? अब तो यह भी पता नहीं कि मेरे हृदय में वह प्रेम है भी या मिलने वाले आघातों से चिरक गये हृदय से वह सारा स्नेह बह गया है। आज मैं

अर्जुन के साथ हूँ, कल मैं क्रमशः नकुल और सहदेव को हस्तांतरित कर दी जाऊँगी।

विचित्र है मेरा विवाह। मैंने विवाह मण्डप में बैठने वाली कन्याओं का मुख मण्डल देखा है। आंतरिक अनुराग उनके मुख पर स्पष्ट झलकता है, हृदय की उत्कंठा कंठ से निकलती रहती है... किन्तु मेरा! आंतरिक घृणा मेरे मुखकृति को विदीर्ण करती रहती है, हृदय की पीड़ा, कंठ और आँखों से निरंतर छलक रही है। अपमान के आवरण में लिपटी मैं एकदम अकेली रह गयी हूँ। साथ रहते हुए भी मेरे परिजन कहाँ साथ हैं? मेरी और देखने, बातें करने का साहस उनमें नहीं है। जरा सा अवसर मिलते ही व्यस्तता का बहाना बनाकर इधर-उधर चले जाते हैं और अन्य लोगों के बीच में मैं अकेली उपेक्षित सी बैठी रहती हूँ। सब कुछ यंत्रवत चलता रहा।

प्रातःकाल से फिर वही लोकाचार। वस्त्राभूषण से सुसज्जित अपनी कन्या कृष्णा का माता-पिता नित्य दान देते हैं। वैदिक मंत्रोच्चार होता है, मंगल गीत गाये जाते हैं और मैं मनसा, वाचा, कर्मणा, पतिव्रत धर्म का निर्वाह करने की प्रतिज्ञा करती हूँ। अग्नि को साक्षी मानकर मेरे पति आजीवन मेरे मान-सम्मान की रक्षा एवं भरण-पोषण की प्रतिज्ञा करते हैं। सब कुछ विचित्र है। यहीं पितृकुल में मेरी मधु यामिनी होती है; कक्ष बदलते रहते हैं, मेरा शृंगार परिधान भी बदलता रहता है, शय्या बदलती रहती है और साथ-साथ मेरे पति भी बदलते रहते हैं।

अब मुझे ज्ञात नहीं है कि मैं कौन हूँ। मैं दुपद पुत्री द्रौपदी नहीं हूँ, यज्ञवेदी से प्रकट हुई याज्ञसेनी नहीं हूँ, कृष्ण की सखी कृष्णा भी नहीं हूँ; मेरी आत्मा कहीं लुप्त हो गयी है, मेरा केवल शरीर जीवित है, तभी लगता है कि जो कुछ भी हो रहा है वह स्वप्न नहीं है। कान, जो कुछ कहा जाता है उसे सुनते हैं, विवाह वेदी पर मिलने वाले आदेशों का जिह्वा अनुसरण करती है। आँखों के सामने सारा दृश्य दिखाई देता रहता है और कभी-कभी अपना उच्छ्वास सुनती हूँ तो लगता है कि श्वास चल रही है। पतियों के स्पर्श, मुझे लिजलिजे और घिनौने लगते हैं तो विश्वास होता है कि त्वचा संवेदनशील है। सब कुछ तो जिन्दा है... एक एक अंग; पर आत्मा!

आत्मा आज चीत्कार कर रही है! प्रतिदिन वस्त्र आभूषण उतारने के साथ साथ मेरी आत्मा की भी एक एक परत छिलकर उतरती रहती है। अब मेरा कुछ भी अपना नहीं बचा है... सब कुछ छीला कुचला जा चुका है और मेरी आत्मा लहलुहान, मृतप्राय सिसक रही है। इसी से अब मुझे लगता है कि मैं वही कृष्णा नहीं रही। दर्पण के सामने खड़े होने पर शरीर के सारे अंग अपने स्थान पर होने, मुखकृति की एक एक रेखा वही रहने पर भी मैं अपनी ही दृष्टि में अनजान लगती हूँ। मन उस प्रतिबिंब को अपना प्रतिबिंब मानने से मना कर देता है।

अब मैं मूर्ति हो गयी हूँ। सहस्रों लोगों की प्रशंसित सौन्दर्य की अनिष्ट मूर्ति, कृष्णा मूर्ति हो गयी है। कोई संवेदना नहीं, कोई उत्कंठा नहीं, कोई सुख नहीं, कोई दुःख नहीं और न ही कोई कामना। अतीत की स्मृति मुझे रोमांचित नहीं करती, वर्तमान सुन्न हो गया है और भविष्य की कल्पना मैं नहीं कर पाती हूँ। मेरा एक एक पल भयंकर मानसिक यंत्रणा में बीत रहा है। मेरा जीवन कैसे बीतेगा? क्या सब कुछ सहते-सहते मैं पत्थर हो जाऊँगी? मेरी संवेदनाएँ शून्य हो जायेंगी? हृदय में निरंतर उठने वाला विद्रोह शांत हो जायेगा और मैं भी समाज की नैतिकता और धर्म को भूल कर पतिकुल के 'धर्म' को धर्म मान कर शांत हो जाऊँगी? सारे पूर्व संस्कार मिथ्या होकर स्मृति पटल से लुप्त हो जायेंगे? मैं स्वयं को धर्म नैतिकता और पतिव्रत की नई परिभाषा में बाँध लूँगी? मेरा सब कुछ तो बदल जायेगा, कुल गोत्र के साथ मन भी बदल जायेगा। मैं मानवी से 'भिक्षा' बन जाऊँगी, जिसे पहले से आदेश प्राप्त कुंती पुत्र भोग करते रहेंगे... मेरी अपनी इच्छाओं,

भावनाओं का अब मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं रह जायेगा।

* * *

मेरे विवाह के पश्चात पिताश्री ने मुख्य आवास से अलग एक स्वतंत्र भवन में हमारे रहने की व्यवस्था की, जहाँ मैं माता कुंती और पाण्डवों के साथ रह रही हूँ। जिस गर्व और स्वाभिमान से पार्थ ने स्वयंवर स्थल से विदा के समय मेरे पिता के दिये उपहारों को ठुकरा दिया था... रथ पर बिठाकर घर तक छोड़ने के द्युम्न के अनुरोध को भी स्वीकार नहीं किया था और मैं पैदल ही पति के आश्रय-स्थल पर पहुँची थी; किन्तु दूसरे दिन ही उस आश्रय स्थल से राजसी वेषभूषा धारण करके रथों पर बैठकर मेरे पिता के घर आने में अर्जुन का स्वाभिमान आहत नहीं हुआ और अब मुझसे विवाह के बाद पिता द्वारा प्रदान की गयी सुविधाओं को वह मानों अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझकर भोग रहे हैं। किन्तु मैं इस प्रकार से पिता के आश्रय में रहने के कारण लज्जित हूँ। कल तक जो राज्य मेरा था, आज मैं वहाँ पतियों के साथ अतिथि हूँ। कितनी विचित्र है यह सामाजिक परम्परा और इसमें अब मेरा स्वाभिमान कहाँ है? जितने दिन भी रहूँगी, पिता और भाई की प्रतिपालिता ही बनकर रहूँगी।

अच्छा है इस प्रकार से अलग रहकर मैं आठों प्रहर की यातना अपने माता-पिता के नेत्रों से दूर रह कर भोग रही हूँ। अब तक मैं मुख्य आवास में किसी से मिलने नहीं गयी और न ही कोई स्त्री मुझसे मिलने आयी। एकाध बार पिताश्री आये, किन्तु वह बाहर से ही युधिष्ठिर आदि से मिलकर लौट गये। हाँ, द्युम्न एक दो दिन का अन्तराल करके मेरे पास आते... मैं कुछ समय उनसे बातें करके अपना मन हल्का कर लेती।

द्युम्न ने मुझे समझाया था कि, इस प्रकार माता-पिता से अलग रह कर तुम्हें अपने नए जीवन में व्यवस्थित होने में सरलता होगी, अन्यथा प्रतिदिन मिलने जुलने से मन सदैव वहीं लगा रहेगा। मैं भी इस सत्य को जानती हूँ कि स्त्री का जीवन धान का पौधा है, जिसका बीज तो एक खेत में बोया जाता है, किन्तु उसे उखाड़कर फलने-फूलने के लिये दूसरे खेत में बिठाया जाता है... उसी प्रकार मुझे भी पितृ कुल से अलग करके अपनी गृहस्थी में जड़ पकड़ाने का प्रयास किया जा रहा है।

कभी कभी मैं और द्युम्न एक दूसरे के सामने मौन ही रहते थे। द्युम्न कभी भी मेरी कुशलता पूछने का साहस नहीं कर पाये। कभी कोई पुरानी सुखद स्मृतियों की चर्चा मेरे मुख पर हल्की हँसी ला देती, तो द्युम्न बहुत प्रसन्न हो जाते हैं। जब द्युम्न मेरे पास रहते हैं, तो मेरे पति उस समय वहाँ नहीं बैठते हैं, इस प्रकार से मुझे द्युम्न के साथ मुक्त रूप से वार्तालाप का अवसर मिलता था। किन्तु मैंने कभी द्युम्न के सामने अपने मुख पर किसी पीड़ा या उलाहना की एक रेखा भी नहीं झलकने दी। हम दोनों रंगमंच के कलाकार की भाँति सफल अभिनय करते थे।

अब मुझे माता व मातामही की कहीं एक एक बात याद आती है। मातामही सदैव मेरे प्रश्नों पर टोकती थीं कि, “कुछ प्रश्नों को मन में ही दबा लेना चाहिये... कभी-कभी असमय उठाया गया प्रश्न, व्यक्ति को विकट स्थिति में डाल देता है।” सच कहती थीं मातामही, किन्तु तब मुझमें इतनी बुद्धि और जीवन का अनुभव नहीं था और मैंने स्वभाववश स्वयंवर में कर्ण से प्रश्न कर दिया था। मेरा प्रश्न व्यर्थ था। कर्ण निमंत्रित थे, किन्तु...। मेरे उस प्रश्न ने मेरे जीवन की दिशा और दशा दोनों बदल दी। हाँ कर्ण! मैंने आपका अपमान किया और उस अपमान का दण्ड भी मुझे मिला; पाँच पाँच पतियों की भोग्या बनने और जब तक सृष्टि रहेगी, अपमानित निंदित होने का।

अब मैं मौन हो गयी हूँ, मुझे प्रश्नों से भय लगता है... न जाने मेरा कौन सा प्रश्न मुझे जीवन में आघात दे जाये।

मातामही कहती थीं कि, स्त्रियों को अधिक तार्किक नहीं होना चाहिए, इससे पति का स्वाभिमान आहत हो सकता है, वैवाहिक जीवन में कटुता आ सकती है। तर्क तो दूर की बात, मैं पति के समक्ष मुँह भी नहीं खोल पायी और मेरा जीवन ही नष्ट हो गया। मातामही कहती थीं कि, पति का हृदय सेवा और प्रेम से जीता जाता है। सेवा ही तो कर रही हूँ पाँच पाँच पतियों की आठों प्रहर... किन्तु प्रेम! वह क्या होता है, मैं नहीं जानती।

7. खाण्डवप्रस्थ

विवाह के लगभग एक माह व्यतीत होने पर सखा उपहार लेकर आये। उन्होंने माता कुंती, युधिष्ठिर और भीम को प्रणाम किया। शेष तीनों ने सखा को और अंत में मैंने सखा को प्रणाम किया। “कैसी हो सखी?” सखा ने हँसते हुए पूछा।

मैं चुप रही। आँखें छलछला आयीं और मैं सखा के सामने अपने मुख को नीचे किए बैठी रही। मेरे आँसू, सखा से अनेक प्रश्न कर रहे थे। मेरे आँसुओं में इतने दिनों की भोगी हुई यंत्रणा, सखा के प्रति उलाहना अपने दुर्भाग्य का दुःख और न जाने क्या क्या भरा हुआ था। जब दुःख में अपमान मिल जाता है तो वह दुःसह हो जाता है। सखा के साथ ही पाँचों पाण्डव भी बैठे थे। पता नहीं क्यों, मेरा हृदय उन्हें पति के स्थान पर बैठा नहीं पा रहा था... वहाँ तो एक का ही स्थान होता है, प्रेम श्रद्धा और समर्पण होता है; किन्तु यहाँ पाँच पाँच पति हैं, कदाचित्त इसलिए इन्हें पति का स्थान नहीं दे पा रही हूँ, अभी तो यही सत्य है, समय के साथ क्या होगा यह मैं नहीं जानती।

मेरे मन में यह इच्छा उठ रही थी कि मैं सबकी उपेक्षा करके सखा से पूछूँ कि आपने तो मेरे वर के रूप में अर्जुन को प्रस्तावित किया था, जिसे मेरे पिताश्री ने स्वीकार भी कर लिया था, किन्तु आपकी इच्छा का उल्लंघन आपके अपनों के द्वारा ही क्यों हुआ और यह उल्लंघन भी घोर पाप के लिये। यदि धर्म की प्रतिष्ठा के लिये, मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिये, लोक के कल्याण के लिये यदि आपकी इच्छा की उपेक्षा होती तो मैं उस पर प्रश्न नहीं उठाती, किन्तु यह तो मेरी अस्मिता और मर्यादा को तार तार करने के लिये किया गया है। सखा, क्या यह विधान मेरे लिये उचित था? मेरे लिये ही क्यों, किसी भी स्त्री के लिये यह उचित है? आपकी इच्छा से विश्व का संचालन होता है, आपकी इच्छा से ही मेरी साँस आती जाती है; मेरे सर्वनाश से आपको कुछ भी लेना देना नहीं था? सखा! जब से मुझे ज्ञात हुआ कि उस रात्रि आप कुटिया पर आये थे और बाहर से ही सबसे मिलकर चले गये, तबसे यह प्रश्न मेरे हृदय को मथ रहा है कि इसके पश्चात भी मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ... क्या यह भी आपकी ही इच्छा थी? क्या आपने भी अपनी इच्छापूर्ति के लिये मुझे माध्यम बनाया था; इतना स्नेह दिया था!

नारी तो सदैव से ही पुरुष की इच्छा पूर्ति का माध्यम बनती आयी है। वह अपने एक एक सुख और इच्छा का बलिदान करके पुरुष के लिये सीढ़ी बनती रही और पुरुष उसके त्याग से अनजान, अपने अहंकार के साथ उस पर एक एक पैर रखता, प्रगति की सीढ़ी चढ़ता रहा। स्त्री का त्याग कभी उसके लिये स्त्री का कर्तव्य रहा, कभी स्त्री का स्वभाव... अधिकतर तो वह इससे अनजान ही रहा। पुरुष के अहंकार ने उसे कभी सोचने ही नहीं दिया कि आज वह जो कुछ भी है, उसके आधार में उसकी जीवन संगिनी का क्या योगदान है। माँ का, बहन का, पुत्री का... यहाँ तक कि सखी का भी कोई योगदान हो सकता है। वह जो कुछ पाता है वह उसे अपना अधिकार लगता है... यह किसी का प्रेम, त्याग और सेवा भी हो सकता है, ऐसा क्यों नहीं सोच पाता है पुरुष?

सखा, उपहार में विशाल सम्पदा लाये थे। करोड़ों स्वर्ण मुद्राएँ, वैदूर्य मणि जड़ित आभूषण, बहुमूल्य कोमल स्पर्श वाले कंबल, स्वर्ण जड़ित शर्याएँ, दैनिक उपयोग और भोग विलास की अनेक वस्तुएँ, सुशासित हाथियों का समूह, उत्तम घोड़े, रथ, दास दासियाँ, हजारों सैनिक और

सैन्य सामग्री।

उपहार देखकर मेरा पितृ कुल अचम्भित था, किन्तु एक बार भी दृष्टि उठा कर उसे देखने की मेरी इच्छा नहीं हुई। युधिष्ठिर ने प्रसन्न होकर सारा उपहार ग्रहण किया। माता कुंती प्रसन्न थीं, नारी सुलभ गर्व मुख पर भाषित हो रहा था। मैं सोचने लगी कि चाहे दरिद्र हो या राजरानी, पितृ कुल का उपहार कुछ समय के लिये ही सही, उसे गर्वित कर ही जाता है और जब उपहार लाने वाला व्यक्ति स्वयं श्रीकृष्ण हों, तो वह मान, प्रयास करने पर भी नहीं छुपता।

अथाह धन संपदा और सैन्य बल देखकर मुझे संकोच हो रहा था, मानों मेरी विपन्नता को कम करने के लिये ही यह उपहार दिया गया है। मन भी कैसा होता है... यदि स्त्री, समृद्धि में आकंठ डूबी हो, तभी उसे बहुमूल्य उपहार प्रसन्न कर पाता है। विपन्नता की स्थिति में तीज त्योहार में मिलने वाला उपहार भी मन के एक कोने में खटकता रहता है कि कहीं दया का पात्र समझकर तो नहीं दिया जा रहा है, अभावों की पूर्ति और विपन्नता को ढकने का प्रयास तो नहीं किया जा रहा है।

* * *

भाग्य की विडंबना... आज मैं हस्तिनापुर के उसी राजभवन में प्रवेश कर रही हूँ, जिस राजकुल के सर्वनाश के लिये मेरी माता ने मेरी उत्पत्ति की कामना की थी। पाण्डवों के जीवित होने और उनके विवाह की सूचना पाकर हस्तिनापुर नरेश महाराज धृतराष्ट्र ने हम सबको हस्तिनापुर लाने के लिये महामंत्री विदुर को कांपित्य नगरी भेजा और आज मैं अपने विवाह के लगभग डेढ़ मास बाद अपने पतियों और माता कुंती के साथ पांचाल देश से विदा हुई थी।

पिताश्री ने यथेष्ट धन सम्पत्ति के साथ मुझे विदा किया और मैंने भी मुक्ति की साँस ली। पितृ गृह में मैं पाँच पतियों की भोग्या बनकर आकंठ हीन भावना में डूबी रहती थी और मेरे परिवार का सम्मिलित प्रयास और सम्मान भी मुझे ग्लानि से नहीं उबार पाया था; अपनी ही दृष्टि में मैं लज्जित थी। वहाँ से चले जाने पर पल पल सालने वाली ग्लानि से कदाचित् मुक्ति मिल जाये। मुक्ति तो नहीं मिलेगी, किन्तु परिवेश परिवर्तन से उसका कम होना सम्भव है।

हस्तिनापुर के राजभवन में पूरे रीति रिवाज के साथ मेरे वधू-प्रवेश का उत्सव हुआ। मैं युधिष्ठिर के उत्तरीय के साथ अपनी चादर की गाँठ बाँधे, भवन के मुख्य प्रवेश द्वार से अंतःपुर में प्रविष्ट हुई, मंगल गीत गाये गये, आरती उतारी गई और मैंने महारानी गांधारी को प्रणाम किया। भय और चिंता की रेखाएँ उनके मुख पर स्पष्ट दिखाई दे रही थीं, किन्तु उन्होंने धैर्यपूर्वक मुझे हृदय से लगाकर पुत्रवती और सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया। विधि का विधान भी विचित्र है। माता गांधारी को आज मुझे, जो कि उनके पुत्रों के नाश और पुत्रवधुओं को सौभाग्यहीन बनाने के लिये ही उत्पन्न हुई है, पुत्रवती और सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद देना पड़ रहा है।

मेरे साथ साथ द्युम्न भी हस्तिनापुर आये हैं। सखा ने द्युम्न से द्रोणाचार्य के समक्ष भगवान परशुराम द्वारा प्राप्त किए गये ज्ञान को उन्हें प्रदान करने के लिये अनुरोध करने को कहा था। द्युम्न ने हस्तिनापुर में सभी गुरुजनों को प्रणाम किया। द्रोणाचार्य को प्रणाम करते समय द्युम्न कुछ लज्जित थे, किन्तु द्रोणाचार्य ने उन्हें हृदय से लगा लिया और सबको संबोधित करके कहने लगे, यह धृष्टद्युम्न मेरे बाल सखा का पुत्र है... पुत्र, तुम्हें मेरे समक्ष किसी प्रकार से संकोच करने की आवश्यकता नहीं है। द्रोणाचार्य के इस प्रकार के कथन से द्युम्न सहज हो गये। द्रोणाचार्य ने पिताश्री और परिवार के विषय में पूछा। द्युम्न को असमंजस की स्थिति में देखकर

द्रोणाचार्य ने हँसते हुए पूछा “पुत्र, मुझसे कुछ कहना चाहते हो?” तो द्युम्न चौंक गये... क्या द्रोणाचार्य अंतर्धामी भी हैं? द्युम्न ने सखा की ओर देखा। सखा ने संकेत किया और द्युम्न ने हाथ जोड़कर द्रोणाचार्य के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट कर दी।

द्रोणाचार्य हँस पड़े, “अवश्य पुत्र... भगवान परशुराम से प्राप्त ज्ञान मैं तुम्हें अवश्य दूँगा।”

द्युम्न आश्चर्य चकित थे। द्रोणाचार्य जानते थे कि द्युम्न उनकी मृत्यु हैं, किन्तु बड़ी ही सहजता से उन्हें मित्र का पुत्र मानकर ज्ञान प्रदान करने का वचन दे दिया।

द्युम्न ने पुनः निवेदन किया कि, “आप जब आदेश दें, मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत हो जाऊँगा।”

“बताऊँगा पुत्र।” द्रोण, द्युम्न को स्नेह से देखते हुए बोले।

द्युम्न प्रसन्न थे। मैं भी द्युम्न के मुँह से सारा वृत्तान्त सुनकर प्रसन्न हो गयी, कि द्युम्न की चिर संचित अभिलाषा पूर्ण होगी।

मैंने द्युम्न से पूछा कि, आचार्य द्रोण देखने में कैसे लगते हैं? द्युम्न ने बताना आरम्भ किया, मेरे आँखों के सामने अपने पिता की छवि आकार लेने लगी।

मैंने पूछा, “क्या वे पिताश्री जैसे लगते हैं?”

द्युम्न ने कहा, “हाँ, वे देखने में पिताश्री जैसे ही लगते हैं, मानों उनके सहोदर हों।”

महाराज धृतराष्ट्र, पाण्डवों को हृदय से लगाकर पुरानी स्मृतियों का उल्लेख करते हुए विलाप कर रहे थे और आज उन्हें सकुशल देखकर वे प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे। किन्तु मैं देख रही थी उनकी मुख मुद्रा उनकी बाणी का साथ नहीं दे रही थी। वे प्रसन्न दिखाई देने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु सफल नहीं हो पा रहे हैं। मैंने उन्हें प्रणाम किया तो उन्होंने आशीर्वादों की अजस्र झड़ी लगा दी, किन्तु उनकी बाणी में आत्मा नहीं थी। मैं ठगी सी खड़ी उन्हें और उनकी बाणी को देखती सुनती रही। मेरे पति, महाराज के कक्ष में उनके पास ही बैठ गये और मैं उन्हें पुनः प्रणाम करके अंतःपुर में आ गयी।

हमारे आने के साथ ही हस्तिनापुर के राजभवन में एक तनाव भर गया। लगता था कि कुछ अप्रिय घटित होने वाला है और उसके पूर्व की शून्यता चारों ओर व्याप्त है। मेरे देवर क्षण भर के लिये औपचारिकतावश मेरे पास आते, प्रणाम करते और वापस चले जाते। बहुत भी मुझे देखकर प्रसन्न नहीं हुई; कुछ समय औपचारिकता दिखाकर इधर उधर खिसक गई। मुझे लग रहा था कि यहाँ मेरी और पाण्डवों की उपस्थिति लोग सहन नहीं कर पा रहे हैं। माता गांधारी, आँखों पर पट्टी बँधे होने के बाद भी जैसे सब कुछ देख समझ रही थीं और उन्होंने युक्ति से काका विदुर को बुलाकर आदेश दिया कि “विदुर जी! शुभ मुहूर्त है, वधू द्रौपदी को देवर पाण्डुजी के भवन में धार्मिक विधि से प्रवेश कराइये, जिससे ये सभी आजीवन वहाँ सुखपूर्वक रह सकें।”

अभी मुझे हस्तिनापुर के राजभवन में प्रवेश किए दो घड़ी भी नहीं हुआ था। ऐसा सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि जब मैंने अंतःपुर में प्रवेश किया था, तो सारे रीति रिवाज पूरे किए गये थे, अब दूसरी बार यह आडंबर क्यों?

दूसरे दिन स्थिति स्पष्ट हो गयी। पाण्डव परिवार इस हस्तिनापुर में अवांछनीय है। मुझे नहीं ज्ञात कि हस्तिनापुर की राजसभा में क्या हुआ, किन्तु दूसरे दिन ही हस्तिनापुर के राज्य का एक भूखण्ड पाण्डवों को देकर युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कर दिया गया और उसी दिन हम सबको महाराज की आज्ञानुसार नए राज्य की ओर प्रस्थान करना पड़ा।

महाराज धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से कहा था कि, “तुम खाण्डवप्रस्थ को अपनी राजधानी बना

लेना। खाण्डवप्रस्थ वह नगरी है, जो पुरु, नहुष और ययाति जैसे प्रतापी राजाओं की राजधानी रही है; हमारे पूर्वजों की पुरानी राजधानी को पुनः बसाने का यश तुम्हें प्राप्त हो।” इस समय तक खाण्डवप्रस्थ ध्वस्त होकर निर्जन वन बन चुका था।

महाराज धृतराष्ट्र ने उदारता दिखाने का प्रयास किया था कि, “जितने हाथी, घोड़े, रथ और अन्य वस्तुओं की आवश्यकता हो, ले लो; वैसे तुम्हारे श्वसुर कुल से उपहार स्वरूप जो संपत्ति आयी है, वही तुम्हारी आवश्यकता से अधिक है, इनके रखरखाव में भारी व्यय करना पड़ेगा तुम्हें, इसलिये तुम्हारे ऊपर मैं और भार नहीं लादना चाहता हूँ... जब भी कोई आवश्यकता हो, संदेश दे देना, मैं यथाशक्ति सहायता करता रहूँगा।”

मेरे पिता ने मेरे श्वसुर कुल के स्वजनों के लिये उपहार भेजा था, उन उपहारों को महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। माता गांधारी ने मुझे प्रथम मुख दर्शन के समय अपने हाथों से एक जोड़ी कंगन निकालकर मेरे हाथों में पहना दिया था, यह मुझे मेरे श्वसुर कुल से मिलने वाली पहली भेंट थी।

सखा, कांपिल्य नगरी उपहार लेकर आये थे और तभी से हमारे साथ थे और आज हस्तिनापुर से खाण्डवप्रदेश प्रस्थान करते समय भी वे हमारे साथ हैं। सखा के कारण ही पाण्डवों को एक स्वतंत्र प्रदेश मिला... किन्तु वह निर्जन वन प्रदेश है, भूमि भी अपेक्षाकृत कठोर और कम उपजाऊ है और वर्षा का भी अनुपात कम है। मैंने मन में सोचा, चाहे जैसा हो, पाण्डव उसे अपने पुरुषार्थ से सँवार लेंगे... कम से कम हस्तिनापुर में प्राणों के संकट के साथ तो नहीं जीना पड़ेगा।

हमारे प्रस्थान के समय आचार्य द्रोण ने द्युम्न को अपने पास रोक लिया। द्युम्न ने पिताश्री को संदेश भेज दिया और द्रोणाचार्य के संरक्षण में अस्त्र-शस्त्रों के संचालन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हस्तिनापुर में ही रुक गये।

लम्बी यात्रा के बाद हम सब खाण्डवप्रस्थ पहुँचे। सुदृढ़ विशाल परिसर के भीतर एक भवन था सुना था। कि पिताश्री महाराज पाण्डु यहाँ मृगया के लिये आते थे और उन्होंने ही यहाँ अपनी रुचि के अनुसार इस भवन और परिसर का निर्माण कराया था। उनकी मृत्यु के बाद यह उपेक्षित पड़ा था और आज वही भवन हमारा निवास बना। भवन छोटा किन्तु सुन्दर था।

सारा परिसर साफ किया गया। भवन की मरम्मत व रंगाई पुताई की जाने लगी। कुछ दिनों तक हम लोगों ने शिविरों में निवास किया। नए कूप खोदे गये, पुराने की सफाई की गयी और परिसर के बाहर का भूभाग साफ किया जाने लगा। सैनिक, वन काटकर भूमि को कृषि योग्य बनाने लगे, पोखरों, झीलों को भी साफ किया गया। वर्षा ऋतु तक विशाल भूभाग कृषि योग्य तैयार हो गया। धीरे धीरे सैनिकों, सेवकों और पशुओं के रहने की व्यवस्था हो गयी। अब आस पास के राज्यों से व्यापारी एवं कलाकार आकर आश्रय लेने लगे और हस्तिनापुर से भी बहुत से निवासी, व्यापारी महाराज युधिष्ठिर के पास बसने के लिये अनुमति माँगने आने लगे। वनों में निवास करने वाले वनवासियों को भी प्रशिक्षित किया जाने लगा, जिससे कि वे भी मुख्य धारा से जुड़ सकें।

रख रखाव के अभाव में उपेक्षित सा दिखने वाला भवन और परिसर कुछ दिनों में ही सज सँवर गया। पिताश्री एवं सखा ने उपहार में सभी आवश्यक वस्तुएँ दी थीं। देखते देखते सब कुछ व्यवस्थित हो गया और कुछ ही दिनों में ऐसा लगने लगा कि जैसे हम लोग यहाँ वर्षों से रह रहे हैं।

सारा दायित्व सखा ने ही उठा रखा था। निवास के लिये वह स्थान छोटा था, इस कारण निर्णय लिया गया कि भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक बड़े परिसर का निर्माण किया जाये, जिससे कि भविष्य में सुविधानुसार निवास किया जा सके। युधिष्ठिर की इच्छा थी कि भवन की रूपरेखा हस्तिनापुर के राजभवन जैसी हो। युधिष्ठिर की इच्छा का सबने स्वागत किया। युधिष्ठिर, हस्तिनापुर के युवराज पद के अधिकारी थे और उनके मन में बाल्यकाल से ही हस्तिनापुर के महाराज और राजभवन का स्वामी होने की इच्छा बसी हुई थी, इसलिये आज भवन की रूप रेखा के चयन के समय वह प्रकट हो गयी। सखा ने विख्यात और कुशल शिल्पियों को बुलाया था। भवन का निर्माण प्रारम्भ हो गया। जीर्ण भग्न खाण्डवप्रस्थ धीरे धीरे पाण्डवों की समृद्ध राजधानी में परिवर्तित होने लगा।

* * *

राजप्रासाद की नींव तो भर गयी, पर मेरे हृदय में मेरी गृहस्थी की कोई भूमि नहीं थी, जहाँ मैं नींव खोदकर पति की इच्छाओं की एक एक ईंट चुनती, विश्वास के गारे मिट्टी से उसे पक्का करती और प्रेम की छाजन डालकर उसके भीतर स्वामिनी बनकर रहती। यहाँ तो अधिकार जताने के लिये पाँच पाँच पति हैं... मैं आठों प्रहर सबकी इच्छाओं पर फिरकी की भाँति घूमती रहती हूँ, जिससे किसी के प्रति सेवा में कोई त्रुटि न रह जाये, किसी की उपेक्षा न हो जाये।

मैं सहज नहीं रह पाती हूँ। मैं मानवी भी नहीं बन पायी हूँ; मैं आज तक वस्तु ही रह गयी हूँ। थक गयी हूँ, अब यह भूमिका मैं नहीं निभा पा रही हूँ। मैं नहीं प्रसन्न रह पाती सबको और नहीं कर पा रही हूँ सबकी सेवा... मैं यंत्र नहीं बन पा रही हूँ।

मैंने बहुत प्रयास किया कि सफलतापूर्वक अपनी भूमिका निभाती रहूँ और किसी को किसी प्रकार से उलाहना का अवसर न दूँ, किन्तु मुझे लगता है सभी मुझसे असंतुष्ट हैं, मैं किसी को भी संतुष्ट नहीं कर पा रही हूँ। सबको लगता है कि मैं उनकी उपेक्षा करके अन्य को अधिक महत्व दे रही हूँ। तन मन दोनों थक कर चूर चूर हो जाते हैं। तन तो केवल थकता है, पर मन का चूर चूर होकर बिखर जाना किसी को भी नहीं दिखाई देता है। मुझे सब के मुख मण्डल पर असंतोष की रेखाएँ दिखाई देती हैं... यह असंतोष कुछ क्षणों या घड़ी के लिये नहीं होता है, वह धीरे धीरे सब के मुख पर स्थायी भाव की तरह बस गया है। अब मेरी सेवा के प्रति मौन उपेक्षा दिखाकर हर व्यक्ति मुझे आहत करने लगा है।

विधाता ने क्यों मुझ पर यह गुरुतर भार डाला है। सामान्य स्त्री तो अलग अलग समय में अलग अलग भूमिकाएँ निभाती है, किन्तु मुझे तो एक ही समय में एक ही साथ पाँचों पतियों के लिये अलग अलग भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। युधिष्ठिर को चौपड़ खेलने के लिये, तो भीम को व्यायाम के उपरान्त अल्पाहार के समय, अर्जुन को अभ्यास की समाप्ति पर विश्राम के समय वार्तालाप के लिये, नकुल उसी समय मुझे अश्वारोहण सिखाना चाहते हैं और सहदेव के ज्ञान का श्रोता बनने के लिये मेरा एकाग्र भाव से उनके साथ रहना आवश्यक है। मैं विदुषी हूँ, ऐसा सहदेव ने सुना हुआ है, अतः प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक प्रश्न पर मेरी परीक्षा भी आवश्यक है। दोपहर और रात्रि के भोजनोपरान्त मेरा साथ सबको सम्पूर्ण रूप से पूर्ण काल के लिये आवश्यक है... यदि मैं सामंजस्य बिठाने का प्रयास करती हूँ, तो प्रत्येक व्यक्ति मेरी निष्ठा पर मौन प्रश्न-चिह्न लगाता है; यदि मैं कुछ कहने का प्रयास करती हूँ तो प्रत्युत्तर में एकाध व्यंग्य बाण मुझे आहत कर जाते हैं। अब मैं मौन रह कर सब कुछ सहने का अभ्यास कर रही हूँ।

मैं सधी हुई नटनी की भाँति, जो बाँस के सहारे दस हाथ की रस्सी पर चलती है, जिसे ढोल के थाप के अतिरिक्त कुछ भी सुनाई नहीं देता और वह रस्सी के एक छोर से दूसरे छोर तक भाँति भाँति के करतब दिखाते हुए उसे पार करती है... जरा भी ध्यान भंग हुआ कि,... मैं भी नटनी बन गयी हूँ; विधाता की थाप और भाग्य की रस्सी पर अनवरत चल रही हूँ। नटनी तो बचपन से इसका अभ्यास करती है और दस हाथ की रस्सी पर चलकर उसका कार्यक्रम पूरा हो जाता है, किन्तु मेरी रस्सी कभी समाप्त नहीं होती और मैं आघातों के उपकरणों के साथ भाँति भाँति के करतब करती रहती हूँ।

माता कुंती बहुत कम बोलती हैं। उनका मौन और एकान्त मुझे अधिक भयभीत करता है। यदि वह सामान्य सदस्य की भाँति मुझसे घुल-मिलकर रहतीं, मुझसे बातें करतीं- मेरे दुःख-सुख पर दृष्टि रखतीं, तो संभवतः मैं इतने तनाव में नहीं रहती। माता कुंती ने मुझे अपने पाँच पुत्रों को सौंप तो दिया, किन्तु मैं सबके साथ कैसे सामंजस्य बिठाऊँ, इस विषय में उन्होंने कभी कोई निर्देश नहीं दिया। मैं अपनी समस्याओं के साथ अकेले ही डूबती उतराती हूँ। मैं चाहती हूँ कि माता ऐसी व्यवस्था कर दें, जिसपर मैं और मेरे पति चलें; किन्तु माँ ने तो जैसे पुत्रों के विवाह के बाद संन्यास ले लिया है... सब के प्रति उदासीन किन्तु यह उदासीनता अचानक क्यों उत्पन्न हो गयी? विवाह से पूर्व प्रत्यक्ष रूप से जितना हठ युधिष्ठिर का था, उतना ही परोक्ष रूप से माता कुन्ती का भी था। तो क्या माता कुंती का इतना ही अभीष्ट था, कि मैं उनके पाँचों पुत्रों की पत्नी बनूँ? इसके बाद उन्हें मुझसे कुछ भी लेना देना नहीं है?

माता कुंती मुझे पांचाली कहकर संबोधित करती हैं। मुझे उनका पांचाली कहकर संबोधित करना ऐसा लगता है, मानों मैं एक क्षण के लिये भी यह न भूलूँ कि मैं पाँचों की पत्नी हूँ और उन्होंने ही मुझे पाँचों को सौंपा है। मेरे नाम में मेरा जीवन भी व्यंजित होता है। पांचाल की राजपुत्री और पाँच पतियों वाली, दोनों संबोधन सदैव साथ ही रहते हैं।

जीवन के प्रारम्भ में पांचाली ने मुझे एक परिचय, गरिमा और एक परिवेश दिया था; एक विशाल भूभाग की महिमामयी राजकन्या के भाव से विभूषित किया था। पांचाली शब्द सुनते ही मेरे समक्ष पांचाल देश की सभी दिशाएँ पूरे विस्तार के साथ खुल जाती थीं। विशाल समृद्ध भूभाग, बहने वाली पयस्वनी गंगा और मैं इस विशाल साम्राज्य के राजा की पुत्री। केवल पुत्री ही नहीं, विशिष्ट पुत्री... सारे पांचाल की पुत्री। मानों मैं पांचाल की गोद में बैठी हूँ और जिस ओर भी दृष्टि घुमाती हूँ, सब कुछ मेरा अपना है... पांचाल्य का सारा स्नेह मेरा, सारी ममता मेरी, सारा वैभव मेरा, सारी प्रकृति मेरी और सबमें मैं; कहीं कोई भिन्नता नहीं। हवाएँ मुझे दुलराती रहती थीं, बहने वाली गंगा मेरे जीवन में निरंतरता का आभास कराती थी, नदी के समक्ष तट पर खड़ी मैं जैसे लहरों में मिल जाती थी और उनके साथ लहराती न जाने कहाँ कहाँ तक चली जाती थी... कूकने वाली कोयल के साथ साथ मेरा मन भी कूकता रहता था, उगते सूरज के साथ साथ मेरा तन मन निखरने लगता था और चंद्रमा की चाँदनी में शीतल और शांत होकर भावी जीवन की सुखद कल्पनाओं में खो जाती थी... किन्तु दूसरा अर्थ! सारे विश्व के व्यंग्य, कलुषता, अपवाद और उपहास से भरा हुआ पांचाली... पाँच पतियों वाली... और विडंबना यह कि मुझे सती की महिमा से मंडित कर दिया गया है। जनसमुदाय में व्यंग्य विद्रुप की साक्षात् मूर्ति... सती पांचाली?

जन मानस में स्त्री की रूपरेखा सीता सावित्री जैसी होती है; उनके आचरण का अनुकरण ही

सती नारियों का आचरण माना जाता है और परिवार में बालिकाओं को उनके जैसी बनने की शिक्षा और आशीर्वाद दिया जाता है किन्तु मेरे ऊपर तो विचित्र भूमिका थोप दी गयी है, कि मन कर्म और वचन से तुम पाँच पाँच पुरुषों की भोग्या बनी रहो और साथ ही साथ यह विशेषण कि तुम 'सती' हो।

सतीत्व तो अपने मन की अनुभूति है; मैं उससे हीन हूँ या उससे मण्डित और उससे उपजी मेरी कुंठा है या मेरा आत्म बल, यह तो मेरा अंतर्मन ही जानता है; किसी अन्य की इच्छा और कुछ लोगों की सम्मति उसका निर्धारण नहीं कर सकती।

मेरे सभी पति मुझे अलग अलग नामों से पुकारते हैं, मानों सभी ने मुझमें से अपना अपना हिस्सा ले लिया है। युधिष्ठिर मुझे द्रौपदी कह कर बुलाते हैं, तो मुझे उसमें एक छिपा व्यंग्य सुनाई देता है, जैसे कि वह मुझे यह बताना चाह रहे हों कि उन्होंने मुझे मेरे पिता द्रुपद को अपने 'धर्म' से परास्त करके प्राप्त किया है; भीम मुझे श्यामा कहते हैं, मानों भीम के गौर वर्ण के आगे मेरा श्याम वर्ण तुच्छ है।

अर्जुन मुझे पाञ्चाली कहकर बुलाते हैं, तो लगता है उनके संबोधन में कोई पीड़ा है... अपने धर्म से विमुख होने, भाई के अधर्म को मौन होकर सहन करने और अपनी आँखों के सामने स्वयंवर में धर्म पूर्वक प्राप्त पत्नी को सबकी भोग्या बना देने का। अर्जुन का संबोधन मुझे पश्चात्ताप करता हुआ सा लगता है... पता नहीं यह सत्य है या केवल मेरा भ्रम। इतना कुछ घटित हो जाने पर भी मैं अर्जुन को दोषी नहीं मानती। मेरा हृदय उन्हें दोष नहीं देता, किन्तु मस्तिष्क तत्काल मन पर प्रहार करता है कि यदि अर्जुन ने अपने धर्म का पालन किया होता, तो आज मेरी यह गति नहीं होती। पर मैं अपने मन का क्या करूँ, जिसने प्रेम के आगे उनके सारे दोषों को नगण्य मान लिया है। मैं अर्जुन से बहुत प्रेम करती हूँ, कदाचित इसी कारण इतना बड़ा दोष मुझे अर्जुन का नहीं लगता। दोषी युधिष्ठिर होते हैं, माता कुंती होती हैं और उसके बाद विधाता होता है; किन्तु अर्जुन नहीं... कदाचित यही प्रेम होता है।

नकुल और सहदेव मुझे याज्ञसेनी कहते हैं... मुझे कृष्णा कोई नहीं कहता है; अच्छा है, सखा के नाम का सम्मान रहता है। यदि कहीं कृष्णा के साथ किसी व्यंग्य उलाहना का आभास होता, तो मुझे बहुत दुःख होता... शायद क्रोध भी आता। किन्तु इस कुल में मेरा मूल नाम मेरे पास केवल सखा के लिये सुरक्षित है, यह अनुभूति मुझे सुखद लगती है।

सखा जितने समय साथ रहते हैं, उतने समय के लिये मैं तनाव मुक्त हो जाती हूँ। सावन भादों का महीना है... गर्मी उमस और वर्षा, इनका क्रम चलता ही रहता है। मैं सखा और पार्थ के साथ बगीचे में घूम रही थी कि न जाने कहाँ से अचानक बादल बरसने लगे। मैं वर्षा से बचने के लिये भीतर भागी। सखा ने अपना पीताम्बर मुझ पर डाल दिया और स्वयं उत्तरीय विहीन हो गये। भीतर तक आते आते उत्तरीय पूरी तरह से भीग गया। सखा ने कहा, "भीग गयी हो, अच्छी तरह से पोंछ लो नहीं तो अस्वस्थ हो जाओगी।" मैं हँस पड़ी। सच, आज मैं फिर से भीग गयी। पीताम्बर से छन कर पानी के साथ साथ बहुत कुछ मेरे भीतर उतरता जा रहा था, जो मेरे अंतर्मन तक को भिगो रहा था।

आज मुझे ये क्या हो गया है? पिछले आठ महीनों से मेरा जीवन गीली मिट्टी की तरह अदृश्य चाक पर चढ़ा है और मैं केवल गोल-गोल घूम रही हूँ। पाँच जोड़े हाथ अपने अपने ढंग से आकार गढ़ते और मिटाते रहते हैं। मैं भूल गयी थी कि मैं मानवी हूँ, मैं गीली मिट्टी हो गयी थी, जिसे पाँच

जोड़े हाथ। पर आज सखा के शरीर की ऊष्मा से भरा उनका पीत उत्तरीय अपने गुनगुने स्पर्श से मुझे एक बार फिर से जीवित कर गया और मैं आज उस आकर्षण का अनुभव कर रही हूँ, मैं फिर से उन पलों को जीने लगी हूँ। वर्षा के बूँदों के साथ बहुत कुछ छन कर मेरे मन को भिगो गया है और मैं भीगी ही रहना चाहती हूँ। जी मैं आ रहा है कि सखा से पूछूँ कि, कहाँ कहाँ पोंछूँ, भीतर तक तो भीग गयी हूँ... किन्तु प्रत्यक्ष हँसते हुए बोली, “अस्वस्थ हो गयी तो आपको कष्ट नहीं दूँगी।”

“इस तरह तो तुम मुझे और भी कष्ट दोगी।”

“वह कैसे?” मैंने आश्चर्य से पूछा।

“जानती हो, अस्वस्थ होने का आनंद ही तब है, जब कोई अपना सेवा करने वाला हो और तुम यदि मुझे इससे वंचित रखोगी, तो मुझे अपार कष्ट होगा।” सखा जोर से हँस पड़े।

सखा का उतर सुनकर मेरी इच्छा होने लगी कि मैं अस्वस्थ हो जाऊँ... मेरा शरीर ज्वर से तपने लगे मैं बेसुध सी शय्या पर पड़ी रहूँ और सखा मेरे पास बैठे रहें।

* * *

राजभवन की दीवारें उठने लगीं। मेरा मन भी पाँच प्राचीरों में बंदी होने लगा। मैंने अब स्वयं को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है। मन में प्रश्न उठने बहुत कम हो गये हैं, या यों कहें कि मैंने ही प्रश्न उठाना छोड़ दिया, क्योंकि प्रश्न मुझे मथते थे, झकझोरते थे, विद्रोह के लिये उकसाते थे और अन्त में मेरे आत्मबल को तोड़कर मुझे हताश करते थे... इसी से मैंने प्रश्न और तर्क करना छोड़ दिया और भाग्य के आगे सिर झुका कर खड़ी हो गयी कि मुझे यही जीवन जीना है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं और न ही इससे मुक्ति है।

युधिष्ठिर ज्येष्ठ भ्राता तो थे ही, राज्याभिषेक होने के बाद अब वह खाण्डवप्रस्थ के महाराज भी बन गये थे। ज्येष्ठ भ्राता के स्वर में अब महाराज भी बोलने लगे। अब वह सबके स्वामी थे और शेष सब उनके आधीन। मुझे उनका यह परिवर्तन आश्चर्यचकित कर रहा था। उनमें यह परिवर्तन मुझ पर अपने अधिकार को लेकर भी था। यदि भीम बुलाते, तो मैं उनकी आज्ञा के बिना वहाँ से उठ नहीं सकती थी। मुझे स्पष्ट लगने लगा है कि अब महाराज ‘भिक्षा’ को बाँटकर उपभोग करने की माता की आज्ञा को भूलते जा रहे हैं। माता का आदेश और उनके आदेश के प्रति धर्मनिष्ठा आपद्धर्म की भाँति समाप्त हो गयी है। अब जो कुछ भी सबको प्राप्त होगा, वह महाराज की इच्छा से ही होगा और उनकी इच्छा होती थी कि मैं अपना सब कुछ उन पर उड़ेल दूँ। मेरे पास कुछ भी शेष न रहे, जिसे कक्ष से बाहर जाते समय मैं बचाकर न ले जा सकूँ।

भीम मुखर हैं। जब मैं महाराज युधिष्ठिर के पास रहती हूँ, तो कुछ समय के पश्चात ही उनके संदेश पहुँचने लगते हैं। भीम के लिये युधिष्ठिर सदैव एक बड़े भाई ही रहे। महाराज के पद पर भीम के हृदय ने उन्हें कभी आसीन नहीं किया। जितना सम्मान और उनके आदेशों का अनुसरण वे पहले करते थे उतना ही अब भी करते हैं... न रंच मात्र कम और न ही अधिका। मेरा मन करता था कि अर्जुन भी मुझे संदेश देकर अपने पास बुलायें, किन्तु अर्जुन ने कभी भी मुझे संदेश देकर नहीं बुलाया। मैं समझ नहीं पाती कि अर्जुन संकोची हैं या युधिष्ठिर की लिप्सा के कारण उन्होंने मुझ पर अपना अधिकार छोड़ दिया है।

सबकी सेवा करते हुए भी मेरा मन सदैव अर्जुन के पास ही रहता है। क्यों न रहे? वही मेरे पति हैं; शेष चार के साथ जो जीवन मैं निर्वाह कर रही हूँ। वह किसी का भ्रम और मेरा दुर्भाग्य है। मैं

किसी प्रकार से समय निकालकर अर्जुन के पास पहुँचती हूँ तो मुझे आघात ही मिलता। मुझे देखते ही अर्जुन व्यस्त होने का उपक्रम करने लगते हैं और जितने समय तक मैं वहाँ रहती हूँ, लगता है कि वे केवल औपचारिकता का निर्वाह कर रहे हैं।

सबके हिस्से से मैं थोड़ा-थोड़ा बचा कर पार्थ के लिये रखती हूँ। मेरा जी चाहता है कि मैं एक दिन जी भर कर पार्थ के साथ रहूँ। नियति ने भले ही मुझे पाँच पुरुषों की भोग्या बना दिया है, किन्तु मेरे मन ने कभी भी पूरी तरह से चारों को पति नहीं माना था। मेरे जीवन में एक भी क्षण ऐसा नहीं आया कि जहाँ मुझे अनुभव हुआ हो कि मैं इन सबकी पत्नी हूँ... मैं तो सदैव इनकी दासी और भोग्या ही रही।

हृदय में एक का ही स्थान होता है और वहाँ केवल अर्जुन ही हैं। अर्जुन का साथ मेरे लिये सर्वोपरि है। मैं बिना किसी संकोच के कह सकती हूँ कि उसकी समानता संसार की कोई भी वस्तु नहीं कर सकती है। मैं आशावादी हूँ और इसी आशा में जी रही हूँ कि एक दिन मैं केवल अर्जुन की हो जाऊँगी। विवेक, चाबुक मार कर चारों के प्रति कर्तव्य तो करवा लेता है, किन्तु मन पर तो किसी का भी वश नहीं है। जब जब मैं मन से लड़ने का प्रयास करती हूँ, तो तर्क-वितर्क से केवल घृणा पैदा होती है और वह घृणा मुझे विद्रोही और क्रूर बनाने लगती है, तो मैं घबराकर सोचना बंद कर देती हूँ।

मैं महाराज युधिष्ठिर के साथ सहज नहीं हो पा रही हूँ; कदाचित् आयु का अत्यधिक अन्तर मुझे प्रयास करने पर भी उनके साथ सहज ढंग से नहीं रहने देता है। महाराज युधिष्ठिर मुझे एक परिपक्व विदुषी के रूप में देखना चाहते हैं, जो धर्म, तत्त्व, मीमांसा के ज्ञान में पारंगत हो और उतनी ही निपुणता से चौपड़ के पाँसे भी फेंक सके... साथ ही मैं सर्वप्रथम उनकी परिणीता बनी थी, इस कारण शारीरिक और मानसिक रूप से उनके प्रति अधिक समर्पित रहूँ... शेष चार के साथ तो मुझे वचन का निर्वाह मात्र करना है। मैं चौपड़ के पाँसे नहीं फेंक पाती हूँ। महाराज युधिष्ठिर मुझे बिठाकर अपने कौशल का प्रदर्शन करते, पासे फेंकते और वांछित अंक आने पर बहुत प्रसन्न होते हैं और साथ ही मन में एक धारणा पालते, जो कि प्रतिदिन बलवती होती जा रही है कि वह सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी हैं। मुझे इनके भ्रम पर क्रोध भी आता था और आनन्द भी।

खाण्डवप्रस्थ के महाराज युधिष्ठिर का सम्पूर्ण राज्य चौपड़ के वस्त्र में सिमट गया है। अब राजनैतिक चालों के स्थान पर चौपड़ के पासे फेंके जाते हैं, सैन्य अभ्यास के स्थान पर मनोवांछित ढंग से पाँसों को चलाने का अभ्यास कराया जाता है। दरबार में महाराज बहुत कम समय के लिये ही उपस्थित होते और औपचारिकताओं की पूर्ति करने के पश्चात अपने विशेष कक्ष में निपुण खिलाड़ियों के साथ चौपड़ खेलते हैं। हर विजय उन्हें और अधिक उन्मत्त करती और वे अधिक धन राशि दाँव पर लगाते हैं। अन्य खिलाड़ियों को भी खेलने के लिये धन राजकोष से ही मिलता है और महाराज स्वयं जीत जाने पर वह सारा धन, साथी खिलाड़ियों में पुरस्कार के रूप में बाँट देते हैं। चतुर खिलाड़ी हारते और केवल हारने के लिये ही खेलते थे, कुशल से कुशल खिलाड़ी, अपने हारने और महाराज को जिताने में ही अपना कौशल दिखाते थे।

यदि कभी महाराज अस्वस्थ होते या उनकी बाहर जाने की इच्छा नहीं होती, तो शर्या पर ही चौपड़ का वस्त्र बिछ जाता और पूरे समय मुझे उनके साथ खेलना पड़ता। महाराज पासा फेंकने का गुर बताते और मैं जान-बूझकर नहीं सीखती। महाराज झुँझलाते; मेरी सीखने की क्षमता पर प्रश्न लगाते, किन्तु मुझे संतोष मिलता था। विचित्र स्थिति तो तब होती है जब महाराज को निद्रा

नहीं आती है और वे मुझे निद्रा से जगाकर चौपड़ खेलने के लिये कहते। तब मेरे जी में आता कि मैं चौपड़ और पासे उठाकर कहीं फेंक आऊँ, किन्तु कभी फेंक नहीं पायी। मेरी उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि अब वे मुझे खेलने के लिये विवश नहीं करते। मैंने भी मुक्ति की साँस ली... किन्तु महाराज थोड़ी थोड़ी देर में दासियों से मेरे विषय में अवश्य पूछते रहते हैं।

नकुल, सहदेव, चतुर मंत्रियों और सभासदों के कारण राज्य की व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही है। धन का संचय हो रहा है, सेना, समृद्धि और यश का विस्तार हो रहा है। किन्तु इस में महाराज युधिष्ठिर का कितना योगदान है, यह उन्हें स्वयं भी नहीं ज्ञात है।

भीम और अर्जुन की शक्ति सीमाओं की रक्षा करती है, नकुल की व्यवस्था और सहदेव की बुद्धि राज्य का संचालन करती है और सब के ऊपर सखा की छत्रछाया, जिससे सब कुछ कुशलता से चल रहा है।

सहदेव बहुत देर से निवेदन कर रहे हैं, किन्तु महाराज अनमने से बैठे हुए हैं। पता नहीं उन्हें सहदेव की बातें स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आ रही थी या वह उन्हें समझाना नहीं चाह रहे थे। सामने चौपड़ बिछी थी और वे पाँसों को दोनों हथेलियों में मसल रहे थे। मैं सहदेव का स्वर सुनकर टहलती हुई कक्ष में चली आयी। सहदेव स्पष्ट निर्णय चाहते हैं, किन्तु महाराज की बुद्धि स्पष्ट निर्णय नहीं ले पा रही थी और न ही वे निर्णय लेने का अधिकार सहदेव को दे रहे थे। सहदेव ने अंतिम बार पूछा, “महाराज, आपका क्या निर्णय है?” “निर्णय मेरे पाँसे करेंगे।” कहते हुए उन्होंने हाथ में मसलते, पाँसों को चौपड़ पर फेंक दिया। सहदेव उठ कर प्रणाम करके कक्ष के बाहर चले गये।

मुझे भी महाराज पर क्रोध आने लगा। जब राजनैतिक निर्णय भी पाँसे फेंक कर लिये जा रहे हैं तो राज्य का भविष्य क्या होगा। पराकाष्ठा है अकर्मण्यता की। इतने दिनों में मैं युधिष्ठिर को बहुत कुछ समझ गयी थी। उनकी बुद्धि राजनीति की बारीकियों को नहीं समझ पाती है। मैंने उन्हें कई बार समझाने का भी प्रयास किया, कि वे राजनैतिक निर्णयों को सहदेव व मंत्रिमण्डल पर छोड़ दें, क्योंकि जब सहदेव राज्य की पूरी व्यवस्था देख रहे हैं और उन्हें संबंधित विषय का पूरा ज्ञान है, इसलिए वे उचित निर्णय ले सकते हैं। आप जब पूरी व्यवस्था को नहीं देखते हैं तो ऐसी स्थिति में किसी भी निर्णय का दूरगामी प्रभाव विपरीत पड़ सकता है। किन्तु महाराज अपना यह अधिकार किसी को भी हस्तांतरित करना नहीं चाहते थे। उन्हें लगता था कि इस प्रकार से उनका महत्व व प्रभाव कम हो जायेगा। किन्तु मैं जानती थी सहदेव जैसे बुद्धिमान और शीलवान व्यक्ति के हाथों में महाराज की प्रतिष्ठा व प्रभाव सदैव सुरक्षित रहेगा। मुझे लगता है कि राज्य की कार्यकुशलता में यदि कोई बाधा है तो वह स्वयं महाराज युधिष्ठिर ही हैं। यदि वे केवल चौपड़ खेलें, विद्वानों से ज्ञान धर्म तर्क ईश्वर से संबंधित चर्चाएँ करें, नृत्य गीत से अपना मनोरंजन करते रहें, तो राज्य के कार्य अधिक सुचारु रूप से संचालित होंगे। महाराज युधिष्ठिर की बुद्धि व स्वभाव को देखकर मैंने कुछ दिनों पश्चात उन्हें समझाना छोड़ दिया।

महाराज हम सभी लोगों से न जाने क्या चाहते हैं। भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के एक गुण से यदि वे संतुष्ट होते हैं तो चार से असंतुष्ट, इसलिये अति आवश्यक होने पर ही चारों भाई इनसे वार्तालाप करते हैं, अन्यथा सबका संबंध औपचारिक ही रह गया है। मुझसे जितना हो पाता है कर देती हूँ। पहले मैं विशेष कर युधिष्ठिर को संतुष्ट करने की चेष्टा करती थी, क्योंकि उनकी प्रतिक्रिया मुझे अधिक आहत करती थी। उनकी सेवा में होने वाली मेरी सामान्य सी त्रुटि भी उन्हें

असंतुष्ट कर देती थी और मैं युधिष्ठिर की दिन भर की छोटी मोटी टीका टिप्पणियों पर दुःखी होती थी; किन्तु मैंने अब समझ लिया कि युधिष्ठिर का स्वभाव किसी भी प्रकार से संतुष्ट होने वाला नहीं है, इसलिये मैंने दुःखी होना छोड़ दिया। इनका विवेक और चरित्र तो मैं विवाह के पूर्व ही देख चुकी थी।

युधिष्ठिर भले ही बुद्धि में भीम से बीस हों, किन्तु उनकी ईश्या और हठ की कोई तुलना नहीं हो सकती है। महाराज होने के कारण सर्वश्रेष्ठ उन्हें ही प्राप्त है और उनकी ईश्यालु प्रवृत्ति के कारण शेष चारों सदैव सचेत भी रहते हैं। मुझे लगता है कि उनके इसी हठी और ईश्यालु स्वभाव के कारण ही मुझे भिक्षा में परिवर्तित करने का नाटक किया गया था।

माता कुंती से ही उनका वार्तालाप होता है, उन्हीं के आदेशों का वे अनुसरण करते हैं और माता भी शेष चारों को उनको सम्मान देने व उनकी आज्ञा का अनुसरण करने के लिये बाध्य किए रहती हैं। एक को साध कर बड़े कौशल से उन्होंने एक ही सूत्र में पाँचों को बाँध रखा है। हाँ, मैं सूत्र ही तो हूँ, पाँचों को एक में बाँधने वाली, जिसके दोनों किनारे माता कुंती के दोनों हाथों में हैं।

मैं भली भाँति समझती हूँ कि माता के इसी सुदृढ़ अनुशासन के कारण ही वे वरणावत के लाक्षागृह से बचने के पश्चात जीवित बचे थे। वर्षों तक छद्म वेश में भटकते रहे, किन्तु साथ साथ ही रहे। वह माता कुंती ही थीं जो इन्हें विभिन्न स्वभाव व क्षमताओं के होते हुए भी एक साथ अनुशासन में बाँधे रहीं। अर्जुन के, लक्ष्य भेद के पश्चात मेरे घर पहुँचने के दो घड़ी पूर्व ही माँ ने युधिष्ठिर नकुल और सहदेव के साथ मिलकर मेरे भविष्य का ताना-बाना बुन डाला और यह माँ का अनुशासन ही था कि पार्थ ने भी मुँह नहीं खोला।

कुछ समय पश्चात मैंने पार्थ से इस संदर्भ में पूछा था तो उनका उत्तर था, “पांच्वाली, भाई की जैसी भ्रामक उक्ति थी, माँ का वैसा ही प्रत्युत्तर; उसके पश्चात एक पुत्र के रूप में, एक भ्राता के रूप में मुझे धर्मतः वही करना था।”

एक स्त्री के लिये यह बंधन टूट जाये, माता को यह स्वीकार नहीं रहा होगा। कोई भी माँ अपने संतानों के आपसी दृढ़ संबंधों को टूटने नहीं देना चाहेगी... किन्तु क्या हर माँ ऐसा निर्णय ले पायेगी कि एक की पत्नी सभी की पत्नी बने, क्योंकि भाइयों में आपस में विवाद न हो? कदापि नहीं।

पहले माता केवल पाँच पुत्रों को ही अनुशासित रखती थीं, किन्तु मेरे विवाह के पश्चात छह प्राणियों के जीवन का सूत्र माता के हाथों में है, वे जैसा चाहती हैं वैसा ही होता है।

* * *

जीवन में थोड़ी स्थिरता आ गयी है। नारद मुनि ने प्रत्येक के साथ एक एक वर्ष साथ रहने का नियम बना दिया है, जिससे कि मेरे कारण भाइयों में कोई विवाद न हो। मेरा एक वर्ष का जीवन चक्र युधिष्ठिर के साथ आरम्भ हुआ।

नारद मुनि ने तन की व्यवस्था तो कर दी थी, किन्तु मन की व्यवस्था मैं स्वयं नहीं कर पा रही हूँ। तन युधिष्ठिर के पास है, मन पार्थ में उलझा है। पार्थ अस्वस्थ हैं, उन्हें ताप है और रात्रि के समय तक भी ताप कम नहीं हुआ है। मैं विवश हूँ। माथे पर हाथ रख कर ताप का अनुमान करना तो दूर, मैं पार्थ के कक्ष में भी नहीं जा सकती। व्यवस्था ही ऐसी है कि एक वर्ष के लिये एक की अंकशायिनी बनूँ, तो उस वर्ष पूर्ण रूप से उसी को समर्पित रहूँ। तब उस समय मेरे मन का एक छोटा सा कोना भी किसी अन्य की कामना से न जुड़े, अतीत की स्मृति न आये और भविष्य के

सुख की कल्पना पर नियंत्रण रहे।

युधिष्ठिर केवल महाराज रहे, पति कभी नहीं बन पाये। पता नहीं त्रुटि कहाँ थी... वह असफल रहे या मेरे हृदय ने ही उन्हें पति का स्थान नहीं दिया। मैं उनके सामने सदैव एक वस्तु ही रही, प्रिया नहीं बन पायी, पत्नी कैसे बनती? कर्मकाण्डों में महाराज के पार्श्व में मेरी उपस्थिति मुझे उनकी पत्नी होने का बोध अवश्य कराती थी। आयु का अत्यधिक अंतर शायद समरसता नहीं जगा पाया, अथवा मेरे हृदय के किसी कोने में वह घृणा अभी भी जाग्रत है, जिसे मैंने समाप्त करने का अथक प्रयास किया था।

समय गतिमान है। मैं पिछले छः महीनों से युधिष्ठिर के साथ हूँ। सहसा एक आघात ने मेरे जीवन को मथ कर रख दिया। निर्धन ब्राह्मण के निवेदन पर उसकी गायों की रक्षा के लिये पार्थ, शस्त्र लेने युधिष्ठिर के कक्ष में आये। उस समय मैं युधिष्ठिर के साथ थी। पार्थ ने कक्ष में प्रवेश के लिये कोई आज्ञा नहीं माँगी और न ही प्रवेश के पूर्व कोई संकेत किया। केवल सिर झुकाये आये, शस्त्र उठाया और उसी प्रकार से निकल गये। महाराज ने कुछ नहीं कहा... किसी ने कोई प्रश्न नहीं उठाया, किन्तु पार्थ ने स्वयं को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए बारह वर्षों के वनवास के लिये प्रस्तुत किया। क्योंकि नारद नियम ही ऐसा था।

मेरा हृदय हाहाकार कर उठा। अब तक मैं इस आशा में जी रही थी कि डेढ़ वर्ष बाद ही सही, मैं एक वर्ष तक केवल पार्थ के साथ रहूँगी, तब मैं विधाता से माँ बनने का वरदान माँगूँगी और अर्जुन के अंश को अपने गर्भ में धारण करूँगी। महाराज ने कहा कि बड़े भाई के कक्ष में छोटे भाई के प्रवेश से नियम व धर्म भंग नहीं होता, किन्तु पार्थ ने तो जैसे सब कुछ सोच समझकर ही यह पण उठाया था। कोई सुझाव काम नहीं आया, कोई तर्क प्रभाव नहीं डाल सका और पार्थ ने बारह वर्षों के लिये वनवास की दीक्षा ली।

पार्थ! शस्त्र तो आपके कक्ष में भी थे, औरों के पास भी थे; पर आपने युधिष्ठिर के कक्ष में रखे शस्त्र को ही उठाने का निर्णय क्यों लिया? क्या मुझसे मुक्ति चाहते थे? मुझ पान्चाली से पाँचों में विभक्त पान्चाली, सबकी सम्मिलित पान्चाली, किसी की भी नहीं पान्चाली से? यह टुकड़ों में बँटा पति का अधिकार और टुकड़ों में बँटी पत्नी आपको स्वीकार नहीं थी? इस व्यवस्था में आपका दम घुटता था, इसलिये अवसर ढूँढ़ लिया? सत्य क्या था मैं नहीं जान पायी।

भीमसेन... जैसा शरीर वैसी शक्ति और वैसा ही स्वभाव, हवा के झोंके सा क्रोध उत्पन्न हो जाता था और बादल की गरज बिजली की तड़क के बाद वर्षा जैसे धरती के ताप को शांत कर देती है, वैसे ही भीमसेन का क्रोध गर्जन तर्जन के बाद शांत हो जाता है। हम दोनों के बीच के आयु के अंतर का बोध भीमसेन को सदैव रहा। उनके सामने मैं सदैव छोटी ही रही, जिसके कारण वह मुझे स्नेह देते हैं, मेरी छोटी छोटी भावनाओं का ध्यान रखते हैं और अनजाने में हो जाने वाली त्रुटियों को मात्र इंगित करके भूल जाते हैं। उनका हृदय निश्छल शिशु की भाँति है। क्रोध पर वे नियंत्रण नहीं कर पाते हैं, किन्तु मुझे उन्होंने सदैव अपने क्रोध के भय से मुक्त ही रखा। वे मेरे संरक्षक और पति दोनों ही हैं।

अर्जुन के वनवास के कारण भीमसेन मुझमें अब अधिक भाग चाहते हैं। परिहास में कहते रहते हैं कि “यदि भिक्षा में मेरा भाग आधा होता था तो तुम में क्यों नहीं?” मैं सोचती हूँ कि सच ही तो कहते हैं भीमसेन... यदि भिक्षा के बँटवारे में घर में ऐसा विधान था, तो मैं भीमसेन के हिस्से में आधी क्यों नहीं आयी? पाँचवाँ अंश ही क्यों मिला भीमसेन को?”

महाराज युधिष्ठिर के राज्य की व्यवस्था, नकुल सहदेव की बुद्धि और व्यवस्था पर टिकी है। अर्जुन अब यहाँ नहीं हैं और भीम का प्रत्यक्ष योगदान राज्य की व्यवस्था में नहीं रहता है। वे हाथियों से लड़ते हैं, अपने कौशल से उन्हें भ्रमित करके गिरा देते हैं। एक साथ दस दस गदाधारियों के साथ अभ्यास करते हैं, विशाल शरीर होते हुए भी तीव्र गति से प्रहार करते और सबके थक जाने के बाद भी वे पूरी तरह से स्फूर्ति से भरे रहते हैं।

भीमसेन मेरे सामने अपनी शारीरिक शक्ति का बखान करते रहते हैं कि बड़े बड़े बलशाली योद्धा उनके समक्ष पल भर में धूल चाटते दिखाई देते हैं। मेरे समक्ष उनकी वार्ता और परिहास उनकी शक्ति के चारों ओर ही घूमता रहता है। क्यों होता है पुरुषों को अपनी शक्ति का अहंकार! भीमसेन तो भीम हैं... साधारण पुरुष भी स्त्री के समक्ष... कम से कम अपनी पत्नी के समक्ष शक्तिशाली होता है; उसकी दृष्टि में स्त्री की शक्ति नगण्य होती है।

शारीरिक शक्ति की अभिव्यक्ति सरल है। जिसकी परीक्षा सरल है, उसे विधाता ने पुरुषों को दे दिया और विडंबना यह कि उसे भारी और कठिन कहा गया। किन्तु जन्म लेते ही स्त्री के ऊपर अपने पिता के नाम कुल प्रतिष्ठा का भार लाद दिया जाता है। विवाह के पश्चात वह पति, श्वसुर कुल, समाज, धर्म और लोकाचार का जो भारी बोझ वह वहन करती है, वह किसी को दिखाई नहीं देता है क्योंकि उसका मापदंड नहीं होता है। कितना प्रेम पिता के प्रति है, उसके आधार पर वह उस सीमा तक चुप रहती है, कितना प्रेम पति व उसके परिवार के प्रति है, उस सीमा तक वह सहती है, किस सीमा तक अपनी संतान के लिये त्याग करती है यह किसी पुरुष को कभी दिखाई नहीं देता है। बहुत कठिन है किसी पराये कुल के लोगों को अपना लेना और उसी में अपने को समाहित कर देना। क्या बलशाली से बलशाली पुरुष स्त्री की एक भी भूमिका का चौथाई भाग भी निभा पायेगा?

एक वर्ष की अवधि पूरी होने पर भी वे मुझे अपने पास ही रखना चाहते हैं उनका तर्क है कि आगे लेने वाला नहीं है तो वस्तु पहले व्यक्ति के पास ही रह जायेगी। हाँ वस्तु ही तो हूँ मैं... मेरा उल्लेख सदैव वस्तु के रूप में ही होता है, किन्तु मैं पार्थ के हिस्से की अवधि में एक वर्ष अकेले रहना चाहती हूँ, पार्थ की स्मृति के सहारे उनकी प्रतीक्षा करती हुई... किन्तु इस व्यवस्था में मेरे अकेले रहने का विधान नहीं है और मुझे भीमसेन के बाद नकुल को हस्तांतरित होना पड़ा। अमर्ष से भरे भीमसेन पुनः तीसरे विवाह के लिये उद्यत हो गये।

प्रथम पत्नी हिडिंबा और पुत्र घटोत्कच के लिये राजमाता कुंती ने कभी न तो हृदय के कपाट खोले और न ही राजभवन के कपाटों को खोलने की अनुमति दी। मेरे मन में प्रश्न उठता था कि अब तो जीवन में स्थिरता आ गयी है और माता एक स्त्री होते हुए भी हिडिंबा के मन की पीड़ा को क्यों नहीं समझती हैं।

हिडिंबा ने भीमसेन से क्या पाया! कुछ दिनों का साथ और एक पुत्र... उसके पश्चात तो भीम के लिये उसकी आँखें तरस गयी होंगी? उसके पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का क्या प्रबंध हुआ होगा? उनका एक मात्र संरक्षक भाई भी भीमसेन के हाथों मारा गया था।

मैं क्रमशः छोटी होती जाती हूँ। युधिष्ठिर, भीम और अब क्रमशः नकुल और सहदेव। नकुल और सहदेव के साथ मेरे वय का अंतर सामान्य था। मैं उनके साथ सहज रहती हूँ, साथ ही वहाँ न मुझे युधिष्ठिर के विविध स्वभाव की पीड़ा रहती है, न भीमसेन के क्षणिक क्रोध का भया हाँ, दुःख रहता है तो अर्जुन के दूर होने का जो सदैव मेरे साथ ही रहता है, चाहे मैं युधिष्ठिर की सेवा में रहूँ

या सहदेव की। मेरा तन और मन अलग अलग जीते रहते हैं।

नकुल का सौन्दर्य और अश्व संचालन मुझे मुग्ध करता है। नकुल अपने सौन्दर्य के अनुरूप वस्त्र और आभूषण धारण करने में विशेष रुचि लेते हैं। उनकी आत्म मुग्ध प्रवृत्ति कभी कभी मुझे उबा देती है। मैं उन्हें देखती रहती हूँ... उनका प्रसाधन। वे केश विन्यास में एक एक लट बड़े यत्न से सँवारते हैं... भव्य बहुआयामी दर्पणों के सम्मुख खड़े होकर स्वयं को निहारने में भी उन्हें उतना ही समय लगता है, जितना कि स्वयं को वस्त्राभूषित करने में। कभी कभी मैं हँस देती हूँ कि लोक मानस व्यर्थ में ही स्त्रियों को शृंगार प्रसाधन में अत्यधिक समय लगाने का दोषी ठहरता है; पुरुष भी कम नहीं होते।

नकुल की व्यवस्था करने का कौशल अद्वितीय है। भविष्य में कब किस प्रकार की आवश्यकता की संभावना हो सकती है, उसकी भी पूर्ति की व्यवस्था नकुल की देखभाल में रहती है। सैन्य शक्ति की वृद्धि और विकास हो, राजपरिवार के भोग उपभोग से संबंधित वस्तुएँ, प्रजा की आवश्यकता के लिये अन्न आदि का भंडारण हो या अस्त्र शस्त्र के परिष्कार एवं शोध संबंधी व्यवस्था, सब कुछ नकुल के संरक्षण में व्यवस्थित है। हर ऋतु के आगमन से पूर्व ही उससे संबंधित आवश्यक वस्तुओं का भंडारण, नकुल के संरक्षण में रहता है। सेना के लिये उत्तम कोटि के प्रशिक्षित अश्व, हाथी, आधुनिक अस्त्र शस्त्र व सैनिक... न जाने कहाँ कहाँ से कैसे चुनाव करके वे शक्ति का विस्तार कर रहे हैं।

सुदूर देशों से व्यापारी आते रहते हैं। नकुल मेरे लिये दुर्लभ, रत्नजड़ित आभूषण, अद्भुत वस्त्र, शृंगार प्रसाधन की वस्तुएँ नित्य ही मेरे सम्मुख प्रस्तुत करते रहते हैं।

सहदेव की बौद्धिकता मुझे मुग्ध करती है। सामान्यतः विद्वज्जन एक या दो विषय में निष्णात होते हैं, किन्तु सहदेव से कदाचित ही कोई क्षेत्र अछूता हो... इस कारण मेरा मन बौद्धिक स्तर पर केवल सहदेव के साथ ही जुड़ पाता था। मैं उनके साथ कई विषयों पर चर्चा करती और सुनती थी। सहदेव मेरी प्रखर बुद्धि की सराहना भी करते हैं, शेष के समक्ष तो मेरी बुद्धि उपेक्षा का ही विषय रही है।

सहदेव प्रातःकाल उठकर अध्ययन करते, व्यायाम और अभ्यास करते; पुनः जाने माने विद्वानों के साथ उनकी चर्चा होती रहती है। सहदेव नक्षत्रों का भी अध्ययन करते रहते हैं और ज्योतिषियों के साथ गणना करते निष्कर्ष निकालते रहते हैं।

एक बार सहदेव ने मुझसे कहा, “पान्चाली! जब मैं ग्रहों का अध्ययन करता हूँ तो गुरु के परंपरागत फलों से संतुष्ट नहीं हो पाता हूँ; शुभ ग्रह होते हुए भी इसका परिणाम सुखद नहीं दिखाई देता है। यह ग्रह जहाँ स्थित होता है उस भाव संबंधी कष्ट ही देता है, ऐसा मेरा विचार है।”

मैं स्पष्ट रूप से नहीं समझ पायी और पूछा, ‘कैसे?’

“पितामह के द्वितीय भाव में गुरु हैं; द्वितीय भाव धन और कुटुंब का है, पर उनके पास न अपनी न संपत्ति और न ही कुटुम्ब, जो है वह उन्हें पीड़ा ही दे रहा है।”

“मेरे जन्मोंग के किस भाव में गुरु हैं? “मैंने उत्सुकता से पूछा।

“क्या करोगी जान कर?” सहदेव हँसने लगे। हम लोगों के रहते तुम्हें दुःख कष्ट की परछाई भी नहीं छू सकेगी।”

“फिर भी बताइये न” मेरे स्वर में अनुरोध था।

“छठे भाव में... और छठा भाव रोग, शत्रु, पीड़ा का होता है।”

“अर्थात् मुझे रोग, शत्रु से पीड़ा नहीं होगी?”

“इतना सरल नहीं है; षष्ठस्थ गुरु तुम्हें शत्रुओं से पीड़ा दे सकता है, किन्तु मैं समझ नहीं पाता कि तुम्हारी किससे शत्रुता हो सकती है और हम पाँचों के समक्ष तो इन्द्र भी खड़ा होने का साहस नहीं कर सकते, तो इस पृथ्वी पर किस मृत्युधर्मा प्राणी का साहस होगा जो तुम्हें पीड़ा पहुँचाने का विचार भी मन में ले आये, बस इसी बिन्दु पर विचार करके मैं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता हूँ।”

क्या मेरे भाग्य की भविष्यवाणी से सहदेव अनभिज्ञ हैं! भाग्य किस प्रकार परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उसे भोगने के लिये विवश करता है, यह मैं अपने जीवन में पाँच पुरुषों की पत्नी बनकर भोग रही हूँ। मेरे माथे पर चिंता की रेखाएँ उभर आयीं। मुझे चिंतित देखकर सहदेव ने हँसते हुए मुझे अपने निकट खींच लिया और स्नेह से मेरा सिर सहलाते हुए कहने लगे, “महाराज युधिष्ठिर के बारहवें भाव में गुरु हैं; वह केवल वर्तमान में अपने लिये ही जीते हैं, किन्तु द्वादश भाव का गुरु जीवन के अंत में मोक्ष भी दे देता है... तुम चिंता मुक्त रहो, हम लोग दीर्घायु हैं... तुम हम लोगों से पहले ही पूर्ण आयु भोग कर बैवृंठ जाओगी।” कह कर सहदेव हँस पड़े और मैं उस समय संतुष्ट हो गयी।

* * *

समय अपनी गति से बीत रहा है और समय के साथ साथ मेरे जीवन का चक्र भी क्रम से चारों पतियों की सेवा में घूम रहा है। मैं अपने पतियों के साथ जीते हुए भी नहीं जी पाती हूँ। पार्थ के लिये मेरा जी घुटता है। मैं पूरी छाती भर कर साँस नहीं ले पाती हूँ। मेरी तो हवा ही छिन गयी है पार्थ; मैं तो आपकी छोड़ी हुई साँसों से साँस लेती थी। आपके जाने के बाद मेरी साँसें भी चली गयी हैं। आपको विश्वास नहीं होगा किन्तु यह सत्य है। मेरा हृदय चाहता है कि आप मेरी पीड़ा और यातना को जानें, जिसे मैं आपके बिना भोग रही हूँ।

आपके प्रति ढेरों उलाहना हैं। छोटी छोटी इच्छाएँ, जिनका जीवन पल दो पल ही था, पर वे पूरी नहीं हुई। जब आप यहाँ थे तो मेरी आपसे ढेर सारी बातें करने की इच्छा होती थी, प्रत्युत्तर में आपसे ढेर सारी सुनने की भी और हमारी बातें कभी समाप्त ही न हों ऐसी भी इच्छा थी मेरी, किन्तु हमारी बात तो प्रारम्भ होने से पहले ही समाप्त हो गयी, सब कुछ अनकहा और अनसुना रह गया। छोटी छोटी इच्छाएँ क्यों अधूरी रह गयीं पार्थ? उन्हें बिना जिए ही मेरे वह पल दो पल क्यों बीत गये?

धनंजय! आपने अपनी रुचि से खाया पिया, किन्तु जिया क्यों नहीं? हमारा प्रेम नया रंग क्यों नहीं ले पाया? क्या हल्दी में पीलापन नहीं था या चूने के पास सफेदी नहीं थी? फिर क्यों जीवन में नया रंग नहीं भर पाया? किसका दोष था! मेरा, आपका या हमारे भाग्य का?

समय कभी बहुत लम्बा और कभी बहुत छोटा क्यों हो जाता है, जबकि समय की गति वही रहती है। अच्छे पल पलक झपकते ही निकल जाते हैं... उनके अतीत की स्मृति भी बहुत छोटी होती है, पर उलझनों वाले दिनों, दुःख के दिनों का अतीत वैसे का वैसे ही लम्बा और नीरस रहता है। वैसे तो सुख और दुःख दोनों अलग अलग स्थितियाँ हैं, पर मैं उन्हें आज अलग अलग करके नहीं जी पा रही हूँ। छोटे छोटे सुखों के पल दुःख के भारी भरकम खुरदुरे दिनों में दब कर रह गये हैं। अब किन स्मृतियों को कलेजे से लगाऊँ, मन को किन पलों की तहों में रखकर दबाऊँ कि उन्हें थोड़ा चैन आ जाये।

मन को समेटकर लोहे के दरवाजे के पीछे ठूँस ठाँस कर बंद कर दिया था, बारह वर्षों तक न खुलने के लिये, फिर क्यों सिर पटक पटक कर भावनाएँ लहलुहान हो रही हैं? सिर पटकने से लोहे का दरवाजा तो टूटेगा नहीं, टूटेगा तो केवल मेरा माथा। दरवाजा तो लहलुहान नहीं होगा, होंगी तो केवल मेरी भावनाएँ। सब कुछ जानते हुए भी ये कैसी कसमसाहट है, कैसी लड़ाई और किसको जीतने के लिये और किसको हराने के लिये हैं? क्या पाने के लिये और क्या खोने के लिये हैं, कुछ भी नहीं पता है।

मन बादल की तरह भर गया है, जिनमें कितनी बातें, कितनी इच्छाएँ और कितनी भावनाएँ भरी हुई हैं... पर ये बादल बरस नहीं सकते, हवाएँ इन्हें टुकड़े टुकड़े करके इधर उधर बिखरा देंगी और कुछ धूप में सूखकर समाप्त हो जायेंगी। किसलिये उठे थे ये बादल? इतनी नमी इतना भारीपन लिये हुए, जबकि इनका परिणाम ज्ञात था। जीवन में कारण, कार्य और परिणाम विज्ञान की भाँति तो खरा नहीं उतरता है, परिणाम शून्य होने पर भी बहुत कुछ बचा रहता है और बहुत कुछ प्राप्त होने पर भी परिणाम शून्य रहता है।

नारद नियम के बाद लगा कि दो वर्ष बाद ही सही, पूरे एक वर्ष तक मैं पार्थ की रहूँगी और पार्थ मेरे उस समय किसी का अनुशासन किसी का आदेश किसी का भय, किसी की उपेक्षा मुझे पीड़ित नहीं कर सकेगी। किन्तु मेरा दुर्भाग्य सदैव मेरी सोच से आगे निकल जाता है। नियम भंग हो गया और मैं हतप्रभ थी। आप आँखों के सामने थे। आपका मुँह देखकर जीती रही। युधिष्ठिर के एकाधिकार और भीम के तत्काल क्रोधित हो जाने के कारण मुझे आपके निकट आने का बहुत कम अवसर मिलता था, पर मन में एक आशा थी; आशा ने कभी साथ नहीं छोड़ा... हर पीड़ा हर कठिनाई उसे और अधिक सुदृढ़ बनाती रही कि अवसर आयेगा हमारा प्रेम प्रगाढ़ और फलीभूत होगा, किन्तु यह क्या? मुझ पर तो बिजली गिर पड़ी और मैं पेड़ की तरह जड़ तक झुलस गयी। किसी के प्रेम से न तो इसकी झुलसी जड़ें सींची जा सकेँगी और न ही इस झुलसे पेड़ में अब फूल और फल ही लगेंगे।

सुनती रही आपके वनवास और ब्रह्मचर्य की साधना। गंगद्वार में नाग कन्या उलूपी के कामदेव की समिधाओं से प्रज्ज्वलित यज्ञकुंड में आपने आत्मदान की आहुति डाली और उलूपी ने इस महायज्ञ का फल इरावान् को प्राप्त किया। उधर आप वनवास में यज्ञकर्ता बने रहे और इधर आपके प्रति अनुराग की समिधा मेरे हृदय में निरंतर प्रज्ज्वलित होती रही।

आपकी दूसरी आहुति मणिपुर नरेश की पुत्री चित्रांगदा को समर्पित हुई। उसे प्राप्त करने के लिये आपने नरेश से याचना की थी और शुल्क के रूप में उत्पन्न पुत्र को सौंपने की प्रतिज्ञा भी। मैं दिन, मास, ऋतुएँ और वर्ष गिनती रही और आप मणिपुर के राज प्रसाद में दिन, मास, ऋतु और वर्ष भूले सुख-निद्रा में मग्न रहे। सुदूर प्रदेशों से कभी आने वाले तीर्थ यात्रियों और व्यापारियों से आपकी कुशलता की सूचना मिलती रही।

पार्थ! मेरे जीवन में एक दिन के लिये भी आपका साथ नहीं आया। यदि एक दिन भी मैं पूरी आपकी रहती, तो उस दिन के सहारे पूरी आयु काट लेती। समय बीत रहा है, आयु बढ़ती जा रही है, किन्तु मेरे भीतर का एक हिस्सा आपके वनवास के समय से वहीं खड़ा है आपकी प्रतीक्षा में और आपसे अपने हिस्से का प्रेम पाने के लिये आपको अपना प्रेम सौंपने के लिये।

मानव मन भी विचित्र है... न कभी भरता है और न ही कभी मरता है। एक के साथ एक वर्ष की समय सीमा समाप्त होने लगती है, तो लगता है कि बहुत कुछ अनकहा रह गया, बहुत कुछ

अनजिया रह गया है। जिसके साथ जुड़ती हूँ तो लगता है कि पुराना सूत्र टूट चुका है और वह ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता है। सब कुछ नए सिरे से आरम्भ करना पड़ता है।

मुझमें भी पिछले कक्ष का सब कुछ साथ रहता है और लगता है कि मैं एक झूठ के रूप में खड़ी हूँ। इस कक्ष में मेरा तन खड़ा है, किन्तु मन को जैसे पिछले कक्ष में ही छोड़ आयी हूँ। मन और मेरे देह में उसी कक्ष की गंध बसी है। कुछ दिन तक यह कक्ष अनजाना लगता है... धीरे धीरे मैं उस कक्ष की अभ्यस्त होने लगती हूँ, तो समय मुझे आगाह करने लगता है कि मैं इस कक्ष की कुछ ही समय तक स्वामिनी हूँ और आगामी दिनों की कल्पना मेरे मन को उचाट करने लगती है और लगता है कि मैं त्रिशंकु की स्थिति में कहीं लटकी हुई हूँ। यह कक्ष मेरा नहीं है, पिछला कक्ष भी मेरा नहीं था और अगले कक्ष में भी यही स्थिति मेरे साथ रहेगी।

मुझे लगता है कि हर कक्ष मेरा अतिथि की भाँति स्वागत करता है। एक ऐसी अतिथि, जिसका आना और जाना दोनों ही पूर्व निर्धारित है। एक ऐसी अतिथि, जो पिछला चोला उतार कर नया चोला धारण कर लेती है और उस कक्ष की स्वामिनी बन जाती है।

चोला ही तो धारण करती हूँ मैं। मेरे विभिन्न पतियों के कक्ष में उनकी रुचियों के अनुसार मेरे वस्त्र और आभूषण रहते हैं और अवधि समाप्त होने के साथ ही मैं उन्हें भी उसी कक्ष में यत्न से तह करके रख आती हूँ। उन वस्त्रों में वर्ष भर के जीवन की गंध बसती है। मैं अपने अतीत को वर्तमान में नहीं सह पाती हूँ। आभूषणों के साथ भी ऐसा ही लगता है। प्रत्येक आभूषण में किसी के स्पर्श की अनुभूति छुपी होती है। अगले वर्ष की भूमिका में उन वस्त्राभूषणों के साथ लगता है कि मेरी निष्ठा में दरार पड़ रही है, साथ ही यह भी लगता है कि मेरे वर्तमान पति की दृष्टि में ये वस्त्राभूषण बासी लगते होंगे, क्योंकि आभूषणों के एक एक रत्न में किसी का प्रतिबिम्ब पहले भी झलक चुका है। कंगन नूपुर किसी के स्पर्श और प्रणयाघात से पहले खनक चुके हैं और अब उनके स्पर्श से उनकी खनक कृत्रिम सी लगेगी। वस्त्रों में भी एक परिचित गंध लिपटी रहती है, जो बार-बार धोने पर भी इत्र के गंध के भीतर से फूटती रहती है। उन वस्त्रों के साथ किसी का स्पर्श मुझे लपेटे रहता है। एक के स्पर्श से अनुभूति के साथ मैं दूसरे के सान्निध्य में कैसे जा पाऊँगी, इसकी कल्पना मात्र से ही मैं स्वयं को एक छलावा के रूप में पाती हूँ और मैं छलावा नहीं हूँ। मुझे एक आदर्श पत्नी की भूमिका का निर्वाह करना है, क्योंकि लोगों ने मुझे सती के महिमामयी आसन पर बैठा रखा है, इसलिये मुझे प्रतिदिन अपने आप को शुचिता की नई कसौटियों पर कसना पड़ता है।

मुझे अपने तन मन, वस्त्राभूषणों, बाणी के उतार चढ़ाव, हास परिहास की शैली, शृंगार प्रसाधन, सेवा के स्वरूप, यहाँ तक कि अंतरंग क्षणों की प्रणय लीलाओं का भी उनकी रुचियों के अनुसार अभिनय करना पड़ता है। वर्ष भर पश्चात मैं अपने अनुभव और अनुभूतियों की गठरी बाँधकर उसी कक्ष में रख देती हूँ।

दूसरे कक्ष में प्रवेश के समय मैं वही याज्ञसेनी होती हूँ, जो अभी अभी यज्ञ की वेदी से उत्पन्न हुई है; जिसका न तो कोई अतीत है और न ही भविष्य। जो भी है वह बस यही एक क्षण है। मैं क्षण क्षण जीती हूँ। मेरे ये क्षण आपस में जुड़ते नहीं हैं, बस अलग अलग टुकड़ों में रहते हैं। मुझे यह जीवन पूर्ण और अपना नहीं लगता है और न ही इनमें कोई निरंतरता होती है। मैं दाम्पत्य काल को पूरी निष्ठा से समर्पित होकर बिताना चाहती हूँ, पर क्या करूँ मन का, जिसमें अतीत लिपटा रहता है और भविष्य का अंदेशा भी समाया रहता है और लाख चाहने पर भी मैं एक सामान्य स्त्री

की भाँति पति के सान्निध्य को नहीं जी पाती हूँ।

मुझे लगता है कि मैं किसी की भी नहीं हूँ। मैं किसके अनुरूप स्वयं को ढालूँ, किस खूँटे से अपने बेचैन मन को बाँध दूँ? मैं तो सबकी हूँ, पर क्या सब मेरे हैं? मैं माता कुंती की इच्छापूर्ति की साधन मात्र हूँ। माता कुंती स्वयं गोद गयी थीं वे एक आवश्यकता की पूर्ति मात्र थीं उन्होंने अपने जीवन में केवल आवश्यकता की पूर्ति ही देखी थी, न कि मानवीय संबंधों को।

माता कुंती मुझ पर पूरा नियंत्रण रखती हैं और मैं कठपुतली की भाँति उनकी इच्छा से संचालित होती रहती हूँ। मेरे साथ साथ वे अपने पुत्रों को भी अदृश्य चाबुक से हाँकती रहती हैं, जिसके कारण किसी की भी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, कम से कम मेरे लिये तो कदापि नहीं। उनकी दृष्टि आठों प्रहर मुझ पर रहती है कि मैं किसी को अतिरिक्त या कम महत्व तो नहीं दे रही हूँ। मेरे कारण उनके पुत्रों में कोई असंतोष तो सिर नहीं उठा रहा है, कहीं उनके पुत्रों पर उनका नियंत्रण अप्रभावी तो नहीं हो रहा है।

मुझे लगता है कि मैं किसी के साथ एक समय में पूर्णतः समर्पित नहीं हो पाती हूँ। क्या पार्थ का वियोग मुझे रोकता है या कुछ और है जो मुझे साफ साफ नहीं दिखाई देता है, पर मुझे लगता है कि एक के साथ समर्पित होते हुए भी मुझे अन्य के लिये बहुत कुछ बचाकर रखना है। मैं एक वाद्य यंत्र के तारों की भाँति कसी रहती हूँ, जब जिसका जैसा जी चाहता है वैसा सुर निकाल लेता है।

मेरी यही स्थिति मुझे भूत वर्तमान और भविष्य से नहीं जोड़ पाती है। मैं जागती आँखों से कोई सपना नहीं देख पाती हूँ न किसी को स्वयं से बाँध नहीं पाती हूँ और न ही किसी से बाँध पाती हूँ। अनुचित सोच रही हूँ... मन तो बाँधा है मेरा और वह भी पार्थ के साथ वनवास चला गया है; तन यहाँ है सो तन का धर्म निभा रही हूँ।

काश! मेरा जीवन भी सामान्य स्त्रियों की भाँति होता। विवाहिता होकर पति के साथ गाँठ जोड़े घर की चौखट लाँघती और जीवन के हर क्षण को हर सपने को पति के साथ जीती, जिसमें अतीत की स्मृतियाँ होतीं, भविष्य की कल्पनाएँ होतीं, पति के साथ साथ आयु की सीढ़ियाँ चढ़ती... अंग से अंग लग कर अंग घिसते, वृद्धावस्था आती और पति की गोद में सिर रखकर इस जीवन से आँखें मूँद लेती।

* * *

सब कुछ मेरी इच्छा के अनुसार नहीं होता; हो भी नहीं सकता है। मेरे पति बारी बारी से अपने लिये पत्नियाँ लाते रहे। मैं जानती थी कि मैं अपने क्रोध और हठ से कुछ समय तक के लिये ही सही इसे स्थगित करवा सकती थी, किन्तु मैं यह भी जानती थी कि चार वर्ष तक मेरी प्रतीक्षा में जीवन बिताना भी अब इनके लिये संभव नहीं है, अतः मैंने क्रोध व हठ नहीं किया और न ही पतियों के समक्ष दीन बनी और याचना की कि वे विवाह न करें। मैंने स्वाभिमानिनी की भाँति उनके निर्णय को सुना और मौन रही। मन में क्रोध आया था, स्वयं को अपमानित भी महसूस किया था, किन्तु कातर नहीं बनी। वे ही मेरे समक्ष निष्ठावान बने रहने वैसा ही प्रेम और सम्मान देने की प्रतिज्ञा करते रहे।

मैं सोचती थी कि मैं दिव्य और अद्भुत हूँ, उनके लिये विशिष्ट हूँ, इस कारण वे मुझसे प्रेम करते हैं और मेरे होते हुए वे किसी अन्य स्त्री की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेंगे... किन्तु मेरे पतियों ने अपने अपने विवाह किए। मेरा यह अहंकार टूटकर भी नहीं टूटा। मेरी सपत्नियाँ इस सत्य को

जानती हूँ कि मैं आज भी उनके लिये विशिष्ट हूँ। मैं एक साधारण स्त्री की भाँति दुःखी नहीं हुई थी। मैं नहीं चाहती थी कि मेरी सपत्नियाँ अपने पतियों और मेरी अन्य सपत्नियों के मुख से मेरी करुण गाथा सुने और संतुष्ट हों। मैं जानती हूँ कि मैं एक सूत्र हूँ, जिसके कारण पाँचों बँधे हैं और सुरक्षित हैं, अन्यथा इनके बिखरते ही दुर्योधन अपने कुचक्रों से इन्हें पुनः समाप्त करने का प्रयास आरम्भ कर देगा। मैं अब माता कुंती के पाँचों से मेरा विवाह करने के निर्णय का कारण समझ गई हूँ। विवाह तो शेष पाण्डवों के धीरे-धीरे तब भी हो जाते, किन्तु अलग अलग स्त्रियों के आने और उनके साथ सामंजस्य बिठाने में भाइयों के आपसी संबंधों में शिथिलता आने की संभावना थी और वे अपना राज्य वापस पाने के लक्ष्य को भूलकर अन्य छोटी छोटी बातों में उलझकर रह जाते।

मैं यह नहीं कहती कि मैं विशिष्ट हूँ... इस कारण मैं मानवी नहीं हूँ और मुझे कोई दुःख दुःखी नहीं करता। मैं भी दुःखी हुई थी, आहत हुई थी... कुछ समय के लिये स्वयं की दृष्टि में उपेक्षित भी हुई थी, किन्तु मैं कृष्णा थी; मेरी पीड़ा की एक रेखा भी मेरे मुख पर नहीं झलकी। मेरे पतियों के अन्य विवाह के पश्चात भी मैं सबकी पत्नी थी और सबसे श्रेष्ठ भी। मेरी सपत्नियों के मुझसे कम आयु की होने के पश्चात भी उनके समक्ष मेरा सौन्दर्य सदा अद्भुत ही रहा।

महाराज युधिष्ठिर ने स्वयंवर में सेविका को प्राप्त किया था। वे अब खाण्डवप्रस्थ के महाराज थे और उनके विवाह का आयोजन उनकी गरिमा के अनुसार हुआ। मैंने अपनी सारी पीड़ा और कुंठा को अपने मन की अतल गहराई में दबा दिया था। मेरे पति मुझे देखकर आश्चर्यचकित थे और उनका आश्चर्य मुझे अपने निर्णय के प्रति और अधिक दृढ़ बनाता रहा। हाँ, मैंने निर्णय लिया था कि एक क्षण के लिये भी मैं किसी के समक्ष कमजोर नहीं पड़ूँगी। मैं विशिष्ट हूँ और अपनी इस विशिष्टता को सबके सामने बनाये रखूँगी। मुझे ज्ञात है कि मेरा धैर्य कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मेरा साथ नहीं छोड़ता है; अपनी इसी शक्ति के कारण मैं कठिन से कठिन परिस्थितियों में दृढ़ से दृढ़तर होकर निकलती हूँ।

मैंने अपनी गरिमा को एक क्षण के लिये भी धूमिल नहीं होने दिया। मैं पूरी ठसक के साथ महाराज के विवाह के आयोजन में सम्मिलित हुई... आगे बढ़कर मैंने देविका को आशीर्वाद दिया और रीति के अनुसार शयनकक्ष तक पहुँचा भी आयी थी।

मुझे सपत्नी का उतना दुःख नहीं था, जितना युधिष्ठिर के व्यवहार में आए परिवर्तन से मैं आश्चर्यचकित थी। राजकाज में पहले भी उनकी रुचि नहीं थी और अब वे अपनी नवोद्गा पत्नी के प्रेम में निश्चित होकर आकंठ डूबे रहते हैं। हाँ, निश्चित, क्योंकि वह मात्र उन्हीं की पत्नी है, सम्मिलित भोग की भिक्षा नहीं। उन्हें अब नारी के स्वभाव का ज्ञान और स्त्री की भावनाओं का सम्मान करना भी आ गया है। देविका केवल उन्हीं की पत्नी थी, वह उनकी मुग्ध दृष्टि की चावनी में बँधी रहती है। युधिष्ठिर की वह दृष्टि कभी भी मेरे लिये नहीं रही। जो दृष्टि थी, उसमें सदैव एक मिथ्या संशय रहता था कि मैं उन्हें औरों की अपेक्षा कम प्रेम करती हूँ... किन्तु वह अब अपनी पत्नी के प्रेम में संतृप्त हैं... कोई बाधा नहीं, कोई दुविधा नहीं और कोई प्रश्न भी नहीं।

महाराज, देविका की भावनाओं का बहुत सम्मान करते हैं; उनको सम्मानित करने के प्रयास में वे मेरी उपेक्षा करने से भी नहीं चूकते हैं। उनका यह आचरण मुझे बड़ा ही विचित्र लगता है। सामान्यतः मैं उनसे बहुत कम बोलती हूँ, किन्तु यदि कभी कुछ कहती हूँ तो वह सुनकर भी अनसुना कर देते हैं और उनका यह मौन मुझे चार लोगों के बीच अपमानित कर जाता है। उन्हें

अब मेरी कोई आवश्यकता नहीं थी।

मैं नकुल को हस्तांतरित हुई, तो भीमसेन अपनी नई गृहस्थी बसाने की राह पर चल पड़े। हिडिंबा के होते हुए अब तीसरा विवाह क्यों? यह प्रश्न हृदय में उठा, किन्तु मैं जानती थी कि माता कुंती के लिये खाण्डवप्रस्थ के राजभवन में महाराज के अनुज के लिये कोई राजकन्या ही मान्य होगी। भीमसेन ने स्वयं को मल्लयुद्ध में सर्वश्रेष्ठ योद्धा सिद्ध करके वालंधरा को प्राप्त किया। निःसंदेह काशी नरेश की कन्या वालंधरा इस महापराक्रमी योद्धा के उपयुक्त थी।

मुझे ज्ञात है कि मेरे साथ एक एक वर्ष का युग्म जीवन बिताकर मेरे शेष दोनों पति भी अपने अग्रजों का अनुसरण करते हुए अपने लिये पत्नियाँ ले आयेंगे।

महाराज युधिष्ठिर के विवाह के पश्चात उनके भवन से मेरी वस्तुएँ राजप्रासाद के एक अन्य खण्ड में हस्तांतरित कर दी गयीं और वह खण्ड अब मेरे स्थाई निवास का रूप लेता जा रहा है। अब नकुल और सहदेव के कक्ष भी अपनी अपनी पत्नियाँ, चेदि नरेश पुत्री करेणुमति और मद्र नरेश की पुत्री विजया से सुशोभित हो गये हैं। धीरे धीरे उनके कक्षों से भी मेरी वस्तुएँ मेरे कक्ष में स्थानांतरित होने लगीं। उस प्रखण्ड की नए सिरे से साज सज्जा हुई और राजभवन का वह खण्ड अब मेरा अपना है। अब मैं महाराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के कक्ष में व्यवस्था अनुसार एक एक वर्ष के लिये नहीं जाती हूँ। अब अतिथि आते हैं अपनी इच्छा या अपनी अपनी पत्नियों की अनुमति के अनुसार। अब क्या अंतर पड़ता है इच्छा और अनुमति में; मुझे तो ज्ञात रहता है कि मेरा जीवन अब किसके साथ जुड़ा है, किन्तु मेरे पतियों को सूचित करना पड़ता है कि नियमानुसार अब वे एक वर्ष के लिये द्रौपदी के भी पति हैं और धर्मतः उन्हें अपने पति धर्म का निर्वाह करना चाहिये।

आज लगता है कि क्यों मैंने अपने मन का कोई कोना अपने लिये नहीं रखा? उस व्यवस्था में मैं सदैव किसी न किसी से जुड़ी रहती थी; किन्तु अब लगता है कि मेरा अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। मैंने अपना सब कुछ अपने पतियों को अर्पित कर दिया और अपने लिये कुछ भी नहीं रखा। आज मैं नितांत दरिद्र हूँ; मेरे पास जो कुछ भी है और पहले भी जो कुछ मुझे मिलता था, वह मुझे अनुदान के रूप में ही मिलता था; उसमें कहीं से भी मेरे अधिकार की झलक नहीं होती थी।

8. सखा

सखा का आगमन लगता है कि मरुस्थल में बादल टूटकर बरस गये हैं, मेरे अंतर्मन की टुकड़े टुकड़े हुई सूखी तृपित भूमि इस वर्षा से भीगकर पुनः आपस में जुड़ जाती है और मैं इस वर्षा से भीतर तक सराबोर होकर जीने लगती हूँ तो लगता है कि सखा सचमुच में अंतर्दामी हैं।

मन जब धीरे धीरे मरुस्थल होने लगता है, जीवन भारी लगने लगता है, जीने की इच्छा समाप्त होने लगती है तो सखा आ जाते हैं और तब लगता है कि मन मरुस्थल नहीं है वरन् एक नम उर्वर भूमि है, जिसमें सब कुछ उग सकता है... प्रेम, मोह, और घृणा भी। सच कहूँ घनश्याम! आपके सख्य भाव को जीकर मैंने बहुत कुछ पाया है, बहुत कुछ जाना है और मैं आज जो भी हूँ, आपकी सखी होने के कारण ही हूँ। मेरे साहस धैर्य को आपकी मित्रता ने ही संबल दे रखा है, नहीं तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।

आप अच्छे लगते थे... आपकी सत्ता के आगे मैं अभिभूत थी और स्वयं को आपसे जुड़ा पाती थी। सखा! यह जुड़ाव मुझे बहुत शक्ति देता है। आज सोचती हूँ कि मैंने स्वयं को पाँच हिस्सों में क्यों बाँटा? जब बाँट ही रही थी तो छह हिस्से क्यों नहीं किए? एक हिस्सा अपने लिये क्यों नहीं रखा, जिसमें मेरी इच्छा के विपरीत किसी का भी प्रवेश वर्जित हो... साथ ही बाँटते समय थोड़ी सी बेईमानी क्यों नहीं कर ली? थोड़ी नहीं अधिक बेईमानी करनी चाहिये थी मुझे, आधे से भी अधिक। किन्तु अब तो बाँट चुकी सब... हिस्सों में से कतर ब्योंत करूँगी तो भी कुछ पूरा तो होगा नहीं बस टुकड़े टुकड़े ही रहेंगे। अब तो मैं अभ्यस्त हो चुकी हूँ; वे हिस्से मेरे जीवन में ढल चुके हैं, उस समय क्यों नहीं सोचा, अब भूमिकाएँ कम अधिक नहीं हो सकतीं।

अनुचित कह रही हूँ मैं; एक कोना मेरा अपना है, जहाँ केवल सखा ही समाये हुए हैं... समाये भी ऐसे कि तिरछे होकर अड़ गये हैं, न बाहर निकल सकते हैं और न ही भीतर सरक सकते हैं, बस निरंतर कसकते रहते हैं।

सखा खाण्डवप्रस्थ आते हैं तो मुझे लगता है कि वे केवल मेरे लिए ही यहाँ आये हैं और मैं भी बावली सी उनके चारों ओर घूमती रहती हूँ। ऊपर से देखने पर सब कुछ सामान्य, उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप लगता है, किन्तु मेरे लिये सब कुछ विशेष होता है। उस सत्कार में मैं अपना हृदय उड़ेल देती हूँ, जो किसी को भी नहीं दिखाई देता है... दिखाई देता है तो केवल सखा को। कभी कभी सखा मेरे मन को भाँपकर अर्थपूर्ण ढंग से मुस्करा देते हैं तो मैं लज्जित हो जाती हूँ। कैसा बावला मन है मेरा, उन्हीं से उन मनोभावों को छिपाती हूँ, जिनके लिये हृदय में ये मनोभाव उठे हैं। मन का एक कोना चाहता है कि सखा सब कुछ जानें, पर दूसरा कोना मुझे अगले ही क्षण लाज से दुहरा कर देता है।

कभी कभी मेरे मन का यह छोटा सा कोना मनमाने ढंग से बढ़ता जाता है और बढ़ते बढ़ते वह आकाश जितना फैल जाता है। सारा लौकिक जगत सिमटते सिमटते विलुप्त हो जाता है... सारे रिश्ते नाते, अधिकार, कर्तव्य परे हट जाते हैं, मानो मैंने उन्हें अपने जीवन से काट कर अलग कर दिया है और उसमें रहते हैं केवल सखा और मैं।

मैं सखा को अपनी कल्पना में जीती हूँ और सदैव के लिये केवल सखा को ही जीते रहना चाहती हूँ। उस समय मेरे सारे दुःख तिरोहित हो जाते हैं, विवाद नष्ट हो जाते हैं, दुविधाएँ समाप्त

हो जाती हैं और शेष रह जाते हैं तो केवल कृष्ण और कृष्णा, श्याम और श्यामा। दुःख

सखा खाण्डवप्रस्थ आये हुए हैं। सखा किस प्रयोजन से आते हैं, यह मेरे लिये कोई अर्थ नहीं रखता। सखा आते हैं, अपना अधिकांश समय मेरे साथ व्यतीत करते हैं मेरे लिये यही महत्वपूर्ण और प्रसन्नता का कारण होता है। सखा सब कुछ रुचि से खाते हैं... उन्हें भोजन में क्या क्या रुचिकर लगता है, यह उन्होंने कभी नहीं कहा, किन्तु न जाने क्यों मुझे लगता है कि सखा को यह रुचिकर लगेगा और यह नहीं। कौन मेरे हृदय को चुपचाप संदेश दे जाता है यह मैं नहीं जानती हूँ। मैं सखा के लिये अपनी इच्छा के पकवान बनवाती हूँ, अपने सामने बिठाकर भोजन करवाती हूँ। मैं सखा के साथ वाटिका में घूमती हूँ, उस समय जिसकी इच्छा होती है वह सखा के पास आकर बैठता है।

शीत ऋतु है। आज कई दिनों बाद साफ धूप निकली है। भोजन करने के पश्चात मैं और सखा दोनों ही धूप में बैठ गए। धूप सुखद लग रही है। न जाने कैसे बचपन की बातें प्रारम्भ हो गयीं तो मैंने कहा कि, “आप तो मेरे जन्म से ही मुझे जानते हैं, किन्तु मैं तो आपके बचपन और किशोरावस्था, मथुरा और गोकुल के जीवन के बारे में कुछ भी नहीं जानती। पाण्डवों ने भी कभी कुछ नहीं बताया।” “क्या करोगी जान कर?... सखा मुस्कराते हुए उलटे मुझसे ही पूछने लगे और थोड़ा रुक कर कहने लगे... तुम्हारे पतियों को मेरे बचपन और किशोरावस्था के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं, क्योंकि मेरा पालन पोषण मथुरा से दूर गोकुल में हुआ था और इन लोगों का लालन-पालन वन में हुआ था।

कई वर्षों तक परिवार से सीधा संपर्क भी नहीं रहा, केवल सूचना मिलती रहती थी। फूफाश्री पाण्डु की मृत्यु के पश्चात जब सभी लोगों को पितामह ने हस्तिनापुर में बुला लिया तो मैं पिताश्री के साथ पहली बार सबसे मिलने हस्तिनापुर गया था... उसके पश्चात एक दो बार ही सबसे मिला था।”

मुझे आश्चर्य हुआ कि सखा का आगमन अब आठ दस महीने में एक बार हो जाता है; पहले इतना अंतराल क्यों रहता था?

“अच्छा तुम्हीं बताओ, मैं अपने बचपन की गाथा कहाँ से आरम्भ करूँ?”

मैं तो पहले सोच नहीं पायी कि क्या उत्तर दूँ... पुनः कुछ सोचकर बोली, “उन गाथाओं की चर्चा करें, जिन्हें बहुत कम लोग जानते हैं या यहाँ उन्हें कोई नहीं जानता।”

सखा ठहाका मारकर हँसने लगे और मैं मुग्ध होकर उन्हें देखती रही। “कृष्णा! मैं आज तुमसे उन घटनाओं की चर्चा करूँगा, जिनके बारे में मैंने आज तक किसी से कुछ नहीं कहा... रुक्मिणी, सत्यभामा यहाँ तक कि पार्थ भी उनके बारे में कुछ नहीं जानते।”

मेरा हृदय धड़कने लगा। ऐसा कौन सा रहस्य सखा मेरे सामने उजागर करने जा रहे हैं। सखा ने कहना आरम्भ किया, सखा की वर्णन शैली मेरे समक्ष उन दृश्यों को साकार करने लगी।

* * *

कृष्ण छोटे हैं। सखाओं के साथ घूमते रहते हैं। ढेर सारे कंकड़ पत्थर चुन कर उनकी सखा मंडली एक झाड़ी के पीछे बैठी गोपियों के आने की प्रतीक्षा कर रही है। गोपियाँ यमुना से जल भर कर घरों को लौट रही हैं। अचानक झाड़ियों के बीच से कंकड़ों की सटीक वर्षा होने लगी। घड़े फूटकर उन्हें भिगो गए। उन्हें पकड़ने के लिये गोपियाँ झाड़ियों की ओर दौड़ती हैं पीछे के मार्ग से गोप मंडली भाग चुकी है और भीगी गोपियाँ माँ यशोदा के आँगन में उलाहना देने के लिये खड़ी

हैं। माँ हाथ में डंडा लेकर मुझे ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं।

गोपियाँ जल भरने गई हैं। कल वे उलाहना लेकर मेरे घर गयी थीं; आज उनका घर आँगन सूना पड़ा है। घर में घुस कर सखाओं के साथ छींके पर रखा माखन उतार कर खा लिया और भटकी फोड़कर सखा मंडली पुनः अंतर्ध्यान हो गई। फूटी मटकी उनके लिये चेतावनी थी कि तुम्हारे जल की मटकी फोड़ने के उलाहना का दंड माखन की मटकी फोड़ कर दे रहा हूँ... आगे तुम लोग स्वयं समझदार हो।

बालक कृष्ण सारा समय किशोर और युवा गोप गोपिकाओं को छेड़ने की ही योजनाएँ बनाते हैं। गोपियाँ वस्त्र उतारकर यमुना में नहा रही हैं, स्नान करके निकलने के बाद देखा तो वस्त्र वहाँ नहीं हैं। कदंब की डाल के ऊपर बैठे कृष्ण की वंशी बजने लगी। ऊपर देखा तो उनके वस्त्रों की गठरी अपने बगल में रखे कृष्ण वंशी बजा रहे हैं और नीचे गोपियाँ हाथ जोड़ कर अनुनय विनय कर रही हैं। कृष्ण को भी घर जाना है कब तक बैठे रहेंगे पेड़ पर? कृष्ण, वस्त्रों की गठरी लेकर उतरते हैं, वस्त्र उनकी ओर फेंक देते हैं और वंशी बजाते अपनी राह चल देते हैं। वे जानते हैं कि बिना वस्त्र के गोपियाँ उन्हें दौड़ाकर मार नहीं सकती हैं। उनमें उलाहना देने का साहस अब शेष नहीं है।

किशोर कृष्ण राधा अस्वस्थ है बहुरूपिये कृष्ण वैद्य का वेष धारण करके राधा के घर पहुँच गये कलाई पकड़कर नाड़ी देखते हैं, कान लगाकर हृदय की धड़कन को सुनते हैं, दवा की पुड़िया और संध्या के समय पुनः आकर रोगी को देखने का आश्वासन देकर चले जाते हैं। राधा रानी के अतिरिक्त कोई नहीं जान पाया।

बिसातिन चूड़ियों की टोकरी लेकर राधा रानी के घर उन्हें यूँझियाँ पहना रही हैं। छोटी छोटी यूँझियाँ राधा रानी की कलाई में उतारने के लिये धीरे धीरे हाथ को दबा रही हैं। पीड़ा से राधा रानी सी सी कर रही हैं... चूड़ियाँ टूटती जा रही हैं। एक भी चूड़ी कलाई में नहीं उतरी। हथेली दबाते दबाते सूज गई।

कृष्ण ने फूलों की मालाएँ गँथकर रखी हैं। आज वे एकांत में राधा रानी का शृंगार करेंगे। राधा अपने साथ अपनी सखी ललिता को भी लेकर आती है। कृष्ण दोनों के केशों को खोलकर उनको पुनः फूलों के साथ गँथ रहे हैं।

पूर्णिमा की रात्रि है और सब कुछ पूर्व निर्धारित है। वंशी की स्वर लहरी फूटती है। युवतियों के घर के द्वार धीरे धीरे खुल रहे हैं। कुँवारी, विवाहिता सब अपने घरों से छुप छुप कर वृंदावन में पहुँच गई। वंशी का स्वर मादक हो रहा है पैर अपने आप थिरकने लगे। एक कृष्ण अनेक गोपियाँ भाव विभोर हर गोपी कृष्ण के साथ नृत्य कर रही हैं। रात्रि के अंतिम प्रहर में यह रास समाप्त होता है... हर गोपी कृष्ण की बाँह थामें अपने घर की ओर जा रही हैं।

राधा रानी तट पर जल भरने गयी है और घर में पति प्रतीक्षा कर रहे हैं, एक प्रहर से अधिक समय बीत गया। तट पर जा कर देखते हैं तो राधा रानी आत्म विभोर सी तट पर अकेली बैठी हैं। “क्या हुआ?” पति चिंतित होकर पूछते हैं। “कुछ नहीं जरा सा सिर घूम रहा है।” पति सहारा देकर उठाना चाहते हैं किन्तु राधा मना कर देती हैं। पति को क्या पता कि राधा का मन कृष्ण के आलिंगन और चुंबन के मादक स्पर्श में घूम रहा है और पति के स्पर्श से वह मादकता भंग नहीं होनी चाहिये। राधा उठ कर धीरे धीरे घर की ओर चल पड़ती है। पानी का घड़ा उठाये पति पीछे पीछे चल रहे हैं।

वर्षा ऋतु यमुना अपने पूरे उफान पर है और मथुरा के राज दरबार में रोज दूध दही गोकुल से ही जाता है। स्थिति विकट है। यमुना को पार कैसे किया जाये? तट पर गोपियाँ चिंतित बैठी हैं। कृष्ण घूमते हुए वहाँ पहुँच जाते हैं और उनकी समस्या सुनकर एक तिनका उठाकर यह कहते हुए कि “हे यमुना! यदि कृष्ण सत्त्वा ब्रह्मचारी हैं तो गोपियों को उस पार जाने का मार्ग दे दो।” यमुना में फेंक देते हैं, यमुना घटने लगती है।

गोपियाँ उसे पार करके दूसरे किनारे पर पहुँचती हैं। तट पर दुर्वासा ऋषि बैठे हैं वे गोपियों को रोक कर भयभीत करके सारा दूध दही खा पी जाते हैं और कंस को संदेश भिजवा देते हैं। यमुना फिर उफन रही है। गोपियाँ ऋषि से उसे पार करने का उपाय पूछती हैं। “आयी कैसे थी?” ऋषि ने पूछा। गोपियों ने जो देखा सुना था कह दिया। दुर्वासा ऋषि ने सुलगती धूनी की एक चुटकी भस्म उठाकर एक गोपी के हाथ में रख दी, कहा, “यमुना में फेंक कर यह कह देना कि यदि दुर्वासा ऋषि पवनाहारी हैं तो हे यमुना हमें पार करने का मार्ग दे दो।” मार्ग मिल गया... गोपियाँ वापस गोकुल पहुँच गयीं।

मैं सुन रही थी सखा के किशोर जीवन की गाथा। मेरा मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। सखा जो कुछ कह रहे हैं क्या वह सत्य है? सखा आज जैसे अपना सारा अतीत खोलकर मेरे सामने रख देना चाहते हैं। मैं सुन रही थी और सुनते सुनते कभी-कभी संकोच होने लगता था, पर सखा मुझसे ऐसे कह रहे थे जैसे कि वह किसी अन्य से न कह कर अपनी स्मृतियों को अपने मन में दुहरा रहे हैं, जैसे कि किसी अभिन्न के समक्ष अपना हृदय खोल रहे हैं, तो क्या सखा मुझे अपने से अभिन्न मानते हैं? मैं अपनी उत्सुकता नहीं रोक पायी पूछा, “आप परिहास तो नहीं कर रहे हैं?”

“नहीं सखी, सत्य कह रहा हूँ अपने जीवन के इस अध्याय की चर्चा मैंने कभी किसी से नहीं की। इन्हें या तो मैं जानता हूँ या वे गोपियाँ और आज से तुम क्योंकि तुम मुझसे भिन्न नहीं हो।

मुझे सखा का मेरे समक्ष अपना हृदय खोलना अच्छा लगा, क्या सखा अपने जीवन के अंतरंग घटनाओं की चर्चा मुझसे इस लिए कर रहे हैं कि मैं उन्हें अपने निकट समझूँ और स्वयं को उनकी प्रिय सखी समझूँ? ऐसी स्थिति में, जब कि पार्थ वनवास में हैं और सभी पाण्डवों के विवाह हो चुके हैं और मैं अपनी ही दृष्टि में आहत और उपेक्षित सी रहती हूँ तो ऐसे समय में क्या सखा यह बताना चाह रहे हैं कि, मैं अकेली नहीं हूँ, वे हर क्षण मेरे साथ हैं, मैं उपेक्षित नहीं हूँ सखा की अभिन्न सखी हूँ और वैसी ही दिव्य और गौरव शालिनी हूँ?

हाँ, सखा मुझे अपने से अभिन्न लग रहे हैं मेरे भीतर सुप्त पड़ी मेरी ऊर्जा जाग्रति हो गयी है और मैं पुनः पूरे आत्मविश्वास से भर उठी हूँ... मुझे लग रहा है कि मैं सखा का हृदय हूँ उनका सब कुछ मेरे पास सुरक्षित है।

“तो आप गोपी जन प्रिय भी हैं” मैंने हँस कर कहा।

“हाँ, मैं गोपीजन प्रिय हूँ।”

“सखा आप एक साथ इतनी गोपिका को एक ही भाव ... मैंने बात अधूरी छोड़ दी।

“नहीं सखी, जो मुझसे जिस भाव से प्रेम करता है, मैं उसे उसी भाव से पूर्णतः प्राप्त होता था। तुम भी तो मुझे अपना सखा समझती हो और प्रेम करती हो तो मैं तुमसे क्यों अभिन्न रहूँ? जैसे तुमने अपने हृदय में मुझे बसाया है वैसे ही तुम मेरे हृदय में बसी हो और मैं इस सत्य को तुम्हारे समक्ष इसलिये दुहरा रहा हूँ कि तुम जब हताश निराश हो जाती हो और तुम्हारा अपना विश्वास

स्वयं पर से ही उठने लगता है तब मुझे इसका आभास हो जाता है और मैं सब कुछ छोड़ छाड़कर तुम्हारे पास आ जाता हूँ; जैसे तुम मेरे जीवन की घटनाओं की साझीदार हो वैसे ही मैं तुम्हारे हृदय की हर धड़कन का साझीदार हूँ।”

सखा मेरे जीवन में एक हरा भरा, फल फूल पतियों से लदा छतनार पेड़ हैं। जीवन पथ पर चलते चलते इस पेड़ की आड़ी तिरछी छाया कुछ देर के लिये ही सही मुझे अपने जीवन की विडंबनाओं के तपते सूरज से बचा कर शीतल छाया में बैठा देती है। मेरे वश में होता तो मैं सूरज के ताप को कम करती पर होता उलटा है, ताप बढ़ता जाता है और पेड़ की छाया कम पड़ती जाती है फिर भी तपती धूप में चलते चलते कुछ घड़ी इस छाया में बैठ कर विश्राम लेती हूँ। विश्राम भी कैसा? सखा के निकट तो वह ताप और भी प्रखर हो जाता है और तब लगता है कि यह छाँव मेरी अपनी नहीं है कुछ घड़ी के लिये उधार की चीज जैसी है। छाया में बैठने से पेड़ पर अधिकार तो नहीं हो जाता है, उनके फलों की चाह क्यों उठती है मन में? चंचल बालकों की भाँति डाल हिलाकर कंकड़ मार कर फलों को गिराया नहीं जा सकता है, बस अधिक से अधिक समय तक ठहर कर विश्राम किया जा सकता है। इस छाया में मेरी यातना दोहरी हो जाती है कि मुझे क्यों नहीं मिली जीवन में यह छाँह? विधाता ने मेरे हिस्से में क्यों नहीं सामान्य स्त्रियों की भाँति वृक्ष रूपी पति दिया, जिससे लिपटी मैं निश्चित जीवन जीती रहती।

मेरा कोई पति है या नहीं, मैं नहीं जानती। उँगलियों पर गिनूँ तो पूरे पाँच पूर्ण बलशाली, सामर्थ्यवान पुरुष मेरे पति हैं... किन्तु वे पति के रूप में एक अतिथि से अधिक कुछ भी नहीं, जो सेवा सत्कार तो लेता है पर गृहस्वामी के प्रति उसका कर्तव्य कुछ भी नहीं होता है। वह आतिथ्य से प्रसन्न होकर आभार प्रदर्शित करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है और चल पड़ता है अपने गंतव्य की ओर।

वैसे ही मेरे पति एक एक वर्ष बाद अपनी गृहस्थी में पूरी तरह से लौट जाते हैं। भले ही मैं एक की समय सीमा में स्वयं को उनको पूरी तरह समर्पित कर देती हूँ, किन्तु मेरे पति तो मेरे साथ-साथ अपनी गृहस्थी भी जीते रहते हैं। उनकी पत्नियों के लिये यह नियम तो नहीं है कि एक वर्ष के लिये उनका पति केवल द्रौपदी का ही पति होगा।

मैं अपने पतियों के साथ अपनी सपत्नियों को भी जीती हूँ, मैं अपने पतियों पर अधिकार नहीं दिखा पाती हूँ। मुझे लगता है कि मेरी सपत्नी मुझे केवल एक समय सीमा तक अनिच्छा से सहन कर रही है, क्योंकि कभी कभी मैं उनके जीवन क्रम को बाधित कर देती हूँ... कभी कभी उनके पति मेरे भी पति होने का धर्म निबाहते हैं; किन्तु मैं जब भी किसी पति के सेवा में रहती हूँ तो प्रयास करती हूँ कि मेरे मन में दूसरे पतियों को लेकर कोई दुर्बलता न रहे। उनमें ही सब कुछ पाने का प्रयास करती हूँ और अपनी निष्ठा उनके चरणों में उड़ेल देती हूँ... तब कोई पुरुष मेरे अवचेतन में भी नहीं रहता। हाँ, पार्थ के प्रति मेरे मन में दुर्बलता अवश्य रहती है।

पर कृष्ण... वे तो सदैव साथ रहते हैं; शयन में, जागरण में, स्वप्न में, श्वास में, हर क्षण मुझमें समाये रहते हैं। किन्तु इससे मेरा धर्म क्षीण नहीं होता है। कृष्ण का प्रेम पवित्र है, इच्छा और कामना से परे है; वही तो मेरी शक्ति है, जिसके कारण मैं यह दुरूह भार सरलता से ढो रही हूँ।

पार्थ का वियोग मुझे सालता ही रहता है। सखा ने कहा, “पार्थ के निकट रहने का एक उपाय है।”

‘क्या?’ मैंने पूछा।

“जो कृष्ण के निकट रहता है, वह अर्जुन के निकट हो जाता है।” सखा हँस पड़े।

मैंने भी प्रयास करके कह दिया, “जन्म के समय मेरा नामकरण हुआ कृष्णा; पिता ने कहा यह कृष्ण से अभिन्न है... तब से आप ही तो मेरे हृदय में हैं, कोई देखे या न देखे किन्तु मैं तो जानती हूँ कि मेरे हृदय में कौन है।”

* * *

यह टुकड़े टुकड़े में मिलने वाला पति, किसी के हिस्से से कुछ घड़ी के लिये कतरा हुआ पति, मन को कहीं ओर छोड़कर आने वाला पति और बाद में प्रेम, संबंध और कर्तव्य से मुँह मोड़ लेने वाला पति मुझे स्वीकार नहीं होता है और मैं स्वयं को पहले से भी अधिक विषम परिस्थिति में पाती हूँ। पहले मैं पाँचों की पूरी निष्ठा से सेवा करती थी और बदले में मुझे एक एक टुकड़ा पति मिलता था। तब भी सारे टुकड़ों को जोड़कर एक पति नहीं बनता था, जिसे मैं अपने मन में सजा लेती और मेरा मन शांत हो जाता। अब तो मैं हर क्षण और अधिक व्यथित होती हूँ, क्षुब्ध होती हूँ और श्रमित रहती हूँ। इस व्यवस्था में मेरे शरीर का रोम रोम विद्रोह करता है, तड़पता है, आहत होता है और फिर हताश होकर चुपके चुपके रोता भी है। कभी कभी मेरा जी चाहता है कि मैं चीख चीख कर रोऊँ... इतनी जोर जोर से रोऊँ कि मेरी चीखों से पूरा राजभवन थर्रा उठे और मैं तब तक चीखती रहूँ, जब तक कि मेरा मन, मेरे कान उन चीखों को सुनने से इनकार न कर दें। मैं इस तरह से नहीं चीख पाती हूँ और न ही रो पाती हूँ कि मुझे चारों ओर से घेरने वाला सन्नाटा, काँव के बर्तन की भाँति छनाक से टूटकर बिखर जाये। मैं चुपचाप रोती हूँ, साँसों तक को कस कर नियंत्रित करके, कि कहीं किसी दासी तक को मेरे अनमने होने का आभास न हो। मैं रात्रि के सन्नाटे में पलंग पर औंधे मुँह लेट कर चुपचाप रोती हूँ। बादल की तरह भरा मेरा मन बरस जाता है और मेरा तकिया भीग जाता है।

मेरा मन चाहता है कि सखा आ जायें, दो दिन के लिये ही सही; मैं मरते मरते जी उठूँगी। सखा के साथ घंटों बातें करती रहूँगी, कुछ कहूँगी, बहुत कुछ बिना कहे ही कह जाऊँगी। सखा कुछ कहेंगे... बहुत कुछ सखा के बिना कहे ही सुन लूँगी... इतने दिनों तक भोगे पीड़ा यंत्रणा से टूट चुके तन मन को मैं फिर से संभाल लूँगी और अपनी पीड़ा को समेटकर परे रख भार मुक्त हो जाऊँगी।

सखा आते हैं और सखा को देखकर मैं संतुष्ट हो जाती हूँ। उसके पश्चात मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। कभी-कभी मुझे लगता है कि विधाता ने मेरे हृदय में सखा के लिये ये कैसा पागलपन भर दिया है। दूर देश द्वारका में बसने वाले युग नायक श्रीकृष्ण के पास एक स्त्री के लिये समय कहाँ है। ऐसा क्या संबंध है मेरा उनसे, जिसके कारण वह सदैव मेरे आस पास ही रहे? क्या प्रतिबद्धता है उनकी जो सदैव मुझसे मिलने के लिये आते रहें? बस इतना ही न, कि उन्होंने मुझे अपनी सखी बनाया है... फिर क्यों पागल रहती हूँ सखा के लिये! क्यों चाहती हूँ कि सखा सदैव मेरे समीप रहें? जानती हूँ यह संभव नहीं है, फिर क्यों जागती आँखों से स्वप्न देखती हूँ? पर क्या करूँ?

स्वप्न ने मुझे पूरी तरह से जकड़ रखा है। मैं इस जकड़न से निकलना नहीं चाहती हूँ... क्या करूँगी निकलकर? इस जकड़न से निकल कर जी पाऊँगी या नहीं, यह भी नहीं ज्ञात। किन्तु इतना अवश्य जानती हूँ कि मुक्त होते ही भरभरा कर बिखर जाऊँगी। इसी जकड़न ने मुझे आकार दे रखा है, इसी बंधन में मैं द्रुपद नरेश की पुत्री, पाण्डवों की पत्नी, इन्द्रप्रस्थ की

महारानी और श्रीकृष्ण की सखी हूँ। इस जकड़न में मुक्ति का प्रयास करना भी मेरे वश में नहीं है। मैं स्वयं को सँभाल पाऊँगी या बिखर जाऊँगी यह प्रश्न गौण है... प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या मैं इस बंधन से मुक्त होना चाहती हूँ? निश्चित रूप से नहीं, क्योंकि मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसके लिये मैं इस बंधन से मुक्त होने की कामना करूँ। जो कुछ भी मेरे पास है वह इस बंधन में ही है, सखा में ही है। सारे संबंधों का निर्वाह मैं सखा के कारण कर रही हूँ। मुझे नहीं लगता कि ये पति मेरे अपने हैं, मैं तो सखा की इच्छा से इनकी समस्त मनोवृत्तियों का अनुसरण करती हूँ।

धीरे-धीरे फिर से नये दुःख, पीड़ा उपेक्षा और अपमान मेरी झोली में आते जाते हैं और जब बोझ असह्य होने लगता है, तो मैं सखा को पुनः अंतर्मन की उसी वेदना से पुकारती हूँ।

* * *

वर्षों का अंतराल न... कोई सूचना और न ही कोई पत्र। मन चिंताओं से घिरा रहता है। मेरी देह, देह का धर्म निर्वाह करती रहती है और मन भ्रमित सा पार्थ को ढूँढ़ता रहता है। कहाँ होंगे पार्थ, सकुशल तो होंगे न! क्या खाते होंगे, कहाँ सोते होंगे, कैसे रहते होंगे... अस्वस्थ होने पर? यह कल्पना मुझे कैँपा देती है। पार्थ तीन वर्ष तक मणीपुर रहे तो दुःख के साथ-साथ मन संतुष्ट भी था कि वे सुख से हैं, किन्तु तीन वर्षों के पश्चात पार्थ ने सुदूर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और उसके पश्चात मेरी सूचनाओं का सूत्र टूट गया।

मैं स्वप्न में भयभीत होकर पार्थ को ढूँढ़ती हूँ, पार्थ नहीं दिखाई देते... पार्थ अभी यहीं थे, कहाँ चले गये?... पार्थ मुझे छोड़कर तीव्र गति से आगे चले जा रहे हैं। मैं भी पीछे पीछे दौड़ना चाह रही हूँ, किन्तु चल ही नहीं पा रही हूँ...। पार्थ मेरे कक्ष में बैठे हैं मैं शीघ्रता से पार्थ के पास जाना चाहती हूँ, पर पार्थ पता नहीं कहाँ चले गये...। न जाने कितने स्वप्न वर्षों से मुझे भयभीत और दुःखी कर रहे हैं। मैं घबराकर जग जाती हूँ और शेष रात्रि पार्थ की स्मृति में तड़पते ही बीतती है। मैं चुपचाप रोती हूँ, यहाँ तक कि साँस भी पूरी नहीं लेती, कि बगल में निश्चित सोये मेरे पति की नींद न खुल जाये।

मैं पार्थ के प्रति अपनी भावनाओं को किसी के समक्ष व्यक्त नहीं करना चाहती हूँ। पहले भी मैं पार्थ के प्रति अपने अतिरिक्त आकर्षण के लिये अन्य पतियों का मौन आरोप भोग चुकी हूँ। यह अनुभूतियाँ मेरी अपनी हैं... नितांत व्यक्तिगत, स्वप्न में पल भर के दर्शन का सुख मेरा अपना है और पलक झपकते ही पार्थ का खो जाने का दुःख भी मेरा ही है। मैं अपने हृदय में उस सुख दुःख को संचित करके रख रही हूँ कि जब पार्थ आयेंगे तब उन्हीं के समक्ष मैं अपना हृदय खोलूँगी। पार्थ मेरी भावनाओं को सहलायेंगे और तब मैं बारह वर्षों का वियोग भूल जाऊँगी... भूल जाऊँगी हृदय में उठती कसक, पल पल की यंत्रणा, जाने-अनजाने में पार्थ के लिये बहने वाले आँसुओं की पीड़ा को मैं अपने जीवन से इन बारह वर्षों को काट कर फेंक दूँगी।

* * *

द्वारका से दूत आया है। पार्थ, सखा के साथ द्वारका में सकुशल हैं और अवाधि समाप्त होते ही खाण्डवप्रस्थ पहुँचेंगे। दूत, महाराज की सेवा में निवेदन करके द्वारका लौट गया। पार्थ, सखा के साथ सकुशल हैं, सुनकर मन संतुष्ट हो गया। यद्यपि समय अपने गति से बीत रहा है, किन्तु अब मेरा मन चाह रहा है कि समय अपनी गति से तीव्र चले, जिससे पार्थ शीघ्रता से मेरे पास आ जायें। अब मैं एक नए सिरे से पार्थ के साथ जीना चाहती हूँ। अब जबकि सबके विवाह हो चुके हैं, सबकी पत्नियाँ उनके साथ हैं तो एक नई व्यवस्था का प्रस्ताव रखा जा सकता है कि अब मुझे केवल

पार्थ की ही सेवा में रहने दिया जाये। दूसरे ही पल मन प्रश्न करता है कि क्या ऐसा हो पायेगा? मैं स्वयं को समझाती हूँ कि जब पहले की अकल्पनीय व्यवस्था हो सकती है तो अब यह क्यों नहीं? यह भी हो सकेगी। मैं सबसे अनुरोध करूँगी... माता से, महर्षि व्यास से, महाराज युधिष्ठिर से और सखा से भी। धर्मतः तो मुझे पार्थ ने ही प्राप्त किया था। मैं अतीत पर प्रश्न नहीं करती हूँ कि कौन सी परिस्थितियों के कारण मुझे पाँच में विभक्त होना पड़ा, किन्तु आज परिस्थितियाँ भिन्न हैं तो क्या माता मेरी विनती नहीं सुनेंगी, महर्षि व्यास मेरे अनुरोध का कोई उत्तर नहीं देंगे।

मैं अपने तर्क वितर्कों से संतुष्ट और प्रसन्न हो जाती हूँ, जैसे कि जब पार्थ लौटकर आयेगे तो मैं केवल उनकी होऊँगी और वह केवल मेरा। मैं पार्थ के साथ नए सिरे से अपना जीवन आरम्भ करूँगी; मेरी सारी पीड़ा, क्षोभ दूर हो जायेगा, मेरा मन अपने अतीत के लिये लोगों को दोष देना बंद कर देगा और मैं अपने अतीत को मैं अपने मन से काटकर फेंक दूँगी और मैं सही अर्थों में पत्नी बनूँगी, माँ बनूँगी।

जैसे सभी पाण्डवों की पत्नियाँ अपने पतियों की दृष्टि चावनी से बँधी डोलती रहती हैं, मैं भी पार्थ के प्रेम से बँधी, स्नेह में डूबी खाण्डवप्रस्थ के राजभवन में रहूँगी। मैं पार्थ के साथ इसी भवन में रहूँगी, जहाँ मैंने पार्थ के बिना एक एक क्षण को जिया है मेरे अंगल बगल भीमसेन, नकुल और सहदेव के भवन हैं। मुझे महारानी बनने की लालसा नहीं है, मैं अपने छोटे से संसार में पार्थ के साथ रहना चाहती हूँ, जहाँ मैं, पार्थ और हमारे बच्चे रहे।

बच्चों के नाम पर मैं सहम जाती हूँ। मैं अपनी संतानों के समक्ष सम्मिलित भोग की भिक्षा नहीं बनना चाहती। मैं सज्जन होते अपने बच्चों को कैसे समझाऊँगी कि एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न उनके सहोदरों के पिता भिन्न भिन्न क्यों हैं? मैं कहाँ से उदाहरण लाऊँगी कि जैसे उनकी माता और ...। क्या मेरे बच्चे यौवन की सीढ़ी चढ़ते समय अपनी माँ का निंदित, घृणित जीवन-परिचय पाकर अन्य बालकों के समान सामान्य रूप से विकसित हो सकेंगे? मेरा जटिल गृहस्थ जीवन क्या उनके जीवन में मानसिक जटिलताएँ नहीं पैदा करेगा? मैं सहम जाती हूँ। मेरे भाग्य में विधाता ने जो विडंबना लिखी थी, वह मैं भोग रही हूँ, किन्तु मैं अपनी संतानों को घृणा, व्यंग्य, उपहास का पात्र कदापि नहीं बनने देना चाहती हूँ।

आगामी सुख की कल्पना मेरे अतीत के दुःख की स्मृतियों को बहा ले जाती है, अब मेरा वर्तमान पुलक से भरा धीरे धीरे चल रहा है। यद्यपि दिन रात का परिमाण वही रहता है, पर मेरे लिये अब सब कुछ बदल गया है। प्रतीक्षा का दुःख अब सुख की कल्पना में परिवर्तित हो रहा है।

पार्थ के साथ सुभद्रा और सखा भी आ रहे हैं, सुना तो प्रसन्न हो गयी। सखा और सुभद्रा के आने से खाण्डवप्रस्थ धन्य हो जायेगा और मेरी प्रसन्नता दुगुनी हो जायेगी। सुभद्रा का आगमन सुनकर किंचित आश्चर्य हुआ, पर अस्वाभाविक क्या है इसमें? पार्थ से मिलकर उनके मन में बुआ कुंती और अपने अन्य फुफेरे भाइयों को भी देखने की इच्छा पैदा हो जाये तो इसमें आश्चर्य क्या है? सुभद्रा के विषय में सखा से ही सुना था कि वह बहुत सुंदर सुशील हैं... उन्हें और बलराम को प्राणों से भी प्रिय है। सखा एक क्षण के लिये भी उसका मलिन मुख मण्डल नहीं देख सकते हैं।

सुभद्रा की चर्चा करते समय सखा की आँखों से मुख मण्डल की एक एक रेखा से स्नेह झरने लगता है। सच, सुभद्रा बहुत भाग्यशाली है, जो उसे इतना स्नेह करने वाले भाई मिले हैं। सुभद्रा के विषय में सोचते-सोचते मैं अपने अतीत में खो गयी। मेरे भी भाई हैं द्युम्न... मेरे लिये सहोदर ही हैं, जैसे कि सखा और सुभद्रा। मेरा कोई बचपन नहीं था जो कि बड़े भाई की गोद में घूमती, पिता की

गोद में बैठती... मेरा जीवन ऐसा क्यों नहीं था? एक क्षण के लिये मैं विधाता के अन्याय पर प्रश्न लगाती, तो अगले ही क्षण सखा की कल्पना में डूब जाती हूँ। अब सुभद्रा आ रही है तो मैं उसमें ही अपना बचपन जी लूँगी; सुभद्रा पर सखा की स्नेह छाया में मैं अपने बचपन की कल्पना कर लूँगी।

मैं भविष्य की कल्पनाओं में ही डूब उतरा रही हूँ। आज खाण्डवप्रस्थ समृद्ध है, मैं सुभद्रा को जी भर कर उपहार दूँगी। सब कुछ देकर भी मेरा मन शायद ही भरे। कितने बहुमूल्य आभूषण नए के नए ही रखे हैं; इच्छा थी कि पार्थ के आने पर उनको पहनूँगी। बहुमूल्य वस्त्र, जो पार्थ के आगमन पर धन्य होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, उनमें भी उत्तम चुनकर मैं सुभद्रा को दूँगी। अनायास ही मेरे हृदय में सुभद्रा के लिये अपार स्नेह उमड़ने लगा।

मैंने पार्थ को पिछले बारह वर्षों में उनसे दूर रह कर अधिक समझा है। साथ रहते हुए पार्थ ने अपने हृदय को कभी मेरे समक्ष खोला ही नहीं, पर दूर रहने पर अपने स्मृति में पार्थ को हर क्षण जीकर बहुत कुछ समझ पाई हूँ।

जानती हूँ कि पार्थ, भीम की भाँति शोर नहीं मचायेंगे, अपने अधिकारों का प्रयोग भी नहीं करेंगे... शांत रहेंगे, दूसरे के सुख के लिये स्वयं के सुख को उत्सर्ग कर देंगे, अधिक वेदना होगी तो पहले की भाँति चुपचाप किसी बहाने से दूर हो जायेंगे। इन बारह वर्षों में मैंने बहुत बड़ा मूल्य चुकाया है, अब मैं पार्थ को पा करके कभी नहीं खोऊँगी। उनके लौटने पर अपनी बुद्धि, ज्ञान, प्रश्न सब कुछ त्याग कर स्वयं को उनको समर्पित कर दूँगी। वही मेरा हाथ पकड़कर लाये थे, अब मैं उनकी इच्छा मूर्ति बनकर रहूँगी। पार्थ जैसा चाहेंगे पहनूँगी-ओढ़ूँगी, सजँगी-सँवरूँगी... मुझे कोई कर्तव्य, धर्म, परम्परा अब अपने लक्ष्य से भ्रमित नहीं कर सकेगी। अब मैं केवल पार्थ की छाया बनूँगी, इसमें मुझसे पाप हो या पुण्य, धर्म हो या अधर्म, अब मुझे कोई भय नहीं। अब मैं अपना सर्वस्व पार्थ को सौंपकर निश्चित हो जाऊँगी। अपना विश्वास सौंपकर मैं सब कुछ पा लूँगी, उसके पश्चात् मुझे किसी चीज की आवश्यकता नहीं होगी।

पार्थ, उलूपी, चित्रांगदा की उपेक्षा करके केवल मेरे लिये लौट रहे हैं। सब कहते हैं कि चित्रांगदा और उलूपी से विवाह राजनैतिक कारणों से उचित है, मैं भी स्वीकार करती हूँ और मुझे कोई ईर्ष्या भी नहीं है, किन्तु यदि पार्थ किसी से प्रेमवश विवाह करते और उसे साथ लाते तो मैं उसे नहीं सह पाती।

राज्य भर में उत्सव हो रहा है। खाण्डवप्रस्थ को नव वधू की भाँति सजाया गया है। पार्थ के निवास के लिये राजभवन में भारी उलट फेर किया गया है। पार्थ के लिये कई कक्षों से युक्त एक प्रखण्ड का निर्माण और उसकी साज सज्जा की गयी है। पार्थ का निवास अद्वितीय है; महाराज के खण्ड से भी सुंदर। शयनकक्ष की सज्जा देखकर मैं आश्चर्य चकित रह गयी। सच, कलाकारों जैसी उर्वर कल्पना सामान्य जन नहीं कर सकते हैं। नकुल अपने संरक्षण में पार्थ के अस्त्र-शस्त्र उनके लिये नवीन वस्त्र, भोग विलास की सामग्री को पहले ही भवन में व्यवस्थित करवा चुके हैं।

मैं अभिभूत हूँ। सारा आयोजन और साज-सज्जा पार्थ को लेकर की जाने वाली मेरी कल्पना में और अधिक रस घोल रही है। मैं अनुराग, उमंग से भरी पूरे राजभवन में घूमती रहती हूँ और लाख प्रयास करने पर भी मेरे हृदय का अनुराग मेरी बातों से, आँखों से मुख मण्डल की एक एक रेखा से बाहर छलक पड़ता है तो मैं लाज से दोहरी हो जाती हूँ। अपनी लज्जा को जब मैं छिपाने लगती

हूँ तो उस प्रयास में मुझसे कुछ न कुछ ऐसा हो जाता है कि दासियाँ भी अपनी हँसी नहीं रोक पाती हैं और मैं कुछ समय के लिये उन्हीं के धरातल पर आ जाती हूँ। स्वामिनी और सेविका का भाव समाप्त हो जाता है।

मैं राजभवन के तीसरे तल पर खड़ी टकटकी बाँधे राजमार्ग को देख रही हूँ। तीव्र धावक अश्वों पर सवार दूत थोड़ी थोड़ी देर में महाराज युधिष्ठिर के समक्ष, पार्थ कहाँ तक पहुँचे हैं इसकी सूचना दे रहे थे। बस अब किसी भी क्षण राजमार्ग घोड़ों की खुशियों से उड़ी धूल से भर जायेगा। पार्थ के साथ द्वारिका से सखा सुभद्रा और बहुत सारे रथ, हाथी, घोड़े, दास, दासियाँ, बहमूल्य रत्नों से लदी शिविकाएँ, पशुधन और न जाने कितनी अनगिनत सामग्री खाण्डवप्रस्थ आ रही हैं। मैं दो तीन दिनों से पार्थ के साथ आने वाली विशाल संपदा का वर्णन सुन रही हूँ और मुझे आश्चर्य हो रहा है कि सखा इतने उपहार क्यों दे रहे हैं? यदि कोई विशेष अवसर होता है तो उपहारों का लेन देन स्वाभाविक है किन्तु इतनी मात्रा में तो नहीं। तो क्या पार्थ ने गत बारह वर्षों में अपने पुरुषार्थ से इस विशाल संपदा का संग्रह किया है? मेरा मन विश्वास से उत्तर देता है, अवश्य। मन, उपहारों के ऊहापोह से निकलकर पार्थ की प्रतीक्षा करने लगा।

धूल का विशाल चक्रवात दक्षिणी दिशा में क्षितिज पर उभरने लगा। धीरे धीरे वह चक्रवात बढ़ता जा रहा है, घड़ी भर तक मैं प्रतिपल विशाल होते चक्रवात को भाव विभोर होकर देखती रही। इसी धूल के आवरण में पार्थ का रथ प्रतिक्षण तीव्र गति से दौड़ता हुआ राजभवन की ओर अग्रसित हो रहा है। देर तक खड़े रहने पर भी मुझे कुछ भी स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था न पार्थ न उनका रथ और न ही सखा और सुभद्रा। मेरे न दिखाई देने से क्या होता है? दूत क्षण क्षण पार्थ के निकट पहुँचने की सूचना लेकर आ रहे हैं। मैं तीसरे तल से नीचे उतर आयी।

मैंने अपना शृंगार नववधू की भाँति किया है। मैं पार्थ की आरती उतारूँगी उनका अभिनंदन करूँगी... उनके साथ जाकर कुल देवता को प्रणाम करूँगी और अपने सुखद भविष्य की प्रार्थना करूँगी। पार्थ की दोनों ज्येष्ठ भावजें पार्थ को पहली बार देखेंगी, उनकी आरती उतारेंगी; जी में आयेगा तो हँसी ठिठोली भी करेंगी। दोनों अनुज बधुएँ छोटी होने के कारण ज्येष्ठ पार्थ को दूर से प्रणाम करने के लिये पीछे खड़ी हैं।

माता कुंती ने मुझे पार्थ के स्वागत के लिये कहा तो मैं प्रसन्न हो गयी। आज का यह क्षण मैं किसी से बाँटना नहीं चाहती हूँ... केवल मैं और पार्थ। गत बारह वर्षों में बहुत कुछ बदल गया है; राजभवन का विस्तार दुगुने से भी अधिक हो गया है। पाण्डवों के विवाह के साथ साथ उनके लिये परिसर में अन्य आवासीय भवन बन गये थे। पार्थ के लिये बना नवीन भवन आज नववधू की भाँति सजा हुआ है। कक्ष और शर्या की सज्जा मेरी भावनाओं को उद्दीप्त कर रही है। मैं स्वर्ण थाल में जगमग करती आरती को लेकर खड़ी हूँ। पार्थ राजभवन में आ चुके हैं और किसी भी क्षण अंतःपुर के द्वार पर प्रकट हो सकते हैं।

* * *

हल्की सी हलचल हुई और पार्थ मेरे सम्मुख खड़े हैं। मैं भाव विभोर हो उठी। हाथों में थामा आरती का थाल थरथराने लगा और मेरा जी चाह रहा था कि मैं दौड़कर पार्थ की भुजाओं में समा जाऊँ, किन्तु संयम रखा। मंगल गीतों के लय पर मेरे हाथ यंत्र चलित से पार्थ की आरती उतार रहे हैं। मैं पार्थ के मुख को भलीभाँति देखना चाहती हूँ, अपनी आँखों से पार्थ की आरती उतारना चाह रही हूँ, किन्तु आरती की झिलमिलाती दीप शिखाएँ मेरे नेत्रों और पार्थ के मुख के बीच बाधा

बन रही हैं। मेरी दृष्टि दीप शिखाओं को चीर कर भलीभाँति पार्थ के मुख तक नहीं पहुँच पा रही हैं।

ये क्या... पार्थ की विशाल काया के पीछे राजसी परिधान में नववधू कौन हैं? दूसरे ही क्षण उस नव वधू की ओढ़नी और पार्थ के उत्तरीय की बड़ी सी बँधी गाँठ पर मेरी दृष्टि गयी और मैं जड़ हो गयी। हाँ, जड़... चेतना शून्य नहीं हुई। उस जड़ता में भी मेरी चेतना में सब कुछ स्पष्ट हो रहा था। सुभद्रा, पार्थ की परिणीता बन अपने पति के साथ गाँठ जोड़े अंतःपुर में प्रवेश कर रही हैं। इतने दिनों से मेरे मन के किसी कोने से एक क्षण के लिये भी इस आशंका ने सिर नहीं उठाया था। स्वर्ण थाल में रखी दीपों की ज्योति असंतुलन से थरथराने लगी, थाल का भार असह्य हो गया। कहीं यह थाल मेरे शक्तिहीन थरथराते हाथों से छूट न जाये। अपशकुन के भय से मैं स्वयं को संयत करने लगी। कंठ से निकला विकल उच्छवास, कोकिल कंठों से निकलने वाले मंगल गीतों के बीच दब गया और मेरी आँखें पार्थ के मुख से हट गयीं। निकट खड़ी दासी ने मेरे हाथ से आरती का थाल ले लिया और मैं उल्टे पैरों पीछे खड़ी दासियों के समूह में धँसने लगी... मार्ग अपने आप बनने लगा।

मैं मुड़कर लगभग दौड़ती हुई अपने कक्ष की ओर जाने लगी। मेरे पीछे भागती हुई मेरी सेविकाएँ भी मेरे समीप आ गयीं। मैंने उन्हें रोका, कि जब तक मैं उन्हें न बुलाऊँ, वे मेरे शयनकक्ष में न आयें। मैंने कक्ष के कपाटों को उढ़का दिया और अपने पलंग पर औंधे मुँह गिर गयी। मेरी चेतना न तो जागृत थी और न ही सुप्ता मैं पता नहीं किस स्थिति में थी।

पार्थ ने एक ही आघात में मुझे चेतनाशून्य कर दिया था। शय्या पर लेटते ही अंदर से उफनती रुलाई पूरे वेग से फूट पड़ी। सब कुछ उफनकर बाहर आना चाहता है लगता है, कि मेरे भीतर अग्नि धधक रही है और वह मेरे हृदय को फाड़कर बाहर निकल जाना चाहती है। वह अग्नि मेरे तन मन को धधकाती जा रही है। कसक... केवल कसका। अब तो मेरा सारा जीवन ही कसक बनकर रह गया है। कितने ही प्रश्न एक साथ घुमड़ रहे हैं और हर प्रश्न अब पलटकर मुझ पर ही प्रहार कर रहा है। न जाने कितनी देर मैं औंधे मुँह, शय्या पर पड़ी रही। आँसू अपने आप बहते रहे, तप्त साँसें उन्हें सुखाती रहीं। रोते रोते अंत में मैं निढाल हो गयी।

कक्ष का द्वार धीरे से खुला। आहट पाकर, पलटकर देखा तो पार्थ खड़े थे। जिस पार्थ की बारह वर्षों से अपने कक्ष के द्वार पर प्रतीक्षा कर रही थी, उसी कक्ष के द्वार पर वह खड़े थे, किन्तु अब सब कुछ बदल चुका था और इस समय मैं स्वयं को सबके द्वारा ठगी हुई पा रही थी।

पार्थ को देखकर मन विकल होने लगा। एक क्षण के लिये जी में आया कि मैं दौड़कर पार्थ से लिपट जाऊँ, किन्तु दूसरे ही क्षण मेरा सर्वांग दहकने लगा। क्या पार्थ मुझे जीवन में आघात ही देते रहेंगे! पार्थ के प्रथम आघात ने मेरे जीवन को तार तार कर दिया था और अब इस आघात ने मानों मेरे प्राण ही हर लिये हैं। क्रोध, दुःख, अपमान, सब कुछ एक साथ फूट पड़ा। पार्थ क्षमा माँगते रहे, किन्तु मेरा आवेग थमने का नाम ही नहीं ले रहा था। मैं धधकते हुए अग्नि कुण्ड में खड़ी थी और मैं अपनी ही अग्नि में भस्म हो जाना चाहती थी। पार्थ तो जैसे ठानकर ही आये थे कि उन्हें पान्चाली के सारे प्रहारों को सहन करना है। वह सहन करते रहे, क्षमा-याचना करते रहे।

यह पुरुष जाति भी विचित्र होती है... जिस अपराध की स्त्री के लिये कोई क्षमा नहीं हो सकती है। वह अपराध वह गर्व से सिर उठा छाती चौड़ी करके करता है और क्षमा माँगने की औपचारिकता निभाकर वह स्त्री को मानों बता देता है कि यह उसके लिये अपराध नहीं अधिकार

हैं और वह इस प्रकार से क्षमा माँगकर केवल उसकी भावनाओं को और अधिक आहत होने से बचा रहा है, अन्यथा उसे क्षमा माँगने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह नारी मन को अपनी शक्ति, सामर्थ्य के छलावे से छल कर विजयी होकर अपने मार्ग चल पड़ता है। उसे नारी का आहत, विवश और पराजित तन मन दिखाई नहीं देता है, उसे तो वह केवल हाड़ माँस की वस्तु ही दिखाई देती है, जिसे वह मात्र सूचना देकर उसे इस व्यवस्था में जीना है, का आदेश दे देता है।

पार्थ, घड़ी भर रह कर चले गये। उनका संभाषण मुझे नाटकीय लग रहा था, जो मेरे भीतर क्रोध और घृणा पैदा कर रहा था। उनका आगमन एक छलावा लग रहा था। बारह वर्षों के पश्चात यदि पार्थ अकेले आते, तो मेरे लिये वह वही पार्थ होते... बारह वर्षों के अतीत को मैं वस्तुओं पर पड़ी धूल की भाँति झाड़ देती, किन्तु पार्थ, सुभद्रा से विवाह करके उसे साथ लेकर लौटे हैं तो लगने लगा कि उनके बारह वर्षों के कर्मों का अतीत भी उनमें लिपटकर आ गया है। यह पार्थ नहीं कोई अन्य पुरुष मेरे समक्ष खड़ा है, जो कि अन्य तीन पत्नियों का पति और दो पुत्रों का पिता है और उसे अभी तक याद है कि द्रौपदी भी उसकी एक पत्नी है, इसी कारण से वह उसे भी प्रेम और सम्मान देने का आश्वासन दे रहा है, जिसके कारण मैं अधिक क्रोधित हो उठी हूँ।

अपराध को न्यायसंगत बनाने का प्रयास क्रोध ही उत्पन्न करता है। मैं अपने अंतर्दाह में जल रही थी। लाख प्रयास करने पर भी रुलाई फूट गयी। रुलाई ही फूटी, मैं नहीं टूटी... कठोर बनी रही। पार्थ की बातें मुझे बिना छुए हुए चली गयीं। पार्थ ने मेरी पीठ पर हाथ रखा तो लगा जैसे विषधर चढ़ आया हो। मैंने हाथ झटक दिया और उठकर खड़ी हो गयी। मेरा इस प्रकार से खड़ा होना पार्थ को वहाँ से चले जाने का आदेश जैसा था।

रात्रि हो गयी है। दासियाँ बार बार आकर निवेदन कर रही हैं कि देवी! भोजन कर लें; माता कुंती ने संदेश भेजा है, आने की रीति आपको पूरी करनी है। हाँ मैं जानती हूँ, अपने पति के विवाह की अंतिम रीति, अपनी सपत्नी को अपने पति की शय्या पर पहुँचाने की रीति, जो कि अभी बाकी है और वह मुझे ही पूरी करनी है। गत वर्षों में अपने चारों पतियों के विवाह के पश्चात अपनी सपत्नियों को मैं अपने पति की शय्या पर बिठा चुकी हूँ। तब भी मेरा मन गंगा जमुनी होता था; परन्तु तब मुझे लगता था कि मेरे पति तो तृतीय पाण्डव अर्जुन हैं।

आज मैं अपने अहंकार के कारण दुःखी हूँ। सुभद्रा ने मेरे उस अहंकार को चूर चूर कर दिया, कि मुझे पाने के बाद कोई पुरुष अन्य स्त्री की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। पार्थ स्वयं याचक बने थे। उलूपी ने प्रणय याचना की थी, पत्नी बनने की कामना की थी। मैं दुःख के साथ साथ गर्वित भी हुई थी, किन्तु पार्थ की इस याचना ने मुझे असहाय बना दिया। इस राजभवन और आर्यावर्त में न समा पाने वाले मेरे सौन्दर्य का अहंकार आज धूल के कण के बराबर होकर सुभद्रा के चरणों में पड़ा मेरा उपहास उड़ा रहा है और मैं ग्लानि से भूमि में गड़ी जा रही हूँ।

आज मुझसे सुभद्रा को पार्थ की शय्या पर पहुँचाने की रीति पूरी करने की अपेक्षा की जा रही है। मैं इस रीति का निर्वाह नहीं कर पाऊँगी। जिस सपत्नी की कल्पना भी मुझे सहा नहीं, उस सपत्नी को अपने हाथों से सहारा देकर पार्थ के सुसज्जित कक्ष में उस पलंग पर, जिसकी सज्जा को मैं अपने लिये समझ रही थी, जागती आँखों से सपने देख रही थी, आज उसी कक्ष में पार्थ की नवविवाहिता सुभद्रा को आलिंगन करके आशीर्वाद देकर उसे उसी पलंग पर बिठाना है।

मैं नहीं कर पाऊँगी; भले ही सुभद्रा, सखा की बहन है। हाँ... कहाँ हैं सखा! मेरे मन में आ रहा है कि धड़धड़ाती हुई राजभवन के बाहरी खण्ड में चली जाऊँ और पूछूँ कि सखा, क्या यही मित्रता

की रीति हैं? यही प्रतिदान है मेरे प्रेम और भावनाओं का? आपको सुभद्रा के लिये तो एक से एक श्रेष्ठ वर मिल सकते थे, किन्तु मैंने आपका क्या बिगाड़ा था, जो विधाता के द्वारा मेरे माथे पर लिखे दुर्भाग्य को बढ़ाने का माध्यम बन रहे हैं?

“सखी! यह क्या हाल बना रखा है तुमने? एक नितांत साधारण स्त्री की भाँति दुःखी हो रही हो और मुझे लज्जित कर रही हो।” सखा, मेरे कक्ष में चले आये। मुझे आशा नहीं थी कि सखा इस प्रकार मेरे भवन में चले आयेगे और मैं सामान्य होने का प्रयास करने लगी। ...तुम तो एक बुद्धिमती स्त्री हो... तुम्हारे साहस ऊर्जा और दिव्यता की समानता करने वाली कोई स्त्री इस पृथ्वी पर नहीं है और तुम हो कि स्वयं को अति साधारण बनाकर अपनी गरिमा को कम कर रही हो; उठो, हाथ मुँह धो कर शृंगार करो; तुम महारानी द्रौपदी की भाँति गरिमा और गौरव से भरी हुई ही सुंदर लगती हो।”

मैं चुप रही।

“कहाँ हैं तुम्हारी सैरन्धी! उन्हें आदेश दो, नहीं तो मैं स्वयं तुम्हारा शृंगार करना आरम्भ कर दूँगा।”

मैं फीकी हँसी हँस पड़ी। “आपको शृंगार करना आता है? अरे! मैं तो भूल ही गई थी। आपने मुझे बताया था कि आप गोकुल में।” मैंने बात आधी छोड़ दी। सखा ने परिहास से मेरा दुःख हल्का कर दिया। क्रोध, मान गुमान सब हँसी के साथ एक क्षण के लिये बाहर निकल गया। मैं उठ कर भीतर चली गई।

मैंने स्वयं को संयमित किया और दर्पण के सम्मुख खड़ी हुई, तो मुझे आज अपनी छवि थकी हुई और बारह वर्ष पुरानी लगने लगी। मैं तो बड़े यत्न से समय की गति को पकड़ कर खड़ी थी। समय बीतता रहा, आयु बढ़ती रही, किन्तु मेरे मन का एक हिस्सा कट कर वहीं पार्थ की प्रतीक्षा में खड़ा रह गया। जीवन तो समय के साथ चलता है, पर जब जीवन समय से कट कर ठहर जाये तो समय जीवन की प्रतीक्षा नहीं करता रहता है।

मैंने अपना मुँह धोया, शिथिल पड़ गए केश के विन्यास को सँवारा; हल्का सा प्रसाधन किया... आभूषण भारी लग रहे थे, अतः अधिकांश आभूषणों को उतार दिया। बाहर निकली तो देखा, सखा वहीं बैठे हैं। आश्चर्य हुआ... इतनी व्यस्तता में जहाँ सबकी आँखें पार्थ और सखा पर ही हैं, सखा वहाँ से उठकर मेरे पास चले आये और अपने स्नेह से मेरे दुःख को कुछ क्षण के लिये ही सही पर हल्का कर दिया। मैं जानती हूँ कि यदि मैं अभी उठकर हाथ मुँह धोकर प्रसाधन नहीं करूँगी, तो सखा मेरे केशों को सँवार भले न पायें, किन्तु खोल अवश्य देंगे।

“चलो बाहर निकलो।” सखा ने कहा।

मैं सखा के साथ बाहर निकल आयी। मुझे ज्ञात था कि मुझे नए भवन में जाना है, जहाँ माता कुंती और मेरी सभी सपत्नियाँ सुभद्रा के पास बैठी हैं। मैं सखा के साथ उस ओर चल दी। सखा मुझे द्वार तक छोड़ कर आगे बढ़ गये। बाहरी कक्ष से चारों भाइयों और पार्थ की बातचीत भीतर तक सुनाई दे रही थी।

मेरे पैरों में मानों भारी बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं और मैं एक एक पग बड़ी कठिनाई से उठा रही थी। यत्न से सँभाला गया साहस बार बार छूट जाता है। मैं चाहती थी कि पार्थ के भवन तक जाने का मार्ग कभी समाप्त ही न हो और मैं चलती रहूँ जीवन भर। पार्थ के भवन तक पहुँचने का साहस मुझमें नहीं है। मेरे चाहने से क्या होता है; मेरे पैर अदृश्य दिशा-निर्देश से चलते रहे और मैं अंतःपुर

में पहुँच गई। माता कुंती के अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ मेरे सम्मान में खड़ी हो गयीं। सुभद्रा, माता कुंती के पास संकुचित होकर बैठी थी। माता कुंती ने बड़े र्नेह से उसे अपने निकट बिठा रखा है, जैसे वह बारह वर्षों से पार्थ की नहीं वरन् सुभद्रा की प्रतीक्षा कर रही हों। मुझे देखकर माता ने सुभद्रा को संकेत किया। सुभद्रा हड़बड़ाकर खड़ी हो गयी और शीघ्रता से आगे बढ़कर मेरे पैरों को पकड़कर बैठ गयी, “दीदी! मैं आपकी दासी हूँ” कहते हुए उसने अपना मुख ऊपर उठाया। उसका दूधिया मुख मण्डल भ्रमित था, ओंठ हल्के से खुले हुए और बड़े-बड़े नेत्र मुझे देखते हुए न जाने क्या याचना कर रहे थे। मैंने हाथ बढ़ाकर उसे ऊपर उठा लिया, “सौभाग्यवती रहो! तुम्हारा पति दीर्घायु और शत्रु रहित हों।” मैं यंत्र चलित सी बोल उठी। पुत्रवती होने का आशीर्वाद मेरे कंठ से नहीं निकल सका। आज तक क्या किसी स्त्री के कंठ से अपनी सपत्नी के लिये ‘पुत्रवती’ होने का आशीर्वाद निकला है, जो कि मेरे कंठ से निकलता।

मैं बैठ गई। कुछ समय तक वह वातावरण बोझिल सा लगा, किन्तु दासियों के आने जाने किसी से कुछ कहने सुनने के कारण धीरे धीरे कक्ष में पहले जैसी चहल-पहल होने लगी। थोड़ी देर बाद दासियाँ सुभद्रा को स्नान व प्रसाधन के लिये अन्य कक्ष में ले गयीं। सुभद्रा के जाने के बाद मैं सहज होने का प्रयास करने लगी। सुभद्रा की काया का दूधिया गुलाबी रंग मेरे हृदय में विचित्र वेदना पैदा कर रहा था। मेरी और पार्थ की श्यामल काया, शर्या पर लगभग एक रंग लगती थी, किन्तु यह पार्थ के साथ पार्थ की शर्या पर कैसी लगेगी? मैंने अपने विचारों को झटक दिया... मैं क्यों ऐसा सोच रही हूँ। मेरी सोच मुझे ही लज्जित और अपमानित करने लगी।

मैं अपनी सपत्नियों के साथ बैठी रही। सुभद्रा के वहाँ से जाने के बाद मैंने अपनी सपत्नियों को देखा। चारों के मुख पर एक अज्ञात भय व्याप्त था। अपने अपने पतियों के संभावित अन्य विवाह की कल्पना के भय ने सबको एक सूत्र में बाँध दिया था। उन्हें आज मुझसे सहानुभूति थी। मेरे मन से पार्थ के लिये छलकने वाला अतिरिक्त प्रेम उनके समक्ष गुप्त नहीं था और इसी कारण उन्हें कभी मुझसे या मुझे उनसे तीव्र सौतिया डाह नहीं था... किन्तु आज मैं पार्थ के प्रति उसी उत्कट प्रेम के कारण लज्जित अपमानित बैठी थी।

एक बार मैं पुनः सुभद्रा के समक्ष खड़ी थी। मुझे देखकर सुभद्रा उठ खड़ी हुई। स्नान के पश्चात् मार्ग की थकान समाप्त हो गई थी और शृंगार से उसका रूप और अधिक निखर आया था। मैं अपनी सपत्नियों को अपनी पति की शर्या पर बिठाने की रीति में अभ्यस्त थी; मुझे कुछ भी नया नहीं करना था। मैंने सुभद्रा की पीठ पर हल्का सा स्पर्श किया। संकेत समझकर सुभद्रा चलने लगी। कक्ष में पहुँचकर मैंने सजी हुई शर्या पर एक दृष्टि डाली और फेर ली। पास में खड़ी सुभद्रा को मैंने हृदय से लगाया तो मुझे लगा मेरे हृदय से बहुत कुछ निकलकर सुभद्रा के हृदय में चला गया। हाँ, पार्थ मेरे हृदय से निकलकर सुभद्रा के हृदय में समा गये। मेरा हृदय तो पहले से ही खाली था, अब और भी खाली हो गया। मैं घबराकर अपने हृदय पर हाथ रख कर ढूँढ़ने लगी कि पार्थ के साथ साथ सुभद्रा ने सखा को भी तो अपने हृदय में नहीं समेट लिया, या सखा स्वयं ही पार्थ के साथ तो नहीं निकल गये? सगी बहन है सुभद्रा, उसका घर संसार भी तो सखा को बसाना है। मेरा मन सखा से ही प्रश्न करने लगा, सखा! आपने तो पार्थ के लिये कहा था कि वह मेरा ही अंश है और मैंने आपको और आपके अंश को अपने हृदय में बसा लिया था... तो क्या इतने वर्षों में पार्थ के भीतर का आपका अंश क्षीण होते होते विलुप्त हो गया, या...

मैं कक्ष में हास-परिहास करती महिलाओं को छोड़कर बाहर निकल आयी। भवन के बाहरी

खण्ड से पाण्डवों और सखा के वार्तालाप का स्वर भीतर तक आ रहा था। मैं अर्जुन के कंठस्वर को सुनकर ठिठक गई। बारह वर्षों से मेरे कान इसी कंठ स्वर को सुनने के लिये तरस रहे थे, किन्तु आज वही कंठ स्वर मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहा था।

मैं वेदना से भरी उपेक्षित सी अपने भवन की ओर लौटने लगी। मेरी दासियाँ भी मेरे पीछे चल रही थीं। पूरा राजभवन प्रकाश से जगमगा रहा था, किन्तु मेरे जीवन पथ में अँधेरा उतर आया है और इस अँधेरे में मुझे कुछ भी नहीं सूझ रहा है। खाण्डवप्रस्थ के राजभवन की प्रसन्नता की खनक में केवल मेरे कंगन और नूपुर की ध्वनियाँ सिसक रही हैं।

दुःख! विचित्र सा दुःख। कारण साफ साफ होने पर भी दुःख की अनुभूति साफ साफ नहीं है। कदाचित मेरा मन इतना बेचैन है कि वह उस दुःख को जीने के लिये तैयार नहीं है। वह उस दुःख को परे ढकेल कर उसकी जगह कोई मधुर स्मृति बसा लेना चाहता है। इस अंतर्द्रव्य में मेरा तन मन सब मथा जा रहा है। मन व्यथित है; मस्तिष्क उसे उस व्यथा से निकालने का प्रयास कर रहा है।

मैं अपनी व्यथा किसी को भी नहीं दिखाना चाहती। दिखाना क्या, किसी को इसका आभास भी हो यह मैं नहीं सह पाऊँगी। मैं कृष्णा हूँ, कोई सामान्य स्त्री नहीं, इसीलिए मेरे सुख और दुःख भी सामान्य स्त्रियों से भिन्न हैं। मैं अग्नि की वेदी से पैदा हुई हूँ, कुण्ड की धधकती अग्नि मेरे हृदय में प्रज्ज्वलित होती रहती है और मुझमें इतनी शक्ति है कि अपने दुःखों की समिधा बना करके अपने अंतःकरण में प्रज्ज्वलित यज्ञकुंड में होम कर दूँ और मैं यही करने का प्रयास भी कर रही हूँ। अब किसी को मेरी पीड़ा दिखाई नहीं देगी... कम से कम उसे तो कदापि नहीं, जिसने यह पीड़ा मुझे दी है। इस प्रयास में मेरे शरीर के सारे अंग एक दूसरे से मानो अलग हो गए हैं और किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि आगे बढ़कर एक दूसरे से जुड़कर एक हो जायें।

मैं अपने पलँग पर निढाल सी पड़ी कभी शांत कभी भीतर से हुमक कर आती हुई रुलाई को गले में ही गटक लेने का प्रयास करती हूँ। रोकने के प्रयासों के बाद भी जब रुलाई फूट पड़ती है तो मैं तकिये में मुँह छुपा कर हुमक हुमक कर रोने लगती हूँ। बार बार मेरी कल्पना में मेरे सामने पार्थ आकर खड़े हो जाते हैं। पार्थ ही मेरे मन मस्तिष्क में कसक और तड़प के साथ ठसे हुए हैं। मन विद्रोह करके अलग खड़ा हो गया है, मस्तिष्क उसे अपने वश में नहीं कर पा रहा है। मेरे मन में आ रहा है कि यदि इस समय पार्थ मेरे पास होते तो मैं स्वयं को उनके विशाल वक्षस्थल में छुपा लेती, देर तक उन्हें महसूस करती और वह भी मुझे अपनी विशाल भुजाओं में बाँधकर मेरे मन को, मेरे शरीर को मेरे भीतर छुपी हुई पीड़ा को समूचा महसूस करते। मैं समा जाना चाहती हूँ, पार्थ में उतर जाना चाहती हूँ पार्थ के तन मन में। यदि ऐसा हो पाता तो मुझे थोड़ी शांति मिल जाती। मैं अपने दुःखों को समेट पाती और मुझे खड़े होकर साँस लेने के लिये एक भूमि मिल जाती।

मेरे पिछले बारह वर्षों के दुःख पर यह एक रात इतनी भारी है कि मेरा मन उसकी कल्पना से भी घबरा रहा है। बारह वर्ष... एक युग, मानो पूरा जीवन। जीवन में जीवन से लम्बा तो कुछ भी नहीं होता है और मैं आज उन छोटे छोटे पलों को ढूँढ़ रही हूँ, जिनको मैंने पार्थ के साथ जिया था। बहुत छोटे छोटे टुकड़े हैं उनके... कुछ पलों के, दो चार बस। सब मिलाकर, खींच पकड़कर बाँधने पर भी इतने लम्बे नहीं कि एक रात भी उन्हें याद करते करते सो जाऊँ। पार्थ! अब मैं अपना जीवन कैसे बिताऊँ? आपने मुझे इतनी गरीबी क्यों दी? कुछ भी नहीं है मेरे पास, सिवाय

खालीपन के। खाली तो कुछ होता ही नहीं है, मन में कुछ न कुछ भरा ही रहता है। मेरे मन के भीतर भी आपसे प्रेम न पाने की पीड़ा और आपको प्रेम न कर पाने की कसक ही लबालब भरी हुई है।

पार्थ! आप कभी भी पूरे मेरे नहीं थे, यह मैं भली भाँति जानती थी। आपने अपने हृदय के कपाटों को मेरे लिये कभी खोला ही नहीं। आपके हृदय का एक बहुत छोटा सा कोना ही मेरे हिस्से में आया था... शेष आपने अपने भीतर ही किसी के लिये छुपा रखा था, वह आपको आज मिल गयी और आपने अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर दिया। मेरा मन तो पहले से ही खाली था अब और भी खाली हो गया। खाली है इसी से व्याकुल है... भरा होता तो शांत होता।

मुझे नींद नहीं आ रही है। मैं पूरे पलंग पर तड़पती हुई लोट रही हूँ। मेरा तन तो अपने कक्ष में है, पर मन बेकाबू होकर बार बार पार्थ के कक्ष में जाकर खड़ा हो जाता है। मैं उसे विवेक का चाबुक मार कर वापस अपने पास लाती हूँ। मेरा मन अपने साथ साथ पार्थ को भी लाता है। मैं पलंग का दूसरा तकिया पार्थ के लिये रख देती हूँ और स्वयं पलंग के किनारे की ओर सरक जाती हूँ, जैसे कि पार्थ गहरी नींद में सोये हैं, मेरे निकट होने से उनकी नींद खुल जायेगी। मैं भली भाँति जानती हूँ कि पार्थ सुभद्रा के पास हैं, पर मन में एक आशा है कि पार्थ थोड़ा समय निकालकर मेरे पास आयेंगे, कदाचित् सुभद्रा के सोने के बाद।

अर्ध सुप्त अवस्था में चौंक कर उठ बैठी, लगा कि पार्थ पास में लेटे हैं। हड़बड़ाकर पलंग का खाली हिस्सा टटोलने लगती हूँ... क्या पता पार्थ मुझे सोया जान कर चुपचाप सो गये हों। मुझे इस बीच एक झपकी सी आ गयी थी, किन्तु वह हिस्सा वैसा ही खाली पड़ा था। सारी रात मैं करवटें बदलती, उठ उठकर बैठती रही। अंत में उठकर मैंने अपने कक्ष के गवाक्षों को खोल दिया। बाहर से ठंडी हवा का एक झोंका आया और उसी क्षण बागों में कोयल कूकने लगी... मेरे जीवन की यह काली रात बीत रही थी। एक रात बीतने से क्या होगा, अब तो कभी समाप्त न होने वाली काली रातों का क्रम प्रारम्भ हो गया है।

* * *

दासी निवेदन कर गयी है कि द्वारकाधीश महाराज श्रीकृष्ण महारानी, के दर्शन करना चाहते हैं। मैं सोचने लगी कि आज सखा, सूचना देकर अनुमति माँग रहे हैं; पहले मैं उनसे और वे मुझसे स्वयं ही सहज भाव से मिलते रहते थे, कोई विशेष औपचारिकता नहीं होती थी; किन्तु इस बार दूसरा दिन भी बीत गया और मैं सखा से नहीं मिली। कारण था, सखा के साथ पार्थ होंगे। कम से कम इस समय तो मैं पार्थ का मुख भी नहीं देखना चाहती थी, पार्थ को सुभद्रा के साथ नहीं देखना चाहती थी। कदाचित् इसी कारण सखा स्वयं मुझसे मिलने आ रहे हैं। पर आज आने से पूर्व संदेश क्यों भेजा है? क्या वह मुझे अपने समक्ष प्रस्तुत होने के लिये समय देना चाहते हैं या इस सारे प्रकरण में अपनी भूमिका को स्पष्ट करना चाहते हैं? मैं निःतेज बैठी थी। दासी के निवेदन पर मैंने स्वयं को संयत किया। सच, मुझे इस समय सखा की बहुत आवश्यकता है। इस समय केवल वही हैं जिनसे मैं अपनी पीड़ा, अपना क्रोध प्रकट कर सकती थी, अन्यथा मेरे जीवन में तो सबकी सेवा सत्कार और आज्ञा का भार ढोना ही लिखा है। मेरी वेदना, मेरा क्षोभ मेरा अपना था; केवल मेरा। किसी ने मुझे इतना अपनापन ही नहीं दिया था कि मैं उनके समक्ष अपना हृदय खोलती। मैं दासी की भाँति सबकी सेवा करती रही... हाँ, मैं एक मूल्यवान दासी अवश्य थी।

सखा मुझे अपने लगते थे, फिर भी उनसे कभी कुछ नहीं कहा; किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से मन ही

मन सब कुछ उनसे कहती थी। सखा बन स्वयं को समझाती थी, स्नेह देती थी, तब जाकर मैं नई स्फूर्ति से भर जाती। पार्थ भी मेरी भावनाओं में साथ ही रहते थे और इसी प्रेम और विश्वास के आधार पर मैं कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हताश नहीं होती थी। मेरे अंतःकरण की ऊर्जा कभी मद्धिम नहीं पड़ती थी, किन्तु आज उसी पार्थ ने मुझसे नाता तोड़ लिया और एक नया जीवन ओढ़ लिया है।

ऐसी विषम घड़ी में मुझे सखा की बहुत आवश्यकता है, पर पता नहीं मैं सखा से क्या कहूँगी... क्या सुनना चाहती हूँ सखा से। क्या सखा मेरे प्रति हुए इस अन्याय के लिये पार्थ की भ्रष्टाचार करेंगे? दूसरे ही क्षण मेरा हृदय बैठ जाता है। नहीं, पार्थ उनकी बहन सुभद्रा के पति हैं, उनकी बहन का सुख सौभाग्य है; पार्थ पर पड़ने वाली मेरी टेढ़ी दृष्टि भी सखा को सहन नहीं होगी। फिर मैं अपने क्रोध, दुःख और अपमान का क्या करूँ; यह पात्र में रखा जल तो नहीं है जिसे मैं नाली में प्रवाहित कर दूँ? मन है, मन को तो मन ही सांत्वना देता है, सहारा देता है और साहस देता है। कुछ न भी दे तो चुपचाप दुःख को सुनता तो है, जिससे मन हल्का हो जाये। आज सखा एक नए रूप में मेरे समक्ष आयेंगे। सखा के इस नये रूप ने सखा पर मेरे अधिकार को भी पूरी तरह से बदल दिया है। अब मैं उनकी वही सखी नहीं रही, अब मैं उनकी बहन सुभद्रा की सपत्नी हूँ; उसके सुख की भागीदार, पूरी न सही तो भी हर पाँचवें वर्ष में एक वर्ष के लिये तो यह सत्य है।

सारे प्रश्न, तर्क-वितर्क को मैं परे ढकेलने का प्रयास करती हूँ। इस समय मैं केवल सखा से मिलना चाहती हूँ... क्यों? मुझे यह नहीं ज्ञात, पर लगता है कि सखा से मिलकर मेरे भीतर जमा दुःख पिघलकर बह जायेगा। अधिक सोचने समझने की न तो मुझमें अब शक्ति है और न ही इच्छा।

मन भी कैसा होता है। एक बार वह साहस से खड़ा होता है कि मैं स्वयं को सखा के समक्ष कमजोर नहीं पड़ने दूँगी। मेरे भीतर की कृष्णा, मुझे कृष्ण के समक्ष पूरे आत्मबल के साथ खड़ा रखेगी, मेरे दुःख पीड़ा की एक रेखा भी मेरे मुख पर नहीं झलकने पायेगी। मैं सखा को किसी भी प्रकार से दुःखी, लज्जित और अपना अपराधी नहीं बनने दूँगी, किसी भी दुविधा में नहीं डालूँगी... बस, सखा संतुष्ट होकर द्वारका लौट जायें, अपना दुःख मैं अपने भीतर ही समेट लूँगी। मैं कृष्ण की सखी हूँ, यज्ञ की वेदी से मेरा जन्म हुआ है, मैं विशिष्ट हूँ और अपने को सामान्य स्त्री के धरातल पर नहीं लाऊँगी। उसी क्षण मन का दूसरा हिस्सा विद्रोह कर देता है कि इस विशिष्टता से मुझे जीवन में क्या मिला! सब ने मुझे विशिष्ट बना, महिमा मंडित करके मनुष्य नहीं रहने दिया। हाँ, मैं मनुष्य नहीं हूँ, एक स्त्री भी नहीं हूँ। न तो स्त्रियों जैसे मेरे सुख हैं और न ही दुःखा न ही मेरा हृदय किसी को दिखाई देता है और न ही किसी को लगता है कि मेरी कोई इच्छा भी हो सकती है। मैं थक गयी हूँ इस विशिष्टता का बोझ ढोते ढोते। लोगों ने मेरी विशिष्टताएँ गढ़ी... गढ़ते गढ़ते उसे इतना बड़ा बना दिया कि मैं उसके बोझ के नीचे ही दब गयी। अब मैं नहीं जी पा रही हूँ। टूट कर बिखर जाना चाहती हूँ, जिससे मेरे अंतर्मन का कोना कोना सबको दिखाई दे; सबको नहीं केवल सखा को, मैं केवल सखा के आगे टूटना चाहती हूँ। केवल वही हैं जिनके हाथों में मैंने अपना विश्वास सौंपा है और मुझे उनसे ही सब कुछ कहने सुनने का अधिकार है।

अधिकार तो मुझे अपने पतियों पर भी था, पर न जाने क्यों कभी इच्छा ही नहीं हुई। आज तक कोई भी मेरे मन की परतों को खोल नहीं पाया, भावनाओं से जुड़ नहीं पाया मेरी; अनुभूतियों को

सहला नहीं सका... तो मैं क्यों किसी से कुछ भी कहती? पर दुःख जब दुःसह हो जाता है, तो जीने के लिये अपने दुःख का भार थोड़ी देर के लिये ही सही किसी को सौंपना ही पड़ता है... यह भार मैं सखा को सौंपूँगी, वही मेरी पीड़ा का भार उठा सकेंगे। मैं कहूँगी सखा से, टूट कर कहूँगी, क्योंकि मेरा टूटना जरूरी है, नहीं तो अब मैं अपना मानसिक संतुलन खो बैठूँगी। सखा मुझे बिखरने नहीं देंगे, सँभाल लेंगे... सखा का मायावी व्यक्तित्व मुझे पुरानी कृष्णा के रूप में पुनः खड़ा कर देगा और मैं द्वारकाधीश महाराज श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा करने लगी।

इस दुःख में भी 'द्वारकाधीश महाराज श्रीकृष्ण' सोचकर हल्की सी हँसी आ गयी; द्वारकाधीश...। सच ही तो है वह द्वारका के महाराज हैं। संपूर्ण आर्यावर्त में उनके समक्ष है कौन? पार्थ! वह तो उन्हीं के अंश मात्र हैं। मैंने कभी ध्यान से सोचा ही नहीं। उनके लिये मैं सदा सखी रही, मुझे द्वारकाधीश महाराज की कभी आवश्यकता ही नहीं थी। मेरे सखा तो केवल कृष्ण थे... 'श्री' भी नहीं... और मैं उनकी सखी कृष्णा।

सखा से मिलने के लिये मैं अंतःपुर से निकली। स्वागत कक्ष में सखा बैठे थे। सखा को देखते ही मेरा यत्न से सँभाला हुआ धैर्य टूटने लगा। मैं दृष्टि नीचे किए हुए धीरे धीरे चलती सखा के पास आयी और प्रणाम करने के लिये झुकी, पर न जाने क्या हुआ, चरणों का स्पर्श करते ही मैं उन्हें पकड़कर वहीं भूमि पर बैठ गयी। मेरी झुकी ग्रीवा और अधिक झुक गयी। सखा चुपचाप बैठे रहे। मेरी पीड़ा मौन होकर बहने लगी। सखा! पार्थ के साथ तुम्हारा आगमन सुनकर मैं प्रसन्न हो गयी थी। सुभद्रा भी आपके साथ आ रही हैं, लगा खाण्डव प्रस्थ धन्य हो उठेगा, मेरी प्रसन्नता दुगुनी हो जायेगी। सब कुछ लगभग वैसा ही हुआ; व्यतिक्रम था तो केवल इतना, कि सुभद्रा आपकी बहन बनकर नहीं वरन् अर्जुन की पत्नी बनकर आयी और इसी व्यतिक्रम ने मेरे जीवन के क्रम को तोड़कर मुझे घोर यातना में डाल दिया है।

सखा, आपने यह क्या किया? अपना दान वापस ले लिया! हाँ दान ही था आपका। पार्थ, जो आपके अंश थे, आपको प्रिय थे, उन्हें आपने मेरे लिये प्रस्तावित किया था और मैंने उसे आपकी इच्छा मान कर स्वीकार कर लिया था, मन को विवेक का चाबुक मार मार कर उनमें अनुरक्त भी कर लिया था। मेरे लिये पार्थ आपके प्रेम का प्रतिदान थे। आपने दिया था, मैंने शिरोधार्य कर लिया था... पर ये क्या सखा, अपना वह दान प्रतिदान आपने मुझसे सुभद्रा के लिये छीन लिया, अपनी एक मात्र सखी से अपनी एक मात्र बहन के लिये? प्रेम, वचन और विश्वास पर रक्त सम्बन्ध भारी पड़ गया? सखा, आपका वह दान मेरा सर्वस्व था। अब तो मैं अकिंचन हो गई, कुछ भी नहीं है मेरे पास।

आप तो पूर्ण पुरुष थे सामर्थ्यवान थे प्रतापी थे, आपको तो अपनी बहन के लिये पार्थ से प्रतापी वर मिल जाता, क्यों चुना आपने पार्थ को? उस पार्थ को, जो स्वयंवर में प्राप्त पत्नी को पत्नी का स्थान न दे सका... जिसने अपनी पत्नी को शेष चार भाइयों की भी भोग्या बना दिया।

हाँ सखा! मुझे ज्ञात है रैवातक पर्वत पर सुभद्रा को देखकर पार्थ का वनवासी मन, काम से उन्मथित हो गया और पार्थ ने आपसे निवेदन किया कि, 'यदि वह मेरी रानी हो जाये तो मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे।' सखा! मैंने तो अपने सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर पति का संयमी मन ही देखा था; पर मेरे अनिंद्य रूप, सेवा और समर्पण में कहाँ त्रुटि रह गयी थी, जो पार्थ का मन मुझसे नहीं बँधा। सखा, आपने क्यों पार्थ का निवेदन स्वीकार किया, क्यों नहीं उनकी भत्सना? क्यों नहीं मेरी स्मृति दिलाई, जिसकी हर साँस पार्थ की प्रतीक्षा कर रही थी। बारह वर्षों तक पार्थ का वियोग और

अब यह दुःखा स्त्री के लिये सपत्नी के दुःख से बड़ा कोई दुःख नहीं होता... पर सखा, आप क्या जानें?

कक्षा में सन्नाटा भर गया था। सखा चुपचाप बैठे रहे। चुप रहते हुए भी उनका मौन मुखरित था। जब कोई किसी से बहुत गहराई से जुड़ा रहता है, तो उसका मौन उसी अनुपात में मुखर होता है। वह मौन अपनी सीमा से कहीं अधिक कह जाता है, सुन जाता है और प्रत्युत्तर में सुना जाता है। मेरा मौन उलाहना देता रहा, प्रश्न करता रहा... सखा का मौन, सांत्वना देता रहा समझाता रहा। उनके मौन के पीछे छिपी पीड़ा भी स्पष्ट थी। उनमें कुछ न कर पाने की विवशता थी और जो कुछ करना चाहता था उसकी प्रस्तुति के बिगड़ जाने का दुःख भी।

* * *

सुभद्रा गर्भवती हैं, इस सूचना के पश्चात खाण्डवप्रस्थ के राजमहल में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। महाराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव, सभी नीति, नियम, दण्ड को भूलकर दान, क्षमा और पुरस्कार का वितरण करने लगे। पूरा खाण्डवप्रस्थ प्रसन्नता से हुलसने लगा। इस उल्लास में मेरे भीतर कुछ छनाक से टूटकर बिखर गया। अर्जुन के वनवास के पश्चात मेरे हृदय में कभी माँ बनने की लालसा उत्पन्न नहीं हुई। मेरे दुर्भाग्य ने मेरी इस इच्छा को भी वनवास दे दिया था... किन्तु आज सुभद्रा के माँ बनने की सूचना से मेरे उदर में कुछ कचोटने लगा।

मैं ज्येष्ठा थी। मैं सर्वप्रथम अर्जुन के अंश को अपने गर्भ में रोपना चाहती थी। यह इच्छा मेरे मन में न जाने कब से चुपके से बैठी थी, पर आज सुभद्रा के गर्भवती होने की सूचना पर हुमकने लगी थी। मेरी क्षीण कटि में छुपी मेरी कोख में खालीपन से मरोड़ सी उठने लगी। अर्जुन को न पाने की पीड़ा को कम करने के लिये मेरा जी चाहता था कि पार्थ का अंश मेरी कोख में आ जाये, जिससे मैं आधे अधूरे से कुछ पूरी हो जाऊँ... पर नहीं हो सकी।

थोड़ी देर में सभी लोग माता कुंती के भवन में पहुँचने लगे। सुभद्रा और पार्थ पहले से ही माता के पास बैठे थे। मैं भी वहाँ पहुँची। पता नहीं क्यों मेरी उपस्थिति से मेरी सपत्नियों में एक असहजता व्याप्त हो जाती है। किन्तु आज मैं स्वयं असहज थी, पर अपनी भावनाओं को मैंने अपने भीतर ही दबा रखा था। अंतःपुर पहुँचकर मैंने माता कुंती और सखा को प्रणाम किया। माता कुंती का मुख मण्डल अपनी अगली पीढ़ी के आगमन की प्रसन्नता से दीप्त था। पार्थ की प्रसन्नता यत्न करने पर भी नहीं छुप रही थी। पिता बनने की प्रसन्नता उनके अंग अंग से फूट रही थी। पार्थ का यह रूप मेरे लिये नया था मैंने अपने जीवन में कभी भी पार्थ को इतना प्रसन्न नहीं देखा था। सखा प्रसन्न थे। उनकी प्रिय बहन की गृहस्थी सही अर्थों में बस रही थी। सुभद्रा ने उठकर मुझे प्रणाम किया और मैंने भी उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। सुभद्रा का मुख लज्जा और गर्व से दमक रहा था। मेरे मुख से पुत्रवती होने का आशीर्वाद सुनकर वह प्रसन्न हो गयी। मैं ज्येष्ठा थी, मुझे अपनी मर्यादा का निर्वाह करना था और आज तक मुझसे जो भी अपेक्षा की गयी, मैं उन सब पर खरी उतरने का प्रयास करती रही... आज भी मैं विचलित नहीं हुई।

सुभद्रा नव विवाहिता थी। मेरे विवाह को चौदह वर्ष से अधिक समय हो गया था। मेरी सपत्नियाँ भी दो चार वर्षों के भीतर ही आ गयीं; पर ईश्वर ने माँ बनने का वरदान अभी तक किसी को भी नहीं दिया था। सुभद्रा, जिसकी वय और विवाहित जीवन की अवधि सबसे कम थी, सबसे पहले मातृत्व के पद पर आसीन हो गयी। उसकी संतान पाण्डव कुल की ज्येष्ठ संतान होगी। एक अनजानी सी ईश्या मेरे मन में सिर उठाने लगी। सच, आज तक मैं इस ईश्या से अनजान थी, पर

आज उसका अंकुर फूट रहा है और उसकी टीस को मैं भीतर ही भीतर भोग रही हूँ। सच, भाग्य का ही स्वा है। मनुष्य को पूर्व जन्मों के कर्मों का फल इस जन्म में क्यों भोगना पड़ता है। सौभाग्य भी तो उसी के पास होता है, जिसे ईश्वर देता है; भीख में माँगने पर मिल जाता तो आँचल फैलाकर स्वाभिमान रहित होकर गिड़गिड़ाकर रती रती माँगकर जोड़ लेती। भाग्य के गर्भ में मेरे लिये अभी न जाने कितने आघात हैं।

सखा, सुभद्रा के साथ आये हैं और तब से खाण्डवप्रस्थ में ही रुके हैं; क्यों? मैं नहीं जानती, पर वे खाण्डवप्रस्थ में हैं यह मेरे लिये सुखद है। सखा का दिन पाण्डवों के साथ ही बीतता था। संध्या के समय अधिकतर सखा मुझे भी बुला लेते तो मैं चली जाती थी किन्तु सहज नहीं हो पाती थी। मैं पार्थ की ओर भी नहीं देखती थी... पता नहीं क्रोध के कारण, या मेरे हृदय में ही कोई कुंठा घर कर गयी थी। इतना क्रोध पार्थ के लिये क्यों उत्पन्न हो गया है मैं स्वयं नहीं जानती। सुभद्रा पहले मेरे साथ सहज नहीं हो पाती थी, किन्तु सखा ने धीरे धीरे उसकी असहजता दूर कर दी थी। सखा अपने वार्तालाप में मुझे और सुभद्रा को समान रूप से सम्मिलित करते थे... कभी कभी तो पार्थ ही अलग-थलग पड़ जाते थे।

आज सखा और सुभद्रा दोनों का बचपन जैसे लौट आया है। दोनों एक दूसरे की देखी सुनी बातें बता रहे हैं। सुभद्रा, सखा के बचपन की सुनी हुई बातें बता रही है; सखा, सुभद्रा के बचपन की बातें बताते, तो कभी सुभद्रा उन बातों में से कुछ को नकार देती। कभी सखा, सुभद्रा की अधिकांश बातों को मिथ्या बताते, कभी किसी सखा को दोष देते थे। बहुत कुछ तो मैं जानती थी, किन्तु सखा, माता यशोदा, भाई बलराम और साथियों को कैसे छकाते थे और कैसे मार खा कर भी नहीं सुधरते थे, यह सब सुभद्रा के मुँह से सुनकर मैं हँसते-हँसते लोट पोट हो गयी।

मैं हँसना भूल गयी थी, पर लगता है मेरे भीतर का रस इतना सब सह कर भी सूखा नहीं है... मैं हँस सकती हूँ, सुखी हो सकती हूँ और जी सकती हूँ। मेरी जीवनी शक्ति मेरे भीतर अभी जीवित है। मैंने मन ही मन सखा को धन्यवाद दिया कि एक बार फिर से उन्होंने मुझे दुःख से उबार कर जीने के लिये खड़ा कर दिया है। अब मैं चल पड़ूँगी... पार्थ का विश्वासघात सहन करके भी मैं कमजोर नहीं पड़ूँगी, पूरी ऊर्जा से जिऊँगी। तो क्या सखा मुझे संभालने के लिये ही अपने सारे कार्य छोड़कर खाण्डवप्रस्थ में मेरे, सुभद्रा और पार्थ के बीच महीनों से रह रहे हैं।

सच सखा! यदि यह सत्य है तो मैं एक बार फिर से जी उठी हूँ। आपने मेरा हाथ पकड़कर मुझे खड़ा कर दिया, नहीं तो मैं मृत हो गई थी। मन के कोने में इस प्रश्न ने एक बार फिर सिर उठाया कि सखा, आप मेरे कौन हैं, मैं आपकी कौन हूँ? क्या सखा का नाता इतना गहरा होता है कि संसार के सारे नाते उसमें समा जाते हैं? मैं नहीं जानती, किन्तु हमारा ये संबंध बहुत सारे सम्बन्धों से ऊपर गहरा और अपना है। ईश्वर और समाज के बनाये संबंधों के अलावा यदि मेरा कहीं कोई संबंध है, तो वह केवल एक ही है और वह संबंध ईश्वर और समाज के संबंधों पर निर्विवाद रूप से भारी है। यह ऐसा संबंध है जिसके साथ कोई दुःख कोई पीड़ा अपमान उपेक्षा कुछ भी नहीं है... जिसके साथ रहना अच्छा लगता है, रहना क्या, रहने की कल्पना भी सुखद लगती है। पीछे लौटती हूँ तो मुझे इस अपनेपन की बहुत गहरी अनुभूति होती है। पार्थ के विवाह के पश्चात यदि मुझे किसी की आवश्यकता थी, तो वह सखा ही थे, फिर सब कुछ चलता रहा... समय बीतता रहा।

साथ अच्छा लगता है, हँसने के लिये कम प्रयास करना पड़ता है। कम प्रयास करना पड़े, यह

भी तो एक उपलब्धि है, 'अच्छा लगना' की अनुभूति है। आपके साथ लम्बा समय बिताया। आप कहते हैं कि, चार दिन अच्छे से निकल जाएँ तो अच्छा है। पर जब ये चार दिन निकल जायेंगे तब? अब तो मेरा जी चाहता है कि ये चार दिन कभी समाप्त ही न हों, क्योंकि समाप्त होने पर इनके न होने की अनुभूति और अधिक दुःख देगी। जानती हूँ, आपका साथ एक स्वप्न जैसा है, आँख खुलते ही टूट जायेगा; फिर क्यों मैं खुली आँखों से एक सपना देख रही हूँ और जी रही हूँ। मेरे जी में आता है तो अनवरत बोलती रहती हूँ, आप सुनते रहते हैं... मन हल्का हो जाता है ऐसा मस्तिष्क कहता है, पर मन तो यथार्थ में और भारी हो जाता है, किन्तु आपसे अपनेपन का और निकट होने का संबंध दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है।

मैं संवेदन शून्य हो गयी थी। सच में, कोई अनुभूति और संवेदन नहीं बची थी मुझमें; किन्तु सखा आपने क्यों प्रयास किया उन्हें जीवित करने का, यह मैं नहीं समझ पायी। मेरे लिये तो वही स्थिति अच्छा थी कि मैं अनुभूति और संवेदन शून्य रहूँ, क्योंकि उस स्थिति में मुझे कोई दुःख, दुःखी नहीं कर सकता था। सुख की कल्पना भी मन में नहीं उठती थी। सखा, मेरा जीवन तो एक ऐसी नाव है जिसका कोई खेवैया नहीं है... उसे हवाएँ ही जहाँ चाहती हैं; ले जाती हैं मेरा अपने जीवन पर अब कोई वश नहीं रहा।

एक बहाव में बहती जा रही हूँ। बह ही तो रही हूँ मैं... भान्य ने एक झटके में उफनती पहाड़ी नदी में फेंक दिया। जीने के लिये हाथ-पैर भी नहीं मार पा रही थी और पत्थर की भाँति बहती जा रही थी। नदी ही उठा-पटक कर मुझे क्षत विक्षत कर रही थी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। कहते हैं कि, डूबते को तिनके का सहारा होता है, पर आप तो पूर्ण पुरुष थे, समर्थ थे, क्यों न सहारा लेती; पर क्या हुआ? आज नदी से निकलकर भँवर में पड़ी हूँ; वहीं की वहीं बस मंथन हो रहा है। मन में एक पल के लिये भी शांति नहीं और न ही जीवन किसी प्रकार से आगे बढ़ रहा है। सब कुछ ठहर गया है। यदि कुछ है तो वह अपने आप को भँवर में मथता हुआ भोगना। नदी में बहती, तो किसी किनारे तो लगती... जीवित या मृत, समूची या टूटी फूटी... या फिर समुद्र में मिलकर समाप्त हो जाती।

इस भँवर ने मुझे खूब मथा है। समुद्र मंथन हो रहा है, एक एक अनुभूति निकल रही है, एक एक इच्छा जन्म ले रही है। कभी जीने की इच्छा जन्म लेती है तो कभी उसी क्षण मृत्यु की कामना कभी कभी लगता है कि मैं एक अवसाद से घिर गयी हूँ, बहुत कमजोर पड़ गयी हूँ, एक भी पग उठाने का साहस नहीं होता है और अपने को स्थापित करने के लिये बटोरा गया हौसला और जीने के लिये सँभाला गया साहस, बिना ढक्कन की डिबिया में रखे कपूर की तरह उड़ गया है। उस समय सखा आप मुझे सँभाल लेते हैं, साहस, हौसला कपूर की तरह उड़ने नहीं पाता... जीवन बिना खेवैया की नाव नहीं लगती; भँवर में भी किनारा साफ साफ दिखाई देने लगता है। मन ही मन मैंने अपना सिर सखा के चरणों में रख दिया।

“क्या सोच रही हो कृष्णा?” सखा ने कहा तो मैं चौंक पड़ी।

“कुछ नहीं।” प्रत्यक्ष बोली, पर मन ही मन कहा, जब सब कुछ जानते हो तो पूछते क्यों हो? आज बहुत दिनों बाद मेरा तन मन हल्का लग रहा था।

* * *

पिछले दो तीन दिनों से मैं स्वस्थ नहीं हूँ। यद्यपि कुछ नहीं हुआ है, न वायु ताप पित्त का प्रकोप है और न ही कोई पीड़ा है, पर पता नहीं मुझे क्या हुआ है। मैं भीतर से स्वस्थ नहीं हूँ। शय्या से

उठने की मेरी इच्छा नहीं होती है। माता कुंती, अस्वस्थता का समाचार सुनकर मेरे भवन में आयीं। उन्होंने राजवैद्य को भी बुलवाया था। माता ने एक गहरी दृष्टि मेरे मुँह पर डाली और आश्वस्त हो गयीं। राजवैद्य के आदेशानुसार दासी ने सूत्र का एक सिरा मेरी दाहिनी कलाई में बाँध दिया और दूसरा सिरा राजवैद्य स्वयं पकड़कर ध्यान मग्न हो गये। कुछ क्षणों पश्चात उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक माता से कहा कि, महारानी, माँ बनने वाली हैं, सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गयीं। माता कुंती ने उन्हें यथेष्ट पुरस्कार देकर विदा किया।

अभी तक मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि मैं गर्भवती हूँ। सुभद्रा के गर्भवती होने की सूचना के पश्चात मेरे मन में एक चिन्ता बैठ गयी थी। विवाह के लगभग चौदह वर्ष हो गये थे और मैं पार्थ के अतिरिक्त अन्य चार के साथ गृहस्थ धर्म का निर्वाह कर रही थी, किन्तु आज तक मेरा हर ऋतुकाल निष्फल होता रहा... कहीं मैं बन्ध्या तो नहीं? पार्थ के वनवास ने पहले मुझे कभी इस विषय में सोचने नहीं दिया था, किन्तु सुभद्रा के गर्भवती होने के पश्चात मेरे मन में यह संशय सिर उठाने लगा था। मन की चिन्ता दूर हुई कि मैं बन्ध्या नहीं हूँ, मैं सामान्य स्त्री की भाँति माँ बन रही हूँ; ईश्वर मेरी मनोकामना पूर्ण करें, मैंने मन ही मन ईश्वर को प्रणाम किया और उठकर माता कुंती को प्रणाम किया। माता ने आशीर्वादों की झड़ी लगा दी।

एक बार पुनः राजभवन में उत्सव हुआ। महाराज युधिष्ठिर ने भावी संतान के कल्याण के लिये ब्राह्मणों एवं अकिंचनों को दान दिया। विद्वानों और कलाकारों को पुरस्कृत किया, छोटे मोटे अपराधों को क्षमा किया गया, ग्रहों की प्रसन्नता एवं शांति के लिये पूजन हवन आरम्भ हो गया। मैं मन ही मन सोचने लगी, महाराज युधिष्ठिर की संतान। यदि स्त्री गर्भ धारण करती है तो संतान पुरुष की कहलाती है और यदि वह संतान को जन्म नहीं दे सकती, तो दोष उसका होता है, दोनों ही स्थितियों में छली तो स्त्री ही जाती है।

दिन दिन एक नयी पुलक मेरे अंग अंग में भरती जा रही है। मेरी हताशा निराशा और दुःख धीरे धीरे कम होते जा रहे हैं और महाराज युधिष्ठिर प्रसन्न हैं। देविका पहले दिन मेरे पास आयी थी, किन्तु उसके बाद वह फिर नहीं आयी, पता नहीं उसकी मनःस्थिति कैसी है? कहीं वह भी तो मेरी भाँति कसक से नहीं भर गयी है, जिस प्रकार से मैं सुभद्रा के गर्भवती होने का समाचार सुनकर हो गयी थी। मुझे उस घटना को लेकर आज भी अपने पर लज्जा आती है कि क्यों मेरा हृदय कुछ क्षणों के लिये इतना संकीर्ण हो गया था... यद्यपि थोड़ी देर बाद ही अपनी उस भावना को अपने हृदय से निकाल दिया था, किन्तु आज मैं उदार हो गई हूँ। आज जब मैं माँ बन रही हूँ तो चाह रही हूँ कि देविका, वालंधरा, विजया और करेणुमती, सबकी कोख हरी भरी हो जाये, सभी मातृत्व का सुख भोगें और खाण्डवप्रस्थ के राजभवन में चारों ओर छोटे छोटे शिशुओं की किलकारियाँ ही गूँजें। मैं आकंठ मातृत्व की भावना में डूब रही हूँ और चाहती हूँ कि पूरा राजभवन मेरे साथ इसी भावना में डूब जाये मेरी सपत्नियाँ सपत्नी न रह कर मेरी छोटी बहनें बन जायें, मेरे साथ साथ सभी मातृत्व के सुख को प्राप्त करें। अभी तक मुझे लगता था कि दुःख ही दुःख से नाता रखता है; किन्तु सुखों का भी आपसी संबंध होता है, वह भी सबको आपस में बाँधता है, यह मैं आज भलीभाँति जान गयी हूँ।

मन के साथ साथ मेरा तन भी बदल रहा है, मुख पर एक आत्म संतोष झलकने लगा, कटि प्रदेश पर वसा की परत चढ़ने लगी, शरीर भारी व शिथिल होने लगा है और वस्त्र के भीतर ढके होने पर भी शरीर के अंगों का उभार स्पष्ट दिखाई देने लगा है।

ईश्वर ने मेरी प्रार्थना सुन ली। छह मास के भीतर ही मैं सभी सपत्नियों के साथ मातृत्व के पद पर आसीन थी। मेरा मातृत्व अपनी सपत्नियों को लेकर कभी कभी कुंठित होता था, तो मैं अंतःकरण से ईश्वर से प्रार्थना करती थी कि ईश्वर! सबको मातृत्व का सुख दें। मैं विधाता की आभारी हूँ जिसने खाण्डवप्रस्थ के राजभवन में सबके आँचल में सुख भर दिया है।

कभी-कभी मेरे हृदय में यह कसक उठती है कि यदि यह अंश अर्जुन का होता है तो कदाचित्त मैं अधिक प्रसन्न होती... किन्तु दूसरे ही क्षण मैं इस कसक को अपने हृदय से निकालकर फेंक देती हूँ कि, क्यों मेरा मन पार्थ के लिये पागल रहता है? क्यों जो नहीं है, उसके पीछे जो है, उस पर अपनी कसक थोप रही हूँ? अब मुझे जीने के लिये नया ढंग अपनाना पड़ेगा। भविष्य में मेरी संतानों के पिता मेरे भिन्न भिन्न पति होंगे, किन्तु उससे अब मुझे अन्तर नहीं पड़ेगा। मेरी संतान मेरी अपनी होगी... मेरा अंश, मेरे रक्त माँस का हिस्सा; यदि मैं अन्यथा सोचूँगी तो अपने ही रक्त के साथ अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय करूँगी।

माँ बनना किसी भी स्त्री के लिये गर्व की बात होती है। वह सृष्टि रचती है और मानव जीवन की निरंतरता को बनाये रखती है। स्त्री जिस क्षण गर्भ धारण करके शिशु को जन्म देती है, उस क्षण वह ईश्वर की प्रतिनिधि बन जाती है। आज मुझे ईश्वर ने माध्यम बनाया है, मेरे हृदय का क्षण क्षण विस्तार हो रहा है, अनुभूतियों की नई परतें खुल रही हैं, भावनाएँ उड़ान भर रही हैं।

महाराज युधिष्ठिर ने मुझे माँ तो बना दिया, किन्तु स्वयं पिता नहीं बन सके। मेरे गर्भ का शिशु उनके हृदय में कोई उत्सुकता नहीं जगाता, उनसे कोई स्नेह नहीं पाता, प्रतिदिन होने वाला विकास उन्हें जिज्ञासु नहीं बनाता, उन्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं रहती है। महाराज के हृदय में उत्सुकता केवल देविका के गर्भस्थ शिशु के लिये जगती है, वे उसके विकास का अनुमान लगाते हैं, देविका के प्रसव का दिन गिनते हैं। मेरा शिशु तो उनके लिये पराई वस्तु की भाँति मेरे उदर में छुपा रहता है। उत्सुकता केवल मेरे हृदय में उठती है कि कैसा होगा वह! महाराज युधिष्ठिर जैसा या मेरे जैसा; मेरे गर्भ का शिशु पुत्र है या पुत्री? उसके शरीर का रंग कैसा होगा ? महाराज जैसा गौर या मेरे जैसा श्याम और मैं मन ही मन अपने शिशु को लेकर कल्पनाएँ करती रहती हूँ, उसे स्नेह देती हूँ दुलाराती रहती हूँ, किन्तु किसी को भी मैं अपनी भावनाओं का भागीदार नहीं बनाती हूँ।

माता कुंती मेरा ध्यान रखती हैं। मेरी जिज्ञासाओं में वही भागीदार बनती हैं, अपने अनुभवों को मेरे साथ बाँटती हैं, किन्तु इतने से मेरा मन नहीं भरता है... मैं चाहती हूँ कि महाराज युधिष्ठिर मेरे और देविका दोनों के संतानों को समान रूप से महत्व दें, मानसिक रूप से भी मेरी संतान को वे हर क्षण जिये और मैं यह भी चाहती हूँ कि आवश्यकता अनुसार नियम में परिवर्तन हो कि जिसका अंश मेरे गर्भ में है, शिशु के जन्म तक मैं उसी के साथ रहूँ। क्यों किसी को भी इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती? किसे आवश्यकता होगी, महाराज युधिष्ठिर को? वह तो अपनी पत्नी और अपने गर्भस्थ शिशु के साथ अपने संसार में लौट गये। अब स्थिति में बहुत अंतर आ गया है, पहले कोई भी मुझे अपने से एक क्षण के लिये दूर नहीं करना चाहता था, परन्तु अब जबकि सब के विवाह हो गये हैं। सबकी पत्नियाँ हैं उस स्थिति में अब कोई भी मुझे समय सीमा के पश्चात एक क्षण के लिये अपने निकट नहीं रखना चाहता है।

मैं सदैव पिछली अनुभूतियों को अपने तन मन से नोंच नोंच कर निकाल देती थी, किन्तु इस बार ऐसा संभव नहीं है। मैं युधिष्ठिर के छह मास के अंश को लेकर भीमसेन की शर्या चढ़ रही हूँ।

इस बार मेरे पैर काँप रहे हैं। मैं स्वयं को सहज नहीं रख पा रही हूँ और अपने संतान के प्रति एक विचित्र अपराध बोध से मैं घिर गई हूँ। मेरे हृदय की कोमल भावनाएँ अपने शिशु और भीमसेन दोनों के प्रति सहम गयी हैं। न तो मैं भीमसेन के संसर्ग में उन्हें पूरी निष्ठा से प्रेम कर पाती हूँ और न ही अपने शिशु को। भीमसेन के साथ मेरे समय का आरम्भ होते ही लगने लगा कि मेरा गर्भस्थ शिशु, द्वितीय श्रेणी की संतान है। जब तक मैं महाराज युधिष्ठिर के साथ थी, तब तक मेरे हृदय में ऐसा कोई संशय नहीं था; किन्तु अब मुझे क्या हो रहा है, अब मैं क्यों कुंठित हो रही हूँ? भीमसेन के साथ अपने शिशु को लेकर? मेरा शिशु मेरे उदर में हिलता डुलता है तो लगता है कि, वह भीतर से ही पद प्रहार करके मुझे धिक्कार रहा है। मेरी भावनाओं को तार तार कर रहा है। मैं अपनी इस स्थिति को नहीं सह पा रही हूँ। शिशु के जन्म लेने तक मेरा हृदय मुझे धिक्कारता रहेगा।

आज मैं प्रसव वेदना से तड़प रही हूँ और महाराज युधिष्ठिर आज राजधानी से बाहर हैं। मेरे गर्भ का नौवाँ मास पूर्ण होने से पूर्व ही भीमसेन भी मल्ल युद्ध और गदा युद्ध आदि की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए बालंधरा के साथ अपने श्वसुर कुल की ओर प्रस्थान कर गये। उनके श्वसुर की इच्छा थी कि बालंधरा का प्रथम प्रसव उनके घर ही हो, अतः भीमसेन अपनी छह मास की गर्भवती पत्नी को लेकर मुझे माता कुंती के संरक्षण में छोड़कर अपने श्वसुर कुल की ओर प्रस्थान कर गये थे।

मैं सुभद्रा जैसी क्यों नहीं हो पायी? मैंने सुभद्रा की प्रसव वेदना की एक एक लहर को अर्जुन के मुख पर देखा था। अर्जुन की साँसों की गति में, एक एक उच्छ्वास में सुभद्रा की वेदना भरी थी... मानों वेदना से तड़पती उसकी काया को पार्थ ने अपनी साँसों में समेट लिया हो। उनकी साँस गहराई से तड़पती हुई आ जा रही थी... तब मैं जान पायी कि पार्थ का हृदय कितना कोमल और संवेदनशील है और सबसे अधिक कि सुभद्रा से कितना अभिन्न हैं। शिशु का जन्म हुआ। पार्थ के लिये पुत्र का जन्म गौण था; प्राथमिकता थी सुभद्रा की। वह स्वस्थ है। पार्थ आश्वस्त हुए और धीरे-धीरे उनके मुख मण्डल पर पुत्र जन्म की प्रसन्नता फैलने लगी।

क्यों नहीं आयी मेरे भाग्य में सुभद्रा जैसी मैं कितनी भाग्यहीन हूँ। एक सामान्य स्त्री जितना सुख भी मेरे भाग्य में नहीं है। कम से कम पति के साथ का सुख, जिसकी अधिकारिणी अकिंचन से अकिंचन स्त्री भी होती है। द्रुपद नरेश की पुत्री, पाँच पाँच महारथियों की पत्नी, खाण्डवप्रस्थ की महारानी क्यों हर क्षण अपने को एक साधारण स्त्री जितना भी नहीं पाती हैं? इतना दुर्भाग्य देकर एक आवरण दे दिया दिव्यता, भव्यता और महिमा का। उसी में मैं अपने अभावों, दुःखों, अपमान और पीड़ा के साथ, जो किसी को नहीं दिखाई देता है, लिपटी रही। सबको दिखता है तो मेरा एक सम्पूर्ण संतृप्त ओजस्वी व्यक्तित्व, जो किसी के लिये आदर्श तो नहीं किन्तु टुकड़ों टुकड़ों में ईश्या का विषय अवश्य हो सकता है। आधी रात बीत चुकी है। शिशु प्रतिबिन्ध्य, दूर कक्ष में सेविका के साथ है, इतनी दूर कि उसके रोने का स्वर भीमसेन के कानों तक सुनाई न दे। ईश्वर ने माँ के स्तन में शिशु की आवश्यकतानुसार दूध दिया है। मेरी दूध से भरी छातियाँ तन कर मेरे वस्त्र को भिगोने लगी तो मैं चौंक कर उठ बैठी। मेरी छातियों से दूध बह रहा है। मैं दबे पाँव शयनकक्ष से निकल कर प्रतिबिन्ध्य को दासी की गोद से लेकर स्तन पान कराने लगती हूँ। उसके नन्हें नन्हें होंठ हुमक कर चप चप करके दूध पीने लगते हैं। इस पल मैं तृप्त हूँ, मेरा सारा अतीत जैसे धुल पुँछ गया है और मैं केवल वर्तमान में जी रही हूँ। मैं सोचने लगी

कि कैसा भी दुरूह जीवन हो, मानव मन सुख के क्षण ढूँढ़ ही लेता है।

भीमसेन का अंश मेरे गर्भ में पाँच मास का हो रहा है। मेरा जी चाहता है कि भीमसेन मेरे साथ रहें, अपने भावी शिशु के विषय में मुझसे बातें करें, मेरे उदर पर हाथ रख कर शिशु के हिलने-डुलने का अनुभव करें और अपने भावी शिशु की कल्पनाएँ मेरे साथ मिलकर करें... किन्तु उन्हें गर्भस्थ शिशु के स्पंदन का अनुभव वालंधरा के उदर में पलते सर्वज्ञ से हो चुका था और वह अनुभव अभी बहुत पुराना नहीं है, अतः उनके हृदय में अब मेरे उदरस्थ शिशु को लेकर कोई उत्कंठा नहीं है। अब मेरा खिन्न मन चाहता है कि मैं स्वयं को और अपने गर्भस्थ शिशु को भीमसेन से भावनात्मक रूप से इस सीमा तक अलग कर लूँ कि मैं अपने शिशु के पिता का नाम भी भूल जाऊँ।

मेरी संतानों का कोई पिता नहीं है; उनका पितृत्व केवल प्रकृति के नियमों तक ही सीमित है। वैसे भी मैं माता-पिता दोनों के कर्तव्यों का निर्वाह अकेली ही कर रही हूँ और भीमसेन की उदासीनता को भी मैंने शरीर पर बैठे कीड़े की तरह झटक दिया। मैं अपने दूसरे गर्भकाल में पति की उदासीनता की अभ्यस्त हो गई हूँ। युधिष्ठिर के समय में मैं आहत होती थी, किन्तु भीमसेन सरल प्रेमी थे। उनका गर्भधारण करके लगा कि मैं अपने इस गर्भकाल को जी भर कर जिउँगी, जिससे कि पिछली पीड़ा और कुंठा से भी मुक्त हो जाऊँ... किन्तु इस बार भी कुछ भी मेरे लिये नया नहीं था। इसलिये अब मैं दुःख को दबा लेती हूँ और अपने आस-पास बिखरी चीजों में खुशियाँ ढूँढ़ती हूँ। जिन स्थितियों में कोई मुस्करा भी नहीं सकता, मैं अब खिलखिलाकर हँसती हूँ। मैं जी रही हूँ प्रतिबिन्ध और अपने अजन्मे शिशु के लिए।

9. पार्थ

आज से एक वर्ष के लिये मेरा जीवन पार्थ के साथ प्रारम्भ हो गया। उस पार्थ के साथ, जिसके साथ के लिये मैं पन्द्रह वर्षों से हर पल प्रतीक्षा कर रही थी किन्तु मैंने इस प्रकार से तो नहीं चाहा था कि स्तन में प्रतिबिम्ब का दूध, कुक्षि में भीमसेन का पाँच महीने का गर्भ। आज मेरी पूर्वकल्पना और यथार्थ में धरती आकाश का अंतर आ गया है।

आज से मैं पार्थ की पत्नी हूँ। मैं तो सम्पूर्ण रूप से पार्थ की हूँ, किन्तु पार्थ? पार्थ तो मेरे हिस्से में आधे के भी आधे अधूरे हैं। मैंने तो अपना सम्पूर्ण जीवन ही पार्थ के साथ बिताना चाहा था किन्तु मिला क्या? केवल कुछ घड़ी का साथ। क्या अब मुझे पार्थ से वह सब कुछ मिलेगा, जिसकी मैं अधिकारिणी हूँ? वर्षों से मैंने जो इच्छाएँ मन के भीतर पाल रखी हैं, क्या वह यथार्थ में फलीभूत होगी? आज मेरा मन नया नया सा है। पार्थ के साथ की कल्पना में कभी लगता है कि मेरा सारा अतीत धूल पुछ गया है। कभी मन ऊपर तक लबालब भर जाता है, जिसे मैं पार्थ के सामने उलीच देना चाहती हूँ। कितनी ही इच्छाएँ मन में भरी हैं, छोटी छोटी पानी के बुलबुले जैसी जिनका जीवन बस पल दो पल है। मैं पार्थ की आँखों में अपने लिये प्रेम और आकर्षण ढूँढ़ती हूँ कि कहीं से तो झलके कि उनका संसार मुझसे प्रारम्भ होता है और मुझ पर समाप्त। किन्तु मुझे पार्थ की आँखों में ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई देता।

मुझे लगता है कि पार्थ मेरे साथ अपना संबंध एक थोपे गये कर्तव्य की भाँति निभा रहे हैं, अपने व्यक्तिगत जीवन में से थोड़ा सा समय निकालकर और उसके बाद का समय उनका अपना है, जिसमें उनकी एक वर्षीया अवधि वाली पत्नी का प्रवेश भी वर्जित है।

पार्थ को मेरे अल्हड़ किशोरी के मन का वह कोना, जो आज भी पार्थ की उसी चाह और आकर्षण से प्रतीक्षा कर रहा है, उतनी ही ललक के साथ मिलना चाहता है और साथ साथ जीना चाहता है, क्यों नहीं दिखाई देता है? पार्थ, मेरे मन से क्यों नहीं जुड़ पाते हैं? एक ही शय्या पर अगल-बगल लेटे इतनी दूर क्यों लगते हैं? उनके शब्द मुझे छू क्यों नहीं पाते हैं और न किसी लगाव का अनुभव होता है। मुझे लगता है कि पार्थ मुझसे भागना चाहते हैं कि कब एक वर्ष की अवधि पूरी हो और वह इस बंधन से मुक्त हो अपने संसार में पूरी तरह से लौट जायें, जहाँ उनकी प्रिया पत्नी और पुत्र है... किन्तु मैं? मैं तो समय को पकड़कर बिठा लेना चाहती हूँ कि समय अपनी गति भूल कर स्थिर हो जाए और मैं संसार के सारे बंधनों और दायित्वों को भूल जाऊँ; याद रहे तो केवल इतना, कि मेरा अस्तित्व केवल इसलिये है कि मैं पार्थ को प्रेम करूँ और पार्थ मुझे। पार्थ मेरे हृदय के कपाटों को खोले मेरी भावनाओं को सहलायें, मेरे अंतर्मन की भावनाएँ तभी शांत होंगी। पार्थ की बातें मुझे ऐसे सम्मोहन में बाँध लें कि मैं भूख प्यास सब भूलकर उसे सुनती रहूँ, पार्थ के शब्द मुझे सहलाते रहें, जिससे मेरे रोम रोम की पीड़ा दूर हो जाये। पार्थ की साँसें मेरे शरीर में रक्त के साथ दौड़ने लगें, पार्थ मेरे हृदय में वर्षों से छुपी हुई तृष्णा को जानें... किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं होता है, क्यों? क्या वर्षों का अंतराल, सुभद्रा का आकर्षण या मेरी स्थिति; मैं कुछ भी नहीं जानती। पार्थ मुझसे कुछ कहते क्यों नहीं हैं?

मैं स्त्री हूँ। स्त्री में प्रकृति की रचना से परे भी बहुत कुछ होता है, जो उसे सही अर्थों में स्त्री बनाता है, एक संपूर्ण स्त्री। स्त्री और पुरुष; एक को अनुभव करने के लिए दूसरे की आवश्यकता

होती है। स्त्री, जिसे पुरुष की आँखें स्त्री के रूप में देखें, उसका आलिंगन करने पर उसे अपने पुरुष होने का अनुभव हो और यह अनुभव हर पिछले अनुभव से गहरा हो। अपने भुजाओं की परिधि में पुरुष, स्त्री को समूचा अनुभव करता है, उसके शरीर के भराव कसाव के साथ उसके हृदय को भी अपने मन में उतार लेता है, साथ ही स्त्री के मन में इस तरह से उतर जाता है कि उन्हें अलग करके न देखा जा सके।

स्त्री को ये बाँहें सुरक्षा और संतोष देती हैं। सुरक्षा, पुरुष के अस्तित्व से अपने आपको अलग देखने के डर से, साथ ही अपने अस्तित्व को बनाए रखने और निजता को बचाए रखने का संतोष भी स्त्री को इन्हीं बाँहों के घेरे में होता है। उसे विश्वास रहता है कि पुरुष के होते हुए उसे कुछ भी सोचने की आवश्यकता नहीं है, उसका संसार संपूर्ण है और इसी संपूर्णता का अनुभव करते हुए स्त्री, पुरुष की बाँहों में जीती है।

यही संपूर्णता ही समरसता है; यही वह भूमि है, जहाँ से दोनों का जीवन आगे बढ़ता है। जिस क्षण स्त्री की इच्छाओं को उसके भीतर के खालीपन को पूरी तरह से लबालब भर देने की इच्छा पुरुष के हृदय में पैदा होती है, वह उसे उस क्षण पूर्ण पुरुष बना देती है और वह अपना सर्वस्व स्त्री पर उड़ेल देता है, उसे लबालब भरने के लिए।

लबालब भरी हुई स्त्री, पुरुष के खालीपन को पूरी तरह से भर देने में समर्थ है... स्त्री के हृदय का स्रोत उसके अस्तित्व से बहुत बड़ा है। कितना बड़ा और गहरा है, वह स्वयं नहीं जानती; किन्तु जब उलीचने लगती है तो पता चलता है कि स्रोत कितना शीतल है; चिर काल तक तृप्त करने वाला... संपूर्णता से संतृप्त करने वाला और उस समय स्त्री संपूर्ण स्त्री होती है, जिसे प्रकृति ने इसी लिए बनाया है।

निश्चित रूप से जीवन की यही समरसता और संपूर्णता है। जब इसका अनुपात बिगड़ने लगता है, तो स्त्री पुरुष एक ही श्रृंखला पर अलग अलग मानसिकता में जीने लगते हैं तब न तो किसी को किसी के खालीपन का आभास होता है और न ही किसी को किसी को लबालब भर देने की चाह और तब सब कुछ भरभराकर ढह जाता है। बचती है तो पैरों के नीचे की एक भूमि, जिसे समाज ने एक संबंध का नाम दे रखा है।

* * *

आज कल सखा खाण्डवप्रस्थ आये हैं। सखा का साथ अब अधिक मिलने लगा। पहले मैं सखा के बुलाने पर ही अर्जुन के भवन में जाती थी, पर जबसे मेरा जीवन पार्थ के साथ आरम्भ हुआ, मैं अधिक अधिकार और सहजता से पार्थ और सखा के पास जाती हूँ। सखा ने अपने संरक्षण में अभिमन्यु के लालन-पालन की व्यवस्था करवायी है... सब कुछ उत्तम। कुशल दासी व और योग्य सहायकों की व्यवस्था द्वारका से ही हुई थी। मैं प्रतिबिन्ध्य के विषय में सोचती हूँ कि वह महाराज युधिष्ठिर का ज्येष्ठ पुत्र है, खाण्डव प्रस्थ का युवराज, किन्तु महाराज की ओर से कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की गयी कि देखकर लगे कि वह खाण्डवप्रस्थ का युवराज है या देविका पुत्र यौधेय के बराबर भी है।

भले ही मैं पार्थ की पत्नी हूँ, किन्तु प्रतिबिन्ध्य तो महाराज का पुत्र है। मेरा मन करता है कि महाराज युधिष्ठिर प्रतिदिन क्षण क्षण बदलने वाली उसकी बाल लीलाओं को देखें, किन्तु मैं महाराज के कक्ष में जाकर उसकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं को उन्हें नहीं दिखा सकती, मैं माँ की भावनाओं को उसके पिता के साथ नहीं बाँट सकती और दोनों एक साथ शिशु का मुख नहीं चूम

सकते। मैंने वर्षों से एक नियम बना लिया है कि मैं किसी के कक्ष में नहीं जाती हूँ; लोग स्वयं मेरे भवन में आते हैं। कभी कभी मेरे मन में आता है कि मैं क्रीड़ा करते प्रतिबिन्ध्य को लेकर महाराज के कक्ष में चली जाऊँ और महाराज युधिष्ठिर को उसकी क्रीड़ाएँ दिखाऊँ, किन्तु मैं स्वयं को नियंत्रित कर लेती हूँ।

महाराज युधिष्ठिर ने मुझे प्रतिबिन्ध्य की माँ तो बनाया, किन्तु स्वयं उसके पिता नहीं बन सके। उनके हृदय में प्रतिबिन्ध्य की बाल लीलाओं को लेकर कोई जिज्ञासा नहीं उठती थी। मैं अकेली ही अपने पुत्र की लीलाओं को देखती और प्रसन्न होती हूँ। कभी कभी मुझे लगता है कि महाराज मुझसे स्पष्ट कह क्यों नहीं देते कि उन्हें मेरी और मेरे पुत्र की आवश्यकता नहीं है। यदि वे ऐसा कह दें तो मैं अधिक सुखी रहूँगी, क्योंकि लोक प्रचलित उक्ति 'यदि माँ दूसरी आती है, तो पिता तीसरा हो जाता है, प्रतिबिन्ध्य के जीवन में चरितार्थ हो रही है।

मेरे जीवन की विडंबना ने मेरे पुत्र को भी ढँक लिया है, उसका भी टुकड़ा टुकड़ा बँटवारा हुआ है। वह भ्रमित सा रहता है। उसे ज्ञात नहीं कि कौन उसका पिता है। अभिमन्यु को पार्थ की गोद में बैठे देखता है तो वह भी पार्थ के गले में लिपटता है, उसे गोद में घूमता देखकर वह भी पार्थ के गोद में चढ़ने का प्रयास करता है। शिशु नहीं समझ पाता, किन्तु मैं भली भाँति अनुभव करती हूँ। उस क्षण मैं अर्जुन की पत्नी होती हूँ, गर्भ में होती है भीमसेन की संतान और गोद में युधिष्ठिर का पुत्र। मेरा स्वास्थ्य देखकर पार्थ मुझे विश्राम करने की सलाह दे कर सुभद्रा और अभिमन्यु के साथ अपने संसार में व्यस्त हो जाते हैं तो मैं उपेक्षित, भीतर तक आहत पीड़ा और दुर्भाग्य के चक्र में फँसी विवश आँसू बहाती हूँ।

मैंने माँ बनने के पश्चात सोचा था कि दिन दिन मेरा कष्ट कम होगा, जीवन में स्थिरता आयेगी; किन्तु अब तो जीवन और भी उलझ गया है। अभी तक तो मैं केवल अपना दुःख भोगती थी, किन्तु अब मैं अपने पुत्र के प्रति अधिकार और कर्तव्यों के प्रति दोहरे मापदण्ड की पीड़ा भी भोग रही हूँ। मैं सामान्य स्त्री की भाँति कोई कल्पना करती हूँ तो अगले ही क्षण मेरा विवेक मुझे यथार्थ के धरातल पर पटक देता है, जहाँ मेरी स्थिति और भूमिका विचित्र है। कभी-कभी मेरा जी चाहता है कि मैं इतना चीखूँ कि दिशाएँ अपने कानों में उँगलियाँ डाल लें।

प्रतिबिन्ध्य लटपट चलता हुआ मेरे पास आता है, मेरे वस्त्रों को पकड़कर गोद में चढ़ने का प्रयास करता है। मैं उसे गोद में उठाना भी चाहती हूँ किन्तु अपने स्वास्थ्य के कारण उसे नहीं उठाती हूँ। मेरा मन करता है कि यदि पार्थ मेरे साथ समय नहीं बिताना चाह रहे हैं तो कम से कम मेरे पुत्र का तो लाड़ दुलार कर लें; वह उनका न सही किन्तु उनके भाई का अंश तो है... अभिमन्यु के साथ उसे भी गोद में उठा लें, बैठा लें। यदि कभी पार्थ, प्रतिबिन्ध्य को अपनी गोद में अभिमन्यु को साथ बिठा भी लेते हैं, तो भी देखकर ऐसा लगता है कि वे एक कृत्रिम कर्तव्य निभा रहे हैं। थोड़ी ही देर में उनका धैर्य जबाब दे जाता है और वे उसकी धाय को बुलाकर उसे किसी बहाने से सौंप देते हैं।

सखा, प्रतिबिन्ध्य को गोद में उठाये टहल रहे हैं। सखा को देखकर अभिमन्यु, सुभद्रा की गोद से उतरने के लिये मचलने लगता है। सुभद्रा ने उसे उतार दिया है और वह दौड़ता हुआ सखा के पास पहुँचे, इसके पहले ही सखा ने आगे बढ़कर उसे दूसरी बाँह में उठा लिया। मैं निहाल हो गई। मैं यही तो चाहती हूँ कि मेरे पुत्र को लेकर कोई भी किसी प्रकार का भेदभाव न करे। मैं स्थान खाली करवाना नहीं चाहती हूँ, मैं केवल समानता चाहती हूँ।

पत्नी तो मैं सबकी समान रूप से थी; मेरे शरीर के रोम रोम पर सबका अधिकार था... मेरी कोख पर भी सबका अधिकार समान है, पर उसी कोख से पैदा हुई सन्तान में पितृत्व के कारण इतना अंतर क्यों आ गया है। ये संतान मेरे गर्भ से पैदा हुई हैं, इतना मेरे पतियों के लिये पर्याप्त क्यों नहीं है? क्यों उन्हें स्नेह देने और कर्तव्य का निर्वाह करने के लिये उनके पिता का परिचय बीच में आता है? मैं तो सबकी समान हूँ। पुरुष, अन्य की भोग्या को भोग तो सकता है, पर उसी गर्भ से उत्पन्न संतानों को स्नेह देने के समय उसके मन में अंतर क्यों आ जाता है? तब मुझे लगता है कि मैं किसी की भी पत्नी नहीं हूँ, मैं पाँवों की केवल भोग्या हूँ। हर व्यक्ति मेरे कोख से बाहर आने पर अपनी संतान को ग्रहण कर लेता है, किन्तु उसी संतान की जन्मदात्री, दुग्धपान करा जीवन देने वाली माँ को वह शेष चार की भी भोग्या मानकर उसे शेष चार की दया पर छोड़ विमुख हो जाता है। सम्मिलित हूँ, इसी से किसी का कर्तव्य नहीं है; सम्मिलित हूँ, इसी कारण सबका अधिकार है।

मैं जिसकी पत्नी थी और जिसका गर्भ था, वे दोनों ही मुझे स्वास्थ्य के आधार पर माता कुंती के संरक्षण में छोड़कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ चुके हैं। मेरे शरीर की व्यवस्था तो कर दी गयी है, किन्तु मन की? इसका विचार किसी को नहीं है। भीम अपनी पत्नी व पुत्र सर्वज्ञ के साथ, अर्जुन सुभद्रा व अभिमन्यु के साथ अपने अपने संसार में तृप्त हैं। मुझे अब लगता है कि मैं मानवी नहीं रही पशु हो गई हूँ। पाण्डवों की पशुशाला की गाय की भाँति, जिनके भाग्य में माँ बनना तो लिखा है मातृत्व को जीना नहीं।

लोगों को क्यों लगता है कि मैं पाषाण हृदया और संवेदनशून्य हूँ, मुझे कोई अनुभूति सुखी या दुःखी नहीं करती है। किसी को मेरे भीतर की स्त्री क्यों नहीं दिखाई देती है, जो कहीं भ्रमित रुआँसी, अपनों में अपनेपन को खोजती है? अब लगता है कि अपने और अपनी संतानों के भविष्य के लिए मुझे अपने भीतर छुपी हुई इस स्त्री से छुटकारा पाना होगा... एक बार फिर वही याज्ञसेनी बनना होगा, जो तेज और ऊर्जा से भरी हुई अभी अभी यज्ञ की वेदी से प्रकट हुई है। मन तो एक ही है, उसमें एक ही स्त्री रह सकती है; उसके भीतर की कोमल भावुक स्त्री या अपने साहस, ऊर्जा और संघर्षशीलता के साथ अग्निगर्भा द्रौपदी। अब मुझे अपने भीतर की उस स्त्री को स्वयं से अलग करके अपने और अपनी संतानों के अस्तित्व के लिये संघर्ष करना ही पड़ेगा। अधिकार कभी भी दान में नहीं मिलता है। जीवन भर किया गया कर्तव्य, अधिकार पाने के समय रती भर भी भार नहीं रखता है... उसे लेना पड़ता है।

* * *

अर्जुन के अंश को धारण करने की लालसा थी, वह पूरी हुई। प्रतिबिन्ध्य और सुतसोम मेरी अपनी संतानें हैं; मेरे ही गर्भ में पली थीं, किन्तु भीतर कहीं लालसा थी कि मैं अर्जुन की संतान को जन्म देकर वर्षों की दबी अपनी इच्छा को पूरी करूँ। पार्थ मेरे पूरे न सही, पर मेरे गर्भ से उत्पन्न पार्थ की संतान पूरी मेरी होगी; उसे पाकर, उसका मुख देखकर मैं पार्थ के अभाव के दुःख को भूलने का प्रयास करूँगी। प्रतिबिन्ध्य जब से गर्भ में आया था, तभी से वह इच्छा बलवती होकर मन में जोर मारने लगी थी। आज वह दिन भी आ गया और मेरे तन में एक नयी पुलक भर गयी।

कभी कभी मुझे लगता है कि पार्थ के प्रति जो बावरापन है, वह मेरे भीतर ही है केवल, पार्थ के हृदय में मेरे प्रति ऐसा कुछ भी नहीं है। क्या प्रेम एक तरफ़ा होता है! हाँ, तभी तो मैं पार्थ के लिये

बावरी रहती हूँ। क्या पार्थ में कुछ विशेष है? नहीं, मेरा मन अगले पल ही कहता है कि मेरे हृदय में पार्थ के लिये जो उत्कट प्रेम है, वही पार्थ को विशेष बनाये हुए है और अपने उसी प्रेम का प्रतिदान न पाने से मैं आहत रहती हूँ। पार्थ का सुभद्रा और मेरे बीच किए जाने वाला अन्तर मुझे भीतर तक बेध जाता है और तब मैं सुभद्रा से हार जाती हूँ और उसके आगे मैं स्वयं को अकिंचन पाती हूँ।

सुभद्रा का सर्वस्व पार्थ के लिए है। वह अपना सर्वस्व पार्थ को सौंपकर निश्चिंत है... उसे अब अपने लिए कुछ भी सोचने की आवश्यकता नहीं है। उसका वर्तमान और भविष्य दोनों ही पार्थ के पास सुरक्षित हैं; किन्तु मेरा सर्वस्व पार्थ को सबका अवशिष्ट ही लगता है। मैं सबके साथ न्याय नहीं कर पाती, सबके हिस्से से कुछ न कुछ बचाकर रखती हूँ... कुछ न कुछ नहीं, सर्वश्रेष्ठ बचाकर रखती हूँ, चुन चुन कर सहेज कर रखती हूँ, किन्तु पार्थ की दृष्टि में वह कुछ भी नहीं होता है; होता है तो युधिष्ठिर और भीम का बचा हुआ और उसमें भी नकुल और सहदेव का पर्याप्त भाग है। मैं अपने हृदय को कैसे दिखाऊँ? प्रेम पात्र में भरा जल तो नहीं है कि जिसे मैं उलीच कर दिखा दूँ।

जहाँ मैं कुछ न कुछ पार्थ के लिये बचा लेती हूँ तो मेरी यह बेईमानी मेरी पीड़ा को कम करती है; किन्तु जब पार्थ को इसका आभास नहीं होता है तो मेरी झोली में पिछली बेईमानी के दुःख भी कूद पड़ते हैं और तब मैं तीन गुना यातना सहती हूँ। मेरा गर्भ काल पिछले दोनों गर्भकालों से अधिक यंत्रणा भरा हो गया है। जितनी पुलक भरी थी, उससे अधिक अहक भर गयी है।

मैं पार्थ, सुभद्रा और सखा के साथ वाटिका में टहल रही थी। अभिमन्यु और प्रतिबिन्ध्य भी साथ साथ खेल रहे थे। बाल मन... एक ही खिलौने के लिये दोनों लड़ने लगे। अभिमन्यु ने कस कर खिलौने को पकड़ रखा था और प्रतिबिन्ध्य उसे पूरी शक्ति से उससे छीन रहा था। बचाने और छीनने के प्रयास में दोनों ही क्रोध से चीख रहे थे। मुझे और सुभद्रा को देखकर दोनों रोने लगे तो हम दोनों ने बढ़कर उन्हें गोद में उठा लिया और दोनों शिशु शान्त हो गये। कुछ क्षणों में दोनों अपना विवाद भूलकर पुनः एक साथ खेलने के लिये मचलने लगे। इस बीच दासी ने विवादित खिलौने को छुपा दिया था।

मैं सोचने लगी। शिशु, पल भर की स्मृति कुछ क्षणों का क्रोध पुनः सब कुछ सहज और सामान्य। वयस्क व्यक्ति बालकों की भाँति क्यों नहीं सहज हो पाता है। वह तो कटु स्मृतियों को सहेज कर रखता है, विरोध को पालता है, क्रोध की अग्नि को हृदय में प्रज्ज्वलित रखता है। वह क्यों नहीं समझ पाता है कि इन स्मृतियों की अग्नि, भीतर की भावनाओं की नमी को सुखाती जा रही है। “क्या सोच रही हो?” मैं चौंक गई। सखा मुझसे पूछ रहे थे। “कुछ भी नहीं।” कहते हुए मैं हँस पड़ी। सच तो यह है कि मेरे मन में सदैव उथल पुथल मची रहती है। कदाचित ही मैं कभी शांत रहती हूँ। “किन्तु मैं बहुत कुछ सोच रहा हूँ।” ‘क्या?’ “मुझे अभी बहुत कुछ करना है। तुम्हारे लिये एक छोटे से भवन का निर्माण करवाना है। तुम्हें राजसूय कर्ता चक्रवर्ती सम्राट की साम्राज्य के आसन पर बैठाना है और अंत में अपना काम समाप्त करके द्वारका लौटना है। ... पुनः जैसे अपने आप से कह रहे हों... बहुत दिन हो गये द्वारिका को छोड़ें।”

सखा के इतनी लम्बी अवधि तक रुकने का कारण मेरे समझ में आने लगा। पहले मैं सोचती थी, सखा सुभद्रा के कारण रुके हुए हैं। जबसे मेरा जीवन पार्थ के साथ आरम्भ हुआ तो मैंने उस कारण में स्वयं को भी जोड़ लिया। सच पूछा जाये तो मैंने कभी सखा के रुकने के कारण के विषय में सोचा ही नहीं, सखा आँखों के सामने थे और मैं जी रही थी। माता कुंती को पिताश्री

पाण्डु ने स्वप्न में आदेश दिया था कि युधिष्ठिर राजसूय करें। सखा के हाथ में ही पाण्डवों के सूत्र हैं, वही प्रेरित करते हैं, अन्यथा अतुलित शक्ति सम्पन्न पाण्डव आज भी वन में अथवा किसी राज्याश्रय में जीवन यापन कर रहे होते। किन्तु सखा वापस जाने का मन बना रहे हैं, सुनकर मेरा कलेजा धक से रह गया। सखा के न रहने पर मैं किसके सहारे जिऊँगी? हाँ मैं सखा के सहारे ही जी रही हूँ अन्यथा पार्थ ने बारह वर्षों तक हर क्षण मंगल कामना और प्रतीक्षा करती अपनी पांचाली को जो आघात दिया था, उस आघात को मैं कैसे सह पाती, टूटकर बिखर गई होती। सखा ने ही मुझे अपने प्रेम और विश्वास का संबल देकर खड़ा रखा है। “तुम फिर से सोचने लगी” “आप सचमुच चले जायेंगे?” मैंने उत्तर में मूर्खतापूर्ण प्रश्न पूछ लिया। सखा जोर से हँस पड़े और मैं मुग्ध सी सखा का मुँह देखती रही। मन ही मन कहा, सखा तुम हँसा करो, मुझे बहुत अच्छा लगता है। यों तो मैंने सखा की हँसी सैकड़ों बार सुनी थी, किन्तु आज सखा का मुक्त हास्य मेरे मन में गहराई तक उतर गया। वह हँसी, जो मेरी कही हुई बात के प्रत्युत्तर में केवल मेरे लिये थी; वह हँसी, जिसे सुनने के लिये मेरे कान बहुत दिनों से तरस रहे थे, आज मेरे तन मन को नहलाती हुई भीतर तक भर गयी... मुझे बहुत अच्छा लगने लगा और यह अच्छा लगना बहुत दिनों बाद हुआ। मेरे मन में आ रहा है कि मैं सखा से कहूँ कि सखा, आप दिन में एक बार मेरे लिये खुलकर हँस दिया करें, भले ही आपको इसके लिये थोड़ा प्रयास ही क्यों न करना पड़े; मैं जी उठूँगी।

यह अच्छा लगना सखा से ही क्यों मिलता है, पार्थ से क्यों नहीं? अब मुझे दुविधा नहीं विश्वास हो गया है कि मैं सखा से प्रेम करती हूँ। मेरे मन में सखा के लिये एक सखा के प्रेम के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। कभी कभी मैं भ्रम में जीने का प्रयास भी करती हूँ, स्वयं को छलने का यत्न भी करती हूँ कि सखा मेरे लिये केवल सखा हैं। मैं पाँचों पाण्डवों की पत्नी हूँ, किन्तु जैसे मैं पार्थ के लिये अपने अतिरिक्त प्रेम की तार्किक संगति नहीं बिठा पाती, वैसे ही मैं सखा के प्रति अपने प्रेम को परिभाषित नहीं कर सकती। मैं सखा से प्रेम करती हूँ, बहुत अधिक प्रेम करती हूँ, पार्थ से कहीं अधिक। पार्थ ने मुझे केवल आघात ही दिये हैं मेरे प्रेम और समर्पण का अपमान ही किया है। सामान्य स्थिति में कोई भी स्त्री इस प्रकार के आचरण पर केवल घृणा करती, किन्तु मैं इस पर भी पार्थ से प्रेम करती हूँ किन्तु सखा... जब मैं तुलना करती हूँ तो सखा का ही पलड़ा भारी होता है। जो कुछ मुझे सखा से मिलता है, अच्छा लगता है और यह अच्छा लगना ही सखा के प्रति मेरे आकर्षण को और अधिक बढ़ाता जाता है। यह लगाव अब स्पष्ट रूप से प्रेम में तो परिवर्तित हो चुका है। आवश्यक नहीं कि जीवन में हर सीढ़ी चढ़ी जाये तभी पूर्णता प्राप्त हो। अच्छा लगना बस... यहाँ भी तो मैं पूर्णता का अनुभव करती हूँ।

इस तुलना में मुझे न तो कुंठा होती है और न ही ग्लानि। सखा के संसर्ग में मुझमें बहुत परिवर्तन आया है। सबसे बड़ा परिवर्तन यह कि मुझे पाँच पुरुषों की भोग्या बनाकर मेरे नारीत्व का, मेरे सामाजिक स्तर का और मेरी दिव्य उत्पत्ति का जो अपमान हुआ है, न तो उसके लिये मैं युधिष्ठिर को क्षमा कर पायी और न ही उससे आज तक मुक्त पायी हूँ। किन्तु मैं इस स्थिति में भी सखा, आपकी वही सखी हूँ। इस मान ने मुझे पंच पुरुषों की भोग्या होने पर भी कभी भी स्वयं की दृष्टि में हीन नहीं होने दिया है और उस अग्नि की धधकती ज्वाला, सखा के समक्ष आते ही हिम शीतल हो जाती है। सखा, यह आपकी ही अनुकंपा है अन्यथा मैं अपनी प्रकृति जानती हूँ। अग्नि से उत्पन्न हुई हूँ; हृदय में जो अग्नि है वह यत्न करने पर भी व्यवहार में झलक ही जाती है। यदि

सखा, सुभद्रा और पार्थ के साथ खाण्डवप्रस्थ न आये होते तो मैं दोनों के प्रति कठोर हो गयी होती; क्रोध में पार्थ का अपमान कर बैठती... किन्तु सखा आपने मुझे सँभाल लिया अन्यथा मैं अपने कृत्य पर आजीवन दुःखी एवं लज्जित होती रहती। सखा! बहुत प्रेम करती हूँ आपसे; मैंने अब भली भाँति जान लिया है कि जीने के लिये प्रेम आवश्यक है, बिना प्रेम के हृदय प्रस्तरपिंड है और शरीर मात्र शव, वह शव जिस पर मान अपमान, प्रेम घृणा, का न तो प्रभाव पड़ता है और न ही उसे आवश्यकता होती है... किन्तु सखा! मुझे सब कुछ अनुभव होता है, प्रेम के लिये मेरे हृदय में कामना उठती है, घृणा से मेरा अंग सिहरता है अपने प्रति हुए अपमान और उपेक्षा से मेरा सर्वांग दहक उठता है। इसी से मुझे लगता है कि मैं शव नहीं हूँ, जीवित हाड़ माँस की मानवी हूँ और जब तक शरीर में श्वास का आवागमन है तब तक बिना किसी के प्रेम के आदान-प्रदान के जीवित नहीं रहा जा सकता है। साथ ही जो सुन्दर भावनायें हमारे भीतर सुप्तावस्था में होती हैं, वह उभर कर सामने आने लगती हैं, जो कुछ अनजाना होता है मन उसे जानने लगता है; जो गुण अपने स्वभाव में नहीं होता है, मन उसे भी सहजता से ग्रहण करके आचरण में ढाल लेता है।

मैंने भी सखा से जुड़कर बहुत कुछ पाया है और उसे पाण्डवों को समर्पित किया है। विपरीत परिस्थितियों में जब मेरा मन सब कुछ तहस-नहस कर देना चाहता है, तब मैं सखा को याद करती हूँ और सोचती हूँ कि इन परिस्थितियों को सखा कैसे धैर्य और सहजता से निपटाते... तब मेरे मन का उद्वेग भीतर ही भीतर शांत होने लगता है और सखा की स्मृति मुझे शीतल कर देती है।

सखा का प्रेम मेरे लिये इतना पीड़ादायक क्यों है? जीवन में सीमाएँ होती हैं... सोच की तरह सब कुछ मुक्त नहीं होता है, इसी से पीड़ा हो रही है; किन्तु यह भी सत्य है कि मुझे सखा का स्नेह मिलता रहा। बहुत अच्छा लगता रहा और इसी अच्छे लगने में मन लालची हो गया और उनसे बहुत कुछ पाना चाहता है, निरंतर पाते ही रहना चाहता है; किन्तु यह संभव नहीं है। प्रेम के केवल एक ही पक्ष का ध्यान था मुझे, दूसरे का क्यों नहीं? सखा! आपका प्रेम मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है।

द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के बारे में सुनती थी। मेरे हृदय में इस युग पुरुष के लिये श्रद्धा पैदा हो गयी। श्रीकृष्ण ने मुझे सखी बना लिया तो मेरी श्रद्धा बढ़ कर प्रेम में परिवर्तित हो गयी। एक अन्तराल के बाद लगा कि मेरी श्रद्धा कुछ विशेष है और तब तक मेरा मन प्रेम की कई सीढ़ियाँ चढ़ चुका था।

सखा, दीर्घ अवधि के लिये खाण्डवप्रस्थ रुक गये थे। डूबते को तो तिनके का भी सहारा होता है। सखा तो सामर्थ्यवान् थे, शक्तिशाली थे, क्यों न आश्रय लेती... लिया और स्वयं को उस विषम परिस्थिति में संयमित किया। आज सखा के मुख से उनके जाने के बारे में सुनकर मन में एक हताशा ने जन्म ले लिया। मेरा हृदय चीत्कार करके कह रहा है कि मैं सखा के बिना नहीं जी पाऊँगी, मैं प्रेम करती हूँ सखा से... क्या प्रेम के लक्षण इससे भिन्न होते हैं?

सखा मुझसे बातें करते थे। मेरे मन में भी उनसे बातें करने का लालच बढ़ता गया और अब मेरा मन करता है कि सखा सदैव मुझसे ही बातें करते रहें। मन एक मृगतृष्णा के पीछे भागने लगा है। मन है, वह न तो भरेगा और न ही मरेगा। सखा को लेकर कोई सपना भी नहीं देखना चाहती हूँ। सपनों का जीवन भर बहुत बड़ा मूल्य चुकाती आयी हूँ, अब मेरे पास चुकाने के लिये कुछ भी नहीं है, इसीलिए सपने देखने का अधिकार भी नहीं है।

“तुम फिर से सोच में डूब गई” मुझे चुपचाप देखकर सखा ने मुझे टोका।
मैं सोचने लगी कि काश! मैं सत्य बोल पाती कि आपके जाने के बाद मैं कैसे जिउँगी? किन्तु प्रत्यक्ष बोली “एक अनुरोध करना चाहती हूँ।”

“अनुरोध क्यों कृष्ण, कहो, आज्ञा दो” सखा हँस पड़े।

“सुना है आप बचपन में बहुत मधुर बंशी बजाया करते थे, उसकी मधुर ध्वनि मनुष्य क्या पशु-पक्षियों तक को मोह लेती थी।”

“एक बात कहूँ?”

‘कहियो।’

“तुमने झूठ सुना है... सुभद्रा ने कहा होगा?” पुनः वही भुवन मोहनी हारया

मैं दुविधा में पड़ गई। क्या सखा सच कह रहे हैं? मैंने सुभद्रा तो नहीं, पार्थ के मुँह से पहले सुना था कि...।

मुझे दुविधा में देखकर सखा मुस्कुराने लगे। “भ्रम में पड़ गई... अरे मैं परिहास कर रहा था; जिसने भी तुमसे कहा है उसने सत्य कहा है।”

“तो सुनाइये नऽ।” मैं तत्काल बोल उठी।

“सुनाऊँगा, पर अभी नहीं।”

“बंसी नहीं है?”

“है, इस बार लेकर आया हूँ, मैं वकित चुपचाप बैठी रही। सखा पुनः कहने लगे... वर्षों से नहीं बजाई और किसी ने तुम्हारी भाँति अनुरोध भी नहीं किया।”

“तो बंसी किसलिए लेकर आये हैं?”

“तुम्हारे लिये ही लेकर आया हूँ। सखी हो, इसी से तुम्हें भेंट देने के लिये अपनी सबसे प्रिय बंसी लाया हूँ और कभी अवसर आने पर बजाकर सुनाऊँगा भी तुम्हें; केवल तुम्हें... तुम्हारे लिये ही बजाऊँगा, यह मेरा वचन है अब तो प्रसन्न हो।”

मैं निहाल हो गई। मुझे याद है सखा ने मुझे अपनी सखी बनाते समय कहा था “तुम मेरी एक मात्र सखी हो और सदैव एकमात्र ही रहोगी।” मैंने सखा का कहा एक एक शब्द अपने हृदय में सजा लिया था। जब भी मैं उस दिन को याद करती हूँ मेरी पीड़ा और दुःख तिरोहित हो जाते हैं और उन क्षणों में मैं केवल श्रीकृष्ण की सखी होती हूँ। निःसंदेह इससे अधिक मूल्यवान भेंट मेरे लिये कुछ भी नहीं हो सकती है।

सखा ने सुभद्रा के विवाह पर अथाह संपदा दहेज में दी थी। मेरे लिये विशेष रूप से मूल्यवान वस्त्राभूषण अलग से उपहार में लाये थे, किन्तु उस समय मेरी उस ओर आँख उठाकर भी देखने की इच्छा नहीं हुई थी। महीनों बाद उन्हें देखा था। सखा का उपहार था, अनादर नहीं कर सकती थी, सहेज कर रख दिया, किन्तु पहन ओढ़ आज तक नहीं पायी। किसी के दिये उपहार का सम्मान, बिना उसे पहने ओढ़े नहीं होता है यह बात मैं कैसे भूल गयी? कल मैं सखा के उपहार के वस्त्राभूषण पहनकर सखा से वह अद्वितीय भेंट लूँगी।

* * *

सखा और पार्थ ने खाण्डव वन जाने का निर्णय लिया है। कितने दिनों के लिये, यह मैं नहीं जानती। सखा ने मुझसे कहा था कि, “भ्रमण के लिये जा रहे हैं, चार दिन में लौट आयेंगे।”

“प्रस्थान कब है?” मैंने पूछा

“परसों प्रातःकाल” सखा ने कहा।

“कल दोपहर में आप लोग मेरे यहाँ भोजन कीजिए”

“अवश्य... तुम्हारे हाथ के भोजन का सौभाग्य मैं नहीं छोड़ सकता।” सखा ने तत्काल उत्तर दिया।

मैं प्रातःकाल से ही भोजन बनाने की तैयारी में लग गई। आज सखा ने भोजन करने का निमंत्रण स्वीकार किया है। वैसे तो कुछ भी विशेष नहीं था, सप्ताह में एकाध बार सखा और पार्थ मेरे यहाँ भोजन कर ही लेते थे, पर आज मैं सखा और पार्थ के लिये प्रिय खाद्य पदार्थ अपने हाथों से बनाऊँगी। अगले क्षण मेरे मन ने मुझसे प्रश्न किया कि, मैं पार्थ और सखा की खाद्य रुचियों के बारे में कितना जानती हूँ, कुछ भी तो नहीं। बस अपनी ही रुचि के अनुसार यह धारणा बना ली कि यह सखा को अच्छा लगेगा; पार्थ इसे रुचि से खायेंगे।

आज मैं वर्षों बाद भोजन बना रही हूँ इसलिये कठिनाई आ रही है। कभी कोई पात्र हाथ से छूट जाता है तो कभी कोई सामग्री, चलाते समय पात्र से बाहर गिर जाती है। अभ्यास छूट गया है पर जैसा भी बने आज मैं स्वयं अपने हाथों से सब कुछ बनाऊँगी। मैंने रसोइये महाराज की सहायता लेकर अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ बना डाले। सखा और पार्थ भोजन करने बैठे तो मैं हाथ में पंखा लेकर झलने लगी।

सखा भोजन की प्रशंसा करते जा रहे थे और पार्थ, सखा की बातों में हाँ हूँ मिला रहे थे। पर मुझे लज्जा आ रही थी, क्योंकि भोजन उतना स्वादिष्ट नहीं बना था, यदि भोजन में कुछ था तो वह केवल मेरी भावनाएँ थीं। सखा प्रसन्न मुद्रा में भोजन कर रहे थे। पार्थ ने कोई पदार्थ निकालकर थाली में किनारे रख दिया। मैंने देखा तो वह तरकारी का एक जला हुआ टुकड़ा था। मैं लज्जित हो गयी, सखा हँस पड़े, “पार्थ, यह मेरे कारण जला है, वैसे कृष्णा ने भोजन बहुत स्वादिष्ट बनाया है।” थोड़ी देर रुक कर सखा ने पुनः कहा ... यदि भविष्य में भी कुछ जले तो समझ लेना कि कारण मैं ही हूँ।” सखा हँसने लगे। मैं समझ गई, भोजन बनाते समय सखा ने मुझे बुलाया था और मैं उसी समय सब कुछ छोड़कर आ गई थी। थोड़ा विलम्ब हो गया था। ध्यान से नहीं देखा, तरकारी का एक जला हुआ टुकड़ा पार्थ की थाली में चला गया था। मैं भी सखा के साथ लज्जित सी हँस पड़ी।

सखा ने वहीं विश्राम किया। पार्थ स्वयं सखा का पैर दबाने लगे और सखा को निद्रा आ गयी। किसी आवश्यक कार्य से पार्थ को कक्ष के बाहर जाना पड़ा। वह उठकर चल गये और मैं भूमि पर बैठकर सखा के पैर दबाने लगी। भोजन गरिष्ठ था। नींद का एक झोंका न जाने कब आ गया और मैं सखा के पैरों को थामें उस पर सिर रख कर सो गई।

झटके से नींद खुली तो देखा कि सखा के एक पैर पर सिर रखकर मैं सो रही हूँ। हड़बड़ाकर सिर उठाया तो देखा कि सखा पलंग पर दूसरे पैर को मोड़ कर चुपचाप बैठे मुस्करा रहे हैं। सखा ने क्या सोचा होगा... मेरी नींद न टूटे इसलिये कितने यत्न से उठकर बैठे होंगे। ये समय के छोटे छोटे टुकड़े मेरे हृदय में हल्की सी उथल-पुथल मचा देते हैं। क्यों मेरे मन में सखा की सेवा करने की प्रबल इच्छा उठती है? सखा का हल्का सा परिहास मेरे अंतर्मन को भिगो जाता है और मैं उन छोटी छोटी घटनाओं को भी सँजोकर रखती हूँ, जिन्हें देखा जाए तो उनमें याद रखने लायक कुछ भी नहीं होता।

कुछ दिन पूर्व वर्षा हुई थी। सखा और पार्थ दोनों ही भीगते हुए मेरे भवन में आये। पार्थ ने अपना

भीगा उत्तरीय दासी को दे दिया और सखा ने मुझे। मुझे अच्छा लगा। यह छोटा छोटा अच्छा लगना थोड़ी सी आत्मीयता, मुझे सखा से ही क्यों मिलती है? पार्थ ने दासी को दूसरा उत्तरीय लाने का आदेश दिया। मैं उठी और सखा के उत्तरीय को सूखने के लिये डाला और दोनों के लिये दो उत्तरीय ले आयी। सखा का वह उत्तरीय मैंने सखा को वापस नहीं किया और न ही उसे पार्थ और सुभद्रा के पास भेजा, उसे मैंने अपने पास ही रख लिया, यह चोरी मुझे अच्छी लगी... इस बेईमानी से मैं प्रसन्न थी।

शुभ मुहूर्त में वैदिक मंत्रोच्चार, वाद्य निनाद और शुभ शकुनों के साथ मैंने और सुभद्रा ने पार्थ और सखा को तिलक लगाकर विदा किया। विदा के पश्चात भी मैं अंतःपुर के मुख्य द्वार पर खड़ी रही, जब तक कि उनके रथ परिसर से बाहर नहीं चले गए।

मैं पार्थ और सखा के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु खाण्डव वन से सखा पार्थ तो नहीं आये किन्तु पार्थ का दूत महाराज की सेवा में पत्र लेकर आया। जो कुछ सुना वह दुःखद था या सुखद, मैं नहीं जान पाई। वहाँ पर ब्राह्मण रूपधारी अग्नि देव ने सखा से प्रार्थना की कि वे खाण्डव वन को जला कर उनकी क्षुधा शांत करें। पार्थ ने अग्निदेव की प्रार्थना स्वीकार कर ली है। इसमें कितना समय लगेगा, ज्ञात नहीं है।

पाण्डवों से सुनकर मैं जान पाई हूँ कि जलाने से पहले वन वासियों को दूसरे स्थान पर बसाया जा रहा है। जले हुए विशाल भूभाग पर पाण्डवों की नई राजधानी का निर्माण होगा। सम्पूर्ण आर्यावर्त को अपने अधीन करके महाराज राजसूय करेंगे और महाराज युधिष्ठिर तब चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर कहलायेंगे। अब तो स्थान का भी चुनाव हो गया है... अच्छा है राजभवन के निर्माण के लिये भूमि का अधिग्रहण नहीं करना पड़ेगा। उत्तम कोटि की लकड़ी काटकर सुरक्षित रखी जा रही है। नागरिकों को भी सूचना दे दी गयी है कि उन्हें जितनी आवश्यकता हो वे उतनी लकड़ी काटकर उठा ले जायें।

मैं सब सुन रही हूँ। मेरे मन का एक कोना चीख-चीख कर कह रहा है कि क्या यह कार्यक्रम छह मास के बाद प्रारम्भ नहीं हो सकता था? मैंने अभी अभी तो पार्थ का अंश अपने गर्भ में धारण किया है, इस गर्भ को मैं पार्थ के साथ जीना चाहती थी। जो इच्छाएँ पिछले दो गर्भकाल में मन के भीतर ही दबी रह गई थीं, मैं इस बार उन्हें उभार कर जीना चाहती थी। एक साधारण स्त्री की भाँति अपने गर्भस्थ शिशु को पति के संसर्ग में पल पल बढ़ता देखना चाहती थी, किन्तु...।

मुझे लगता है कि मैं अपनी भावनाओं को यथार्थ के हथौड़े से मार मार कर दबाने में अभ्यस्त हो गई हूँ। इस बार मेरा मन पिछले गर्भावस्थाओं से भिन्न था इच्छाएँ पिछली बार की भाँति दबी दबी नहीं थीं, उभर आयी हैं और भीतर ही भीतर प्रहार करके उन्हें जीने की तीव्र लालसा पैदा कर रही थीं।

ग्रीष्म ऋतु प्रारम्भ हो रही है। वर्षा के आरम्भ होने के पूर्व ही वनों को काटने, जलाने और भूमि को समतल करने का कार्य पूर्ण करना है साथ ही शेष वन की रक्षा और नए मार्गों का निर्माण भी पूरा करना है। मैं सब समझती हूँ और मैं यह भी जानती हूँ कि वह कार्य, पार्थ और सखा के बिना संभव नहीं है, फिर भी सखा के लिये मन में एक अनुरोध उठने लगता है कि वे शीघ्र लौट आयें। मुझे पाण्डवों की शक्ति और प्रभुता की कल्पना रोमाँचित नहीं करती है। योजनाएँ उत्सुक नहीं बनाती हैं, मेरा मन तो पार्थ और सखा के वियोग में व्याकुल है। यही तो मेरे प्राण हैं और जीवन में प्राणों से मूल्यवान तो कुछ भी नहीं होता।

कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि पाण्डवों की कोई भी मनोकामना मेरे बलिदान के बिना पूर्ण क्यों नहीं होती; मानती हूँ कि बहुत बड़े कार्य का शुभारम्भ हो रहा है, किन्तु मेरे जीवन के सबसे मूल्यवान पार्थ के साथ के काल खण्ड में ही क्यों? ईश्वर, पाण्डवों के हर यज्ञ में याज्ञसेनी को ही समिधा क्यों बनाता है।

* * *

विवाह के सोलह वर्षों बाद मैं सही अर्थों में पहली बार पार्थ के जीवन में आयी थी... साथ ही लेकर आयी थी अपने अतीत का एक भारी बोझ। अपने दुःखों को मैं फेंक नहीं पाती थी। उन्हें समेट करके तह करके रखती जाती थी कि, जब पार्थ आर्येण तब वे उसे अपने में समेट लेंगे और उनका स्पर्श मुझे मेरे अतीत के सारे दुःखों से मुक्त कर देगा... किन्तु आज से ग्यारह मास पूर्व जब मेरा जीवन पार्थ के साथ आरम्भ हुआ तो कह नहीं सकती थी कि सुख था या दुःख। साथ चाहा था, मिला। कहने के लिये तो यह सुख था, किन्तु इस प्रकार से तो नहीं चाहा था। एक बात मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि उनमें वर्षों पूर्व व्यतीत पलों का दुहराव नहीं था। वे क्षण, जो छोटे छोटे टुकड़ों में आधे-अधूरे से मिले थे, अब तक उन्हीं टुकड़ों के साँसों के सहारे मैं जी रही थी और उन्हीं साँसों के लिये मेरा मन आगे जीना चाहता था, पर आज जब उनकी छाया भी नहीं दिखाई देती तो साँसें रुकती हुई सी लगती हैं।

पार्थ! यह सब आपको नहीं पता, क्योंकि जो बातें मेरे लिये साँसों की भाँति हैं, वे आपके लिये तन पर बैठे कीड़े मकोड़े की तरह हैं, जिन पर दृष्टि पड़ते ही मनुष्य उन्हें झटक कर उड़ा देता है। सच पार्थ, ऐसा ही है हमारा जीवन। मैं आपके साथ जी भर कर साँस लेना चाहती हूँ, किन्तु आप उन्हें झटकते और उड़ाते रहते हैं तो मैं कैसे जिऊँ? बहुत दुःखद हो गया है जीवन, क्योंकि अब मेरी साँसों में आपका झटकना उड़ाना भी धुल गया है।

मैं आपको जीना चाहती हूँ; टुकड़ों टुकड़ों में नहीं, पूरा समूचा चाहती हूँ। टुकड़ों से तो प्रेम नहीं होता है, होता है तो सम्पूर्ण से; वह चाहे जैसा हो अच्छा बुरा पर सब पूरा का पूरा ही चाहिए। रोज ही एक कसक पैदा हो जाती है और पूरा दिन उसी कसक पीड़ा को सहते हुए बीतता है। मैंने पार्थ से कभी कुछ नहीं कहा, कहूँगी भी नहीं, क्योंकि साथ रहते रहते तो अनकहा भी समझ में आने लगता है। पार्थ वनवास गये। मैंने सारी स्मृतियों को सहेज कर रख दिया था। क्या उनके हृदय में कोई पुरानी स्मृति शेष नहीं है? जो सूत्र उस समय छूटा था उसे पकड़कर आगे बढ़ने की लालसा उनमें नहीं है? यदि है तो वह मुझे दिखाई क्यों नहीं देती है? अनुभूति क्यों नहीं होती है उसकी? यदि कुछ भी शेष नहीं है, तो मैं पार्थ से कुछ भी क्यों कहूँ? पार्थ! मेरे प्रति आपकी निष्ठुरता अपरिमित है। लोग देखते हैं कि आप कितने कोमल हृदय, शांत और सौम्य हैं। आपके हृदय के किस कोने में मेरे लिए इतनी उपेक्षा, हृदयहीनता छुपी हुई है मैं नहीं जानती हूँ। मैं भी इस अवधि को निपुण कलाकार की भाँति जी रही हूँ। भीतर से एकदम खाली होते हुए भी ऊपर से भरी भरी दिखाई देने वाली, दिन में हँसने वाली, रातों में निःशब्द रोने वाली, आपके साथ होने पर भी अकेली। पार्थ, इन भावनाओं को मैं आपके समक्ष कभी भी व्यक्त नहीं करूँगी, न आज और न ही भविष्य में... ये सदैव मेरे हृदय में ही रहेंगी, जैसे कि गत वर्षों से है। फिर भी सोचती हूँ तो लगता है कि आपसे उलाहना दे दिया। इस प्रकार से कितना उलाहना दे पाऊँगी, वह तो कभी समाप्त ही नहीं होगा, कसक वैसी ही बनी हुई है, सब कुछ अनकहा रह जा रहा है... इच्छाएँ बिना अपना जीवन जीये ही खड़ी हैं, न जाने किस आशा में और किस प्रतीक्षा में।

पार्थ! यदि मैं आपसे कभी कुछ कहती थी तो आप चुप रह जाते थे। चाहने पर कारण भी गिना सकते हैं, किन्तु हमारे व्यक्तिगत सम्बन्धों में जो उदासीनता है, उसका क्या सचमुच में कोई कारण है? इन पलों पर तो किसी का भी प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए था, इसे आज मैं क्या कहूँ? आपका स्वभाव या मेरा भाग्य?

अपना भाग्य जानती हूँ, किन्तु आपका स्वभाव क्यों नए नए रूपों में मेरे समक्ष आ रहा है? आज आपके साथ की अवधि के ग्यारह महीने बीत गये, एक मास पश्चात मैं नकुल को हस्तांतरित हो जाऊँगी। आप कब आयेंगे, पता नहीं। प्रसव काल में आपकी उपस्थिति चाहती हूँ... कम से कम मेरी एक संतान के जन्म के समय उसके पिता उपस्थित रहें। सोचा था आपके संसर्ग में पुरानी कसक दूर होगी, किन्तु वह वैसी की वैसी ही बनी हुई है; कुछ भी हल्का नहीं हुआ, कम नहीं हुआ और धुँधला भी नहीं हुआ... उतनी ही तीक्ष्णता से चुभता रहता है।

कुछ न कुछ कसक तो सब के जीवन में रहती ही है, बहुत कुछ अनकहा भी रह जाता है, बहुत सारी इच्छाएँ पूरी नहीं होती; किन्तु मेरी बात भिन्न है, मैं पिछले वर्षों की पीड़ा एक वर्ष में मिटा देना चाहती थी। आपको प्रेम न कर पाने की, आपसे प्रेम न पाने की सारी पीड़ा और रिक्तता समाप्त करके मैं पूरी तरह से लबालब भरी होना चाहती थी, किन्तु मन क्यों नहीं भिग पाता है। मेरे हिस्से में क्यों नहीं आये कुछ वाक्य और शब्द, जो मन को भीतर तक भिगो जाते? क्यों नहीं आयी वह हँसी, जो केवल मेरे लिये होती? मन ऐसे पलों को ढूँढ़ता है, उन्हें जीना चाहता है।

जब भी मैं गहराई से सोचती हूँ तो यह पीड़ा पूरा का पूरा दिन निगल जाती है। याद करके, खोजने पर भी मन को समझाने लायक कुछ भी नहीं मिलता। अब तो सोचने से भी डर लगता है, क्योंकि स्मृतियाँ आकर मुझे घेर कर खड़ी हो जाती हैं, तो मैं इन्हें सँभाल नहीं पाती हूँ।

मन विद्रोही हो गया है। चीख चीख कर रोना चाहता है कि क्या मैं मानवी नहीं हूँ; मुझे अधिकार नहीं है कि मैं जी भर के रोऊँ? यह प्रश्न मैं पार्थ आपसे नहीं स्वयं से कर रही हूँ। क्यों मैंने स्वयं को एक दृढ़ता के साँचे में ढाल रखा है कि, मैं बहुत साहसी हूँ, कोई भी बाधा और दुःख मुझे विचलित नहीं कर सकती है; पर क्या मिलता है मुझे इससे? केवल पीड़ा। दोहरी पीड़ा मिलती है मुझे... एक तो आपसे मिली पीड़ा और दूसरी मैंने आपको आभास तक नहीं होने दिया कि आप मुझे पीड़ा दे रहे हैं, इसी तरह एक ही पीड़ा को दो बार भोगना। दूसरी बार कई गुना अधिका। इस तरह से तो कोई भी नहीं जीता होगा; मैंने ही जीया है पार्थ। मैं इस संसार में सबसे न्यायी जो हूँ, फिर तो पीड़ा और कारण भी न्याय क्यों न हो।

पार्थ! मैं आपके मन को समझ ही नहीं पाती हूँ कि आप मुझसे क्या चाहते हैं। मैं आपके लिये क्या करूँ जो आपको प्रिय हो, आप जिससे प्रसन्न हों। मैं तो दिन रात इसी प्रयास में रहती थी, किन्तु आपकी दृष्टि में वह कदाचित् एक पत्नी के कर्तव्य से कम था।

आपके सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा के लिये हर क्षण अपनायी गयी सहनशीलता, आपकी प्रसन्नता के लिये किया गया कर्तव्य और आपके सुख के लिये किया गया त्याग, कुछ भी आपको दिखाई नहीं देता है। मेरी भावनाओं और कर्तव्यों का कोई मूल्य आपकी दृष्टि में नहीं है और कोई प्रतिदान भी नहीं है। मूल्य और प्रतिदान भी कैसा? अपनत्व और प्रेम से घड़ी दो घड़ी का साथ। आप नहीं जानते ये घड़ी दो घड़ी मेरे लिये क्या अर्थ रखते हैं; किन्तु पार्थ, मैं उनसे जी उठती, उत्साहित होकर आपकी प्रसन्नता के लिये जितना भी कर पाती, सब करती; पर मैं निराश थी सब कुछ सहती रही, आपको अनुभव भी नहीं होने दिया कि मैं किस चंक्रणा में जी रही

हूँ। मैंने कभी कुछ भी नहीं कहा आपसे, क्यों नहीं कहती थी, आप नहीं समझेंगे पार्थ! मैं बहुत प्रेम करती हूँ आपसे और आपको ग्लानि न हो, आप लज्जित न हों, इसी कारण आपसे कभी कुछ नहीं कहा।

पार्थ, ऐसा तो नहीं है कि आप सामान्य नहीं हैं? तो फिर आपके हृदय में मेरे लिये कोमल भावनाएँ क्यों नहीं उठती थीं? या आप उन्हें उठने से पहले ही दबा देते थे... यदि ऐसा था तो क्यों? मेरे हृदय में तो आपके लिये भावनाएँ उठती थीं, किन्तु आपकी उदासीनता के कारण उन्हें उठते ही दबाने लगती थी। पार्थ! बहुत मधुर थीं वे भावनाएँ, उन्हें हम साथ साथ क्यों नहीं जी पाये! मेरी यह इच्छा कोई ऐसी इच्छा तो नहीं थी जिसे आप पूरा नहीं कर सकते थे। पूरे दिन मेरे हृदय में भावनाएँ हिलोरे मारा करती थीं, किन्तु आप उन्हें व्यक्त करने का अवसर ही नहीं देते थे तो बहुत पीड़ा होती थी मुझे, स्वयं को उपेक्षित अनुभव करती थी और धीरे से वहाँ से हट जाती थी; शायद आप भी यही चाहते थे।

पार्थ, आपका मेरे प्रति यह व्यवहार सुभद्रा के कारण तो नहीं है; यह उसकी इच्छा तो नहीं। आपके मौन आदेश के आगे मैंने अपने आपको जीते जी 'भिक्षा' बनने दिया। मैं चुप रही तो इस कारण, कि इसमें आपकी मौन सहमति थी। मैं जीवित रही तो आपकी ही कामना मेरे मन में थी, अन्यथा मैं प्रश्न उठा सकती थी, विरोध कर सकती थी; कुछ न कर पाने की स्थिति में अपने प्राण तो त्याग कर ही सकती थी।

आपने सुभद्रा का हरण करके उसे अपनी पत्नी बनाया तो आपको ज्ञात था कि आपकी एक पूर्व विवाहिता पत्नी है और सुभद्रा को भी ज्ञात था कि वह अर्जुन की द्वितीया है। राज पुरुषों की एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं, इसमें नवीन या समाज के विरुद्ध तो कुछ भी नहीं था। जो भी नवीन और सामाजिक परम्पराओं मर्यादाओं के विरुद्ध हुआ वह तो मेरे साथ हुआ था। पार्थ! यदि सुभद्रा की इच्छा है तो आपका धर्म और विवेक कहाँ है? आप सदैव दूसरों की इच्छाओं के लिये त्याग करते रहेंगे; त्याग भी किसका, केवल मेरा? यह पाण्डु पुत्रों के त्याग की विशेष परम्परा है।

टहलते घूमते, प्राकृतिक दृश्यों को देखते हुए मेरी इच्छा होती थी कि हम दोनों एक ही धरातल पर उन पलों को एक साथ जिएँ, एक दूसरे की अनुभूतियों को बाँटे, एक दूसरे के दृष्टिकोण से भी उन्हें देखें... किन्तु ऐसा क्यों होता था कि उन पलों में आप मुझसे दूर खड़े होते थे, अपने अलग संसार में, जहाँ मेरा प्रवेश वर्जित था। मुझे दूर दूर तक फैले प्राकृतिक दृश्य बहुत अच्छे लगते हैं, मानों कह रहे हों कि तुम पार्थ का हाथ पकड़कर दौड़ती हुई चली आओ मेरे अंतिम छोर तक। दूर दूर तक फैली प्रकृति, जिसकी कोई सीमा नहीं। आपको चाहने और प्रेम करने की मेरी सोच की तरह जिसकी कोई सीमा नहीं और न ही पीछे कोई आकर्षण, जिसके कारण लौटना पड़े। जो कुछ भी था वह दो पग के अंतर पर ही था... पर ये अंतर क्यों? बहुत खलता है पार्थ आपका यह सदैव अंतर बनाये रखना।

मैं क्यों नहीं रोक पाती अपनी सोच को, दिन रात क्यों सोचती रहती हूँ आपके बारे में? यह कैसा पागलपन है? पागलपन ही तो है, यह जानते हुए भी कि आपकी अपनी एक भरी पूरी गृहस्थी है, प्राणप्रिया पत्नी है, संसार में सबसे मूल्यवान पुत्र अभिमन्यु और आप उसके अद्वितीय पिता। फिर क्यों सदैव आपको सम्पूर्ण रूप से पाने की इच्छा होती है। आपको केवल अपना बनाने की सोच क्यों फल फूल रही है मेरे मन में? उसे मारने और उखाड़ फेंकने का प्रयास भी करती हूँ, पर क्यों नहीं मन मर पाता है, क्यों नहीं शरीर पर बैठे कीड़े मकोड़े की तरह उस सोच को झटक

पाती हूँ? जानती हूँ यह विषवृक्ष है, जो मुझे भविष्य में जीने नहीं देगा, पर यह विष वृक्ष उखड़ता क्यों नहीं है? कितनी गहरी है इसकी जड़ें; मन के किस कोने से ये खाद पानी पा रही हैं कि इसकी जड़ें गहरी पैठती जा रही हैं। विवेक की कुल्हाड़ी उसे काटने के लिये भोथरी क्यों हो गयी है?

मन तो पागल है इसी में जीना चाहता है और इसी पीड़ा और कसक में वहीं का वहीं ठहरा है... उस पथिक की भाँति, जिसे आने का मार्ग बंद मिलता है और वापस लौटने का मार्ग वह भूल चुका होता है।

पार्थ! आपके वनवास के साथ ही मैंने कामनाओं के नागों को मरा हुआ मान लिया था, किन्तु ये तो जीवित हैं... अब आहत होकर और भी आक्रामक और विषैले हो गये हैं। अब जब आप सामने हैं तो इन्हें मारना असम्भव है। पहले ये सुप्त थे, आपने इन्हें क्यों जगाया, अब मैं क्या करूँ?

पार्थ, आपसे बहुत प्रेम करती हूँ जो वस्तु अपनी होती है उसका ठीक ठीक मूल्य नहीं पता होता है, किन्तु जो अपनी नहीं है उसका लालच उसका मूल्य बढ़ाता जाता है। लालच से मूल्य और मूल्य से लालच दिन दिन बढ़ता जा रहा है, अब मैं इन्हें कैसे सँभालूँ? इन्हें सहेजकर रखा तो नहीं जा सकता है।

अंधेर है पार्थ; आपसे इतना प्रेम करती हूँ किन्तु सही अर्थों में नहीं जान पायी कि प्रेम क्या होता है। शायद किसी को अपने प्राणों से अधिक चाहना... किन्तु उसको कैसे प्रकट किया जाता है, कैसे बिना कुछ कहे समझ में आने लगता है, किस प्रकार से लोग उस स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ शब्द कोई अर्थ नहीं रखते हैं और सब कुछ अनुभव होता रहता है। किन्तु पार्थ! इस स्तर पर पहुँचने के लिये भी तो प्रारम्भ में शब्दों की आवश्यकता तो होती होगी न? क्या होती हैं वे बातें, उसे लोग कैसे कहते सुनते और समझते हैं? कैसे आधी कही हुई बात पूरी सुनी और अनुभव की जाती है। कैसे धीरे धीरे एक दूसरे के मन के तहों को खोल लेते हैं लोग? कितना कुछ व्यक्तिगत होता होगा, केवल दो लोगों के बीच, जिसको छू कर बहने वाली हवा भी किसी से कुछ नहीं कह पाती होगी। जहाँ किसी भी चाह के पैदा होने से पहले ही उससे अधिक देकर तृप्त कर दिया जाता है और उस तृप्ति से दोनों सराबोर चटक रंगों से जी भर कर वसंतोत्सव मनाने जैसा? बहुत सोचती हूँ पर उत्तर नहीं मिलता। बिना जिये ही सब कुछ समाप्त हो रहा है?

कल्पनाएँ उर्वर हैं किन्तु कल्पनाएँ जीवन तो नहीं हैं। दूसरे के शब्दों में तो नहीं बोलतीं, हर अंग की भाषा तो नहीं समझती... कैसे बोलती हैं आँखें? मुख मंडल कैसे कह जाता है सुन लेता है और उत्तर में सुना जाता है? प्रेम की भाषा मुख मण्डल पर किस लिपि में लिखी जाती है, कभी पढ़ और समझ ही नहीं पायी। हल्का सा स्पर्श कौन सा संदेश दे जाता है नहीं पता। कुछ भी तो नहीं जानती। अब जब अवधि समाप्त हो रही है तो क्यों तड़पकर सब प्रश्न खड़े हो रहे हैं। अब सब कुछ जानना और पाना चाहती हूँ, किन्तु चाहने से तो सब कुछ नहीं मिल जाता है।

एक साथ दोहरा जीवन चल रहा है। एक ओर जीने की ललक... जो कुछ अनजिया रह गया; हर पल की इच्छाएँ, जिनका कोई ओर छोर ही नहीं है। एक आयी, उसे ठेल कर दूसरी, उसे परे करके तीसरी...। दूसरी ओर अब मेरे पास है क्या, केवल पीड़ा। अब इस पीड़ा से मुक्ति चाहती हूँ। इच्छाओं को समेट करके तह करके सात ताले के भीतर बंद कर देना चाहती हूँ; बस चले तो उसे सागर की अतल गहराई में फेंक देना चाहती हूँ। यदि जीना है तो ये पीड़ा नहीं चाहिये।

कौन सी साधना और तपस्या करूँ, जिससे ये पीड़ा, कष्ट और इच्छाएँ सब तप कर भाप

बनकर उड़ जायें। क्या बचाकर रखना चाहती हूँ यह भी नहीं पता। पार्थ से अब तक ऐसा कुछ भी नहीं मिला है जिसे मैं आगे के जीवन के लिये बचाकर रखना चाहूँ। अब मैं भ्रम में भी नहीं जीना चाहती और न ही किसी भ्रामक आशा में। भ्रम और आशा ने मुझे समय से काटकर अलग खड़ा कर दिया था, समय अपनी गति से आगे बढ़ता जा रहा था, किन्तु भ्रम में जीती हुई मैं आशा की डोर थामे वहीं की वहीं खड़ी रह गई थी। समय... जिसे मैंने वर्तमान की भाँति पार्थ के साथ जीना चाहा था, किन्तु हर क्षण अतीत के गर्भ में बिना जिये ही समाता जा रहा है।

पार्थ! अब मुक्ति चाहती हूँ। आपके साथ मेरे मन का बंधन मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है; किन्तु उसी क्षण मन का एक हिस्सा आपको यथार्थ में न सही, कल्पना में ही जी लेना चाहता है, पर इस कल्पना को मैं उसी क्षण झटक देती हूँ।

सब कुछ समेटने का प्रयास करती हूँ, क्योंकि अब धीरे धीरे लौटना है। हाँ, समय पूरा हो जाने पर उल्टे पैर लौटना ही पड़ेगा। मन भागता तो तीव्र गति से है, पर उसका उल्टे पैर लौटना बहुत धीरे धीरे होता है। भीतर ही भीतर कहीं यह प्रयास भी रहता है कि सामने वाले को यह भी पता न चले कि कोई उसके पास से दूर जा रहा है। कैसा विचित्र प्रयास! स्वयं और सामने वाले दोनों को ही एक साथ छलने का प्रयास। साफ साफ पता चलता है इस छलावे का और दोनों मौन होकर छलते और छलवाते रहते हैं।

समय की प्रतीक्षा भी सबके लिए अलग अलग होती है। किसी के लिए हर अगला दिन मुक्ति का संदेश लाता हुआ; मुक्ति सम्बन्धों से, उसे ढोते रहने की विवशता से, अपराध बोध से, एक ठहराव से इन सबसे मुक्ति। मुक्ति की कल्पना भी सुखद लगती होगी न! जैसे आधे बंधन खुल गये हैं, आधी मुक्ति मिल गई है... पूरी मुक्ति का अनुमान भी कल्पना में ही हो जाता होगा। मुक्ति की कल्पना कभी कभी तो मुक्ति के समान ही सुखद लगती होगी न पार्थ?

दूसरी ओर मेरे लिये समय की प्रतीक्षा उलटी गिनती, जिसका शून्य पर आना क्या परिणाम लायेगा पता नहीं। जब कुछ भी पता नहीं होता है तो स्थिति शून्य जैसी होती है, सहमी सहमी सी। पर मुझे इतना पता है कि उसका परिणाम एक ही है... मृत्यु; सपनों की मृत्यु।

सपनों की मृत्यु तो निश्चित है। सपने, जिन्हें मैंने भ्रम में देखा था। भ्रम में जीने की अनुभूति भी होती थी; किन्तु जब भ्रम टूटता है तब। स्वप्न देखते समय कहाँ पता होता है इनके भ्रामक होने का? उस समय तो ये असली लगते हैं, टूटने पर ही सच्चाई सामने आती है कि ये तो स्वप्न था, जिन्हें जिया था वह जीवन भ्रम था और तब मन तड़प उठता है उन छोटे छोटे सपनों के लिये, जिनको मैंने सच्चाई समझकर जिया था।

नियत समय पर मैं नकुल को हस्तांतरित हो जाऊँगी। मैंने इस बार कठोर निर्णय लिया है। यद्यपि कठोर निर्णय बहुत कमजोर होते हैं, किन्तु मेरा यह निर्णय कमजोर नहीं होगा। अब मैं किसी का आश्रय नहीं ढूँढ़ूँगी। अपनी प्रसव वेदना भी मैं अकेले ही सहूँगी। किसी की सहायता, कोई दैवीय मनौती नहीं माँगूँगी। क्यों लूँ मैं किसी की भी सहायता? क्यों कोई मुझे उपकृत करे? मैं प्रकृति के नियमों के विरुद्ध इस संसार में आयी हूँ, समाज के नियमों के विरुद्ध मेरे जीवन का निर्धारण हुआ है। मैं अपने अतीत की भाँति भविष्य को भी भोग लूँगी... अकेली, केवल अपने सामर्थ्य से।

10 इंद्रप्रस्थ

आज पार्थ और सखा लौट रहे हैं। यद्यपि मैं नकुल के संरक्षण में थी, किन्तु इससे क्या अंतर पड़ता है। मैं अंतःपुर के झरोखों से बाहर देख रही थी, पार्थ और सखा दोनों रथ से उतरे। पार्थ का रथ नया और दिव्य था। मैंने और सुभद्रा ने आगे बढ़कर दोनों का स्वागत किया। स्नान और भोजन के पश्चात सखा ने मुझे बुलाया। वहाँ सुभद्रा और पार्थ पहले से ही बैठे थे। मैं भी इस यात्रा का वृत्तांत सुनने के लिये उत्सुक थी। सखा ने बताया कि, “जब हम लोग खाण्डववन पहुँचे, तो वन में हमें एक दिव्य ब्राह्मण मिला; उन्होंने बताया कि वे अग्नि हैं, बहुत दिनों से उन्हें कुछ भी खाने को नहीं मिला है। पार्थ ने उनसे उनकी क्षुधा तृप्ति का उपाय पूछा तो उन्होंने कहा कि इस खाण्डव वन को जलाने से उनकी क्षुधा शांत होगी। जब पार्थ ने खाण्डव वन को जलाना आरम्भ किया तो उसी समय इन्द्र वर्षा करके अग्नि को बुझाने का प्रयास करने लगे। तब अग्नि देव ने पार्थ को एक दिव्य रथ और वरुण देवता से गांडीव धनुष और अक्षय तूरीण दिलवाया, जिसकी सहायता से पार्थ ने इन्द्र को परास्त करके खाण्डव वन को जलाया। मैं रथ को देख चुकी थी, उसका नाम नन्दिघोष था। सखा ने कहा यह धनुष दो हजार वर्ष पुराना है; अनेक योद्धाओं के पास से होता हुआ यह इन्द्र से वरुण के पास पहुँचा और अग्निदेव ने वरुण से इसे पार्थ को दिलवाया। सखा ने कहा कि अब पार्थ, गांडीव और अक्षय तूरीण के साथ अजेय हैं। मैं सुनकर रोमांचित हो गई। हाँ, अग्निदेव ने मुझे भी कुछ दिया है।

“उसे भी दिखाइये।”

सखा अपनी तर्जनी उठाकर एक क्षण के लिए ध्यान मग्न हुए और सहस्र आरे वाला एक चमकीला चक्र उनकी तर्जनी के चारों ओर घूमने लगा। वह चक्र दर्शनीय था। सखा ने पूछा “कैसा है यह?”

मैंने कहा-‘सुदर्शन।’

“तुमने तो इसका नामकरण कर दिया ‘सुदर्शन’ आज से मेरा यह चक्र ‘सुदर्शन चक्र’ होगा।”

पार्थ प्रसन्न थे। वे सखा की भावी रूप रेखा का वर्णन करने लगे, “सखा का विचार है कि इस जले भूभाग को साफ करके पाण्डवों की नई राजधानी का निर्माण किया जाये।” भविष्य की कल्पनाओं से पार्थ का मुख दीप्त था, पर मेरे मन में कुछ मथ रहा था। अंत में मैंने पार्थ से पूछा “खाण्डव वन को जलाकर आपने इतने निरीह पशुओं को क्यों मारा? “सखा ने कह कि, “यदि कुछ प्राप्त करना है तो इसका मूल्य भी किसी न किसी को चुकाना ही पड़ता है।”

सच कह रहे थे सखा; किसी की इच्छाओं की पूर्ति के लिये न जाने कितनों को ही अपने जीवन की आहुति देनी पड़ती है। मैं और द्युम्न भी इससे परे नहीं हैं। मैंने पुनः सखा से पूछा, “क्या बिना किसी को हानि पहुँचाये अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है?” सखा कुछ क्षण मौन रहे और बोले, “आज तुम इसे नहीं समझोगी।”

सखा ने मुझसे कहा, “पार्थ ने जब वन में अग्नि प्रज्ज्वलित की, तो दैत्यों का शिल्पकार मय उस अग्नि में घिर गया। हमने यथाशक्ति वन प्रदेश को खाली करवाकर वनवासियों का पुनर्वास करवाया था, किन्तु वह वन के जिस क्षेत्र में था, वहाँ किसी के होने की कल्पना भी हम लोगों ने

नहीं की थी, अतः जब अग्नि प्रज्ज्वलित हो गई, तब इसकी करुण पुकार से हमें अपनी त्रुटि का आभास हुआ। पार्थ ने किसी प्रकार से इसका जीवन बचाया और तब उसने हमें बताया कि वह दैत्यों का श्रेष्ठ शिल्पकार मय है। इसने अपने प्राणों की रक्षा करने के कारण हमारे लिये एक दिव्य भवन का निर्माण करने की इच्छा व्यक्त की है; एक ऐसे भवन की, जिसके समक्ष न देव लोक न दैत्य लोक और न ही इस आर्यावर्त में कोई भवन होगा।”

मैं प्रसन्न हो गई। यद्यपि निवास के योग्य स्थान था। उस छोटी आखेट शाला के निकट आवश्यकता अनुसार राजभवन का निर्माण हो गया था, किन्तु सब कुछ मिलाकर वह एक भव्य राजभवन के परिसर जैसा नहीं था। सखा की सूचना से मेरे हृदय में एक दिव्य राजभवन की लालसा पैदा हो गई। मेरे जीवन की भाँति ही मेरा वर्तमान आवास भी टुकड़े टुकड़े से जुड़कर बना था, जो कि समूचा नहीं था और न ही भव्य, कि उसे देखकर मैं प्रसन्न होती। किन्तु सखा के मुख से सुनते ही एक इच्छा तत्काल आकार लेकर खड़ी हो गई। मुझे लग रहा था कि एक भव्य विशाल राजभवन की इच्छा मेरे हृदय में चुपचाप बैठी थी, जो आज अवसर आते ही निकल कर बाहर आ गई।

सखा मेरी भावनाओं का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन कर रहे थे। मेरे मुख का एक एक भाव उन्हें आनंदित कर रहा था। जब मैं अपने कल्पना लोक से बाहर निकली तो देखा कि सखा मुझे देखकर मुस्करा रहे हैं। सखा को इस प्रकार से मुस्कराते देखकर मैं लज्जित हो गई।

सखा मेरे मनोभावों से परिचित हो चुके थे। कुछ क्षण बाद बोले, “कृष्ण! इस राजभवन का निर्माण तुम्हारी रुचि के अनुसार होगा; तुम जैसा चाहोगी वैसा निर्माण करने में मय समर्थ है। तुम अपनी इच्छाओं और कल्पनाओं का विस्तार करो... मय के सामने उन्हें प्रकट करो, तुम्हारा भवन वैसा ही बनेगा।”

मैं प्रसन्न हो गई, आवश्यकता से कुछ अधिक ही प्रसन्न हो गयी। मैं स्वयं आश्चर्यचकित थी कि मेरा हृदय इतना प्रसन्न कैसे हो गया। मेरी कल्पनाओं ने चारों ओर पंख फैलाना प्रारम्भ कर दिया। अब मुझे एक लक्ष्य मिल गया था।

मेरी कल्पनायें उदात्त हैं और इच्छायें विस्तृत; इतनी विस्तृत कि उन्होंने मुझे ही ढँक लिया है। मैं अपनी सुध-बुध भूल गई हूँ। अंतर्मन का द्वन्द्व कहीं छुप गया है। हताशा निराशा सब तिरोहित हो गयी है और लक्ष्य की धुरी पर मेरा जीवन तेजी से घूमने लगा।

मेरी और मय की कल्पना ने राजभवन की रूप रेखा तैयार की। एक भव्य विशाल राज प्रासाद, अष्टकमल दल के आकार में, जिसमें पूर्व के भाग में एक विशाल और भव्य सभागृह का निर्माण होगा, जिसका शिल्प और सज्जा अनूठी होगी। मय अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य और कला उस भव्य सभा गृह के निर्माण में लगायेंगे। पूर्वोत्तर कोने पर महाराज का निवास होगा और पूर्व दक्षिण कोने पर प्रशासनिक भवन होगा; उसके पश्चात क्रम से अतिथिशाला व शेष पाण्डवों के आवासीय भवन होंगे। इस विशाल अष्टकोणीय परिसर के मध्य में एक दिव्य अष्टकोणीय भवन का निर्माण होगा। मैंने मय से पूछा, “मध्य में अष्टकोणीय भवन किस प्रयोजन के लिये?”

“देवी! महाराज श्रीकृष्ण का आदेश है कि मध्य में आपके लिये इस विशाल राजभवन के हृदय के समान एक विशेष भवन का निर्माण होगा, जो कि सभी भवनों से श्रेष्ठ एवं मुख्य सभागृह के समकक्ष ही होगा।” मैं आश्चर्य चकित रह गयी। मय, प्रणाम करके चले गये। सखा ने पूरा राजभवन मेरी इच्छा से बनवाने का निर्णय लिया और उसके मध्य में मेरा निवास अपनी इच्छा से,

ये कैसा स्नेह है सखा आपका मेरे प्रति! मुझे ज्ञात है कि भवन का अधिकांश व्यय सखा ही वहन कर रहे हैं।

मय ने सर्वप्रथम मिट्टी की एक सूक्ष्म अनुकृति बनाई और मैं उसे देखकर आश्चर्यचकित रह गयी; सब कुछ अति सुंदर और भव्य था। सखा और सभी भाइयों ने उस अनुकृति का अनुमोदन किया और कार्य आरम्भ हो गया। मैं परिसर के भीतर बनने वाले अपने भवन की एक एक दीवार की कल्पना करती, एक एक खंभे पर लिपटने वाली बेल बूटों का आकार बनाती; यदि उसमें कहीं त्रुटि दिखाई देती तो उसे तत्काल मिटाकर नई कल्पना उकेरने लगती। मेरी ही भाँति मेरा आवास भी दिव्य बन रहा है, जिसे देखकर लोग आश्चर्यचकित और भ्रमित रह जाये। हाँ भ्रमित, अचानक ही मेरे मन में विचार आया कि सारा संयोजन इस प्रकार का हो कि मेरे भवन को देखकर भ्रम उत्पन्न हो। मैंने मय से कहा था कि, मैं चाहती हूँ कि मेरा भवन इस जगत से परे की रचना लगे... सब कुछ जैसे माया का रचा हुआ हो। मय ने सहर्ष मेरी इच्छा को स्वीकार कर लिया था।

मय, निर्माण में लग गये। उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुओं की व्यवस्था होने लगी। वह अपनी कला में मेरी कल्पना को ढालकर एक भव्य राज परिसर का निर्माण कर रहे थे। मय, समय समय पर कहीं चले जाते और जब लौटते तो उनके पास भवन के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली दिव्य वस्तुएँ होती थीं। आज कल मय यहाँ नहीं हैं, वे मैनाक पर्वत पर गये हैं और वहाँ से वे सभा मण्डप के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली मणियों को लेकर लौटेंगे।

मय जब भी यात्रा से लौटते, भवन में प्रयुक्त होने वाली सामग्री के अतिरिक्त भी कोई न कोई अद्भुत वस्तु लाते थे। पिछली बार मय, भीम के लिये एक विशाल गदा लेकर आये थे; उससे पहले मय पार्थ के लिये देवदत्त शंख लेकर आये थे। उस शंख की ध्वनि को सुनकर लगता था मानों सिंह गर्जन कर रहा हो। इस बार भी मय, रत्नों की विशाल संपदा लेकर लौटे हैं और भवन निर्माण का कार्य अहर्निश चलने लगा। मय ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं भवन का निरीक्षण कुछ समय के लिये स्थगित कर दूँ। वह मुझे मेरा भवन एवं सभागृह पूर्ण रूप से सुसज्जित करके दिखाना चाहते थे। मैंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया, किन्तु अपनी जिज्ञासा नहीं रोक पायी और पूछा “आपकी रचना मायावी लगेगी न!”

“महारानी आप निश्चित रहें, उसे देखकर आप भी भ्रम में पड़ जायेंगी।” मय आत्मविश्वास से भरे थे। मैं आश्वस्त हुई। मय के मुख पर अपनी सर्वोत्तम रचना को साकार कर पाने की गर्व मिश्रित प्रसन्नता झलक रही थी।

निर्माण पूरा होने में पाँच वर्षों से भी कम समय लगा। मैं सब कुछ देख सुनकर आश्चर्य चकित थी। इतने कम समय में इतना विशाल और भव्य निर्माण कोई मायावी व्यक्ति ही करवा सकता है। मैं सुनती हूँ कि मेरा भवन अद्वितीय है; महाराज और पार्थ के भवन से भी श्रेष्ठ।

सखा! आपने ऐसा क्यों किया? आपके सर्वश्रेष्ठ पर तो आपकी बहन सुभद्रा का अधिकार है, किन्तु वह आपने मेरे आँचल में डाल दिया। सखा, क्या पार्थ-सुभद्रा के विवाह से मेरे प्रति हुए अन्याय से आप कुंठित और पीड़ित हैं? नहीं सखा, मैं आपको पीड़ित नहीं देख सकती। सखा, आपका यह दिव्य उपहार मुझे सहर्ष स्वीकार है, किन्तु अनजाने में ही पहुँची मेरी पीड़ा को कम करने का प्रयास सहा नहीं है। सखा, आप कुंठा मुक्त हो जाएँ, आप मेरे अपराधी नहीं हैं; किसी प्रकार से भी नहीं हैं। सुभद्रा से विवाह का निर्णय पार्थ का था; पार्थ आसक्त हुए थे सुभद्रा पर... मेरे

अपराधी पार्थ हैं आप नहीं। आप कुंठित हैं यह सोचकर मुझे असह्य पीड़ा हो रही है।

सखा, क्या आप नहीं जानते कि मैं आपसे प्रेम करती हूँ? प्रेम में एक दूसरे के प्रति अपराध भाव और कुंठा का कहाँ स्थान है? अब मैं कहाँ समेटूँ आपकी पीड़ा? मेरे हृदय में तो आपके प्रति अथाह प्रेम ही हिलोरे ले रहा है, उसमें आपकी इस पीड़ा के लिये स्थान नहीं। अपने अंतःकरण से इस पीड़ा को निकालकर कहीं फेंक दीजिए, हाँ, द्वारका जाकर सागर की अतल गहराई में इसे मेरी ओर से सागर को सौंप दीजिए, वह अपने अंतःकरण में इसे छुपा लेगा। सखा समझ नहीं हैं किन्तु मैं आज अकेले ही सखा से झगड़ रही हूँ।

आज सखा का खाण्डवप्रस्थ में आगमन हुआ है। राजभवन पूर्ण हो चुका था। नकुल पुत्र शतानीक और सहदेव पुत्र श्रुतकर्मा को देखकर सखा प्रसन्न हो गये। शतानीक, मेरे सभी पुत्रों में सर्वाधिक सुन्दर है, गोल मटोल खिलौने जैसा। उसे जो भी देखता है उसे अपनी गोद में लेकर दुलारना चाहता है। शतानीक को उसके सभी ज्येष्ठ भ्राताओं ने अपना खिलौना बना लिया है। जहाँ बालकों का समूह दिखाई देता था, वहाँ अनुमान लगाना सरल था कि शतानीक भी वहीं है।

सखा, शतानीक को गोद में उठाकर मेरे पास आये और कहा “कृष्णा, लगता नहीं है कि शतानीक तुम्हारा पुत्र है।” मैं हँस पड़ी। सखा सत्य कह रहे थे। मेरे साँवले रंग के विपरीत, शतानीक का धवल श्वेत वर्ण देखकर यह नहीं लगता था कि उसे मैंने जन्म दिया है।

आज पूरा परिवार सखा के साथ नवनिर्मित राजभवन के निरीक्षण के लिये प्रस्थान कर रहा है। भवन दो माह पूर्व ही पूर्ण हो गया था, किन्तु प्रतीक्षा थी सखा की। सखा के आने के दूसरे ही दिन वहाँ जाने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया था। युधिष्ठिर, भीम अपने अपने हाथियों पर... सखा, पार्थ, नकुल और सहदेव अपने अपने स्थानों पर सवार हुए। मैं और मेरी सपत्नियाँ शिविकाओं में आरूढ़ होकर बत्तियों के साथ गंतव्य की ओर बढ़ रहे थे। एक प्रहर पश्चात् हम सभी अपने गंतव्य पर पहुँच गये।

मय ने आगे बढ़कर हम सब की अगवानी की। उनकी आँखों में अद्भुत चमक और मुख पर परम संतोष झलक रहा था। मय ने राजभवन के मुख्य प्रवेश द्वार के आगे वस्त्र की एक विशाल दीवार खड़ी करवा दी थी, जिसके पीछे उनकी अद्भुत कृति छुपी हुई थी। हम सब एक दूसरे की ओर देखकर मुस्कराये बिना नहीं रह सके।

मय ने नम्रता से महाराज के समक्ष निवेदन किया कि वे इस वस्त्र की विशाल दीवार के बीच बने छोटे से द्वार पर पड़े आवरण को हटाकर अंदर प्रवेश करें। महाराज ने द्वार के आवरण के दोनों पटलों को धीरे से दोनों ओर सरका दिया। यह क्या? क्षण भर में वस्त्र की वह दीवार, खटाखट न जाने किन खाँचों में सिमटकर भूमि पर दोनों ओर एकत्र हो गई और समक्ष था दिव्य राजभवन। हम सबकी ग्रीवा पीछे झुके अपने अपने मस्तक के भार से दुःखने लगी, तब जाकर हमें चेत हुआ। हम सब अभिभूत से खड़े उस विशाल भवन को देख रहे थे।

मय ने आग्रह किया और हम लोग आगे बढ़े। समक्ष था विशाल सभागृह। हमारी कल्पना से सौ गुना सुन्दर कलात्मक और अद्भुत। मय, निर्माण के लिये अद्भुत व विशाल मात्रा में सामग्री लाते थे, किन्तु किसी को भी ज्ञात नहीं होता था कि इन बड़ी-बड़ी पेटियों में क्या है। आज वह संग्रह हमारे समक्ष जगमगा रहा था। हम सब आश्चर्यचकित खड़े ऐसे लग रहे थे कि जैसे व्यवस्थित रूप से सजी प्रस्तर मूर्तियों के बीच बाहर से लाकर कुछ मूर्तियाँ खड़ी कर दी गयी हैं। मूल्यवान् रत्नों

को पीसकर उन रंगों से भव्य चित्रकारी की गई थी; धवल प्रस्तर की दीवारों और खंभों पर रत्नों को भिन्न-भिन्न आकारों में काट कर फूल पत्ती, पशु पक्षी और देवताओं की आकृतियाँ बनाई गई थीं। अद्भुत मूर्तियाँ, नवीन रंग, नये नये प्रयोग... सब कुछ जैसे माया का संसार लग रहा था। मुख्य सभागृह में लगभग एक सहस्र लोगों के बैठने की व्यवस्था थी। मय ने सचमुच का मायावी संसार रचा था।

मैं अपना भवन देखने के लिये उत्सुक थी। सभी लोग राजभवन के भीतरी प्रांगण में पहुँचे। कमल दल की आकृति में आठ विशाल भवन, जो बाहर से जुड़े होकर भी भीतर ही भीतर पूर्ण रूप से स्वतंत्र और अलग अलग परिसरों में थे। उस अष्टकोणीय परिसर में मेरा अष्टकमल दल भवन, मैं आश्चर्यचकित रह गई। विशाल राजभवन की यह लघु अनुकृति थी। मेरे पैर अपने आप भवन की ओर बढ़ने लगे। मैं सबसे आगे आगे चल रही थी, शेष मेरे पीछे पीछे। मय इंगित कर रहे थे और मैं चल रही थी। मेरे भवन का स्वागत कक्ष विशाल सभा भवन की अनुकृति दिखाई देता था। मैं आश्चर्य चकित थी। यद्यपि मुख्य सभा भवन को देखने के पश्चात मेरा आश्चर्य अब धीरे धीरे शांत हो गया था और मैं एक नवीन अनुभूति से भर रही थी... क्या है यह? निःसंदेह गर्व है। अपने भव्य भवन को देखकर मैं क्षण क्षण गर्वित हो रही थी। मय ने निवेदन किया और मैं अपने भवन के भीतरी प्रांगण की ओर बढ़ी। यह क्या! सम्पूर्ण प्रकृति को मय ने मेरे प्रांगण में उतार दिया था... हिम आच्छादित पर्वत शृंखलाएँ, कल-कल बहती नदियाँ, तालाब... उनमें खिले कमल दल, हरी भरी भूमि, कलात्मक रत्नस्वचित भूतला मैं आगे बढ़ने के लिये उद्यत हुई कि मय ने रोका “महारानी! यह सारा दृश्य भ्रामक है।

“आपका तात्पर्य?” मैंने आश्चर्य से पूछा कि इतनी सुंदर प्रकृति भ्रामक कैसे हो सकती है?”

“महारानी, यह जो कल कल बहती जल धारा दिखाई दे रही है, वह सपाट भूतल है और यह मणि स्वचित भूतल, जो देखने में मार्ग सा प्रतीत हो रहा है, वह जल के कुंड हैं... इसके ऊपर कलात्मक चित्रकारी की गई है, जो स्पर्श मात्र से ही हिलकर बिखर जायेगी। फलों से लदे कुछ वृक्ष कृत्रिम हैं और कुछ प्राकृतिक, वृक्षों पर कूकने वाली कुछ कोयलें भी यांत्रिक हैं। इन जल के फव्वारों से जल नहीं वरन वायु प्रसारित हो रही है और यह जो उड़ता हुआ धुआँ दिखाई दे रहा है, वह जल का फव्वारा है।”

मय एक एक वस्तु दिखा रहे थे और मैं मंत्रमुग्ध सी देखती सुनती चल रही थी। अनेक सुंदर कक्षों से सुसज्जित था मेरा भवन। इस विशाल भवन में मैं अपने पाँचों पुत्र, पुत्रवधुओं, पौत्र, पौत्रियों के विशाल परिवार के साथ कई पीढ़ियों तक आनंद पूर्वक रह सकती हूँ।

मेरा भवन विशाल और भव्य था, यहाँ तक कि महाराज के भवन की तुलना में भी। पार्थ का भवन भी भीम नकुल और सहदेव की ही भाँति है... विशिष्ट है तो केवल मेरा। सखा का उपहार है मेरे लिये। आज लगता है कि मैं सुभद्रा से जीत गयी। सुभद्रा के विवाह के पश्चात मैं बार-बार सुभद्रा से हारती रही; चाहे वह मातृत्व था या पति का सुखा समय कुसमय उठने वाली ईष्या से मैं आज एकदम मुक्त हो गई हूँ। पिछले सभी दुःख और अपमान बहुत पीछे छूट गये हैं। सखा सब समझते हैं। बड़ी ही चतुराई से उन्होंने मुझे सर्वश्रेष्ठ देकर सुभद्रा से मेरी हीनता और दुःख को कम कर दिया। मैं अपने भवन में अधिकार और गर्व से भरी खड़ी हूँ, जहाँ मेरे समकक्ष कोई भी नहीं है... न देविका और न ही सुभद्रा। मेरी ही भाँति मेरा भवन भी विशिष्ट है। जैसे मेरी सपत्नियों की मुझसे कोई तुलना नहीं है, वैसे ही मेरे भवन की भी किसी से तुलना नहीं है। मेरा गर्व पल पल बढ़ रहा

था। मेरी विशिष्टताओं में एक और विशिष्टता जुड़ गई। सखा ने मुझसे पूछा कि, "तुम्हें यह नया राजभवन कैसा लगा?" 'अद्भुत' मैंने कहा। "और तुम्हारा अपना?" मैं चुप रही। मुझे अपने भवन की सुंदरता के लिये उपयुक्त शब्द नहीं मिला पा रहा था। सोचकर बोली, "सब कुछ इस धरती से परे, जैसे मैं इन्द्रलोक में पहुँच गई हूँ।" "महाराज युधिष्ठिर ने मुझसे इस नवीन राजधानी का नामकरण करने के लिये कहा था। मैं सोच रहा था कि इसको कौन सा नाम दिया जाये; तुमने मेरी समस्या हल कर दी; इसका नाम 'इन्द्रप्रस्थ' मुझे उपयुक्त लगता है।" सखा ने कहा और सभी ने सखा के नामकरण का अनुमोदन किया।

मेरा गर्व चरम पर था।

मैं इन्द्रप्रस्थ से भरी भरी खाण्डवप्रस्थ वापस आयी। गई तो मैं सबके साथ थी, किन्तु लौटते समय मेरे गर्व ने मुझे शेष सपत्नियों से अलग कर दिया। पुरुष सहज थे, किन्तु स्त्रियाँ? आज पुनः सबको आभास हो गया था कि मैं पहले भी विशिष्ट थी और आज भी विशिष्ट हूँ और भविष्य में भी सबकी तुलना में विशिष्ट ही रहूँगी। मैं प्रसन्न थी, भले ही मेरे और मेरी सपत्नियों के बीच एक नई ईर्ष्या का आरम्भ हो चुका था।

11 राजसूय

माता का स्वप्न सभी को ज्ञात था कि स्वर्गवासी पिता पाण्डु चाहते हैं कि युधिष्ठिर राजसूय करें। पिता की यह इच्छा सबके ऊपर पितृभ्रूण की भाँति थी। इन्द्रप्रस्थ का निर्माण पूर्ण हो चुका था, अब उसकी भीतरी साज सज्जा ही शेष थी।

सायंकाल मैं, सखा और पाण्डव सभी लोग महाराज युधिष्ठिर के कक्ष में बैठे थे और राजसूय के विषय में वार्तालाप हो रहा था। महाराज युधिष्ठिर ने सखा से कहा, “सबकी इच्छा है कि मैं राजसूय करके सम्राट का पद प्राप्त करूँ; किन्तु राजसूय यज्ञ तो वही कर सकता है जो संसार के सभी नरेशों से पूज्य व सम्मानित हो; आप ही मुझे इस विषय में सही सलाह दे सकते हैं।”

युधिष्ठिर की बात सुनकर सखा ने कहा, “मगध नरेश जरासंध ने छियासी राजाओं को जीतकर उन्हें अपने कारागार में बंद कर रखा है; उसकी मंशा, यज्ञ में पशुओं के स्थान पर सौ राजाओं की बलि देने की है... जैसे ही सौ राजाओं की संख्या पूरी हो जायेगी, वह उनकी बलि देकर अपना यज्ञ पूरा करेगा। जिस गति से वह आक्रमण करके नरेशों को बंदी बनाता जा रहा है, लगता है कि उसके यज्ञ में अब अधिक समय नहीं बचा है। शेष राजाओं पर भी उसकी धाक जमी हुई है और जब से मैंने उसके जामाता कंस का वध किया, तब से वह मेरे विरुद्ध है। वर्षों तक हम यदुवंशी मथुरा पर उसके आक्रमणों का सामना करते रहे। क्योंकि जरासंध के आक्रमण का कारण मैं था, अतः मथुरावासियों के कल्याण को देखते हुए मैं मथुरा का त्याग कर के दूर दक्षिण पश्चिम में द्वारका नगरी बसाकर रह रहा हूँ; आपके सम्राट होने में दुर्योधन कर्ण विरोध न करें तो भी जरासंध से ऐसी आशा रखना व्यर्थ है।

जरासंध की सेना विशाल है, वह स्वयं महापराक्रमी है और उसने आज तक पराजय का स्वाद नहीं चखा है; ऐसे अजेय पराक्रमी के जीते जी आप राजसूय नहीं कर पायेंगे, अतः किसी न किसी प्रकार से उसका वध करके बंदीगृह से छियासी राजाओं को मुक्त कराना ही होगा।”

सखा की बातें सुनकर युधिष्ठिर चिंतामग्न हो गये। कुछ समय पश्चात उन्होंने कहना आरम्भ किया “आपका कहना सही है; जो संभव नहीं है उसकी इच्छा करना व्यर्थ है... कितने ही नरेश हैं जो अपने अपने राज्यों पर संतोष के साथ शासन कर रहे हैं, मुझे भी जो ईश्वर ने दिया है उसे लेकर संतुष्ट रहना चाहिए... जब आप स्वयं जरासंध से त्रस्त होकर मथुरा छोड़कर सुदूर द्वारका में बस गये हैं, तो मेरी क्या सामर्थ्य है।”

भीमसेन को युधिष्ठिर की बातें अप्रिय लग रही थीं। उन्होंने कहा कि, “युक्ति के साथ प्रयास करके हम जरासंध को अवश्य परास्त कर सकते हैं; श्रीकृष्ण की नीति कुशलता, मेरा बल और अर्जुन के शौर्य के एक साथ मिल जाने पर कुछ भी असम्भव नहीं है।” “किन्तु जिस कार्य में भीम और अर्जुन के प्राणों पर संकट आ जाये, उसके लिये उन्हें भेजने का मेरा मन नहीं करता; मेरा विचार यही है कि मैं राजसूय का विचार छोड़ दूँ।”

युधिष्ठिर की बातों को सुनकर पार्थ, सखा से कहने लगे, “हम जरासंध का वध करने में समर्थ हैं; भाई युधिष्ठिर अपने प्रेम के कारण ही हमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहते हैं, किन्तु हम सब भरतवंशी होकर कोई साहसपूर्ण कार्य न करके सामान्य लोगों की भाँति जीवन व्यतीत करके इस संसार से विदा हो जायें यह कहाँ तक उचित है।”

सबके साथ विचार विमर्श करके अंततः महाराज युधिष्ठिर ने भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण को मगध जाकर जरासंध के वध करने की अनुमति दे दी। सखा ने कहा, यद्यपि हंस, हिडिंबक और कंस की मृत्यु और अन्य सहायकों के समाप्त हो जाने से जरासंध अकेला पड़ गया है, फिर भी उस पर सेना के साथ आक्रमण करना व्यर्थ है, उसे द्रुपद युद्ध में ही मारना उचित है।

योजना गुप्त रखी गई। शुभ मुहूर्त में मैंने पार्थ, भीम और सखा को विदा किया।

* * *

मगध से दूत सूचना लेकर आया कि मगध नरेश जरासंध, भीमसेन द्वारा द्रुपद युद्ध में मारा गया। पूरे राजभवन में प्रसन्नता फैल गई। अब राजसूय के लिये दिग्विजय का मार्ग प्रशस्त था।

मैंने सहदेव से विस्तार में जानना चाहा। उन्होंने बताया कि योजनानुसार भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण ने वल्कल धारण कर हाथ में कुशा लेकर व्रती ब्राह्मणों का वेश बनाकर मगध राज्य में प्रवेश किया। जरासंध ने ब्राह्मण अतिथि समझकर उनका स्वागत किया और अतिथिशाला में उनके रहने की व्यवस्था करायी। श्रीकृष्ण ने जरासंध से कहा कि, मेरे दोनों साथियों ने मौन व्रत धारण किया है, आधी रात के पश्चात व्रत खुलने पर आपसे बातचीत करेंगे।

आधी रात के बाद जरासंध अतिथिशाला में गया। वहाँ अतिथियों के बातचीत और रंग हंग देखकर उसके मन में शंका हुई। उसने हाथों पर धनुष की डोरियों के रंगड़ने के चिह्नों को भी देखा और समझ गया कि छद्म वेशधारी अतिथि ब्राह्मण नहीं हैं। उसने जरासंध को पूछा तो सभी ने अपना वास्तविक परिचय दे दिया और जरासंध को किसी एक के साथ द्रुपद के लिये ललकारा। जरासंध ने कहा कि, “कृष्ण को मैं क्षत्रिय नहीं मानता; इस ग्वाले से मैं नहीं लड़ूंगा और अर्जुन मेरे समक्ष अभी बच्चा है; हाँ भीमसेन के बल के विषय में बहुत कुछ सुना है, मैं भीमसेन के साथ द्रुपद की चुनौती को स्वीकार करता हूँ।”

तेरह दिनों तक दिन-रात युद्ध होता रहा। मगध की जनता विशाल प्रांगण में दोनों का युद्ध देखती रही। निर्णय की कोई संभावना नहीं दिखाई दे रही थी। भीमसेन थक रहे थे। श्रीकृष्ण ने एक तिनका उठाया, उसे भीमसेन को दिखाते हुए बीच में से चीर कर दाहिने हाथ का भाग बाँटें और बाँटें हाथ का भाग दाहिनी ओर फेंक दिया। भीमसेन ने संकेत समझ लिया और थोड़ी देर बाद जरासंध का शरीर दो भागों में मृत पड़ा था।

जरासंध का पुत्र जयतसेन, भीमसेन की शरण में आ गया। मगध के निकटवर्ती सहयोगी राजाओं ने भी युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर ली। मुख्य बाधा जरासंध समाप्त हो चुका था। कुछ समय पश्चात सखा, पार्थ और भीमसेन विशाल संपदा लेकर लौटे और दिग्विजय यात्रा को अंतिम रूप दिया जाने लगा। अंत में निर्णय हुआ कि अर्जुन पर्वतीय प्रदेश की ओर विजय यात्रा पर निकलेंगे, भीमसेन पूर्व दिशा, नकुल पश्चिम एवं सहदेव दक्षिण दिशा की ओर विजय के लिये प्रस्थान करेंगे।

दिग्विजय के लिये तैयारियाँ आरम्भ कर दी गईं। यद्यपि युद्ध की संभावना कम थी, क्योंकि सम्पूर्ण आर्यावर्त में छोटे बड़े राजाओं की संख्या बहुत अधिक थी और सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा प्रजा एक ही धर्म के अनुयायी थे। एक जैसी ही सबकी संस्कृति थी। इस व्यवस्था में अधिकांश राज परिवारों में वैवाहिक संबंध भी थे, इस कारण कोई राजा दूसरे की राजसत्ता पर प्रायः आक्रमण नहीं करता था। हाँ, कभी कभी कोई शक्तिशाली एवं साहसी राजा, सम्राट की उपाधि धारण करने के लिये राजसूय करता तो सभी नरेशों के पास अपना दूत भेज कर उनकी स्वीकृति

प्राप्त कर लेता था और सभी नरेश यज्ञ में सम्मिलित होकर सम्राट की सत्ता को मान लेते थे।

दिन भारी व्यस्तता में बीत रहे थे। मैं सखा से ठीक से बात-चीत भी नहीं कर पायी थी। तीन चार दिनों बाद सखा को थोड़ा अवकाश मिला। मैं सखा से बहुत कुछ कहना चाहती थी, किन्तु उसमें कुछ भी नया नहीं था। पार्थ से मिला आघात मुझे अब तक दुःखी और आहत करता है। आज मैंने सखा को भोजन के लिये आमंत्रित किया। आजकल मैं सहदेव की पत्नी हूँ। सखा और सहदेव ने साथ ही भोजन किया और मेरे भवन में ही विश्राम किया।

सायंकाल जब मैं सखा के साथ बैठी तो लगने लगा कि जब तक सखा के समक्ष जी भर कर अपना दुःख नहीं कहूँगी मुझे शांति नहीं मिलेगी। सुभद्रा के विवाह के पश्चात मैंने सखा से कुछ नहीं कहा था। यद्यपि मेरा हृदय विदीर्ण था, किन्तु आज आठ साल से अधिक समय बीत गया, किन्तु मेरी पीड़ा समाप्त नहीं हुई, कसक वैसी ही बनी हुई है। सखा से कहने पर लगता है कि मानों पार्थ के सामने उनकी भ्रष्टता कर रही हूँ, उन्हीं को उलाहना दे रही हूँ। सखा के साथ बातचीत में कुछ ही क्षणों में पार्थ का नाम आ गया और पार्थ की चर्चा उनका उलाहना और आक्षेप बन गयी। पता नहीं क्यों मैं अपनी पीड़ा सखा से छुपा नहीं पाती हूँ, वह सखा के सामने फूट कर बहने लगती है। आज भी मैंने जी भर को पार्थ को कोसा और फिर रोई। सखा धैर्य से सुनते रहे, मानों पार्थ नहीं स्वयं सखा ही मेरे दोषी हो। बहुत दिनों बाद सखा मिले थे इसलिये इतने दिनों की संचित पीड़ा भी सखा को देखकर निकल रही थी।

कभी कभी मुझे सखा के धैर्य को देखकर आश्चर्य होता था। मेरे उलाहने में वही बातें बार बार आती हैं, किन्तु सखा मौन होकर ऐसे सुनते हैं कि मानों वह यह सब पहली बार सुन रहे हों। सखा के इस ढंग ने एक नया संबंध बना दिया है। मैं एक ही बात बार बार कहती हूँ; सखा हर बार तब तक सुनते हैं, जब तक कि मेरा दुःख हल्का होकर सँभलने लायक नहीं हो जाता।

अब सखा की बारी थी। सखा ने कहा, “सखी! जीवन इतना सरल नहीं है जैसा कि तुम सोचती हो; मैं, तुम और पार्थ कोई भी इसका अपवाद नहीं हैं। अच्छा बताओ, तुम मेरे विषय में कितना जानती हो?” कह कर सखा ने अपने बात की दिशा मोड़ दी।

“वह सब कुछ जानती हूँ जो आपने, मेरे पतियों ने और माता कुंती ने आपके बारे में बताया है।” मैंने विश्वास से कहा।

“नहीं सखी, तुम केवल वह जानती हो, जो सब जानते हैं या मैंने तुम्हें बताया था; तुम वह नहीं जानती जो केवल मैं जानता हूँ।”...मैं सखा के प्रणय गाथाओं को सखा के मुँह से ही सुन चुकी थी, अब क्या शेष है? मैं आश्चर्यचकित थी। सखा ने आगे कहना आरम्भ किया.. “तुम मेरी सखी हो अंतरंग हो और विदुषी भी हो, इस कारण मैं तुम्हें अपने विषय में एवं भावी योजनाओं के विषय में बताऊँगा।”

कुछ समय पश्चात सखा गंभीर मुद्रा में कहने लगे, “सखी, अब मेरी बातें ध्यान से सुनो; उसे सुनकर तुम्हारा पार्थ के प्रति क्रोध यदि समाप्त न भी हो, तो कम अवश्य हो जायेगा।”

मैं सोचने लगी कि सखा अब ऐसा क्या कहेंगे जिसको सुनकर मेरे हृदय का क्रोध शांत हो जायेगा। मैं सुनने लगी। मेरे समक्ष सखा का एक नया रूप प्रकट हो रहा था... एक महान राजनीतिज्ञ का रूप।

आज से पहले भारतवर्ष में सत्ता के दो ध्रुव थे; पूर्व में जरासंध शासित मगध और पश्चिम में कुरु शासित हस्तिनापुर। मगध सत्ता का एक केन्द्र हस्तिनापुर के निकट मथुरा में भी था, जरासंध

का जमाता एवं कृष्ण का मामा कंस। इस प्रकार से मगध सत्ता का विस्तार अप्रत्यक्ष रूप से हस्तिनापुर की सीमाओं तक था। इनके बीच में थे वेदि जैसे छोटे राज्य, जो मगध के मित्र अथवा आश्रित थे। उसके पश्चिम में काशी पांचाल आदि राज्य, जिनकी किसी से शत्रुता नहीं थी। श्रीकृष्ण मगध सत्ता के केन्द्र को तोड़ना चाहते थे, इसके साथ ही चाहते थे कि पूरे भारतवर्ष में कुरु एवं उनके मित्रों और संबंधियों का ही आधिपत्य रहे। मगध केन्द्र को तोड़ने के लिये कृष्ण ने पहला प्रहार अपने ही घर में कंस की हत्या करके किया और जामाता की हत्या से क्रुद्ध जरासंध ने मथुरा पर आक्रमण कर दिया।

मथुरा की राजनैतिक स्थिति यह थी कि उसके पश्चिम में हस्तिनापुर था और हस्तिनापुर के दक्षिण पश्चिम में था शात्य कुरुवंशियों का शत्रु। उसकी राजधानी अर्बुद पर्वत के ऊपर मर्तिकावती सुरक्षित व सुदृढ़ राजधानी थी। मध्य दक्षिण में थे भीष्मक, शिशुपाल के मित्र रुक्मिण के पिता। मथुरा पर तीनों ओर से प्रहार होने लगे। यादवों ने वीरता से उन आक्रमणों का सामना किया। यदि जरासंध की सेना यादवों को परास्त कर देती तो समस्त उत्तरी भाग पर एक प्रकार से उसका आधिपत्य हो जाता। वर्षों तक यादव, जरासंध और उसके मित्र सेनाओं का आक्रमण सहते रहे।

अंतिम आक्रमण में जरासंध के मित्र शात्य ने जरासंध व शिशुपाल से मंत्रणा करके गांधार से एक यवन योद्धा कालयवन को उसकी सेना के साथ निमंत्रण भेजा। अपने देश में युद्ध के लिये विदेशी को निमंत्रित करने की यह पहली घटना थी, जो कि वास्तव में शोचनीय थी। भविष्य में लोग यदि छोटी छोटी बातों पर क्रुद्ध होकर विदेशी आक्रमणकर्ताओं को निमंत्रित करते रहेंगे, तो निःसंदेह भविष्य में यह भारतवर्ष विदेशियों के अधीन हो जायेगा।

यवन सैनिक दुर्धर्ष थे और यादव सत्रह आक्रमणों से क्षीण हो चुके थे। उनकी पराजय मुझे निकट दिखाई देने लगी। मैंने कालयवन के पास दूत भेज कर संदेश दिया कि जरासंध का दोषी मैं हूँ न कि निर्दोष जनता; मुझे परास्त करके बंदी बना लो। उसने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। युद्ध के लिये नयी भूमि की व्यवस्था हुई और मैं युद्ध के पूर्व ही रात्रि में मथुरा से भाग निकला। मेरा पीछा करते करते कालयवन मेरे निकट पहुँच गया। मैं रथ से उतरकर पहाड़ी पर चढ़ गया। उसने भी अपना अश्व त्याग दिया और पैदल मेरे पीछे पीछे पहाड़ी पर चढ़ने लगा।

मैं एक गुफा में घुस गया। मुझे ज्ञात था कि उस गुफा में ऋषि मुचुकुन्द, तपस्या के उपरान्त योग निद्रा में लेटे हैं। जो कोई भी उनकी निद्रा भंग करेगा, वह उनकी दृष्टि से जलकर भस्म हो जायेगा। मैंने निद्रामग्न ऋषि को अपने पीताम्बर से ढँक दिया और एक स्थान पर छिप गया। जब कालयवन गुफा के भीतर आया तो उसने सोचा कि मैं थक कर पीताम्बर ओढ़कर सो रहा हूँ। उसने अपने पैरों से ऋषि के ऊपर जोर से प्रहार किया। ऋषि की योगनिद्रा भंग हो गई और उनके नेत्र खुलते ही कालयवन वहीं भस्म हो गया। कालयवन का इस प्रकार से अंत देखकर यवन सैनिक भाग खड़े हुए।

मैं वापस मथुरा नहीं लौटा। मैंने द्वारका की ओर प्रस्थान किया। मथुरा से साढ़े पाँच सौ कोस दूर पराजित होकर नहीं भागा था मैं और न ही शक्तिहीन था। अवसर मिला कि दक्षिणी सीमा पर स्वयं को समर्थ कर लूँ। शत्रु से दूर निकलकर मैंने एक 'विशाल भूभाग की कल्पना' के दक्षिणी सिरे को बाँधा और वहीं रुक कर अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता रहा।

द्वारका सुरक्षित थी... तीन ओर सागर था, साथ ही आनर्त, सौराष्ट्र, भृगुकच्छ, अवन्ति, मरुस्थ आदि राज्य द्वारका के मित्र थे। यदि द्वारका पर आक्रमण हो सकता था तो केवल पूर्व की

ओर से ही हो सकता था।

मैंने अपने वैवाहिक संबंध भी राजनैतिक लाभ को देखकर स्थापित किया था। भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी ने मुझे संदेश भेजा कि, उसके हृदय में मेरे प्रति प्रेम है और उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका भाई रुक्मि उसका विवाह अपने मित्र शिशुपाल से करना चाहता है, अतः मैं उसका हरण करके अपनी पत्नी बना लूँ, तो मुझे कुछ भी सोचने की आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि भीष्मक की पत्नी यदुवंश की ही थी, फिर भी वे शिशुपाल और जरासंध के साथ मिलकर मथुरा पर आक्रमण में उनकी सहायता कर रहे थे। मैंने योजनानुसार रुक्मिणी का हरण कर लिया। पीछा करते हुए रुक्मि को भी मैंने द्रुपद युद्ध में परास्त किया और जीवनदान दिया था। रुक्मिणी से विवाह होने के पश्चात भीष्मक और रुक्मि मथुरा के शत्रु नहीं रहे और मथुरा, मध्य दक्षिण की ओर से सुरक्षित हो गई।

उसके पश्चात् मैंने आदिवासी समुदाय की कन्या जामवन्ती से विवाह किया। इस आदिवासी समुदाय का मुखिया ऋक्षवान बहुत बलवान था और उसके कबीले के युवक छापामार युद्ध में पारंगत थे। वे अचानक यादवों पर धावा बोलकर पलक झपकते ही उनके पशु, धन और स्त्रियों को लेकर गायब हो जाते थे। मैंने इस समुदाय के मुखिया को परास्त किया, तो उसने स्यामंतक सूर्यमणि के साथ साथ अपनी पुत्री जामवन्ती भी मुझे समर्पित कर दी। इस प्रकार से ऋक्षवान के कबीले की ओर से होने वाले आकस्मिक हमलों से द्वारका सुरक्षित हो गयी।

“सूर्य मणि के साथ...” मैंने सखा के रुकने पर पूछा।

“यदुकुल में कुल अट्ठारह कुल हैं; एक कुल के प्रमुख सत्राजित, यादव सभा के सदस्य थे। उनके भाई ने सूर्य की तपस्या करके एक मणि प्राप्त की थी, जिसके स्पर्श से वह प्रतिदिन चालीस मन लोहे को सोने में परिवर्तित करते थे। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे उस मणि को राजकोष में जमा कर दें, जिससे कि उससे प्राप्त स्वर्ण से सेना का विस्तार व देश का विकास हो सके, किन्तु उन्होंने मना कर दिया। मैंने उन्हें यह भी समझाया कि इस मणि के लोभ में कोई उन्हें हानि भी पहुँचा सकता है।

कुछ दिनों के बाद सत्राजित के भाई न जाने कहाँ चले गये। ढूँढ़ने पर वन में उनका क्षत-विक्षत शव मिला, किन्तु मणि जिसे वे सदैव गले में पहने रहते थे वह नहीं मिली। अपवाद प्रारम्भ हो गया। सत्राजित व उनके सहयोगी यह मान रहे थे कि मणि के लोभ में मैंने उनके भाई की हत्या कर दी और मणि अपने पास रख ली। इतना बड़ा लांछन। एक क्षण के लिये मैं विचलित हो गया, किन्तु अगले क्षण ही अनुभवी आखेटकों को लेकर उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ सत्राजित के भाई का शव मिला था। शव को बाघ ने खाया था। उस स्थान पर बाघ के पदचिह्नों के साथ साथ आदिवासियों के भी पद चिह्न मिले। मैं उन पद चिह्नों का पीछा करते करते एक गुफा में पहुँचा। मणि के प्रकाश से वह गुफा आलोकित हो रही थी। मैंने ऋक्षवान से मणि को वापस माँगा, किन्तु उसने मना कर दिया। तब मैंने उसे द्रुपद युद्ध के लिये चुनौती दी और उसने चुनौती स्वीकार कर ली। अंत में ऋक्षवान परास्त हो गया और मैंने उसे जीवनदान दे दिया। ऋक्षवान ने मणि के साथ साथ अपनी पुत्री जामवन्ती को भी मेरे चरणों में रख दिया, इस प्रकार जामवन्ती मेरी दूसरी पत्नी बनी।

मैंने द्वारका पहुँचकर सभा आयोजित की। उस सभा में मैंने सभी सभासदों को पूरी घटना सुनाकर मणि को सत्राजित को देकर मणि की चोरी के कलंक से मुक्त हुआ। लज्जित सत्राजित

ने वह मणि और अपनी कन्या सत्यभामा मुझे अर्पित कर दी। सत्यभामा मेरी तीसरी पत्नी बनी, साथ ही मेरे कुल का प्रबल विरोधी एक यदुकुल मेरा मित्र हो गया।

अवन्ति राज्य द्वारिका का मित्र राज्य था। उन्होंने मित्रता को संबंध में बदलने की इच्छा मेरे समक्ष रखी, इस प्रकार मित्रवृन्दा मेरी चौथी पत्नी बनी। गंडकी के तट पर स्थित कोशल नरेश ने अपनी पुत्री सत्या के स्वयंवर के लिये प्रण रखा था कि जो वीर पुरुष इन सात वृषभों को नाथ कर रथ में जोत लेगा, वही उनकी पुत्री सत्या को प्राप्त करेगा। मैंने सत्या को प्राप्त किया। पंचनद प्रदेश के मद्रदेश के राजा बृहत्सेन हैं; उनकी राजधानी शाकाल नगरी, चन्द्रभागा के तट पर स्थित है। बृहत्सेन ने अपनी पुत्री लक्ष्मणा के लिये तुम्हारे पिता की ही भाँति लक्ष्यभेद का प्रण रखा था, वैसे ही यंत्रचलित मत्स्य का निर्माण करवाया था... मैंने लक्ष्य भेद करके लक्ष्मणा को प्राप्त किया।

सखा थोड़ी देर के लिये चुप हो गए। उनके मुख से मेरे स्वयंवर की भाँति आयोजित स्वयंवर के प्रण को सखा ने सफल किया था, सुनकर मेरा हृदय एक बार धीरे से कसक गया। सखा ने पुनः कहना आरम्भ किया। विपाशा के पार मद्र के निकट वाहीक राज्य था जो कि मेरे व मद्र दोनों के ही मित्र थे। कैकेय राज धृष्टकेतु के साथ मेरे ही कुल की कन्या का विवाह हुआ था; वह मेरी बुआ लगती थी। कैकेय राज्य की राजधानी निर्जक, इरावती के तट पर स्थित है। लक्ष्मणा से मेरे विवाह के पश्चात् मेरी बुआ के हृदय में यह इच्छा उठी कि उनकी पुत्री भद्रा से मैं विवाह करूँ, इस प्रकार से पुराना संबंध नया हो जायेगा और कैकेय राज्य यादवों का मित्र हो जायेगा।

विपाशा, इरावती और चन्द्रभामा के क्षेत्र में कैकेय, अम्बष्ट, त्रिगर्त, कुलिंद, भद्र आदि सभी राज्य पास पास थे तथा आपस में मित्र व संबंधी थे। लक्ष्मणा और भद्रा से विवाह के पश्चात् पंचनद प्रदेश यादवों के लिये सुरक्षित हो गया तथा उसे पार करके होने वाले विदेशी आक्रमणों की संभावना समाप्त हो गई। तुम्हारे इसी खाण्डवप्रस्थ के निकट यमुना के तट पर मुझे अपनी आठवीं पत्नी मिली; मैंने उनका नाम यमुना के नाम पर कालिंदी रखा। तुम सोच रही होगी कि मैं जीवन भर विवाह ही करता रहा। कह कर सखा हँस दिए, मैं भी हँस पड़ी।

नहीं सखी! इस बीच बहुत कुछ होता रहा। पांचाल राज्य मेरा मित्र था। तुम्हारे स्वयंवर को अर्जुन द्वारा सफल करवाने के लिये ही मैंने युक्ति से कर्ण को मना करवा दिया था। भीम, हिडिंबा से विवाह करके पहले ही मगध के पूर्व अपना अस्तित्व स्थापित कर चुके थे। अर्जुन ने चित्रांगदा से विवाह करके पूर्वी कोने मणिपुर को भी सुदृढ़ कर लिया। जरासंध की मृत्यु के पश्चात् मगध चारों ओर कुरु मित्रों और संबंधियों से घिर कर सिकुड़ गया है, उसके विस्तार की संभावना अब समाप्त हो गई है। युद्ध की स्थिति में अब वह चारों ओर से कुरुमित्र राज्यों से युद्ध नहीं कर सकता है।

मैं समझ रही थी कृष्ण की राजनीति और दूर दृष्टि। पश्चिम में गांधार राज्य कुरुवंशियों का संबंधी है, उत्तर में कैकेय और मद्र भी संबंधी हैं तथा शक्तिशाली राज्य हैं। इस प्रकार से एक विशाल राज्य की कल्पना स्वयं के लिये नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए एक विशाल साम्राज्य की छत्र छाया में राज्यों में होने वाली आपसी युद्ध की संभावनाएँ समाप्त हो जायेंगी, साथ ही सुदूर प्रदेशों से बाह्य आक्रमण का साहस भी कोई नहीं कर सकेगा। किन्तु सखा यह सब हस्तिनापुर के लिये क्यों कर रहे हैं? वह अपनी नीति से अपने गृह मथुरा को क्यों नहीं सशक्त बनाकर सत्ता का केन्द्र बना रहे हैं, इसे न तो मैं समझ पायी और न ही सखा से पूछ पायी।

सखा ने थोड़े विश्राम के पश्चात् पुनः कहना आरम्भ किया। सुदूर पूर्वी पर्वतीय प्रदेश में प्राग्ज्योतिषपुर का राजा भौमासुर बहुत बलशाली व क्रूर था। उसने अपने आस पास कामरूप, अंग, बंग, मणिपुर, त्रिपुरा के राज्यों से अनगिनत कन्याओं का बलात् हरण करवा करके अपने यहाँ रखे हुए था। कहने को तो वे भौमासुर की रक्षितायें थीं, किन्तु वे पशुओं से भी गयी बीती स्थिति में जी रही थीं। जिस स्थान पर उन्हें भौमासुर ने रखा था, उस स्थान को लोग पृथ्वी का नर्क कहते थे और इसी कारण भौमासुर का एक अन्य नाम प्रचलित हो गया था नरकासुर। मैंने प्राग्ज्योतिषपुर पर आक्रमण करके भौमासुर का वध किया और उन स्त्रियों को मुक्त करवाया। उनकी संख्या लगभग सोलह हजार थी।

भौमासुर की मृत्यु के पश्चात् मैंने उनसे उनके परिजनों का पता पूछकर उन्हें बुलाकर उनको सौंपना चाहा, किन्तु कोई भी व्यक्ति अपनी कन्या को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुआ। मैंने सामान्य जन से उनके साथ विवाह करने का अनुरोध किया, किन्तु कोई भी पुरुष आगे नहीं आया।

उन स्त्रियों ने मेरे समक्ष निवेदन किया कि जब तक भौमासुर जीवित थे वे उसकी रक्षिता थीं, अब उनकी मृत्यु के पश्चात् वे कहाँ जायें, अब उनके पास आत्महत्या के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। मैंने विचार किया, किन्तु कोई भी विचार उनको सामाजिक सुरक्षा नहीं दे पा रहा था... अंततः मैंने निर्णय लिया कि मैं ही उनसे विवाह कर लूँ, जिससे वे चाहे अपने पितृकुल में रहें या द्वारिका समाज में, उनका स्थान मेरी पत्नी का ही होगा और मैंने उन सोलह हजार कन्याओं के साथ विवाह कर लिया। सखा का यह रूप मुझे अचम्भित कर गया। मैंने आज तक सखा का गोपियों के साथ रास रचैया और छलिया रूप ही सुना था, पर आज लगा कि सखा का स्वरूप कितना विराट है। क्या एक भी शक्तिशाली पुरुष में इतनी शक्ति है कि वो किसी एक पीड़ित महिला का उद्धार कर सके? पुरुष की दृष्टि में नारी के लिये इतना सम्मान और संवेदना अन्यत्र नहीं दिखाई देती है। मैंने मन ही मन उन सोलह हजार कन्याओं की श्रद्धा को अपने हृदय में समेटकर अपना मस्तक सखा के चरणों में रख दिया।

इसके पश्चात् दूसरा बड़ा अभियान प्रारम्भ किया; यह अभियान भी पूर्व का था। पुण्ड्र का राजा पौण्ड्रिक स्वयं को श्रीकृष्ण कहता था और जनता के बीच मेरा उपहास उड़ाता हुआ मुझे बार बार युद्ध की चुनौती देता रहता था। पुण्ड्र देश पूर्व सागर और कौशकी गंगा के समीप है। करुष नरेश के पुत्र विदुरथ और दंतवक्र मेरे फुफेरे भाई थे। करुष राज्य पुण्ड्र से सटा हुआ है, इसके अतिरिक्त उत्कल, मगध, अंग, बंग, मणिपुर, विदेह राज्य भी पुण्ड्र के पड़ोसी राज्य थे।

दंतवक्र, पौण्ड्रिक का साथ दे रहा था और दूसरा भाई विदूरथ, जरासंध के सेनापति के रूप में मथुरा पर आक्रमण के समय मेरे हाथों मारा जा चुका था। कामरूप नरेश भौमासुर का पुत्र भी पौण्ड्रिक का साथ दे रहा था। मैंने मगध में दामोदर और कौशिकी गंगा के बीच में युद्ध में दंतवक्र और पौण्ड्रिक का वध किया, उसके पश्चात् उत्कल, जगन्नाथपुरी, काशी और दक्षिण कौशल के नरेशों ने मेरी अधीनता स्वीकार कर ली... अब शेष है पश्चिम में शाल्या उसे भी मैं शीघ्र समाप्त करूँगा। उसके समाप्त होते ही एक अखण्ड भारतवर्ष की स्थापना हो जायेगी।” सखा चुप हो गये। मैं अभिभूत सी बैठी रही।

अगले दिन सखा द्वारिका लौट गये। दिग्विजय यात्रा की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गईं। अंततः शुभ मुहूर्त में मैंने भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को मंगल कामनाओं के साथ विदा किया। आज

पाण्डव अपनी दिग्विजय यात्रा से लौट रहे हैं। पूरा राजभवन सजाया गया है और राजपथ पर स्थान स्थान पर स्वागत द्वार बनाया गया है। राज मार्ग के दोनों ओर खड़े होकर नगरवासियों ने विजेता पाण्डवों का अभिनंदन किया।

* * *

मैं समय समय पर आने वाले दूतों के माध्यम से सुनती रहती थी कि किस प्रकार उनकी सेनायें अबाध रूप से आगे बढ़ रही थीं और नरेश, युद्ध के बिना ही अधीनता स्वीकार करके अपने कोष का विशाल भाग उन्हें सौंप देते थे। पाण्डवों के साथ सहस्रों रथों और गाड़ियों से भरी विशाल संपदा भी आयी है। महाराज के समक्ष भूमि पर अधीनता स्वीकार करने वाले नरेशों के मुकुटों का ढेर लगा दिया था। महाराज युधिष्ठिर प्रसन्न थे और मैं उनसे भी अधिक प्रसन्न थी। इस अभियान में यह निर्णय लिया गया था कि हस्तिनापुर एवं मित्र देशों की ओर सेनाएँ मुख नहीं करेंगी, सारा अभियान शांति से सम्पन्न हो गया था।

* * *

इन्द्रप्रस्थ पूर्ण रूप से सुसज्जित हो चुका था। शुभ मुहूर्त में महाराज युधिष्ठिर ने गृह प्रवेश किया और वहीं से राजसूय की तैयारियों का आरम्भ हुई। एक भव्य यज्ञ मण्डप का निर्माण कराया गया। सारे संबंधियों एवं समस्त नरेशों को निमंत्रण भेजा गया। महाराज युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर के लिए अपना विशेष दूत भेजा था तथा महाराज एवं महारानी के साथ सभी परिजनों आचार्यों को आने के लिये अनुरोध किया था। दूत ने लौटकर स्वीकृति का पत्र दिया।

इन्द्रप्रस्थ उत्लसित था। सभी निमंत्रित अतिथि पधारे थे। सखा दस दिन पूर्व ही द्वारका से आ गये थे। महाराज ने सभी कार्य सुचारु रूप से संपादित हो इसके लिये सबको उत्तरदायित्व सौंप दिया था। स्थाई परिसर से लगभग दुगुने अस्थाई निवास की व्यवस्था की गई थी।

महाराज ने यज्ञ की दीक्षा ली। हस्तिनापुर से पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि बंधु एवं दुर्योधन के मित्र अंगराज कर्ण आये थे। अंगराज को माता के आदेश से विशेष रूप से निमंत्रित किया गया था। महाराज अपने कुटुंबियों को देखकर प्रसन्न थे, किन्तु मुझमें उन लोगों को लेकर कोई हर्ष विषाद नहीं था।

आज मुख्य कार्यक्रम है, जिसके अंतर्गत महाराज किसी श्रेष्ठ अतिथि की अब्रपूजा करेंगे। महाराज ने पितामह से अनुरोध किया कि वे उनकी अब्रपूजा स्वीकार करें, किन्तु पितामह ने यह कहते हुए कि, मैं तो परिवार का ही सदस्य हूँ अस्वीकार कर दिया, साथ ही उन्होंने श्रीकृष्ण की अब्रपूजा के लिये अपना प्रस्ताव रखा। उपस्थित राज समाज ने पितामह के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। दासी इतनी सूचना देकर चुप हुई कि बाह्य खण्ड के सभा मण्डप में कोलाहल होने लगा। मैं दासी के साथ ऊपरी तल पर गई, जहाँ से सभा मण्डप दिखाई दे रहा था।

शिशुपाल क्रुद्ध होकर सखा पर आक्षेप कर रहे थे कि यह अनुचित है, एक सामान्य व्यक्ति को इस प्रकार से गौरवान्वित किया जा रहा है। यहाँ तो हर बात उल्टी दिखाई दे रही है; जिसने सलाह माँगी, उसका जन्म भी तो उल्टी रीति से हुआ है और जिसने सलाह दी वह भी तो नीचे की ओर जाने वाली का पुत्र है।” पितामह पर आक्षेप सुनकर सहदेव क्रुद्ध हो गये, उन्होंने युद्ध के लिये शिशुपाल को ललकारा, किन्तु पितामह ने उन्हें शांत कर दिया। शिशुपाल का क्रोध सखा के लिये स्वाभाविक था, किन्तु इतने समय पश्चात उसे शांत हो जाना चाहिए था। शिशुपाल कभी रुक्मिणी के लिये नियोजित वर थे, किन्तु रुक्मिणी के अनुरोध पर श्रीकृष्ण ने उनका हरण

करके उनसे विवाह कर लिया था, यह अपमान शिशुपाल आज तक नहीं भूल पाये... यद्यपि सखा की बुआ के ही पुत्र हैं, फिर भी उनकी कटुता समाप्त नहीं हुई थी और आज उनका वही क्रोध मुखर हो रहा था।

सखा शांत थे। वे सब कुछ शांत होकर सुन रहे थे। शिशुपाल की बाणी रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी, “नरेशों में श्रेष्ठ द्रुपद हैं, गुरु द्रोणाचार्य हैं, आचार्य कृप हैं, गुरुपुत्र अश्वत्थामा हैं; इस सबको छोड़कर नीच कुल पलित, गाय चराने वाले कृष्ण की अग्रपूजा क्यों? सभा में अतिथि रूप में आर्यावर्त के अन्य श्रेष्ठ नरेश हैं, ऋषि गण, विद्वजन हैं, महर्षि व्यास हैं; इसके पिता तो मथुरा नरेश उग्रसेन के मंत्री थे... मंत्री का बेटा कहीं राजाओं में सम्मिलित होता है? इस कुटिल, अपने मामा की हत्या करने वाले दुष्ट की पूजा क्यों? कुटिलता ही जिसका आचरण है; ब्रज में रहते हुए इसने इतने दुष्कर्म किए हैं, उस कलुषित हृदय वाले कृष्ण की अग्रपूजा क्यों? यदि तुम्हें देवकी पुत्र का सम्मान करना था तो कोई अन्य अवसर ढूँढ़ लेते?”

कुटिलता ही जिसका आचरण है, उसी कुटिलता का आश्रय लेकर इसने वीर जरासंध को मरवा डाला था और उसी पापी की युधिष्ठिर अग्रपूजा कर रहे हैं; इसके पश्चात कोई भी युधिष्ठिर को धर्मात्मा कैसे कह सकता है? पुनः श्रीकृष्ण को संबोधित करके कहने लगे, “कृष्ण! यदि पाण्डव स्वार्थवश, नियम विरुद्ध तुम्हारी अग्रपूजा करने को प्रस्तुत हुए तो तुमने यह अनुचित पूजा कैसे स्वीकार कर ली? देवों के भाग का हविष्यान्न यदि त्रुटिवश नीचे गिर जाये और कुत्ता उसे खा ले, उसी प्रकार से तुमने यह गौरव स्वीकार किया है।”

मेरे ही घर में मेरे सखा का अपमान करने का साहस कोई कैसे कर रहा है? मैं सुनकर क्षुब्ध हो रही थी। सखा का मौन शिशुपाल के क्रोध को शांत करने के स्थान पर और प्रवण्ड कर रहा था। सहसा शिशुपाल ने कृपाण से सखा के ऊपर आक्रमण कर दिया। सखा निःशस्त्र हैं, यह देख मैं भय से चीख पड़ी। सखा ने धूमकर बार बचा लिया। यह क्या, सखा के दाहिने हाथ की तर्जनी के ऊपर सूर्य के समान दैदीप्यमान उनका दिव्य सुदर्शन चक्र घूम रहा है। चक्र शिशुपाल की ओर बढ़ा। शिशुपाल ने भागने का प्रयास किया, किन्तु चक्र उसके मस्तक को काटकर अदृश्य हो गया। कोलाहल शांत हो गया और एक भय मिश्रित शांति यज्ञशाला में व्याप्त हो गयी।

दासी के बुलाने पर मेरी चेतना लौटी। भय से चीखने के पश्चात मैं संज्ञाशून्य सी हो गई थी। मेरे पैरों में अभी भी कंपन था। शिशुपाल वध के पश्चात उत्सव में विघ्न पड़ चुका था। पाण्डव कुछ क्षण विचलित रहे, किन्तु पितामह और सखा ने स्थिति को पुनः सँभाल लिया और सभी अपने अपने कार्यों में लग गये।

सखा पार्थ के साथ मेरे भवन में आये। मैं व्यग्र होकर अपने कक्ष में घूम रही थी। जब तक मैं निकट से सखा को सकुशल नहीं देख लूँगी, मेरी व्यग्रता शांत नहीं होगी, अतः मैंने दासी को संदेश देकर पार्थ के पास भेजा था। सखा को अपने समक्ष खड़ा देखकर मैं व्यग्रता से उनके शरीर का निरीक्षण करने लगी कि कहीं शिशुपाल की कृपाण ने सखा को आहत तो नहीं कर दिया है? सखा सकुशल थे। ये क्या? सखा के दाहिनी हाथ की तर्जनी से धीरे धीरे रक्त रिस रहा था। मैंने तत्काल अपनी साड़ी के आँचल के छोर को दाँतों से काट कर चीर लिया और सखा के हाथ को पकड़कर उस रक्त को अपने हाथ से साफ करके उसके ऊपर पट्टी बाँध दी, रक्त का रिसना बंद हो गया।

मैंने जो कुछ किया वह अकस्मात् था। मैं कभी भी जी भर कर सखा के मुख को लज्जावश

नहीं देख पायी थी, किन्तु आज आघात के भय से उनके शरीर को आँख गड़ा-गड़ा कर देख रही थी। उनकी कटी तर्जनी देखकर एक क्षण का भी विलम्ब मुझे स्वीकार नहीं था और मैंने तत्काल ही अपनी वह साड़ी जिसे पहनकर मैं महाराज के साथ यज्ञ कर्म में बैठी थी, किनारे से चीर कर सखा की उँगली में बाँध दी। सखा मेरी व्यग्रता देखकर मुस्कुरा रहे थे। सखा की उँगली में पट्टी बाँधकर मैं आश्वस्त हुई। पार्थ से पूछा कि “यज्ञशाला में क्यों कोलाहल हो रहा था?” पार्थ ने उत्तर दिया, “नारद मुनि तुम्हारे सखा का गुणगान कर रहे थे, इससे शिशुपाल क्रुद्ध होकर कृपाण लेकर श्रीकृष्ण पर प्रहार करने लगा, इस पर श्रीकृष्ण ने उसका वध कर दिया। वध के साथ ही भय से सभा शांत हो गई और अब यज्ञ सम्पन्न हो रहा है।” सखा और पार्थ तत्काल ही यज्ञमण्डप की ओर लौट गये।

राजसूय यज्ञ के समय उलूपी, चित्रांगदा और हिडिंबा भी अपने पुत्रों के साथ इन्द्रप्रस्थ आयी थीं। पुत्र घटोत्कच को देखकर भीमसेन प्रसन्न हो गये। घटोत्कच देखने में भीम का ही किशोर रूप लगता था; किन्तु हिडिंबा को देखकर उनके मुख पर अतीत की मधुर स्मृतियों की कोई रेखा नहीं उभरी। हिडिंबा प्रौढ़ महिला थी... रूपवान उन्हें किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता था। विशाल शरीर, चौड़े हाथ-पैर, भारी कटि और पति का वियोग सहते सहते चेहरा भावहीन हो गया था। उनकी आँखों में देखने से लगता था कि जैसे कोई पश्चाताप बस गया है। उनकी वेशभूषा उनके समाज और संस्कृति के अनुरूप थी। वह मेरे पति की ज्येष्ठ पत्नी थीं, मेरी और बालंधरा की ज्येष्ठा। मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे मेरे प्रणाम करते ही संकुचित हो उठीं, मेरे रूप और साज सज्जा ने उन्हें संकुचित कर दिया था। वे कुछ क्षण मुझे देखती रहीं, जैसे कि मुझे देखकर वे अभिभूत हैं। मैं थोड़ी देर के लिये उनके पास बैठ गई, मुझे लग रहा था कि जैसे वे मुझे छूना चाह रही हैं किन्तु संकोचवश नहीं छू रही हैं। मैंने धीरे से उनका हाथ पकड़ा। कठोर वन्य जीवन उनकी हथेलियों में भी उतरा हुआ था। हिडिंबा निर्विकार थीं, इन्द्रप्रस्थ का वैभव न तो उन्हें अभिभूत कर पाया और न ही उनमें ईर्ष्या जगा पाया कि इस वैभव को भोगने की अधिकारिणी होते हुए भी वह उसे क्यों नहीं भोग पा रही हैं। प्रश्न भी उनके नेत्रों में नहीं थे, दो दिन पश्चात वे अपने पुत्र के साथ लौट गईं। मुझे नहीं ज्ञात कि इन दो रात्रियों में भीमसेन ने उन्हें अपना साहचर्य दिया अथवा नहीं। लौटते समय उनके मुख पर कोई दुःख विछोह भी नहीं था। यद्यपि उलूपी और चित्रांगदा भी अपने पुत्रों के साथ आयी थीं, किन्तु हिडिंबा ने मुझे झकझोरकर रख दिया था... क्या पुरुष का प्रेम यही है?

प्रथम प्रेम और प्रथम प्रेयसी में, भीमसेन के हृदय में कहाँ हूँ? वे व्यवहार में तो मेरे प्रति बहुत सहृदय हैं, किन्तु क्या यथार्थ में भी हैं? या जब मेरा रूप घटने लगेगा तो मैं भी हिडिंबा के समान उनकी दृष्टि में उपेक्षित हो जाऊँगी और जैसा कि चन्द्रकला ने मुझसे कहा था ये नवयौवना पत्नी ले आरेंगे।

सभी अतिथि लौट गए। कौरव अपने परिवार के थे, अतः महाराज युधिष्ठिर ने माता की ओर से आग्रह करके दुर्योधन, बन्धुओं को एक दिन के लिए और रोक लिया। माता कुंती भी व्यस्तता के कारण उनसे नहीं मिल पायी थीं। कर्ण वापस जाना चाहते थे, किन्तु माता ने यह कहते हुए कि, पुत्र का मित्र भी अपना पुत्र ही होता है, रोक लिया।

स्त्री जब जननी बन जाती है तो वह उदार और कोमल हो जाती है। मैं भी स्त्री हूँ। कर्ण के जीवन की विडंबना मेरे हृदय को भी स्पर्श करती है, किन्तु माता के हृदय की ममता और पीड़ा

कुछ अधिक ही हैं। कर्ण आज समर्थ हैं, इसलिए उनके अभिशप्त जीवन की गाथा मेरे हृदय में सहानुभूति पैदा करती है, करुणा और पीड़ा नहीं। महाराज युधिष्ठिर ने कर्ण को भी माता का संदेश देकर रोक लिया था।

सायंकाल के भोजन की व्यवस्था राजभवन के भीतरी खण्ड में थी। माता ने मुझे और देविका को आदेश दिया था कि हम दोनों ही भोजन के समय अतिथि सत्कार व भोजन करवाने के लिये उपस्थित रहें। देविका ने पूर्व का प्रकरण नहीं भोगा था, किन्तु मेरे नेत्रों के सामने मेरा हस्तिनापुर जाना, हमारी उपस्थिति को लेकर सबकी असहजता, दुर्योधन आदि भाइयों की मुख मुद्रा और दूसरे ही दिन खाण्डवप्रस्थ के लिये प्रस्थान, सब कुछ घूम रहा था। मेरी जरा सी भी इच्छा कौरव बन्धुओं को देखने की नहीं थी। किन्तु आज मुझे केवल उन्हें देखने की ही विवशता ही नहीं थी। आग्रह करके उन्हें भोजन करवाना भी था। सामाजिक परम्परा के अनुसार वे मेरे देव थे और मैं उनकी भाभी, जिसके साथ हँसी ठिठोली का भी अधिकार उन्हें प्राप्त था। सबसे अधिक असहज मैं कर्ण को लेकर थी।

क्या कर्ण अपना अपमान भूल गये होंगे? कदापि नहीं, यदि मैं अपनी ग्लानि से नहीं उबर पा रही हूँ तो कर्ण, सभा में हुए अपने अपमान को कैसे भूल सकते हैं। माता की इच्छा ने मुझे विचित्र स्थिति में डाल दिया था। मुझे माता के निर्णय पर क्रोध आ रहा था कि सब कुछ जानते हुए भी कर्ण को विशेषकर क्यों निमंत्रित कर रही हैं? कर्ण परिवार के सदस्य भी नहीं हैं... वे अतिथि हैं, अतिथि गृह में रहते वहीं भोजन करते।

सायंकाल महाराज युधिष्ठिर के भवन में सबके भोजन की व्यवस्था थी। माता कुंती आसन पर बैठी थी। उनके बगल में मैं और देविका खड़ी हुई। दुर्योधन आये, उन्होंने माँ को प्रणाम किया, किन्तु माँ की आँखें पार्श्व में खड़े कर्ण को निहारने लगीं। माता ने दुर्योधन के सिर पर हाथ फेरा, कर्ण ने भी झुक कर माता को प्रणाम किया तो माता ने कर्ण के भी सिर पर हाथ रखा। माँ के हाथों में एक कंपन था जो मुझे असहज लग रहा था। कर्ण ने मेरे और देविका के समक्ष अभिवादन स्वरूप हाथ जोड़ दिए, मैंने भी उत्तर में अपने दोनों हाथ जोड़ दिए। कर्ण के नेत्र झुके हुए थे, वे मेरे समक्ष स्वयं को असहज पा रहे थे।

थोड़े समय के पश्चात भोजन के लिये अनुरोध हुआ। कर्ण ने माता से क्षमा माँग ली कि, मैं सूर्यास्त के पश्चात कुछ भी नहीं खाता और विदा की आज्ञा माँगी। माँ की इच्छा उन्हें रोकने की थी किन्तु वे चुप रहीं। कर्ण चले गये तब जाकर मैं सहज हो पायी। भोजन कक्ष में माँ नहीं गयी थीं। सभी पुरुष पंक्तियों में बैठ गये। सबके सामने जल के पात्र रखे हुए थे। भोजन की थालियाँ सबके समक्ष रखी जाने लगीं। भोजन प्रारम्भ हुआ। मैं, देविका, नकुल और सहदेव सेवकों को निर्देश देकर उनकी थालियों में व्यंजनों की आपूर्ति करवा रहे थे कि थाली में कोई पदार्थ समाप्त न होने पाये।

दुर्योधन मुझे बार बार देख रहे थे। उन्होंने सेवक को रोक दिया और बोले, कृष्णा! तुम अपने हाथ से परोसोगी तभी मैं खाऊँगा, अन्यथा आधे पेट ही उठ जाऊँगा। मैंने सेवक के हाथ से भोजन का पात्र ले लिया और उसे दुर्योधन की थाली में डालने लगी। पुनः दुर्योधन ने मुझे रोक दिया। मैंने प्रश्न वाचक भाव से उनके मुख की ओर देखा तो वे धृष्टता से हँस रहे थे और हँसते हुए बोले, कृष्णा! तुम यहीं मेरे सामने बैठी रहो, मेरा पेट अपने आप भर जायेगा।

मुझे दुर्योधन का कृष्णा संबोधन अच्छा नहीं लगा। मैं उनके बड़े भाई की पत्नी थी। हास-

परिहास में भी देवर, सदैव भाभी कह कर संबोधित करते हैं, न कि नाम लेकर। दुर्योधन की भाषा और भांगिमा में भी मुझे परिहास कम धृष्टता अधिक दिखाई दे रही थी। उनके परिहास में वह भाव भी नहीं था जो होना चाहिए। मुझे उसका समूचा व्यक्तित्व अहंकारी और उदण्ड लगा, जैसे जीवन में कभी किसी ने उन्हें शालीनता और नम्रता का पाठ न पढ़ाया हो।

मुझे क्रोध आ रहा था। दुर्योधन के साथ उसके सभी भाई ठहाका लगाकर हँसने लगे। मैंने शीघ्रता से भोजन दुर्योधन की थाली में डाल दिया और आगे बढ़ गयी। दुर्योधन के कहते ही उसके भाई कहने लगे कि, “कृष्णा, हम भी आपके देवर हैं, हमें आधा पेट न रखियो।” जैसे ही मैंने सबकी थाली में भोजन डालने लगी। मेरी दासी ने स्थिति भाँप ली और युक्ति से भोजनालय के द्वार पर खड़ी होकर बोली, महारानी! आपको माता जी बुला रही हैं। मुझे जीवन दान मिला। शालीनता से कक्ष से बाहर चली आयी।

* * *

प्रातःकाल तक सभी कार्य सम्पन्न हो चुका था। सभी अतिथि कल ही चले गये थे, आज कौरव भी वापस जा रहे हैं। उनके रथ और हाथी प्रांगण में खड़े हैं। दुर्योधन, कर्ण और भाइयों के साथ माता को प्रणाम करने के लिये अंतःपुर में माता के कक्ष में गये। उनके साथ सहदेव भी थे।

सूर्य के प्रकाश में इन्द्रप्रस्थ अपनी छटा बिखेर रहा था। मैं अपनी दासी के साथ भवन के ऊपरी तल पर खड़ी भीतर और बाहर के सभी दृश्य देख रही थी। मय ने मेरा भवन ऐसा बनाया है कि, उसके ऊपरी खण्ड में खड़े होने पर चारों ओर सब कुछ भली भाँति दिखाई देता है।

थोड़ी देर बाद सभी माता के भवन से बाहर निकल आये। दिन के प्रकाश में ‘इन्द्रप्रस्थ’ का हृदय मेरा भवन बहुत ही भव्य लग रहा था। दुर्योधन खड़े होकर उसे देखने लगे। दुर्योधन ने मुझे देख लिया और वहीं से खड़े होकर बोले, “पांचाली! तुमने तो अपने भवन में हमें निमंत्रित ही नहीं किया, किन्तु अब मैं तुम्हारे दर्शन का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ और हम सब बिन बुलाये ही तुम्हारे भवन में आ रहे हैं।”

मुझे दुर्योधन का परिहास अच्छा नहीं लगा। पता नहीं क्यों, यह अहंकारी पुरुष मुझे किसी भी प्रकार से क्षण भर के लिये भी सह्य नहीं होता है। मैं उनकी बात को उपेक्षित करके वहीं खड़ी रही। दुर्योधन ने सहदेव के साथ मेरे मायावी प्रांगण में प्रवेश किया। मेरे प्रांगण की सज्जा और सौन्दर्य अपने चरम पर था। आगे जल की धारा देखकर दुर्योधन अपने वस्त्रों को पैरों के ऊपर उठा कर चलने लगे, किन्तु जब सहदेव उस पर चलने लगे तो उन्हें अपने भ्रम का आभास हुआ और झट से उन्होंने अपने हाथों में उठाये वस्त्रों को छोड़ दिया।

आगे रत्नजड़ित पथ था। दुर्योधन ने उसके भी भ्रामक होने का अनुमान लगाकर पथ पर न चलकर बगल की हरी-भरी घास पर पैर रख दिया। यह क्या, दुर्योधन जल में गिर पड़े। जल केवल घुटने तक ही था, किन्तु उनके वस्त्र भीग गये। जल पर की गयी चित्रकारी, बिखरकर जल में मिल गयी।

मैं ऊपर खड़ी मुस्करा उठी, पर मेरी किशोरी दासी खिलखिला कर हँसती हुई बोल उठी “अंधी पिता की अंधी संतानें।” तीर धनुष से छूट चुका था। निःसंदेह उन्होंने दासी के वचन सुन लिये थे। मेरे भवन की ध्वनि व्यवस्था भी तो मायावी ही थी। दुर्योधन जल में खड़े क्रुद्ध दृष्टि से मुझे देख रहे थे। कर्ण ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें बाहर निकाला। क्रुद्ध दुर्योधन उसी क्षण बाहर चले गये और तत्काल ही उन्होंने इन्द्रप्रस्थ से हस्तिनापुर के लिये प्रस्थान कर दिया।

मेरा ही दोष था। भोजन कक्ष से बाहर आकर मैं क्रोध में बड़बड़ा रही थी कि “अंधी पिता की अंधी संतानें; कैसे आँखें फाड़ फाड़कर मुझे देख रहे थे... पिता अंधे न होते तो...” मेरा यह आत्म प्रलाप दासी सुन चुकी थी और मुँहलगी होने के कारण उस समय की स्थिति में बोल उठी।

सभी दुःखी हो गये। सहदेव ने क्रोधित होकर तत्काल दासी को दंडित करने का आदेश दे दिया, किन्तु दासी को दंड देकर भी स्थिति को नहीं बदला जा सकता था। दुर्योधन के भ्रम ने उसे मेरी उदण्डता और दुःसाहस से जोड़ दिया था। महाराज ने स्वयं कौरव बंधुओं से क्षमा माँगी थी, किन्तु दुर्योधन का अहंकारी हृदय उसे स्वीकार नहीं कर पाया, यह पाण्डवों ने भली-भाँति समझ लिया था। मेरी ग्लानि का अंत नहीं था। इस सारे प्रकरण में एक व्यक्ति चुप रहा... वह थे सखा। उन्होंने कुछ भी नहीं कहा; न कौरवों से, न पाण्डवों से और न ही मुझसे। वे शांत रहे, जैसे कि यह उन्हें ज्ञात हो कि यह घटना अवश्यम्भावी थी।

* * *

समय का चक्र अपनी गति से घूम रहा था। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पश्चात चारों ओर शांति छा गयी थी। कहीं से भी विरोध के स्वर की संभावना नहीं थी, किसी भी दिशा से आक्रमण का भय नहीं था। खाण्डवप्रस्थ से सारी व्यवस्था धीरे धीरे इन्द्रप्रस्थ में स्थानान्तरित कर दी गयी। राज्य का प्रशासन अब इन्द्रप्रस्थ से होने लगा। इन्द्रप्रस्थ पूरी तरह से शांत और सुरक्षित था। अब धीरे धीरे सबका झुकाव कला और साहित्य की ओर हो रहा था।

भले ही मेरे पुत्र अभी छोटे थे, किन्तु भविष्य की आवश्यकता के अनुसार मेरे भवन में छह स्वतंत्र निवास के खण्ड थे, जिनकी साज सज्जा अब मैं अपनी रुचि के अनुसार करवा रही थी। मैंने अपने भवन के छह खण्डों की साज सज्जा छह ऋतुओं के आधार पर करवाई थी।

मैंने अपने भवन में फलों से लदे वृक्ष, बारहों महीने फूलने वाले फूलों की क्यारियाँ, सुंदर चहचहाती चिड़ियों की इच्छा मय के समक्ष प्रकट की थी, साथ ही साथ निवास कक्षों के निर्माण में भी अपनी इच्छा से उन्हें अवगत कराया था कि ग्रीष्म ऋतु में शीतल वायु का प्रवाह मेरे कक्ष में होता रहे, शीत ऋतु में अतिरिक्त ऊष्मा रहे, वर्षा ऋतु में उमस व शीतलन से मुक्ति मिले। मैं सारी इच्छायें मय के समक्ष प्रकट करती थी। मय धैर्य से सुनते और मन ही मन विचार करके अपनी संकेत लिपि में लिखकर उसे अपने पास रख लेते थे। मय ने मेरी इच्छाओं को पूरा किया था।

जब मैं पहली बार इन्द्रप्रस्थ में रहने के लिये आयी, तो पग पग पर भ्रमित होती थी। शीशे की पारदर्शी दीवार से कितनी ही बार टकरायी, बंद खिड़कियों, जिन पर पेड़ पौधे और आकाश चित्रित थे, को खुला जान कर बंद करने का प्रयास किया था।

मैं अलग अलग ऋतुओं में अपने भवन के अलग अलग खण्डों में निवास करती थी, इससे मुझे अपने जीवन में नवीनता का आभास होता रहता था। मेरे हृदय में अब सुभद्रा के प्रति ईर्ष्या नहीं रही। यह समय का अंतराल था या मेरा भव्य निवास, जिसने मुझे अपने सम्मोहन में बाँध लिया था और मैं पार्थ के विश्वासघात की पीड़ा से उबर गयी थी। कारण स्पष्ट नहीं था, किन्तु यह सत्य है कि मैं धीरे धीरे अपने नये संसार में मग्न हो गयी थी।

मैंने अपने स्वागत कक्ष को विशाल तैल चित्रों से सजाया था। इनमें मेरे पतियों के तैल चित्र थे और सबसे भव्य था एक पूर्ण मानवाकृति, सखा का चित्र। सखा का चित्र ऐसे स्थान पर लगा था कि मैं बिना स्वागत कक्ष में गये ही उसे सदैव देख सकती थी।

मैं अपने भवन की नवीन साज सज्जा करवाकर अपनी सपत्नियों को निमंत्रित करती, उनका

स्वागत सत्कार करती, एक बड़ी बहन की भाँति उनसे व्यवहार करती हूँ। वे भी मेरा सम्मान करती हैं, किसी दुविधा की स्थिति में मेरे पास परामर्श के लिये भी आती हैं। बच्चों के लिये तो मेरा निवास स्वर्ग की भाँति था। एक साथ दस दस बच्चे मिलकर जी भर कर खेल खेलते। मेरे विशाल भवन में वे छुपने का खेल खेलते तो एक बार में ही पूरा एक प्रहर का समय निकल जाता। शतानीक भी बड़ों की देखा देखी वैसा ही करने का प्रयास करता... उनके पीछे पीछे भागता और जब कोई उसे मना करता तो वह उलाहना लेकर मेरे पास आता। मैं उनसे अनुरोध करती कि वे उसे भी झूठ मूठ का अपने खेल में भागीदार बना लें। मैं सभी बालकों के लिये खिलौने मँगाकर अपने पास रखती थी, विभिन्न प्रकार के खेलों का आयोजन करती और सभी बालकों को उनकी इच्छानुसार पुरस्कृत भी करती थी। मैं बालकों की सबसे प्रिय माँ थी।

मेरी सपत्नियाँ मेरे भवन की बनावट, उसकी साज सज्जा, मेरी कलात्मक रुचि और सौन्दर्य बोध की सराहना करती थीं। मैं संतुष्ट होती थी कि मेरे पास जो कुछ भी है वह सर्वश्रेष्ठ ही है। मेरा आहत गर्व अब पुनः स्वस्थ होकर मेरे भीतर सिर उठाकर खड़ा है।

हाँ, मेरा गर्व आहत हुआ था, बहुत ही दुःखद रूप से आहत हुआ था। मैंने स्वयं को पाँच पतियों की पत्नी के रूप में ढाल लिया था और धीरे धीरे मुझमें गर्व समा गया कि मेरे जैसी अद्वितीय सुंदरी के होते हुए मेरे पति किसी स्त्री की ओर आँख उठाकर नहीं देखेंगे और मेरा प्रेम उन्हें किसी स्त्री की कल्पना से भी दूर रखेगा; किन्तु मेरी धारणा व्यर्थ थी, मेरे पतियों ने अपने अपने विवाह किए।

महाराज युधिष्ठिर के विवाह के समय मुझे पीड़ा नहीं किन्तु आघात लगा था। भीमसेन के विवाह पर मुझे पीड़ा हुई थी। पुरुष सौन्दर्य की अनुपम रचना नकुल, जिनकी सौन्दर्य परख की दृष्टि भी अद्भुत थी... उन्हें कोई स्त्री मुग्ध कर पायेगी ऐसी कल्पना मैंने नहीं की थी, किन्तु जब करेणुमति विवाहिता होकर खाण्डवप्रस्थ में आई तो मैं ठगी सी रह गयी। इस साधारण रंगरूप की कन्या में नकुल को कहाँ सौन्दर्य दिखाई दिया मैं समझ नहीं पायी थी; किन्तु मेरे विवेक ने मुझे सचेत किया कि स्त्री में सौन्दर्य से परे भी बहुत कुछ होता है जो उसे पुरुष की दृष्टि में स्त्री बनाता है, पत्नी बनाता है और प्रिया बनाता है। कदाचित नकुल को करेणुमति में सब कुछ मिल गया था जो अपनी बारी आने पर वे पहले जैसी आसक्ति मुझमें नहीं दिखाते थे, तब मेरे रूप और दिव्यता का गर्व आहत हुआ था। मैंने स्वयं पर न जाने कितने प्रश्न चिह्न लगाये थे, जिनके आधे अधूरे उत्तर अब न जाने मन की कौन सी अतल गहराई में लुप्त हो गये हैं।

सहदेव बुद्धिमान हैं, उनकी बौद्धिकता मुझे प्रभावित करती थी। पांचाल छूटने के बाद यदि मैं कभी किसी से कोई बौद्धिक चर्चा करती थी तो ने सहदेव ही थे। मैं उनके साथ सभी विषयों पर बराबरी से चर्चा व वाद-विवाद कर लेती थी, तब मुझे लगता था कि सहदेव को मेरे समान विदुषी कहाँ मिलेगी जो उनकी मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, किन्तु यह भी मेरा भ्रम था। विजया ऐसी लड़की थी जिसकी सारी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ सुन्दर वस्त्राभूषण स्वादिष्ट व्यंजन और सेविकाओं के साथ बैठकर सबके बारे में बातें करने से पूरी हो जाती थीं, इसके अलावा उसे कोई कार्य ही नहीं दिखाई देता था। उसका शिशु भी निराला था... सारे संसार के शिशु माँ के लिये रोते हैं, वह विजया की गोद में से दासी की गोद में जाने के लिये रोता था। उसको सहदेव के ज्ञान से कुछ भी लेना देना नहीं था; उसके अनुसार ज्ञान, पुस्तकों का अध्ययन, पुरुषों का विषय क्षेत्र है। किन्तु इस परम मूर्खा पत्नी से सहदेव निहाल और संतुष्ट थे। तब मेरा चिर

संचित भ्रम टूटा था।

इस भव्य भवन को पाकर मेरे भीतर का अहं पुनः चैतन्य होकर मुझमें भर गया। पता नहीं यह सत्य था या भ्रम। भ्रम तो नहीं था, क्योंकि मानव मन जिस भी स्थिति में रहता है, उसी में अपनी बुद्धि, तर्क और सोच से सुख को ढूँढ़ लेता है, वस्तु स्थिति को थोड़ा घुमा फिराकर अपने अहं को उसमें भरने लायक कर लेता है और वह संतुष्ट होकर गर्व करता है। मैं सत्य और भ्रम में अंतर करने का प्रयास नहीं करती हूँ। अभी तो मेरा सत्य यही है कि मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अपने इस राजभवन को पाने के पश्चात अब मुझे किसी भी निधि की आवश्यकता नहीं है।

12. द्यूत

हस्तिनापुर से महामंत्री विदुर पधारे हैं। राजसूय यज्ञ के समय हुई उस अपमानजनक घटना के बाद इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के बीच सूत्र टूट गया था, इस कारण महामंत्री विदुर के आगमन से सबको प्रसन्नता एवं आश्चर्य दोनों हुआ। हस्तिनापुर के महामंत्री पाण्डवों के लिये पूज्य काकाश्री हैं। पाण्डव उन्हें काका कह कर उनका चरण स्पर्श करते हैं और वे भी पाण्डवों के प्रति पितृतुल्य स्नेह रखते हैं।

काकाश्री माता को प्रणाम करने के लिये उनके भवन में पधारे हैं। थोड़ी देर बाद माता ने हम सभी वधुओं को अपने कक्ष में बुलवा लिया। हम सभी ने काकाश्री को प्रणाम किया। काकाश्री हम सभी वधुओं को उपहार स्वरूप एक एक आभूषण दे रहे थे। माता ने आभूषणों को जैसे पहचान लिया और काकाश्री से बोली “देवर जी, ये आभूषण तो बहू पारशवी के हैं, आप इन्हें क्यों दे रहे हैं?” “भाभी, उन्होंने ही अपनी बहूओं के लिये इसे भेजा है, मैं तो उनकी इच्छा का पालन भर कर रहा हूँ।”

माता गंभीर हो गयीं। हस्तिनापुर का अतीत उनकी आँखों में उतर आया। काकाजी पाण्डवों को अपनी संतानों की भाँति स्नेह व संरक्षण देते थे। पितामह भीष्म और विदुर के कारण ही माता, महाराज पाण्डु की मृत्यु के पश्चात अपने पुत्रों के साथ हस्तिनापुर आयी थीं। काकाश्री ने मुझे माँग का टीका दिया। मैंने वह टीका अपनी माँग पर सजाकर काका को प्रणाम किया तो वे भाव विह्वल हो गये और अखण्ड सौभाग्यवती का आशीर्वाद दिया।

मेरे कक्ष में पहुँचने से एक घड़ी पूर्व से ही काकाश्री माता के कक्ष में थे। थोड़ी देर में काका उठ खड़े हुए और कहने लगे, “भाभी, आप विचार कर लें और युधिष्ठिर से कहें कि यदि संभव हो तो वे इस प्रस्ताव को स्वीकार न करें।” और प्रणाम करके कक्ष से बाहर चले गये। मैं कक्ष में बाद में आयी थी, इस कारण कौन सा प्रस्ताव काकाश्री लाये हैं और उसे महाराज स्वीकार न करें, मैं कुछ भी नहीं समझ पायी।

सायंकाल महाराज युधिष्ठिर, माता कुंती के भवन में आये। जब भी कोई विशेष चर्चा करनी या सूचना देनी होती है तो महाराज माता से अवश्य विचार विमर्श करते हैं। मैं भी माता के कक्ष में चली गयी। थोड़ी देर तक औपचारिक वार्ता होती रही। पुनः महाराज ने माता से कहना आरम्भ किया कि महाराज धृतराष्ट्र ने संदेश भेजा है कि, तुम्हारी सभा के समान एक सभा का निर्माण कराया गया है, तुम अपने भाइयों सहित आकर दुर्योधन आदि भाइयों की इस सभा को देखो; सभी इष्ट मित्र जुआ खेलें, क्रीड़ा करें और हम सब प्रसन्न हों।

मैंने काकाश्री से पूछा कि वहाँ कौन कौन होंगे, तो काका ने कहा कि, शकुनि, विविशत, चित्रसेन, पुरुमित्र और जया।” मैंने कहा कि वे भयंकर कपटी और धूर्त जुआरी हैं। काकाश्री ने कहा कि, मैंने महाराज धृतराष्ट्र को समझाने का प्रयास किया, दुष्परिणाम की आशंका भी बतायी, किन्तु उन्होंने मेरी बात पर विचार नहीं किया और मुझे यहाँ तुम्हें निमंत्रित करने के लिये भेजा है; मेरी इच्छा है कि तुम कोई विवशता बताकर मना कर दो। माता चुप रहीं। महाराज ने कहा, “यदि महाराज न बुलाते तो मैं शकुनि से कभी जुआ खेलने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता, किन्तु बुलाने पर मैं पीछे नहीं हटूँगा यह मेरा सदा का नियम है।... मैं महाराज के निमंत्रण

पर कुल की मर्यादा रखने के लिये जुआ खेलने अवश्य जाऊँगा। दुर्योधन ने पांचाली के लिये भी संदेश भेजा है कि 'जब पांचाली हस्तिनापुर आई थी, उस समय उसकी पत्नी भानुमती अपने पिता के घर काशी गयी हुई थी, इस कारण वह पांचाली से नहीं मिल पायी है, अतः उसका आपसे अनुरोध है कि आप पांचाली को भी अपने साथ अवश्य ले आयें।'

माँ पूरी वार्ता में मौन रहीं। मैंने भी प्रश्नवाचक दृष्टि से माता को देखा किन्तु कुछ भी नहीं समझ पायी। महाराज ने अपना निर्णय सुना दिया था; उसमें मेरे चलने का भी आदेश छुपा था। माता ने केवल इतना ही कहा कि, मैं भी जाऊँगी।

मैंने बड़ी अनिच्छा से हस्तिनापुर जाने की तैयारी आरम्भ की। महाराज तीन दिन तक जितना द्रव्य जुए में हार सकते थे, अनुमान करके बड़ी-बड़ी पेटियों में भरा जाने लगा। सेना की एक छोटी सी टुकड़ी को भी साथ जाने के लिये तैयार रहने का आदेश दे दिया गया था। सभी पाण्डवों ने अपने अस्त्र शस्त्रों का निरीक्षण किया। भीम की इच्छा थी कि वे दुर्योधन के साथ गदा युद्ध करके अपने बल को देखें।

मैं चाहती थी कि माता मुझे वहाँ जाने के लिये मना कर दें। एक तो श्रुतकर्मा छोटा था, साथ ही मुझे दुर्योधन बंधुओं से मिलकर कोई प्रसन्नता नहीं हुई थी और न ही वे कोई सौहाद्र लेकर वापस गये थे, इस कारण मेरे मन में एक भय था। राजसूय के समय महिलाओं के लिये निमंत्रण के पश्चात भी कोई स्त्री इन्द्रप्रस्थ नहीं आयी थी। जब एक बार एक पक्ष से महिलाओं का आगमन समाप्त हो गया तो दूसरे पक्ष से निमंत्रण में महिला के जाने का कोई औचित्य मैं नहीं समझ पा रही थी, किन्तु मैं चुप रही क्योंकि अब महाराज युधिष्ठिर किसी की भी बात कम सुनते हैं... एक बार जो निर्णय ले लेते हैं उससे वे पीछे नहीं हटते हैं। पाँचों पाण्डव अपने अस्त्र शस्त्रों के साथ थे, सेना की एक टुकड़ी भी साथ में धन की सुरक्षा के लिये चल रही थी और वहाँ दुर्योधन आदि के अतिरिक्त भी तो स्नेही जन हैं... पितामह भीष्म हैं, आचार्य द्रोण हैं, कृपाचार्य और विदुर हैं। मन में उठती चिंताओं को मैंने वहीं दबा दिया।

नियत तिथि पर प्रस्थान हुआ। सबके भीतर एक अनिश्चितता और आशंका बैठी थी... सब कुछ बड़ी अनिच्छा से हो रहा था। पाण्डवों के मन में अपने बाल्यकाल की स्मृतियाँ सजीव हो गयी थी। हस्तिनापुर में कौरव किस प्रकार उन्हें पीड़ित और अपमानित करते थे, भीमसेन को विष तक दे दिया था... अंतिम प्रयास में तो लाक्षागृह में सब को जलाकर मार डालने तक का कुचक्र रचा गया था, इस कारण सबके मन में कहीं आशंका भी व्याप्त थी।

माता कुंती और मैं अपनी अपनी शिविकाओं में, युधिष्ठिर और भीम हाथी पर, अर्जुन नकुल रथ पर और सहदेव अश्व पर सवार हुए।

* * *

हस्तिनापुर पहुँचने पर मुझे किसी प्रकार का प्रेम व उत्साह नहीं दिखाई दिया। मैं अंतःपुर की स्त्रियों से मिली। वे सब माता गांधारी के कक्ष में ही थीं, किन्तु मुझे लगा कि वे सब मुझे देखकर प्रसन्न नहीं हैं और न ही उनमें मुझसे बातचीत करने की कोई इच्छा है। माता गांधारी ने मेरे प्रणाम के उत्तर में पहले की ही भाँति प्रयास करके आशीर्वाद दिया। महाराज भी अंतःपुर में ही थे, मैंने उन्हें भी प्रणाम किया। उन्होंने मुझे अखण्ड सौभाग्यवती, शतपुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया, किन्तु आज मुझे उनका आशीर्वाद पिछली बार से भी अधिक बनावटी लग रहा था। मैं अनिच्छा से वहाँ बैठी रही।

पाण्डव बाहरी खण्ड में ही रुक गये थे। मैं और माता, महाराज पाण्डु के भवन में चले आये। हमारे रहने की व्यवस्था महाराज पाण्डु के भवन में की गयी थी।

काका विदुर का आगमन हुआ तो मैं दूसरे कक्ष में आ गयी। काका व्यग्र लग रहे थे। थोड़ी देर माता से विचार विमर्श करके वे बाहर लौट गये।

भानुमति मुझसे मिलने के लिये आयी। उसका व्यक्तित्व मुझे दबा दबा सा लगा। क्रोधी अहंकारी और उद्विग्न पति के बर्ताव से जैसे वह भयभीत रहती है। उसके व्यक्तित्व में वह ठसक नहीं थी जो ज्येष्ठ कुरुवंशी पुत्रवधू और हस्तिनापुर की भावी महारानी में होनी चाहिये थी। थोड़ी देर वह मेरे पास बैठ कर अपने भवन लौट गयी। उसकी बातों से मुझे जरा भी आभास नहीं हुआ कि उसकी इच्छा मुझसे मिलने की थी, जिसके कारण दुर्योधन ने काका विदुर से मुझे हस्तिनापुर आने का निमंत्रण दिया था। वह तो अपने पति के कहने पर मुझसे मिलने आयी थी। मुझे यह बड़ा विचित्र लगा।

विवाह के पश्चात जब मैं हस्तिनापुर आयी थी तो दूसरे ही दिन हमारा स्वाण्डवप्रस्थ के लिये प्रस्थान हो गया था। मुझे हस्तिनापुर में कुछ भी देखने समझने का अवसर नहीं मिला था। आज मैं महाराज पाण्डु के भवन में माताश्री की पुरानी दासी के साथ घूम रही हूँ। दासी मुझे वस्तुओं आदि से जुड़ी स्मृतियों को सुनाती जा रही थी।

मैंने स्वागत कक्ष में महाराज पाण्डु का भव्य तैल चित्र देखा। चित्र बहुत ही सुन्दर और भव्य ढंग से चित्रित किया गया था। यद्यपि इन्द्रप्रस्थ में पिताश्री का चित्र था, किन्तु यह चित्र अधिक सुन्दर था। मेरी इच्छा हुई कि यहाँ से जाते समय महाराज से कहूँगी कि वे पिताश्री का यह चित्र अपने साथ इन्द्रप्रस्थ ले चले। मैंने माता माद्री को नहीं देखा था। उनका और माता कुंती के चित्र, पिताश्री के चित्रों के दोनों ओर लगे हुए थे। माता माद्री अद्वितीय सुन्दरी थीं। उनके चित्र में नकुल की छवि भासित हो रही थी। माता कुंती युवा अवस्था में राजसी वेशभूषा में भव्य और आज की माता कुंती से सर्वथा भिन्न लग रही थीं। चित्र में उनकी काया भरी भरी और माँसल लग रही थी।

काका विदुर ने पिताश्री के भवन को अपने संरक्षण में पहले जैसा ही रखा था। पिताश्री के अस्त्र-शस्त्र, उनकी शर्या, उनके उपयोग की अन्य वस्तुएँ यत्न से सँभालकर रखी गयी थीं। मुझे लग रहा था कि मैं आज सही अर्थों में अपने ससुराल में आयी हूँ और वहाँ की वस्तुओं से मेरा परिचय हो रहा है। हाँ, एक बात मुझे विचित्र लग रही थी कि अभी तक मैंने किसी कौरव बंधु को नहीं देखा था। परम्परा के अनुसार प्रणाम करने के लिये भी अभी तक कोई नहीं आया था।

मेरे पति राजभवन के बाह्य खण्ड में थे। मैंने सुना कि इस अवसर पर कई नरेशों को जुआ खेलने के लिये निमंत्रित किया गया है। बाह्य खण्ड में बहुत से गुरुजन और सभासद थे, जिनसे पाण्डव एक लम्बे अंतराल के बाद मिले थे, अतः वार्तालाप में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मैंने उनके विषय में सोचना छोड़ दिया था और भवन के हर खण्ड में घूमने लगी।

मैंने माता कुंती के साथ भोजन किया। जब तक पाण्डव अपने कक्ष में सोने के लिये वापस आये, दो प्रहर रात्रि बीत चुकी थी। आते ही सभी गहरी निद्रा में मग्न हो गये।

प्रातःकाल सभी पाण्डवों ने नित्य कर्म से निवृत्त होकर, जलपान करके दुर्योधन के नए सभागृह की ओर प्रस्थान किया। महाराज धृतराष्ट्र ने इसी सभागृह में बैठकर आमोद-प्रमोद करने, जुआ खेलने के लिये पाण्डवों को निमंत्रित किया था। सेवकों ने स्वर्ण मुद्राओं की पेटियाँ सभागृह के एक कोने में रख दी थीं। इन पेटियों में मखमली थैलियों के भीतर अलग अलग मात्रा

में स्वर्ण मुद्राएँ रखी थीं, जिन्हें आदेश मिलने पर वे निकालकर महाराज के समक्ष जुए के दाँव के लिये रखते जायेंगे।

मैंने धड़कते हृदय से मंगल कामनाओं के साथ महाराज को विदा किया। मेरे सभी पुत्र इन्द्रप्रस्थ में ही थे। मैं गवाक्ष के पास खड़ी होकर अपने गीले केश सुखा रही थी, इतने में मेरी दासी घबराई हुई आई और कहने लगी “महारानी! द्वार पर सूत प्रतिकामी खड़ा है, वह आपसे कुछ निवेदन करना चाह रहा है।”

मैं प्रतिकामी को पहचानती थी, किन्तु प्रतिकामी के द्वार पर खड़े होने और दासी के भयभीत होने में क्या सम्बन्ध है मैं समझ नहीं पा रही थी। मैंने उससे पूछा कि, “तुम इतनी घबराई हुई क्यों हो?”

वह चुप रही। उसके मुख पर घबराहट के स्थान पर पीड़ा दिखाई दे रही थी। मैंने उससे प्रतिकामी को भीतर भेजने के लिये कहा। प्रतिकामी ने आकर मुझे प्रणाम किया और सिर झुका कर खड़ा हो गया। मैंने उसे प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् प्रतिकामी ने कहना आरम्भ किया, “पांचाल कुमारी! महाराज जुए के मद में उन्मत्त हो गये हैं, उन्होंने सर्वस्व हार कर आपको दाँव पर लगा दिया और दुर्योधन ने उस दाँव को जीत लिया है। मुझे आपको दासी के कार्य के लिये दुर्योधन के भवन में पहुँचाना है।” इतना कह कर प्रतिकामी रुआँसा होकर हाथ बाँधकर दृष्टि नीचे किए हुए खड़ा हो गया। प्रतिकामी महाराज युधिष्ठिर का विश्वस्त सेवक था। मैं हतप्रभ थी। प्रतिकामी, जो कुछ कह रहा था वह विश्वसनीय नहीं लग रहा था, किन्तु उसके ऊपर अविश्वास का कारण भी नहीं था। महाराज युधिष्ठिर ने स्वयं उसे मेरे पास भेजा था। मेरा सर्वांग दहकने लगा। मैंने क्रोध में कहा “प्रतिकामी, तू ऐसी बात कैसे कह रहा है! क्या कोई राजपुरुष अपनी पत्नी को दाँव पर लगाता है? ... कुछ क्षण रुक कर मैंने स्वयं को संयत किया और बोली .. क्या महाराज के पास दाँव पर लगाने के लिये कुछ भी शेष नहीं था?”

“जब कुछ भी उनके पास शेष नहीं रह गया तो उन्होंने अपने भाइयों को, स्वयं को और अंत में आपको दाँव पर लगाया और हार गये।”

अब कोई संदेह नहीं था... युधिष्ठिर अपने दुर्व्यसन की पराकाष्ठा पार कर चुके थे। यह नीच कार्य उन्हीं के योग्य था। आज एक बार पुनः उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति उभर आयी थी। स्वयं को दाँव पर लगाने से पहले उन्होंने अपने भाइयों को दाँव पर लगा दिया और अंत में मुझे भी। मुझे दाँव पर लगाने से पहले उन्हें देविका की स्मृति नहीं आयी? जीवन में तो मैं उनकी स्मृति से लगभग लुप्त हो चुकी हूँ। क्रोध से धौंकती साँसों को मैंने संयमित किया और बोली “प्रतिकामी! जाकर सभा में महाराज से पूछकर आओ कि उन्होंने पहले मुझे हारा था या स्वयं को, तब मैं तुम्हारे साथ चलींगी।”

प्रतिकामी चला गया। मैं समझ नहीं पा रही थी कि मैं क्या करूँ? कुछ समय पश्चात् प्रतिकामी लौटा। व्यथित होकर कहने लगा, “महारानी! महाराज ने कोई उत्तर नहीं दिया किन्तु दुर्योधन ने कहा है कि आप स्वयं सभा में आकर अपने प्रश्न का उत्तर युधिष्ठिर से पूछ लें।”

मैंने तत्काल प्रतिकामी को इस प्रश्न के साथ कि, “सभा के श्रेष्ठ धर्मात्मा, नीतिज्ञ महापुरुषों से मेरी बात पूछो कि मुझे इस समय क्या करना चाहिये।” लौटा दिया। कुरु सभा से मेरे उत्तर के स्थान पर आया दुःशासन और अहंकार पूर्वक मुझसे कहने लगा कि, “कृष्णा! तुम जुए में जीती

जा चुकी हो; हमने तुम्हें धर्म पूर्वक प्राप्त किया है और लज्जा छोड़कर अभी सभा में चलकर कौरवों की सेवा करो।”

मैं तीव्रता से उस ओर भागी, जिधर महाराज धृतराष्ट्र की वधुएँ बैठी थीं। दुःशासन मुझे पकड़ने के लिये मेरे पीछे पीछे दौड़ा। मैंने ऋतुस्नान किया था और एक वस्त्रा थी। मेरे केश गीले व खुले थे। पीछे से दुःशासन ने लपक कर मेरे केश पकड़ लिये। मैं झटके से पीछे खड़े दुःशासन से टकराकर गिरते गिरते बची। सँभलने का प्रयास कर ही रही थी कि दुःशासन मेरे केशों को छोड़ कर हाथ को पकड़कर घसीटने लगा। मैं जोर जोर से चीखने लगी और अपने को छुड़ाने का प्रयास करने लगी। मैं उसकी भुजा पर दाँतों से प्रहार कर रही थी, नाखूनों से उसके मुँह को नोंच डालना चाहती थी। मेरी चीख सुनकर सभी स्त्रियाँ दौड़ती हुई आयीं। दुर्योधन और उसकी पत्नी ने मुझे उसकी पकड़ से छुड़ाने का प्रयास किया, किन्तु उस उन्मत ने दुर्योधन की पत्नी को घुड़क दिया और दूसरे हाथ से अपनी पत्नी को ढकेल दिया। उसकी घुड़की से सभी सहम गयीं। वह मुझे घसीट रहा था। क्रोध और अपमान की पीड़ा से मैं चीख रही थी। अंतःपुर की सौ पुत्रवधुएँ मुझे घेरकर खड़ी हो गयी थीं, किन्तु ज्येष्ठ होने के कारण वे उसका स्पर्श नहीं कर सकती थीं। सौ शक्तिरूपेण स्त्रियों के हाथों को पुरुष ने समाज की एक रीति से बाँध दिया था... वे भी जोर जोर से चीखने लगीं। वह मुझे अंतःपुर से खींचते हुए सभागृह की ओर ले जाने लगा। सभा गृह के द्वार तक वे सब चीखती चिल्लाती मेरे साथ चलती रहीं, पर द्वार पर आकर सभी विवश होकर रुक गयीं। किन्तु मुझे उसी प्रकार से घसीटते हुए दुःशासन ने सभा गृह में प्रवेश किया। मैं उससे प्रार्थना करने लगी कि, “दुःशासन, मैं एक वस्त्रा हूँ; सभा में गुरुजन हैं, पिता महाराज धृतराष्ट्र हैं, पितामह भीष्म हैं, आचार्य हैं, मुझे इस अवस्था में भीतर न ले जा। मेरे पति तेरा यह दुष्कर्म सहन नहीं करेंगे।” वह अहंकार से गरज उठा, “तू एक वस्त्रा या नंगी ही क्यों न हो, हमने तुम्हें जीता है अब तू हमारी दासी है।” दुःशासन ने मुझे घसीटते हुए मध्य सभा में ले जाकर खड़ा कर दिया। मेरे केश बिखरे थे, पकड़ने व खींचने से मेरे वस्त्र भी शिथिल हो गये थे। मैंने सिर उठाकर देखा यह भरतवंशियों की सभा है या श्मशान के प्रेतों की। जहाँ प्रेत, अघोरी और पशु सब मनमाने ढंग से अपने अपने मंत्र अभिचार और व्यवहार कर रहे हैं। यह दुःशासन, महाराज का पुत्र, पितामह का प्रपौत्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य का शिष्य अपने ही कुल की ज्येष्ठ वधू को सभा में अपशब्द कहकर अपमानित कर रहा है और सम्पूर्ण सभा चुपचाप निस्तेज और शक्तिहीन बैठी है। कोई भी उसके दुष्कर्म पर दृष्टिपात भी नहीं कर रहा है।

मैंने अपने क्रोध को संयत करके सभा को संबोधित करते हुए अपना प्रश्न दुहराया, “महाराज ने स्वयं को हारने के पश्चात मुझे दाँव पर लगाया था या पहले इस प्रश्न का सभी सभासद और उपस्थित जन उत्तर दें कि मैं धर्म के अनुसार जीती गयी हूँ अथवा नहीं?”

सभा मौन थी। मैंने अपने पतियों की ओर देखा, उनकी ग्रीवा झुकी हुई थी। दुःशासन मेरी बाँह पकड़कर झकझोरते हुए दासी दासी कहने लगा। मैंने पितामह को संबोधित किया, “पितामह! वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध न हो; वह वृद्ध नहीं जो धर्म की बात न बताये, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो। धर्म की बात आपसे अधिक कौन जानता है। स्वयं को हार जाने के पश्चात धर्मराज को मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार था या नहीं। आप सभा को बतायें कि मैं कुरुवंश की वधू हूँ अथवा जुए में जीती हुई दुर्योधन की दासी।”

कुछ समय बाद पितामह की झुकी ग्रीवा उठी। उनके मुख पर पीड़ा और बाणी में यातना थी,

“सौभाग्यवती बहू, धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण मैं इसका ठीक ठीक विवेचन नहीं कर पा रहा हूँ ... जो स्वामी नहीं है, वह पराये धन को दाँव पर नहीं लगा सकता; किन्तु स्त्री, संपत्ति और संतान को सदा स्वामी के अधीन माना गया है, इस कारण मुझसे कुछ कहते नहीं बनता। युधिष्ठिर ने स्वयं कहा है कि मैं हार गया हूँ, अतः इस प्रश्न का विवेचन नहीं कर सकता। शकुनि द्यूत विद्या का अद्वितीय जानकार है, उसने युधिष्ठिर को प्रेरित करके तुम्हें दाँव पर लगाने की इच्छा उत्पन्न की, किन्तु युधिष्ठिर इसे शकुनि का छल नहीं मानते, इस कारण मैं तुम्हारे प्रश्न का विवेचन नहीं कर पा रहा हूँ।”

“यह निपुण नहीं है फिर भी इन्हें सभा में बुलाकर जुआ खेलने की इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी। ये स्वयं को हार गये थे फिर इन्हें मुझे दाँव पर लगाकर खेलने के लिये क्यों विवश किया गया? ये सभी कुरुवंशी और देश-विदेश के नरेश पुत्रों और पुत्रवधुओं वाले हैं, मेरे प्रश्न का विचार करके उत्तर दें।”

मैं चुप होकर अपने पतियों की ओर देखने लगी। भीमसेन ने सिर उठाया। क्रोध से उनका मुँह तमतमा रहा था। वे युधिष्ठिर को संबोधित करके कहने लगे, “आपने हमें दाँव पर लगाया, आप हमारे सर्वस्व के स्वामी हैं; मुझे क्रोध नहीं आया किन्तु द्रौपदी को लगाना अनुचित है। यह अपमान के योग्य कदापि नहीं है। द्रौपदी की दुर्दशा के लिये मैं अपना क्रोध आप पर ही छोड़ता हूँ, सहदेव आग ले आओ, मैं पासे फेंकने वाली इनकी बाँहों को जला डालूँगा।” भीमसेन सर्प की भाँति फुफकार रहे थे। पार्थ ने उन्हें सँभालने का प्रयास किया “भैया! इन्होंने जुआ खेलने का निमंत्रण स्वीकार करके क्षत्रिय धर्म का पालन किया है।” पार्थ ने जैसे विषधर की पूँछ पर पैर रख दिया हो, “यदि मैं न जानता कि यह कर्म क्षत्रिय धर्म के अनुकूल है, तो मैं इनकी दोनों बाँहों को एक साथ जलाकर राख कर चुका होता।” पार्थ पहले की भाँति मौन हो गये।

सभा शमशान की भाँति शांत थी। विकर्ण उठा, क्रोध को संयत करके सभा को लक्ष्य करके कहने लगा, “पितामह भीष्म, महामंत्री विदुर, महाराज, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य आप लोग द्रौपदी के प्रश्न पर अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते, जिससे पता चले कि इस विषय में आप लोगों के क्या विचार हैं?” विकर्ण मौन हो गया, कोई उत्तर नहीं। विकर्ण ने कई बार अपने प्रश्न को दुहराया, पर सभी निरुत्तर बैठे रहे। अंत में विकर्ण ने कहना आरम्भ किया, “कोई उत्तर दे या न दे, मैं जो न्याय संगत समझता हूँ कहता हूँ; द्रौपदी सबकी है, युधिष्ठिर ने स्वयं को हार कर शकुनि के कहने पर द्रौपदी को दाँव पर लगाया, इस पर विचार करके मैं द्रौपदी को जीती हुई नहीं मानता।”

दुर्योधन, विकर्ण पर क्रुद्ध हो उठा, “तुम कैसे नहीं मानते? युधिष्ठिर ने सर्वस्व दाँव पर लगा दिया था... सर्वस्व में द्रौपदी भी है और सभी भाइयों ने मौन रह कर इसका अनुमोदन भी किया है, तो तुम उसे क्यों जीता हुआ नहीं मानते? दुर्योधन की बात सुनकर मैंने महाराज को सम्बोधित करके कहा “महाराज! उनके दास होते ही धन के रूप में मैं दाँव पर जीत ली गयी थी, तो मुझे पुनः दाँव पर लगाने की आवश्यकता ही क्या थी? मुझे पुनः दाँव पर लगाकर जीता गया इसका अर्थ है कि पराजित व्यक्ति के धन के रूप में पत्नी को हस्तगत करने का अधिकार विजयी पक्ष को नहीं है।” ... मैं उत्तर के लिये महाराज की ओर देखती रही, किन्तु वे मौन थे। मैंने पुनः कहना आरम्भ किया ... “क्या हारे हुए धन को पुनः दाँव पर लगाया जा सकता है? यदि ऐसा था तो धर्मराज अपने हारे हुए प्रत्येक वस्तु को दाँव पर लगा सकते थे, फिर यह जुआ समाप्त क्यों कर

दिया गया?”

“मैं कहता हूँ कि हमने तुम्हें धर्मपूर्वक जीता है।” महाराज के स्थान पर दुर्योधन बोल उठा।

मैं तड़प उठी। क्रोध में दुर्योधन की ओर उन्मुख हुई, “जीता तो तब होता जब स्वयं को हार जाने के पश्चात युधिष्ठिर मुझे दाँव पर लगाने के अधिकारी होते; क्या किसी दास को किसी स्वतन्त्र नागरिक को दाँव पर लगाने का अधिकार होता है?”

विकर्ण ने पुनः कुछ कहना चाहा किन्तु दुर्योधन ने उसे रोक कर उसे ही सुनाते हुए कहने लगा “द्रौपदी अनेक पतियों के अधीन है; इसके उपरान्त भी सुना जाता है कि पति के सखा वासुदेव कृष्ण के साथ इसकी अभेद प्रीति है जिसकी कोई लौकिक संज्ञा नहीं है... अलौकिक प्रीति है... दुर्योधन व्यंग्य से हँसने लगा... सचमुच अलौकिक है। इस लौकिक जगत में एक स्त्री के लिये एक पुरुष के वरण का विधान है, किन्तु यह तो पंच पतियों के वरण के उपरान्त भी अन्य पुरुष की प्रिया है, अतः वेश्या समान है; उसे सभा में लाना एक वस्त्रा या नंगी होने पर भी अनुचित नहीं है; दुःशासन! तुम पाण्डवों और द्रौपदी के वस्त्र उतार दो, जिससे इसे पता चले कि अंधे के पुत्र अंधे नहीं होते, वे सब कुछ देख और सभा को दिखा सकते हैं।”

संकट आसन्न था। मैं पितामह की ओर देखकर चिल्लाई ‘पितामह!’ आश्चर्य! उनका मौन अब नत हो गया। उनकी ब्रीचा के साथ साथ सदा तनी रहने वाली पीठ झुक गयी... इतनी अधिक कि उनका प्रशस्त तलाट उनके घुटनों में छुप गया। केवल श्वेत केशों से ही मैं पहचान रही थी कि वे पितामह हैं... आश्चर्य! घोर आश्चर्य!

‘महाराज!’ मैं धृतराष्ट्र की ओर लपकी। बीच में ही दुःशासन ने मुझे खींचकर वापस वहीं खड़ा कर दिया। मैं रक्षा के लिये मुड़कर महाराज धृतराष्ट्र की ओर देखने लगी, किन्तु वे तो नेत्रहीन के साथ साथ इस सीमा तक संवेदनहीन लगे, मानों संज्ञाहीन हों। उनकी मुखमुद्रा अविचलित थी। हाथ के हिलाते स्वर्ण राजदण्ड को उन्होंने और कस कर पकड़ लिया, मानों कोलाहल में वह इधर-उधर हिल कर कोई संकेत न कर दे। मैं स्तब्ध रह गयी। उनका राजदण्ड... एक संकेत मात्र ऐसे क्या कुछ नहीं कर सकता था, पितामह की एक हुंकार महाराज धृतराष्ट्र की सत्ता को क्षण भर में विचलित करके इन नराधमों को कारागार में डाल सकती थी।

काकाश्री इसी आदेश की याचना महाराज से करते रहे कि महाराज! आदेश दें, बाहर खड़े सैनिक उदण्ड को क्षण भर में कारागार में डाल देंगे। महामात्य विदुर का गरिमामय स्वर उत्तरोत्तर कातर होता जा रहा था... वह महाराज के समक्ष आर्त याचना के स्तर तक पहुँच गया। मेरे जी में आया कि मैं कहूँ कि काका बस! अब आप अपने आप को इतना दीन मत बनाइये, किन्तु चुप रही। काका मेरे समक्ष क्षमा याचना की मुद्रा में हाथ जोड़कर पुनः उन्होंने हाथों से अपने मुख को ढाँपकर सभा में नत मस्तक बैठ गये।

मैंने अपनी बाणी कंठ में ही निगल ली। मैं स्वाभिमानिनी हूँ इस परिस्थिति में भी मैं गिड़गिड़ा नहीं सकती थी। मैं केवल प्रश्न का उत्तर चाहती थी। मुझे दया नहीं सम्मान चाहिये, जो कि कुरुवंश की वधू होने के कारण मेरा अधिकार था और अधिकारों को जानने वाला व्यक्ति कभी याचक नहीं हो सकता है।

किन्तु यहाँ तो लोगों की आत्मा मृत थी। या वे दुर्योधन के भय से मृत तुल्य थे। महाराज नेत्रहीन तो थे ही, पुत्र मोह में विवेक शून्य भी हो गये थे। सर्वशक्तिमान पति, जिन पर मुझे अभिमान था, ब्रीचा झुकाये अर्धनग्न बैठे दासता स्वीकार कर चुके थे और पितामह... अपने वचन

के निर्वाह के लिये अपने ही गुरु परशुराम से तेईस दिनों तक अनिर्णायक युद्ध लड़ने वाले गंगापुत्र देवव्रत का शौर्य कहाँ चला गया, जो आज वे घुटनों में अपने मुँह को छुपाये बैठे हैं।

प्रतिज्ञा और चरित्र में यह कैसा द्वन्द्व है? जीवन भर का चरित्र आज प्रतिज्ञा पर भारी पड़ रहा है, जिसके कारण आज वह दुर्योधन की नीचता पर अंकुश नहीं लगा पा रहे हैं; ये कौन सी गति धारण कर ली है पितामह आपने! प्रतिज्ञा तो धर्म की रक्षा और निर्वाह के लिये की थी; वह अधर्म के पोषण और संवर्धन में कब परिवर्तित हो गयी? जिनकी छत्रछाया में सम्पूर्ण हस्तिनापुर साम्राज्य सुरक्षित है, वे पितामह अपनी आँखों के सामने निरपराध कुलवधू का अपमान देख रहे हैं... कुलश्रेष्ठ होने के कारण उनका अपनी कुलवधू के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है? मैं हस्तिनापुर के मार्ग से यात्रा करने वाली यात्रिणी से भी गयी बीती हो गयी हूँ जिसकी सुरक्षा का भार उस देश के राजा का होता है? पितामह, प्रतिज्ञा को आपद्धर्म की भाँति क्यों नहीं देखते, जो मेरी रक्षा के बाद पुनः... अरे! ईश्वर भी समयानुसार आचरण करता है।

दुःशासन को खड़ा देखकर दुर्योधन ने पुनः ललकारा। दुःशासन कटि के पास से मेरे वस्त्र पकड़कर मुझे वस्त्रहीन करने की चेष्टा करने लगा। अब मेरे लिये सभा में कोई नहीं बचा था जिसे मैं अपनी रक्षा के लिये पुकारती। सभा ही क्यों, इस त्रिभुवन में एक के अतिरिक्त मेरा कोई भी नहीं था जो इस समय दुष्ट दुःशासन से मेरी रक्षा करता। मैंने नीची और वक्ष के पास अपने वस्त्र को कस कर दोनों हाथों से पकड़ लिया और तीव्रता से खींचे जाने की दिशा में घूमने लगी।

मैं आर्त किन्तु विश्वास भरे स्वर में प्रभु, सखा कृष्ण को पुकारने लगी, “हे सर्वशक्तिमान हरि! तुम्हारे रहते तुम्हारी सखी का अपमान करने का साहस कोई कैसे कर सकता है! हे जनार्दन! मैं आर्त होकर तुम्हें पुकार रही हूँ, शीघ्र मेरी रक्षा करो... हे केशव! मैं केशों से पकड़ कर घसीटती हुई इस सभा में लाई गयी हूँ, मेरी रक्षा करो, हे गोपिका प्राणवल्लभ! मेरे प्राणों की रक्षा करो। कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या यह तुम नहीं जानते? यह दुष्ट दुःशासन मुझे वस्त्रहीन कर रहा है और मेरे पाँचों पति मौन होकर बैठे हैं... हे श्याम! तुम्हारी श्यामा को कौन सी गति में ढकेला जा रहा है और तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं बनता? हे कृष्ण! यह कृष्णा तुम्हारी है, तुमसे अलग मेरी कोई सत्ता नहीं है; तुम यह भली भाँति जानते हो फिर तुम स्वयं को कितनी पीड़ा दे रहे हो। हे वासुदेव! इस याज्ञसेनी ने तुम्हारी इच्छा से अपनी पलकों को खोला है, एक एक साँस तुम्हारी इच्छा से लिया है, मेरे जीवन की दिशा का निर्धारण तुम्हारी इच्छा से हुआ है; आज तुम्हारी क्या इच्छा है? अपनी इस सखी के मान सम्मान से तुम्हारा कोई नाता है या नहीं। सखा! मुझे अपने में छुपा लो, इस संसार की दृष्टि से अलोप कर दो, गोवर्धन पर्वत की भाँति इस सभागृह को उठाकर समुद्र की अतल गहराई में फेंक दो... यदि यहाँ नहीं आ सकते तो जहाँ हो वहीं से अपना सुदर्शन चक्र चलाकर इन पापियों का नाश कर दो। इन पापियों का नाश नहीं कर सकते तो चक्र से मेरी ही ग्रीवा काटकर मुझे इस यातना से मुक्ति दो। मैं तुमसे याचना कर रही हूँ, तुम्हें मेरे वध का पाप नहीं लगेगा। जैसे यज्ञवेदी के मध्य से उत्पन्न किया था, वैसे ही इस सभागृह के मध्य खड़ी कृष्णा को धरती फाड़कर उसमें छुपा दो... तुम्हारी कृष्णा आज तुम्हारे चरणों में पड़ी है, हे गोविन्द मुझे अपने में समेट लो; मैं यह यातना और अपमान नहीं सह पा रही हूँ, मेरी रक्षा करो।

मैं प्रलाप करती जा रही थी और हर क्षण मेरा विश्वास सखा के प्रति दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा था। सहसा सभाभवन प्रलयकारी मंत्रों के घोष, सहस्रों वाद्ययंत्रों के कोलाहल से भरने लगा। लग रहा था कि सभाभवन में एक साथ सहस्रों सूर्य उदित हो गये हैं। एक क्षण के लिये मैंने देखा, वह

तुम्हारा सुदर्शन चक्र था, जो सभा के भीतर सहस्रों सूर्य के समान दैदीप्यमान होकर प्रलयकारी स्वर उत्पन्न करता हुआ घूम रहा था। दुःशासन लड़खड़ाकर गिर पड़ा और उस तीव्र प्रकाश में मेरे नेत्र बंद हो गये।

सहसा मेरे सम्मुख युगल चरण अवतरित हो गये; ये चरण सखा तुम्हारे थे। मैं अब तक अपने वस्त्रों को कस कर पकड़े हुए दोहरी हो रही थी, पर मेरे हाथ खुल गये। वस्त्र के स्थान पर चरणों को आलिंगन में कस लिया। अनवरत बहते हुए आँसुओं से भरी आँखें ऊपर उठीं। तुम्हारी आँखों से स्नेह झर रहा था। सारा भय और प्रयास समाप्त हो गया, मैंने अपना माथा तुम्हारे चरणों पर रख दिया।

मेरे जीवन में सखा के प्रथम दर्शन से लेकर अब तक का देखा रूप हर क्षण मेरे सम्मुख एक करके आता जा रहा था। विचित्र हैं ये क्षण... सखा की हर मुद्रा, हर छवि अपने ऊपर ओढ़े हुए पीताम्बर से मुझे ढँकती जा रही थी। वह पीताम्बर, जो प्रथम दर्शन के समय मेरे मस्तक को छू रहा था, उस पीताम्बर का कलात्मक किनारा, जो विवाह के पश्चात् मुझसे मिलने के समय आपकी भुजाओं पर पड़ा था और मैं नतमुखी उसे ही देख रही थी। वह पीताम्बर, जो वर्षा से भीगते समय आपने मेरे शरीर पर डाल दिया था, वह भीगा पीताम्बर जो बड़ी सहजता से उतारकर आपने मेरे हाथों में पकड़ा दिया था वह पीताम्बर, जो माता कुंती के पैरों के पास बैठे रहने से भूमि पर पड़ा मैला हो रहा था और मैंने उसे उठाकर पार्श्व में रख दिया था। वह पीताम्बर, जो परिहास में मेरे और पार्थ पर डालकर हमें ढँक दिया था... उसी परिचित गंध के साथ वे बारी बारी मेरे शरीर को ढकते जा रहे थे। ऐसे न जाने कितने पल, जो चेतन से अवचेतन मस्तिष्क में चले गये थे, वे सब उस समय चैतन्य होकर मेरे समक्ष उपस्थित होते जा रहे थे।

मेरे शरीर का तापमान तेजी से बढ़ रहा था, मैं अग्निकुंड की भाँति तप रही थी और हिम शीतल पीताम्बर मेरे शरीर की ज्वाला को शांत करते जा रहे थे। मेरे शरीर पर बल प्रयोग की पीड़ा को सहलाकर स्वस्थ करते जा रहे थे। मैं शीतल होती जा रही थी। अंत में देखा मेरा आपसे प्रथम साक्षात्कार। आपके शीतल युगल चरण पर थरथराती साँसों, कंपित काया के साथ सखा अपना दग्ध मस्तक। हाँ, दग्ध था मेरा मस्तक, तभी तो आपके चरण इतने शीतल लग रहे थे। फिर सब कुछ शांत हो गया।

जब मेरी चेतना लौटी तो मेरे शरीर पर आपका पीताम्बर था। मेरी साड़ी मेरे शरीर पर पूर्ववत् थी। हाँ, यत्न से बाँधी गयी गाँठ कुछ शिथिल अवश्य हो गयी थी। मेरी चेतना लौटी तो देखा कि सभा शांत और स्तब्ध है और दुःशासन क्लांत और लज्जित बैठा था। दुःशासन के खींचे जाने के बाद भी मेरी साड़ी पूर्ववत् थी; यह मेरे साड़ी बाँधने का कौशल था या कुछ और। मैं भाँति भाँति से साड़ी बाँधती थी और आज मैंने नौ गज की साड़ी को दोनों छोर पर गाँठ लगा कर गोल करके बाँधा था। एक वस्त्र रहने की स्थिति में यह परिधान शैली बहुत मर्यादित रहती थी... किसी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं रहती थी और न ही कोई अंग अनावृत्त। वक्ष प्रदेश पर साड़ी दोहरी रहने से पूर्णतः अपारदर्शी रहती थी। निचले तह के दोनों छोर को मैं कटि के ऊपर से पीछे ले जाकर गाँठ लगा देती थी, जिससे वह अधोवस्त्र की भाँति अंगों को ढँक लेती थी और ऊपर की ढीली ढाली परत उसके ऊपर आवरण जैसी पड़ी रहती थी... तो क्या मेरे साड़ी बाँधने की शैली का चमत्कार था या...

मैंने लज्जाजनक स्थिति का एक एक क्षण सखा के चरणों में बिताया है और यह उत्तरीय भी

सखा का ही है। सभा में उपस्थित पाण्डवों के अतिरिक्त सभी लोगों के उत्तरीय उनके शरीर पर हैं। एक बार मैं पुनः अपने सखा की सर्वव्यापी सत्ता के आगे अभिभूत थी।

मैं खड़ी हुई और मैंने सखा के पीताम्बर को ओढ़ लिया। उस पीताम्बर से मेरा पूरा शरीर ढक गया। मेरा सारा भय लुप्त हो चुका था। कुछ क्षणों के लिये डगमगाने वाला मेरा आत्मविश्वास स्थिर हो चुका था और मुझे अभी भी लग रहा था कि मेरे सखा मेरे साथ खड़े हैं। मैंने सभा में उपस्थित गुरुजनों को प्रणाम किया। सभा का कोलाहल अभी भी पूरी तरह से शांत नहीं हुआ था कि भीमसेन की एक गर्जना ने सभा को शांत कर दिया, “क्षत्रियों! मेरी बात ध्यान से सुनो; ऐसी प्रतिज्ञा न पहले किसी ने की है और न ही भविष्य में कोई करेगा; मैं युद्ध में इस पापी दुःशासन की छाती फाड़कर उसका रक्त पीऊँगा... यदि न कर सका तो मुझे अपने पूर्वजों की श्रेष्ठ गति न मिले।”

सभा में भय व्याप्त हो गया। वही सभा जो अब तक दुर्योधन के भय से दुराचार के समक्ष आँखें मूँटें बैठी थी, अब भीमसेन के भय से दुर्योधन की भत्सना करने लगी। महामात्य विदुर ने सबको शांत किया। मेरा सभासदों और गुरुजनों से किया गया प्रश्न अभी तक अनुत्तरित था। महात्मा विदुर बार बार सभासदों से और उपस्थित गुरुजनों से मेरे प्रश्न पर विचार करके उत्तर देने के लिये कह रहे थे। उन्होंने यहाँ तक कहा कि जो धर्म सभा में जाकर वहाँ उपस्थित प्रश्न का उत्तर नहीं देता है, वह झूठ बोलने वाले के पाप के आधे फल का भागी होता है।”

मैं सभा में खड़ी थी। सभा में उपस्थित गुरुजनों के व्यवहार से मेरा संकोच घट रहा था। संकोच तो मर्यादा के समक्ष होता है; यहाँ तो धर्महीन, सदाचार हीन, मौन, मृतप्राय लोग ही बैठे थे और इन सभासदों के प्रति अब मेरे हृदय में न तो श्रद्धा थी और न ही संकोच... शेष था तो केवल क्रोध। उसी क्रोध को संयमित करके मैंने सभा को दहता से संबोधित किया, “आप सभी लोग पुत्र और पुत्रवधुओं वाले हैं; किसी की बहू को उसके जीते जी उसका ही पुत्र सभा में इस प्रकार घसीटते हुए नहीं ला सकता है, किन्तु आज मुझे आप भरतवंशियों के सम्मुख सभा में घसीटते हुए लाया गया और आप लोग मौन होकर उसे सहन कर रहे हैं; मुझे कष्ट दिया जा रहा है, दुर्वचन कहे जा रहे हैं, अपमानित किया जा रहा है, फिर भी सभी कुरुवंशी इसे सहन कर रहे हैं... मुझे लगता है इस वंश का विपरीत समय आ गया है और जिसके कारण कौरवों का धर्म नष्ट हो चुका है, अन्यथा मैं पाण्डवों की पत्नी, धृष्टद्युम्न की बहन, भगवान श्रीकृष्ण की सखी होकर इस प्रकार से सभा में कैसे लाई जा सकती हूँ? मैं पाण्डवों की पत्नी हूँ, आपके समान वर्ण की कन्या हूँ... मैं दासी हूँ अथवा नहीं, आप लोग जैसा कहेंगे मैं वैसा करूँगी।”

सभा पूर्ववत् मौन थी। मैंने पितामह के मुख पर अपनी दृष्टि गड़ा दी। सभी को निरुत्तर जानकर पितामह ने अपनी झुकी ग्रीवा ऊपर उठाई और हताश कुंठित स्वर में कहना प्रारम्भ किया, “कल्याणी! धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है; संसार में बलवान मनुष्य जिसे धर्म मानता है, धर्म विचार के समय लोग उसी को धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बताता है, वह बलवान पुरुष के बताये धर्म से दब जाता है... इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति हैं।”

दुर्योधन ने मेरी ओर देखकर अहंकार से कहा, “तुम स्वयं युधिष्ठिर से क्यों नहीं पूछ लेती कि वे तुम्हें दाँव पर लगाने के अधिकारी थे या नहीं; यदि वे स्वयं को हारा मानकर तुम्हें दाँव पर लगाने की बात स्वीकार करते हैं तो मैं तुम्हें दासता से मुक्त कर दूँगा, यह मेरा वचन है।”

मैं क्रोध, अपमान, क्षोभ से भरी महाराज युधिष्ठिर के सामने खड़ी थी। दुर्योधन की बात को उन्होंने स्पष्ट सुना और मौन रहे। मेरे कानों में युधिष्ठिर की वह बाणी “मेरी बाणी कभी झूठ नहीं बोलती, मेरी बुद्धि भी कभी अधर्म में नहीं लगती”... लगातार गूँज रही थी। मुझे अपने प्रश्न का उत्तर चाहिये... सभी सभासदों से, गुरुजनों से, महाराज से, अपने पतियों से; कम से कम उनसे तो अवश्य ही जिनकी बुद्धि कभी अधर्म। आज मैं उसी धर्म बुद्धि से अपनी स्थिति का सत्य जानना चाहती हूँ, कि मैं दासी हूँ अथवा नहीं, मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार महाराज युधिष्ठिर को था या नहीं?

मेरे जी में आ रहा था कि मैं पितामह से पूछूँ कि यदि स्त्री, संपत्ति और संतान, स्वामी के अधीन हैं तो सभी पाण्डवों की पत्नियाँ हैं, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन.. हाँ, अर्जुन की पत्नी श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा और पुत्र अभिमन्यु; क्या वे अपने अपने स्वामियों के अधीन होने के कारण दाँव पर नहीं हारे गये? विजया और करेणुमति क्या स्वतंत्र हैं? मुझ अकेली को क्यों लक्ष्य बनाया जा रहा है?

पितामह के अतिरिक्त सभी लोग अभी भी मौन थे। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि ऐसे लग रहे थे जैसे निष्प्राण हों। मेरे बार बार पूछने पर भी सभी मौन रहे। महाराज युधिष्ठिर जैसे संज्ञाहीन हों। पूरी सभा को दुर्योधन अपने भय के अधीन जानकर गर्व से उन्मत्त हो रहा था और उपहास के स्वर में कहने लगा कि, तुम्हारे प्रश्न को भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पर छोड़ दिया जाता है; ये सब स्पष्ट कह दें कि युधिष्ठिर स्वयं हार कर तुम्हें दाँव पर लगाने के अधिकारी नहीं हैं, तो तुम दासी भाव से मुक्त हो जाओगी।”

मैं पाण्डवों की ओर देखने लगी। कुछ समय पश्चात भीमसेन विनम्र बाणी में बोले “यदि युधिष्ठिर पाण्डु कुल के स्वामी न होते तो मैं यह अत्याचार कदापि नहीं सहता; यदि ये द्रौपदी को दाँव पर लगाने के पूर्व स्वयं को हारा नहीं मानते तो उसे दाँव पर लगाने के अधिकारी थे ... प्रयास से बाणी में लायी गयी नम्रता और रोका गया क्रोध रुक नहीं पाया और भीमसेन क्रोध से गरज उठे, “यदि मैं हारा न गया होता तो द्रौपदी के केशों को छूने वाला इस समय जीवित नहीं बचता... यदि युधिष्ठिर आदेश दें तो मैं इन कौरवों को तलवार या गदा के स्थान पर हाथों से ही मसल डालूँ।”

द्रोणाचार्य, पितामह, महात्मा विदुर सभी भीमसेन को शांत करने लगे। भीम का क्रोध दुर्योधन को और उत्तेजित कर रहा था। वह युधिष्ठिर और मुझ पर भाँति भाँति से व्यंग्य बाणों से आघात कर रहा था। भीमसेन, दुर्योधन की बातों से पीड़ा और अपमान से भर उठे और युधिष्ठिर से बोले, “नरेश! हम सब आपकी आज्ञा के अधीन हैं, आप ही द्रौपदी के प्रश्न पर उत्तर दीजिए; क्या आप द्रौपदी को हारी हुई मानते हैं?” किन्तु युधिष्ठिर अचेत से बैठे रहे।

उस समय नकुल सहदेव भी विमूढ़ से बैठे थे। असीम क्षमताओं के होते हुए भी कभी उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रहा। आज भी इस विषम परिस्थिति में पूछे जाने पर भी वे अपना निर्णय नहीं दे पा रहे थे, मानों प्रतिक्रिया करना उनके अधिकार के क्षेत्र से बाहर हो। युधिष्ठिर का मौन और मेरा प्रश्न, सभा में लटका था। सभा का मौन और पाण्डवों की विवशता, दुर्योधन की उदण्डता को बढ़ाती जा रही थी। कोई विरोध नहीं, सब कुछ शून्य में तैरता हुआ। सभा में सभासदों के मौन के ऊपर दुर्योधन का अहंकार भर रहा था। महाराज धृतराष्ट्र का मौन उसे प्रतिक्षण बढ़ाता जा रहा था। कहीं कोई प्रतिरोध नहीं, बाधा नहीं, भ्रंशना भी नहीं... बस भय और आतंक की शांति ही

व्याप्त थी। दुर्योधन के अपशब्द रुकने का नाम ही नहीं ले रहे थे। अवसर पाकर वर्षों की संचित ईर्ष्या आज मुखरित हो रही थी। भीमसेन घायल सर्प की भाँति तड़प रहे थे। दुर्योधन, भीम की ओर देखकर मुस्कराते हुए अपनी जंघा अनावृत करके मुझे देखकर संकेत करने लगा। सभा सन्न थी। दुर्योधन अमर्यादित आचरण से अश्लील आचरण पर उतर आया था, यह देखकर भीमसेन की आँखें लाल हो गयीं, शरीर से मानों चिंगारियाँ निकल रही हों। सभा में उन्होंने घोर गर्जना की, “दुर्योधन! यदि मैं युद्ध में तुम्हारी इस जंघा को अपनी गदा से न तोड़ूँ तो मुझे अपने पूर्वजों के साथ पुण्य लोक की प्राप्ति न हो।”

भीमसेन की क्रोध गर्जना, मेरे क्रोध को शांत नहीं कर पा रही थी। भीमसेन के अतिरिक्त मेरे सभी पति अभी भी मौन बैठे थे। उनका मौन मेरे अंतःकरण को धधका रहा था। मैंने अपने दोनों हाथों से अपनी बिखरी केशराशि को समेटकर हाथ में उठाकर सभा को संबोधित किया, “मैंने इस सभा के गुरुजनों और अपने पतियों से प्रश्न किया, किन्तु किसी ने भी मुझे समुचित उत्तर नहीं दिया और न ही अत्याचारी की निंदा की, दण्ड तो दूर की बात है। आज सभी उपस्थित गुरुजन एवं मेरे पति मेरी बात को ध्यान से सुनें आज से मेरे केश इसी प्रकार से खुले रहेंगे, जब तक कि मैं अपने केशों को खींचने वाले दुःशासन के रक्त से इन्हें धो न लूँ, मेरे केश अब दुःशासन के रक्त से स्नान करके ही बँधेंगे।”

सभा में एक भय व्याप्त हो गया। माता गांधारी और महामंत्री विदुर, महाराज धृतराष्ट्र से दुर्योधन पर नियंत्रण लगाने और स्थिति को सँभालने के लिये जोर देने लगे। इतना कुछ घटित हो गया, महाराज पुत्र मोह में जड़ बने बैठे रहे और जब उन्होंने पुत्रों के सिर पर विषधर फुफकारने लगा, तब जाकर वे चैतन्य हुए और उनका मौन टूटा, “मंदबुद्धि दुर्योधन! तू कुरुवंशियों की सभा में अपने ही कुल की वधू को लाकर पापपूर्ण बातें कर रहा है।” पुनः मेरी ओर उन्मुख होकर कहने लगे... बहू द्रौपदी तुम मेरी पुत्रवधुओं में श्रेष्ठ धर्मपरायण और सती हो, तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँग लो।”

संकट विकट था, अन्यथा मैं कभी भी दया स्वीकार नहीं करती चाहे वह “वर” शब्द में ही लिपटी क्यों न हो। किन्तु एक आशा की किरण दिखाई दी। मैंने महाराज के समक्ष हाथ जोड़कर निवेदन किया, “भरत वंश शिरोमणि यदि आप वर देते हैं तो युधिष्ठिर दास भाव से मुक्त हो जायें, जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिबिन्ध्य को दूसरे राजकुमार दास पुत्र न कहें।”

“कल्याणी, मैं तुम्हारे बुद्धि से प्रसन्न हूँ, दूसरा वर माँगो।

“महाराज! भीम अर्जुन नकुल और सहदेव अपने अपने रथ और अस्त्र शस्त्रों के साथ दास भाव से मुक्त हो जायें।”

“सौभाग्यवती बहू! तुम कुल को आनंद प्रदान करने वाली हो, दो वरों से तुम्हारा सत्कार नहीं होगा, तीसरा वर माँगो।” महाराज अपने वरदानों से मेरे अपमान को धोने का प्रयास कर रहे थे।

“महाराज! क्षत्रिय को दो वर से अधिक का अधिकार नहीं होता।” कह कर मैं चुप हो गयी। चाहती तो अपना सम्पूर्ण वैभव तीसरे वर से वापस माँग लेती किन्तु मैंने मना कर दिया। बढ़ती शक्ति और सम्पन्नता ने जिस प्रकार से महाराज युधिष्ठिर को अकर्मण्य और विवेकहीन बना दिया था, मैं उस पर प्रहार करना चाहती थी। ये अपने दुष्कर्मों को याद करते हुए पुनः अपने पुरुषार्थ से सब कुछ अर्जित करें; आज से इसी क्षण से अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करें। युधिष्ठिर की अकर्मण्यता और शेष लोगों की युधिष्ठिर के प्रति अधीनता के दृष्टिकोण को बदलने

के लिये इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। संकट कट गया था, सभी ने मुक्ति की साँस ली।

दुर्योधन यह सब देखकर क्रोधित होकर भीमसेन पर कटु वचनों से प्रहार करने लगा। भीमसेन का क्रोध, जो अभी तक शांत नहीं हुआ था, दुर्योधन के वचनों ने उसमें घी का काम किया। भीमसेन ने सभा में ही खड़े खड़े युधिष्ठिर से कहा, “यदि आपकी आज्ञा हो तो यहाँ आये सभी शत्रुओं को यहीं समाप्त कर दूँ और यहाँ से निकलकर इनके मूल का भी; अब यहाँ विवाद उतर प्रत्युत्तर की क्या आवश्यकता; आज ही मैं सबको यमलोक भेज देता हूँ आप सारी पृथ्वी पर शासन कीजिये।”

अर्जुन उन्हें शांत करने लगे। क्रोध में भीमसेन साक्षात् यमराज लग रहे थे। उनके मुख की ओर देखना सबके लिये कठिन हो रहा था। युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर महाराज से निवेदन किया “मेरे लिये क्या आदेश हैं?”

“तुम अपने सारे धन के साथ राजधानी लौट जाओ और सभी अप्रिय बातें भूल जाओ। मैंने जुए को रोकने का प्रयास इसलिये नहीं किया, क्योंकि मैं अपने मित्रों सुहृदों से मिलना चाहता था... अपने पुत्रों के बल को देखना चाहता था। तुम धर्म में, अर्जुन धैर्य में, भीम पराक्रम में, नकुल और सहदेव में श्रद्धा और विशुद्ध गुरु सेवा भाव हैं।”

महाराज धृतराष्ट्र इतना कहकर चुप हो गये। दुर्योधन के इतने बड़े कुकृत्य को उनकी बाणी किस चतुराई से दूसरी दिशा में मोड़ रही थी, यह मैं वहाँ खड़ी सुन रही थी। मेरे अपमान का कुछ नहीं। सामान्य शिष्टाचार वश भी दुर्योधन की भत्सना नहीं, मेरे प्रति खेद नहीं। कोई पूछने वाला नहीं कि पुत्रवधू को सभा में घसीटकर लाने पर कौन से पुत्र के बल का ज्ञान हुआ? क्या मुझे वस्त्रहीन किए बिना मित्रों और सुहृदों का सत्कार नहीं हो पा रहा था? सभा ऐसे शांत हो गयी थी जैसे कि भरतवंशियों के बीच उसी के वंश के वधू के साथ कुछ अनुचित हुआ ही न हो; ग्लानि व पीड़ा की एक झलक भी नहीं। महाराज नेत्रहीन हैं, पर विवेक हीन और संज्ञाहीन तो नहीं हैं कि सभा में जो कुछ हुआ है वह उन्हें ज्ञात नहीं। उसमें उनकी मौन सम्मति नहीं, तो क्या दुर्योधन का भय इतना बड़ा है कि सभी इस ओर से दृष्टि फेर कर बैठे हैं?

तत्काल प्रस्थान हुआ। किसी ने भी न तो अन्न ग्रहण किया और न ही जल। लम्बी यात्रा से थके घोड़ों को तुरंत रथों में जोत दिया गया, हाथियों पर उनके हौंदे कसे जाने लगे, विश्राम करते शिविका वाहक उठ खड़े हुए। युधिष्ठिर और भीम अपने अपने हाथियों पर और अर्जुन, नकुल, सहदेव अपने रथों पर आरूढ़ हुए। मैं और माता कुंती अपनी अपनी शिविकाओं में बैठ गये।

मैं क्षुब्ध थी। मेरा प्राणान्तक अपमान करके भी वे दोनों नराधम अभी तक जीवित थे। मेरा हृदय अपने पाँच पाँच सामर्थ्यवान पतियों को धिक्कार रहा था। सभा में अर्जुन का मौन आज फिर मेरे हृदय को धधका रहा था। युधिष्ठिर मुझे फिर से नराधम लगने लगे। इसी युधिष्ठिर ने मुझे पंचपति वरण करने पर विवश किया था, जिसके कारण मैं वर्षों तक उनसे घृणा करती रही और आज उन्हीं के कृत्य के कारण मुझे भरी सभा में वेश्या कह कर संबोधित किया गया। लम्बा समय बीत गया था, घृणा की तीव्रता घटती गयी और मैंने स्थिति से समझौता कर लिया था, किन्तु वह घृणा समाप्त नहीं हुई थी, आज भी हृदय के किसी कोने में संचित थी और युधिष्ठिर के इस दुष्कर्म से वह पुनः उभर आयी थी।

क्या अंतर पड़ता है? यदि घृणा अंतःकरण में न भी होगी, तो आज नए रूप में जन्म ले लेती। नीच से नीच व्यक्ति भी अपनी पत्नी का इतना तो अपमान नहीं करता है। मैं उनकी अर्धांगिनी

थी, उनकी संतान को जन्म दिया था, लोक, वेद और पितृकर्म में उनके साथ बैठती थी; अपने ही आधे अंग को कोई कैसे दूषित कर सकता है? जुआरियों के सम्बन्ध कुलटाओं से भी होते हैं, किन्तु वह उन्हें भी दाँव पर नहीं लगाते। अपने पालित कवियों और चारणों के माध्यम से स्वयं को 'धर्मराज' घोषित करवाने वाले युधिष्ठिर ने आज कितना घृणित कार्य किया है। आज भी मैं उनके लिये 'भोग की भिक्षा' ही रही, तभी तो जुए में दाँव पर लगाने में जरा भी संकोच नहीं हुआ। यदि पत्नी समझते, पुत्र की जननी समझते, कुल की प्रतिष्ठा समझते, तो क्या मुझे दाँव पर लगाते?

आज ईश्वर न्याय कर रहा था, समय पलट कर दण्ड दे रहा था। मुझ हाड़ माँस की जीवित राजपुत्री को 'भिक्षा' के संबोधन से 'वस्तु' में परिवर्तित करने वाला आज स्वयं वस्तु के समान दाँव पर हारा जा चुका था। हाँ, युधिष्ठिर वस्तु ही हो गये थे... कुछ समय के लिये ही सही, युधिष्ठिर वस्तु की भाँति निरीह बैठे रहे। मुझे युधिष्ठिर के लिये कोई दुःख नहीं था, वह अपने कर्मों का फल भोग रहे थे; किन्तु इस कुटिल ने अपने साथ सभी भाइयों को भी दाँव पर लगा डाला था। यदि भाइयों को न लगाया होता तो मुझे हारने पर भी भीम, अर्जुन आदि कुछ ही घड़ी में सब का वध करके युद्ध में पुनः जीत लेते। कम से कम भीमसेन तो अवश्य ही; वे अकेले ही दुर्योधन बंधुओं को यमलोक पहुँचाने में समर्थ थे।

मुझे तो भरतवंशियों पर क्रोध आ रहा था, जो केवल 'जुए के दाँव' के धर्म की व्याख्या कर रहे थे; उन्हें अपने कुल की वधू के मान-अपमान से कुछ भी लेना देना नहीं था। यह प्रश्न सभा में क्यों नहीं उठा कि, कोई भरतवंशी अपने परिवार के लोगों के बीच जुआ खेलते हुए अपनी पत्नी को दाँव पर लगा सकता है या नहीं। यह जुआ तो परिवार के मध्य, भाइयों के बीच मनोरंजन के धर्म से खेला जा रहा था, तो क्या इस परिवार के सदस्यों को जुए में पत्नी को दाँव पर लगाने की मान्यता प्राप्त थी? क्या दाँव पर लगाने वाली वस्तुओं का कोई निर्धारण नहीं होता कि कौन सी वस्तु दाँव पर लगायी जा सकती है और कौन सी नहीं? क्यों नहीं कोई पूर्व में उदित होते सूर्य देव को दाँव पर लगा देता? झिलमिलाते नक्षत्रों के समूह को क्यों नहीं आज तक किसी ने दाँव पर लगाया?

पारिवारिक मनोरंजन के खेल में परिवार ही नियम-निर्देश निश्चित करता है, इसमें 'धर्म की सूक्ष्म गति' की क्या आवश्यकता है? परिवार में भी जब छोटे छोटे बालक आपस में खेलकूद करते हैं तो भी माता-पिता किसी अप्रिय की आशंका से उन्हें वर्जित करते रहते हैं... समयानुसार, इच्छानुसार, नियम परिवर्तन एवं निर्देश का अधिकार सदैव ही उनके पास रहता है।

इस पारिवारिक मनोरंजन में आचार्य द्रोण के मित्र की पुत्री उनकी अपनी पुत्री न रही, प्रिय शिष्य की पत्नी उनकी अपनी वधू नहीं रही; उस शिष्य की पत्नी, जिसने उनके स्वाभिमान की रक्षा के लिये पांचाल नरेश द्रुपद को युद्ध में पराजित करके उनके चरणों में डाल दिया था और उस गौरवशाली शिष्य की पत्नी पर उन्हीं का दूसरा शिष्य अत्याचार कर रहा था। क्या गुरुदक्षिणा पाकर वह गुरु का अधिकार और गरिमा खो चुके थे? वह गुरु, जिसका स्थान ईश्वर से पहले आता है।

महाराज धृतराष्ट्र राजा के रूप में इतने असमर्थ हो गये हैं कि एक उदण्ड नागरिक पर अंकुश नहीं लगा सके। सिंहासन पर बैठे राजा के समक्ष पुत्र और नागरिक सभी समान होते हैं। महाराज न तो सिंहासन पर बैठे राजा की भूमिका निभा सके और न ही परिवार में पिता की। पितामह को मैं क्या कहूँ; अपनी ही प्रतिज्ञा में बँधे आज वह कहाँ खड़े हैं; उनके पास अपना इतना स्वाभिमान

भी नहीं बचा कि वह इस जघन्य कृत्य की निंदा कर सकें... ऐसा कुछ तो कहते जिससे मेरी पीड़ा कम होती। ये भरतवंशियों के गौरव हैं?

यदि किसी ने कुछ कहने का साहस किया तो वह कौन था? महामंत्री विदुर... दासीपुत्र, राज्य से वेतन पाने वाले एक कर्मचारी और दूसरा विकर्ण, दासी के गर्भ से उत्पन्न महाराज का पुत्र... इसके अतिरिक्त कौन? कोई नहीं। तो क्या इस भरतवंश का सदाचार, धर्म, चरित्र और विवेक सब पीढ़ियों से दासियों के गर्भ में ही फलता फूलता रहा और पद्महिषियों का गर्भ केवल कुलांगारों को ही जन्म देता रहा है?

जब दुर्योधन ने अपने स्थान पर शकुनि के पाशा फेंकने का प्रस्ताव रखा और महाराज युधिष्ठिर ने विरोध में कहा कि, “दूसरे के लिये दूसरे का जुआ खेलना मुझे अनुचित लगता है।” तो क्यों नहीं सभा ने युधिष्ठिर के कथन का अनुमोदन किया? अन्य खेलों की भाँति जुआ भी नियम के अधीन खेला जाता है, तो क्या युधिष्ठिर को छलने के लिये नियम में मनमाने परिवर्तन क्यों किये गये? तब पितामह की धर्म बुद्धि कहाँ थी? तो क्या ये भरतवंशी, गुरुजन और महाराज धृतराष्ट्र वहाँ छल कपट को संरक्षण देने के लिये ही बैठे थे?

जुए में खेलने वाला ही धन लगाता है। यदि शकुनि खेल रहे थे तो उन्होंने अपना क्या दाँव पर लगाया था? दूसरे के धन को दाँव पर लगाकर खेलना क्या मान्य है? यदि शकुनि हारते और दुर्योधन दाँव में लगाये धन को देने से मना कर देते तो यह सभा किस ‘न्याय’ से वह धन महाराज युधिष्ठिर को दिलवाती? मेरे प्रश्न के उत्तर में पितामह ने कहा था “जो स्वामी नहीं है वह पराये धन को दाँव पर नहीं लगा सकता, तो पितामह का यह स्वर शकुनि के संदर्भ में क्यों नहीं उठा था? क्यों नहीं किसी ने शकुनि के पाशा फेंकने का विरोध किया? निमंत्रण तो महाराज युधिष्ठिर ने भाइयों के साथ खेलने का स्वीकार किया था। शकुनि भरतवंशी नहीं थे, भरतवंश की पुत्रियों की संतान भी नहीं थे, पद में भी समान नहीं थे। संबंध के आधार पर यदि वे खेलते, तो महाराज धृतराष्ट्र के साथ खेलते? अपनी संतान तुल्य भान्जे के साथ कपट करते रहे, अनुचित दाँव लगवाते रहे और सभा मौन बनी रही।

महाराज युधिष्ठिर का भी दोष था। यदि जुआ खेलने के निमंत्रण से पीछे न हटना उनका नियम था, तो अनीति का विरोध करने का अधिकार भी। क्यों उन्होंने अनीतिपूर्ण नियम के अंतर्गत जुआ खेला? वे इस नियम पर प्रश्न उठा सकते थे, विरोध स्वरूप खेल से विमुख हो सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया।

कितने ही प्रश्न मस्तिष्क को मथ रहे थे। अभी विश्राम करके चलते हुए एक घड़ी भी नहीं हुआ होगा कि अचानक वाहकों ने शिविका भूमि पर रख दी। मैंने शिविका के साथ साथ चलने वाली दासी से कारण पूछा। दासी ने बताया कि, “हस्तिनापुर नरेश के दो अश्वारोही दूत, महाराज की सेवा में पत्र देकर कुछ निवेदन कर रहे हैं।” मैंने उसे पूरी सूचना लाने के लिये कहा, किन्तु वह असफल रही।

हाथियों, रथों और शिविकाओं को वापस हस्तिनापुर के राजपथ पर मोड़ दिया गया। मैं आश्चर्यचकित थी कि क्यों सभी लोग हस्तिनापुर वापस लौट रहे हैं; सभी स्वस्थ तो हैं न, कोई अनहोनी तो नहीं हो गयी। कोई मेरी शंकाओं का समाधान क्यों नहीं करता है?

13. अरण्य

मैं काम्यक वन में विशाल वृक्ष के नीचे कांपित्य नगर से आये अपने भाइयों से घिरी बैठी उन्हें सारा वृत्तांत सुना रही थी। युम्न की आँखें क्रोध से लाल थीं। रह रह कर उनकी आँखों में मेरी पीड़ा तैर जा रही थी। मैं प्रयास कर रही थी कि मेरा दुःख दुःसह रूप में इनके समक्ष न प्रकट हो, फिर भी रह रह कर धैर्य छूट जाता था, मैं अधीर हो उठती थी।

उठकर पानी पिया और संयत होकर आगे कहने लगी, “सब लोग वापस हस्तिनापुर की ओर मुड़ गये; मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था कि पत्र में क्या लिखा है, किन्तु मन आशंकित अवश्य था। अंतःपुर के द्वार पर वाहकों ने शिविकाओं को उतार दिया। मैं पूर्ववत् एक वस्त्रा थी। मैंने ऊपर से पीताम्बर से स्वयं को ढक रखा था... मेरे केश वैसे ही बिखरे हुए थे। द्वार पर कोई राज परिवार का सदस्य नहीं था। सेविकाओं ने ही आगे बढ़कर हम दोनों की अभ्यर्थना की। मैं और माता एक कक्ष में बैठ गये। हमें अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं था।

परिवार सकुशल था, इस कारण एक नई चिन्ता मुझे घेरने लगी। मैं पुनः अपने अस्तित्व को लेकर चिंतित हो गयी कि यदि परिवार सकुशल है तो हमें मार्ग से क्यों वापस बुलाया? कोई नया षड्यंत्र तो नहीं रचा जा रहा था। दासियों से भी कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। माता ने काका विदुर को संदेश भेज कर बुलाया, किन्तु न तो वे सभा में थे और न ही अपने निवास पर।

पाण्डव सभा में ही बैठ गये थे। हमने अनिच्छा से थोड़ा सा जल पिया। बाहर सभागृह में क्या हो रहा था हमें कुछ भी ज्ञात नहीं था। मैं भय और चिन्ता से घिरी बैठी थी। थोड़ी देर बाद युम्न ने मुझसे पूछा, “माता ने विदुर से सब कुछ जानने के बाद भी युधिष्ठिर को हस्तिनापुर जाने से मना नहीं किया?”

“नहीं; वे निर्विकार थीं... हाँ, उन्होंने स्वयं हस्तिनापुर चलने की इच्छा अवश्य प्रकट की थी और महाराज ने मुझे चलने का आदेश दिया था।”

“तुम्हें नहीं जाना चाहिये था।”

“हाँ, मुझे भी ठीक नहीं लगा, किन्तु महाराज का आदेश था।” युम्न चुप हो गये। उन्हें मेरे अपमान में पूर्व नियोजित षड्यंत्र का आभास हो रहा था। मैंने पुनः कहना आरम्भ किया, “लगभग एक घड़ी बाद मेरी दासी भागती हुई आयी और रोते रोते इतना ही कह पायी कि, “महारानी! अनर्थ हो गया, महाराज ने आपके और अपने सभी भाइयों के साथ वनवास की शर्त पर जुआ खेला और हार गये। कौरव पुत्र, विजय से उन्मत्त होकर महाराज और भाइयों को अपशब्द कहते हुए उनका अपमान कर रहे हैं।” मैं सन्न रह गयी। कुछ ही क्षण में सम्पूर्ण राजभवन में यह बात फैल गयी कि युधिष्ठिर ने सभी भाइयों और द्रौपदी के साथ बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास की शर्त पर जुआ खेला और हार गये।

गुरुजनों ने कहा भी था कि, “पहले शकुनि ने पासा फेंका था इस बार तुम फेंको” किन्तु शकुनि स्वयं पासा फेंक कर जीत गया। महाराज ने इस पर कोई प्रश्न नहीं उठाया और न ही किसी सभासद ने इसे अनुचित कहा। महाराज युधिष्ठिर, सभी भाइयों के साथ अपने राजसी वस्त्र उतारकर मृगचर्म धारण करके वनवास की दीक्षा ले रहे हैं। दुर्योधन उन्मत्त होकर चिल्ला रहा था धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन का समस्त भूमण्डल पर राज्य हो गया। वे भाँति भाँति के अपमानजनक

शब्दों से पाण्डवों की और मेरी हँसी उड़ा रहे थे।

सभी चुप थे। भीमसेन ने क्रोध के साथ विरोध किया, “तुमने छल से दाँव जीता है; चौदहवें वर्ष में यदि हमारा श्री सम्पन्न राज्य ससम्मान नहीं लौटाया तो मैं युद्ध में तेरे हृदय को विदीर्ण करके इस उपहास की याद दिलाऊँगा और जो तेरे पीछे पीछे चल रहे हैं, उन्हें उनके संबंधियों सहित यमलोक पहुँचाऊँगा।” युधिष्ठिर रोक रहे थे, अन्यथा भीमसेन उसे उसी समय जिन्दा न छोड़ते।

काका विदुर ने माता को अपने घर में रखने का अनुरोध करके उन्हें वहीं रोक लिया और हम सबको भाँति भाँति से समझाया। मैं माता कुंती की आज्ञा लेकर उसी समय राजप्रासाद से निकल आयी। हम लोगों के यहाँ पहुँचने के बाद इन्द्रप्रस्थ से पूरा परिवार यहीं आ गया।

काका विदुर ने अपने संरक्षण में हमारे अस्त्र शस्त्र एवं अन्य आवश्यक सामग्रियों को यहाँ पहुँचवाया। यह परिसर और कुटिया महामंत्री ने बनवाया और आवश्यक सामग्री के पूर्ति की व्यवस्था की। महामंत्री चाहते थे कि हम लोग इन्द्रप्रस्थ के निकट वन में निवास करें और वहीं से बारह वर्षों तक राज्य की व्यवस्था देखते रहें, क्योंकि जुए में दाँव वनवास का था, राज्य का नहीं... किन्तु दुर्योधन के कारण यह संभव नहीं हो सका।” सभी क्रोध और अपमान से भरे सुन रहे थे। मैं अपनी आपबीती सुनाकर चुप हो गयी।

दुम्न अपने साथ धन धान्य, वस्त्र, पात्र आदि लेकर आये थे और आवश्यकतानुसार निरंतर आपूर्ति की व्यवस्था भी करना चाहते थे, किन्तु मैंने मना कर दिया, क्योंकि युधिष्ठिर ने सूर्य देवता की आराधना करके बारह वर्षों के लिये अक्षय पात्र प्राप्त किया था, जिसमें से हमारी आवश्यकता अनुसार कंद मूल फल तथा चार प्रकार का भोजन तब तक निकलता रहता, जब तक कि मैं भोजन न कर लूँ। मेरे भोजन करने के पश्चात् अक्षय पात्र दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिये रिक्त हो जाता था और मैं उसे साफ करके रख देती थी।

कुछ अंतर पर सखा के साथ वृष्णि, अंधक और भोज वंश के राजकुमार बैठे थे। वेदि राज और कैकेय कुमार सभी सखा से जानना चाहते थे कि अब क्या किया जाये। श्रीकृष्ण सब कुछ सुनकर क्रोधित थे और कहने लगे, “लगता है पृथ्वी शकुनि, दुर्योधन, दुःशासन आदि का रक्त पान करेगी; छल से धन हरण करने वालों को मार डालना चाहिये यही सनातन धर्म है।”

मैंने श्रीकृष्ण को कभी क्रुद्ध नहीं देखा था। मेरे सखा तो कोमल, संवेदनशील, सहृदय थे; क्रोध, असत्य, निर्दयता तो उन्हें छू भी नहीं सकी थी... आज ही मैं सखा की कौरवों के प्रति कठोरता और क्रोध को देख रही थी।

पार्थ उन्हें शांत करने का प्रयास करने लगे तो सखा ने कहा, “पार्थ! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा; जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी द्वेष रखता है, मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ।” पार्थ और सखा का वार्तालाप सुनकर मैं भाइयों के पास से उठकर सखा के पास गयी। आज श्रीकृष्ण मेरे सखा नहीं थे, मैं आज ऋषियों द्वारा वंदित, साक्षात् परम ब्रह्म के पास आयी और उनके चरणों के पास बैठकर दोनों हाथों से उनके चरण पकड़ लिये। सखा चौंक गये... इतना हीबोल सके, “सखी...” मैं बात पूरी होने से पहले ही बीच में बोल पड़ी, “नहीं प्रभु! मैं आज आपकी सखी नहीं, आज मैं आपकी शरण में हूँ; ऋषिगण आपको ही सम्पूर्ण जगत का सृष्टा और प्रजापति कहते हैं, आप ही विष्णु हैं आप ही श्री हरि हैं... स्वर्ग लोक आपके मस्तक और पृथ्वी आपके चरणों में व्याप्त है, आकाश, दिशायेँ, सौर-मण्डल सब आपके ही अंदर हैं इसलिये निराश हताश होकर अब मैं आपके शरण में आयी हूँ; आप मेरी श्रद्धा हैं, शिखर पुरुष ही श्रद्धा के योग्य होता है और मेरी श्रद्धा

आपसे आरम्भ होकर आप पर ही समाप्त होती है। आपने मुझे अपनी सखी बनाया, इसी कारण आप से प्रेम करती हूँ क्योंकि प्रेम में दोनों की भावनायें एक समान ही पवित्र होती हैं। प्रेम में दो आत्माएँ एक हो जाती हैं, एक रस में घुल जाती हैं... प्रकृति के नियम के कारण दो शरीर अलग अलग दिखाई देते हैं; मेरे हृदय के प्रेम की धारा सदैव आपकी ओर ही बहती रही है। सखा! प्रेम के कारण आप पर जो मेरा अधिकार है उसी के कारण मैं अपना दुःख आपसे कहूँगी।” इतना कहते कहते मेरी रोकी रुलाई फूट ही गयी।

सखा मेरे सिर को सहलाने लगे और मैंने उनके पैरों को छोड़कर उनकी वही भुजा पकड़ ली और सखा की ओर देखने लगी। क्रोध, पीड़ा और अपमान सब कुछ एक साथ फूट पड़ा, “हे श्रीकृष्ण! मेरी जैसी स्त्री, जो पाण्डवों की पत्नी, द्युम्न जैसे पराक्रमी वीर की बहन है और आपकी सखी है, क्या किसी प्रकार से केश पकड़कर घसीट कर सभा में लाई जा सकती है? हे गोविन्द! मैं रजस्वला थी, मेरे वस्त्रभीग गये थे; मुझे उस स्थिति में देखकर धृतराष्ट्र के पापी पुत्रों ने जोर जोर से हँसकर मेरी हँसी उड़ाई... हे वासुदेव! पाण्डवों, कुरु और वृष्णि वंशीय वीरों के जीते जी कौरवों ने दासी भाव से मेरा उपभोग करने की इच्छा प्रकट की; हे बनवारी! मैं धर्मतः धृतराष्ट्र और भीष्म दोनों की पुत्रवधू थी, तो भी उनके सामने अन्यायपूर्वक दासी बनायी गयी, हे घनश्याम! मैं इन पाण्डवों की निंदा करती हूँ जो अपनी पत्नी को अपमानित देखते रहे। हे माधव! भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन और उनके गांडीव को भी धिक्कार है, जिस पर अर्जुन भीम और आपके अतिरिक्त कोई प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ा सकता है। हे मधुसूदन! निर्बल व्यक्ति भी अपनी पत्नी की रक्षा करता है क्योंकि वह उनकी ही आत्मा को संतान के रूप में जन्म देती है; इनसे उत्पन्न मेरे पाँच पुत्र हैं जिनकी देखभाल के लिये भी इन्हें मेरी रक्षा करनी चाहिये थी। हे जनार्दन! ये पाण्डव सदा से शरणागत रक्षक हैं, किन्तु इन्होंने मेरी रक्षा का प्रयास नहीं किया।” मेरी बाणी मेरे रुदन से अवरुद्ध हो गयी। सखा मेरी पीठ पर हाथ रख कर मुझे सांत्वना देने का प्रयास करने लगे। पता नहीं कब मैंने पकड़ी हुई उनकी भुजा पर अपना मस्तक रख दिया था और फफक फफककर रोने लगी। सखा की भुजाओं पर पड़ा उनका पीताम्बर मेरे आँसुओं से भीगता रहा और सखा का दूसरा हाथ मेरे सिर और पीठ पर सांत्वना के लिये थपकी देता रहा। समय धीरे से बीता।

मैंने अपने को संयत करके सिर उठाया। दुःख के नीचे दबा क्रोध, दुःख के कम होने से पुनः फूट पड़ा, “हे अनंत! वे नीच मेरा अपमान करके जीवित घूम रहे हैं और मैं अपमान की अग्नि में निरंतर जल रही हूँ। हे केशव! मेरे लिये न तो पति है न पुत्र, न माता-पिता न भाई और न ही आप; क्योंकि उन नराधमों द्वारा जो मेरा अपमान हुआ है, उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, मानों इसके लिये उनके हृदय में तनिक भी दुःख नहीं है। यदि धर्मराज धर्म से बँधे हैं और उन पापियों का वध नहीं कर सकते, तो मेरे पिता भाई, मेरा पुत्र प्रतिबिन्ध्य आपके साथ उन पापियों का नाश करें। मेरे भाई शिखण्डी अनाचार को न रोकने वाले भीष्म का वध करेंगे, धृष्टद्युम्न का जन्म ही द्रोण वध के लिये हुआ है और आप स्वयं अपने हाथों से दुर्योधन, दुःशासन आदि को यमलोक भेजें।” क्रोध में मेरे कण्ठ से अनुरोध के स्थान पर आदेश का स्वर निकल रहा था, क्योंकि इसके बिना मेरे हृदय से इस अपमान का क्रोध और दुःख दूर नहीं होगा। हे यदुनंदन! चार कारणों से आपको मेरी रक्षा करनी चाहिये... एक तो आप मेरे संबंधी हैं, यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न होने के कारण मैं गौरवशाली हूँ, तीसरे मैं आपकी सच्ची सखी हूँ और चौथी आप मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं।” इतना कह कर मैं

चुप हो गयी।

“कृष्णे! सखा ने धीरे से कहा। कुछ समय पूर्व का क्रोध और दुःख का आवेग कम हो गया था। मैंने आँचल से आँसुओं को पोंछा... तुम ठीक कहती हो, मुझे हर प्रकार से तुम्हारी रक्षा करनी चाहिए थी, किन्तु उस समय मैं शिशुपाल के भाई और मित्र शाल्व के साथ युद्ध कर रहा था। शिशुपाल के वध से शिशुपाल का मित्र शाल्व बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने द्वारका पर आक्रमण करने की योजना बनाई। मैंने भी अवन्ति नरेश और कुंतिभोज से मिलकर एक गुप्त योजना बनाई और द्वारका से अपनी विशाल सेना लेकर चल पड़ा। मैंने मध्य देश और भोजपुर में यह अफवाह फैलवा दी कि मैं सेना लेकर मणीपूर की ओर जा रहा हूँ। शाल्व यह सुनकर, कि मैं अपनी सेना लेकर द्वारका से दूर जा रहा हूँ, अर्बुद पर्वत पर स्थित अपनी राजधानी मन्त्रिकावती से सेना लेकर नीचे उतरा और द्वारका की ओर बढ़ा। मैंने भी दशार्ण राज्य पार करके अर्बुद पर्वत की तलहटी में घेरा डालकर शाल्व के राजधानी वापस लौटने का मार्ग बंद कर दिया। मैंने उसकी राजधानी को घेर लिया है, यह सुनकर शाल्व अपने यांत्रिक विमान शौभ पर सवार होकर तत्काल लौटा और मुझसे युद्ध करने लगा।

अचानक मुझे लगा कि तुम संकट में हो और मुझे पुकार रही हो, उसी क्षण मैंने सुदर्शन का आवाहन करके शाल्व को उसके विमान के साथ नष्ट कर दिया और अपना उत्तरीय उसे सौंपकर विदा कर दिया था। सखी! उस समय यदि मैं द्वारिका में होता तो बिना बुलाये ही कुरु सभा में चला जाता और जुए को निंदित बताकर उसे रोकता... न रुकने पर जो धृतराष्ट्र का साथ दे रहे थे, उन्हें मार डालता। मैं शाल्व शृंगाल आदि का, युद्ध में वध करके तत्काल वहाँ से चल पड़ा। मार्ग में मुझे सारी घटनाओं का पता चला और मैं सीधे तुम्हारे पास चला आया। सखी! मैं जानता हूँ तुम मुझसे अत्यधिक प्रेम करती हो; उसी प्रेम के कारण मैं तुम्हारे वशीभूत हूँ। तुम्हारा प्रेम, श्रद्धा और समर्पण का भाव मुझसे छुपा नहीं है। तुम मुझसे कितना प्रेम करती हो यह तुम स्वयं भी नहीं जानती, किन्तु सखी मैं जानता हूँ और मैं आज तुम्हारे समक्ष स्वीकार कर रहा हूँ कि मुझे इतना प्रेम विश्वास और श्रद्धा देने वाला इस जगत में तुम्हारे सिवा कोई अन्य नहीं है, पार्थ भी नहीं। हाँ सच कह रहा हूँ; इसी से मैं अत्यधिक पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। मैंने अपनी पीड़ा को दबा रखा है ताकि तुम्हारी पीड़ा और दुःख को सँभाल सकूँ, नहीं तो मेरी पीड़ा के शतांश का भी तुम्हें अनुभव होगा तो तुम अपना दुःख भूलकर मेरे लिये विह्वल हो जाओगी। सखी! तुम्हारे साथ जिसने यह अन्याय किया है, उसने मेरे मस्तक पर पद प्रहार करने का दुरसाहस किया है।... कुछ समय पश्चात इनकी पत्नियाँ अर्जुन के बाणों और भीम की गदा से विक्षत अपने पतियों के शव से लिपटकर रोयेंगी।... सखी, तुम्हारे अपमान का लेने के लिये जो कुछ भी संभव है सब करूँगा... मैं शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम तेरह वर्ष पश्चात रानी बनोगी; भले ही पृथ्वी के टुकड़े टुकड़े हो जायें, सूर्य चन्द्र नष्ट हो जायें, मेरी बात झूठी नहीं होगी।

मेरे जीते जी तुम्हें अपमानित होना पड़ा, इसके लिये तुमसे क्षमा प्रार्थी हूँ; तुम्हारे विश्वास की रक्षा न कर सका।” उन्होंने अपने दोनों हाथों से मेरे पैर पकड़ लिये।

मैं चीख पड़ी, “ये क्या कर रहे हैं आप?” मैंने उनका हाथ पकड़ लिया और कुछ ही क्षण में छोड़ दिया।

“अपनी अकर्मण्यता की क्षमा माँग रहा हूँ।” सखा ने धीरे से कहा। मेरा क्रोध समाप्त हो गया। सखा ने स्नेह से पुनः कहा, “तुम मेरी सखी हो, सखी कभी शरण नहीं मागती, वह सदैव हृदय

में रहती है; हमारा संबंध तो प्रेम और समानता का है, जैसा कि तुमने स्वयं कहा है।” मैं शांत हो गयी। इतने दिनों से हृदय में संचित पीड़ा का हिमनद, सखा के स्नेह, अपनत्व के ताप से पिघलकर बह गया। कितना बहा, नहीं जानती, किन्तु यह अब हृदय में एक निश्चय की भाँति रहेगा, न कि दिन रात विक्षिप्त कर देने वाली पीड़ा की भाँति।

इन्द्रप्रस्थ से पूरा परिवार काम्यक वन आ चुका था। इस विषम स्थिति में दस बालकों की क्रीड़ा कुछ क्षण के लिये ही सही, सारी पीड़ा को भुला देती थी। सहदेव पुत्र श्रुतकर्मा सबसे छोटा है, वह सब कुछ परिवर्तित देखकर विस्मित रहता है... शेष बालकों के लिये सब कुछ कौतूहल था।

बालक प्रश्न करते थे। उनकी वस्तुएँ और खिलौने इन्द्रप्रस्थ में थीं, वे बार बार इन्द्रप्रस्थ चलने के लिये हठ कर रहे थे। नवीन वन प्रदेश कुछ समय के लिये तो उन्हें अच्छा लगा, किन्तु रात्रि का अंधकार होते ही वे इन्द्रप्रस्थ चलने के लिये हठ करने लगते। प्रतिबिन्ध्य प्रश्न करता था, मैं उसे क्या समझाती और कैसे समझाती कि जुआ क्या है और उसके पिता ने कैसे खेल खेल में हम सबके जीवन से ही खिलवाड़ कर डाला।

धीरे धीरे लोग बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास का सत्य समझकर धैर्य दे और धैर्य रखकर लौटने लगे। चेदिराज कृष्णकेतु अपनी बहन करेणुमति और उसके पुत्र निरामित्र को लेकर लौट गये; कैकेय कुमार विजया और सुहोत्र को लेकर वापस चले गये। आज द्युम्न भी मेरे पुत्रों को लेकर कांपित्य नगरी वापस जा रहे हैं। मुझे बहुत पीड़ा हो रही है। श्रुतकर्मा को मेरे बिना नींद नहीं आती है, वह थोड़ी देर में चौंक कर उठ जाता है। मेरा कलेजा फट रहा था। उसे छाती से लगा कर बैठी रही और वह मेरी गोद में ही सो गया। उसकी दासी ने उसे मेरी गोद से लिया। द्युम्न मेरी पीड़ा नहीं सह पा रहे थे, झटपट सब बालकों को बहला फुसला कर उनके सेवकों और दासियों के साथ रथ में बैठकर तीव्र गति से परिसर से बाहर निकल गये। आज सखा भी सुभद्रा और अभिमन्यु को लेकर द्वारका वापस जा रहे हैं उन्होंने युधिष्ठिर भीम को प्रणाम किया, अर्जुन को छाती से लगाया, नकुल सहदेव ने उन्हें प्रणाम किया सुभद्रा मुझे प्रणाम करके रथ में बैठ गयी।

सखा ने जाने का कार्यक्रम बनाया तो मेरा अंतर्मन चीत्कार करने लगा। अपमानित पीड़ित मैंने इस वन में सखा को देखकर धैर्य धारण किया था, अपना सारा दुःख और अपमान सखा को सौंपकर धीरे धीरे मन को स्थिर कर रही थी... किन्तु आज सखा को वापस जाता देखकर यत्न से सँभाला धैर्य छूट गया। जी में आ रहा था कि कह दूँ कि सखा मुझे भी अपने साथ ले चलो, वहीं किसी निकट वन में रह कर अवधि पूरी कर लूँगी, किन्तु नहीं कह सकी।

हृदय पहले से रो रहा था... धीरे धीरे हृदय से निकलकर रुदन कंठ में आ गया। मैं सखा के समक्ष आने का साहस नहीं जुटा पा रही थी। लगता था उनके सामने आते ही बिखर जाऊँगी और कुटीर में ही बैठी रही। सखा स्वयं विदा लेने आये। मुझे उनके मुख की ओर देखने का साहस नहीं हुआ। देखती तो बचा खुचा धैर्य भी छूट जाता। सिर झुकाये खड़ी रही। सखा सामने आकर खड़े हो गये। मेरी बाणी अवरुद्ध थी। उन्हें प्रणाम करने के लिये झुकी तो वहीं बैठ गयी। अपनी हथेलियाँ उनके दोनों पैरों पर रख दी। आँसू टप टप उनके पैरों पर गिरते रहे। सखा ने मेरे सिर को थपथपाया, तब जाकर मुझे चेत हुआ। पैरों के ऊपर से हथेलियाँ हटा ली, मानों उन्हें अनुमति दे दी कि मुझे, अपनी सखी को छोड़कर जाओ। सखा मेरे पास भूमि पर बैठ गये और मेरे हाथों को धीरे

से अपने हाथों में थाम कर बोले, “सखी! हमारा संबंध एक विश्वास का है, इस विश्वास को हृदय में सहेज कर रखना, कभी भी इसे कमजोर न होने देना; मैंने तुम्हें जो वचन दिया है वह जब तक पूरा नहीं हो जाता, तब तक मेरा जीवन और कर्म उसी वचन को समर्पित है, मैं शीघ्र ही आऊँगा।”

मैं उठकर खड़ी हो गयी। सखा के साथ उनके रथ तक आयी। मन सँभल गया था। सखा की शक्ति और वचन का विश्वास मुझे पहले से ही था, किन्तु आज सखा के कथन ने मेरे विश्वास को एक बार फिर से सहला दिया। धीरे धीरे रथ आँखों से ओझल हो गया और मैं कुटिया में लौट आयी।

* * *

वन्य जीवन की नीरवता धीरे-धीरे हमारे जीवन में भी उतर आयी। सभी पाण्डव अधिकांशतः मौन रहने लगे। शब्दों के बाण केवल मेरे कंठ से ही निकलते थे.. अग्नि केवल मेरे हृदय में ही स्थापित थी, जो अवसर पाते ही दग्ध हो जाती और तब उसकी लपटों से कोई भी नहीं बच पाता... विशेष करके युधिष्ठिर तो कदापि नहीं।

आज भी मैं चुपचाप बाहर बैठी थी। ऊपर से मैं जितनी गंभीर और शांत होती, मेरे भीतर की अग्नि उतनी ही प्रखर होती थी। मैं देख रही थी, वृक्ष की छाया में चटाई पर बैठे युधिष्ठिर अलसा करके लेट गये और तत्काल उन्हें निद्रा आ गयी।

अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि वन में जीवन यापन की सामग्री एकत्र करने के लिये गये थे। इस तीव्र गर्मी में शेष सभी भाई तप रहे हैं और ये सुख निद्रा में निमग्न हैं, देखकर मुझे क्रोध आ गया। क्रोध तो हृदय में दबा ही था, उसे निकलने का अवसर मिल गया। कुटिया के बाहर कुछ पते गिरे थे, झाड़ू उठा कर उन्हें दुबारा बुहारने लगी। मन का क्रोध पतों पर निकल रहा था। मैं इतनी शक्ति और क्रोध से उन्हें बुहार रही थी मानों युधिष्ठिर के भीतर की शांति और अकर्मण्यता को बुहार कर फेंक देना चाहती हूँ।

स्वर स्वर की ध्वनि शब्द से युधिष्ठिर की निद्रा टूट गयी। मेरी मुख मुद्रा कठोर थी। युधिष्ठिर ने प्रश्न वाचक दृष्टि से मुझे देखा। “आपको असमय निद्रा कैसे आ जाती है?” मेरा स्वर तेज था। युधिष्ठिर मौन रहे। “मेरा और अपने भाइयों का कष्ट देखकर भी आपको कष्ट नहीं होता? उन पापियों ने छल और अधर्म से हम सबको कष्ट में डोंक दिया और स्वयं आनंदित हो रहे हैं, यह देखकर आपको क्रोध नहीं आता? आप सब इस कष्ट के निवारण में समर्थ हैं फिर भी असमर्थ होकर बैठे हैं यह देखकर मुझे बहुत पीड़ा होती है। भीम ने अपने बल से जरासंध को चीरकर फेंक दिया था आज वह अपने बल का प्रयोग वनवासियों के लिये लकड़ी काटने और चीरने में लगाते हैं; अर्जुन, जिन्होंने समस्त नरेशों को जीतकर उनके मस्तक को आपके चरणों में नत करा दिया था, वे दिन-रात आपके कुकर्म के कारण कर्महीन होकर सिर नीचे किए हुए चिंतित बैठे रहते हैं। नकुल की तलवार का कोई सामना नहीं कर सकता, सहदेव शूरवीर हैं... इन सबको विवशता से तड़पता देखकर आपको उन दुष्टों पर क्रोध क्यों नहीं आता जिन्होंने हम सबको छल और अधर्म से कष्ट में डाला है?” मैं चुप होकर युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया जानने के लिये उनके मुख की ओर देखने लगी, किन्तु वह आज भी सिर झुकाये शांत बैठे रहे। मैंने पुनः कहना आरम्भ किया, “मेरे साथ इतना सब कुछ होने के बाद भी आप कौरवों के लिये क्षमा भाव कैसे रखते हैं? क्या उन्होंने छल और अन्याय से आपको नहीं हराया? उनके छल कपट को पितामह ने भी छल कहा था और आपके द्वारा छल को छल न मानने के विषय में आपका धर्म क्या कहता है?”

मेरे क्रोध को उत्तरोत्तर बढ़ता देखकर युधिष्ठिर मुझे शांत करने की चेष्टा करने लगे

“पांचाली, क्रोध न करो, क्रोध नाश का मूल होता है; जो बदले में क्रोध नहीं करता है वह दूसरों को भय और कष्ट से बचा लेता है।”

“आप किसे भय और कष्ट से बचा रहे हैं और किन निरपराधियों को भयानक यातना दे रहे हैं, इस पर आपने अपनी धर्म बुद्धि से कभी विचार किया है? मैं ईश्वर से प्रश्न करती हूँ कि क्यों उन्होंने आपके मति में भ्रम उत्पन्न कर दिया और कपट से फेंके गये दाँव में आप हम सबको हार गये... आप सरल सत्यवादी और धार्मिक हैं, पर न जाने कहाँ से जुआ खेलने का व्यसन आपके भीतर आ गया।”

“मैं कर्म को कर्तव्य समझ कर करता हूँ, फलों की इच्छा से नहीं, यह मेरा स्वभाव है; अपने अपने कर्मों का फल मनुष्य प्राप्त ही करता है, चाहे इस जन्म में चाहे अन्य जन्म में।” युधिष्ठिर निर्विकार भाव से बोले।

“मैं ईश्वर पर अविश्वास नहीं करती... मनुष्य जो कुछ ईश्वर से पाता है, उसे भाग्य कहा जाता है, किन्तु जो कुछ कर्म से प्राप्त होता है वह पुरुषार्थ होता है।”

भीमसेन देर से हमारा वार्तालाप सुन रहे थे, उन्होंने भी युधिष्ठिर को उत्तेजित करने का प्रयास किया, “हमारा जो राज्य छल और अधर्म से उन पापियों ने छीन लिया है उसे आप श्रेष्ठ पुरुषों के लिये उचित और धर्मानुकूल मार्ग, युद्ध से जीतकर क्यों नहीं वापस ले लेते? मुझे तो लगता है कि आप धर्म धर्म कहते हुए शत्रुओं के अपराध को क्षमा करते जा रहे हैं, इससे आप साहस शून्य हो गये हैं और आपका आत्म विश्वास क्षीण हो गया है?”

“पासों को मायावी ढंग से पड़ते देखकर मैं क्रुद्ध हो रहा था; यदि क्रोध न आता तो मैं स्वयं को रोक लेता, किन्तु न रोक सका। आसक्त हुए मन को पुरुषार्थ, अभिमान, पराक्रम किसी भी प्रकार से नहीं रोका जा सकता है। जब मैं दाँव लगा रहा था, तब तुमने क्यों नहीं रोका?” युधिष्ठिर ने अंत में भीम से ही प्रश्न किया।

भीमसेन ने शांत स्वर में युधिष्ठिर को समझाने का प्रयास किया, “हम वन में धर्म, अर्थ और काम से वंचित होकर अब क्या प्राप्त कर रहे हैं? आप अपने धर्म की इच्छा के कारण हम सबको कष्ट दे रहे हैं, क्योंकि इसमें आपकी प्रतिष्ठा है। याचक घर घर घूम कर आपके धर्म का गुणगान करके भिक्षा माँगेंगे, क्योंकि भिक्षा प्राप्ति के लिये दीनता और धर्म ही आधार बनता है; आप याचक ब्राह्मणों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करेंगे, किन्तु हमारा क्षत्रिय समाज आपके इस ‘दैन्यं पलायनं’ का उपहास करता होगा कि, पाण्डवों ने वनवास की शर्त पर जुआ खेला था, युद्ध न करने की शर्त पर तो नहीं... और हमारे आचरण और पराक्रम पर भी प्रश्न लगाता होगा, मनमाने उत्तर भी गढ़ लेता होगा... यदि वे प्रश्नोत्तर हमारे कानों में पड़ेंगे तो हमें कितनी पीड़ा होगी। हम पर कोई मिथ्या आरोप तो करेगा नहीं, हमारे कर्मों से ही प्रश्न उठायेगा और उत्तर ढूँढ़ेगा; शीघ्र ही यह समाज हमारे पराक्रम को भूलकर हमारे अपमान और दीनता का ही वर्णन करेगा, हमें दया का पात्र समझेगा। क्षत्रियों के लिये अपमान से बढ़कर कोई पीड़ा नहीं और न ही युद्ध क्षेत्र में वीरगति प्राप्ति से बढ़कर कोई सम्मान है; आप किस कारण हमें तेरह वर्षों तक अपमान की आग में जलने के लिये बाध्य कर रहे हैं? क्या आप चाहते हैं कि अपमान की आग में जलते जलते हम सब स्वयं नष्ट हो जायें? समाज में कौन से धर्म की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं आप? कौन से मूल्य स्थापित कर रहे हैं, कभी इस पर विचार किया है आपने!

“भीमसेन! मैंने अपना निर्णय सुना दिया है और मैं अटल हूँ; मैं बारह वर्षों का वनवास और

एक वर्ष के अज्ञातवास की अवधि पूरी करके ही अपना राज्य वापस माँगूँगा”

निर्णायक उतर सुनकर मैं कराह उठी। ईश्वर से मन ही मन प्रार्थना करने लगी कि, हे ईश्वर! हम लोगों में से कोई भी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न न हो; धन्य हैं वे ब्राह्मणद्वे जो भिक्षा से अपना निर्वाह कर लेते हैं। भीमसेन ने अंतिम प्रयास किया, “आप जो कर रहे हैं वह आत्महत्या है; हम सब दीर्घकाल तक अपमान की अग्नि में जलते जलते नष्ट हो जायेंगे जो जीवित बचेंगे वह आत्मबल हीन और शक्तिहीन होंगे... काल हम सबको तेरह वर्षों में भग्न कर डालेगा।”

मैं सोच रही हूँ कि क्या प्रत्येक अधर्म और अन्याय के आगे सिर झुकाने वाला व्यक्ति ही धार्मिक होता है? यदि हाँ, तो महाराज अपने धर्मराज होने का परिणाम स्वयं क्यों नहीं भोगते? प्रत्येक बार मुझे और अपने भाइयों को ही क्यों अपने धर्म पर बलिदान करते हैं?

महाराज युधिष्ठिर कौन से धर्म का अनुसरण करते हैं मैं कभी समझ ही नहीं पाई। अतीत में छोटे भाई की पत्नी पर माँ के समक्ष झूठ बोलकर और भ्रामक उतर को आज्ञा मानकर अधिकार जताकर सम्मिलित भोग की भिक्षा बना देते हैं, स्वयं के हार जाने पर पाँचों की सम्मिलित पत्नी को दाँव पर लगा देते हैं, कपटी व्यक्ति के साथ जान बूझकर जुआ खेलते हैं कपट उजागर होने पर भी उस कपट को कपट नहीं मानते हैं; इस प्रकार से क्या युधिष्ठिर छल कपट को धर्म संगत नहीं ठहरा रहे हैं? अधर्म को धर्म मानने वाले व्यक्ति के चरित्र को क्या धार्मिक व्यक्ति की श्रेणी में रखा जा सकता है? नहीं; तो फिर क्यों युधिष्ठिर का इस प्रकार का आचरण सबको मान्य होता है

जी मैं आता हूँ कि युधिष्ठिर से प्रश्न करूँ कि क्या पत्नी दासी होती है, निर्जीव वस्तु होती है, जिसका हस्तांतरण होता है? यदि नहीं, तो मुझे उन्होंने क्यों दाँव पर लगाया? मुझे दाँव पर लगाना धर्म संगत था या नहीं? महाराज उतर दें, मुझे पहली बार सभा में किए गये मेरे प्रश्न ‘स्वयं को हार जाने के बाद मुझे दाँव पर लगाने के अधिकारी हैं?’ का उत्तर उन्होंने मुझे सभा में नहीं दिया था, आज उस उत्तर को भी मैं सुनना चाहती हूँ। दुबारा खेलने के निमंत्रण पर क्यों उनकी बुद्धि इससे निवृत्त नहीं हो सकी? क्यों युधिष्ठिर के अन्याय का कोई विरोध नहीं करता? जब वे अपनी लिप्सा और हठ को शब्द जाल का आश्रय लेकर धर्म ठहराते हैं तो क्यों सभी मौन रह जाते हैं?

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने चारों दिशाओं के राजाओं को अधीन किया, जिसके लिये उन्हें कहीं कहीं आक्रमण भी करना पड़ा था, ताकि युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट हो सकें। जब युधिष्ठिर की इच्छा के लिये निरपराध राजाओं और सैनिकों पर आक्रमण धर्म संगत था, तो आज उन्हें छल कपट से परास्त करने वाले शत्रु पर आक्रमण करना क्यों अधर्म लग रहा है?

मुझे युधिष्ठिर की ‘धर्म बुद्धि’ और उनका ‘धर्म’ स्वीकार नहीं है... विवशता है मेरी, भीम आदि उन्हीं के आदेश से बँधे हैं; सखा। युधिष्ठिर का सम्मान करते हैं; उनके विरुद्ध मेरे पिता और भाई भी नहीं जा सकते। मेरी यही विवशता मुझे मौन होकर यह सब सहने पर विवश करती है। यह विवशता मुझे केवल मौन करती है, पराजित और शांत नहीं। विवशता से उत्पन्न क्रोध मेरे हृदय में अपमान की अग्नि को और अधिक प्रखर करती रहती है। मैं बहुत प्रयास से स्वयं को संयत करती हूँ कि यह अग्नि इतनी प्रचंड न हो जाये कि मुझे ही भस्म कर दे... किन्तु इस अग्नि का प्रज्वलित रहना आवश्यक है; उतनी ही मात्रा में जितनी कि पाण्डवों के हृदय को अपमान से दग्ध करती रहे, उनके शौर्य और पराक्रम को प्रखर करती रहे और ऊर्जा का स्रोत बनी रहे और

मैं यही करूँगी।

* * *

एक दिन महर्षि व्यास का आगमन हुआ। व्यास जी ने युधिष्ठिर से कहा कि तुम्हारे वनवास और अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने के पश्चात दुर्योधन जैसा कुटिल और लोभी व्यक्ति तुम्हारा राज्य व धन कभी नहीं लौटाना चाहेगा, अतः युद्ध को अवश्यंभावी मानकर अपने वनवास की अवधि को अपनी शक्ति को बढ़ाने में लगाओ, इसलिये अर्जुन हिमालय पर जाकर देवताओं की आराधना करके दिव्यास्त्रों को प्राप्त करें। व्यास जी के सुझाव का सभी ने स्वागत किया, बस प्रतीक्षा थी तो सखा की... उनके दर्शन के पश्चात पार्थ अपने लक्ष्य की ओर प्रस्थान करेंगे।

सखा काम्यक वन में पधारे हैं। उन्हें देखकर हम सब प्रसन्न हो गये। सभी गंभीर मुद्रा में बैठे विचार कर रहे थे कि किस प्रकार इन तेरह वर्षों में अपनी शक्ति का विस्तार किया जाये, ताकि यदि चौदहवें वर्ष में कौरव सम्मानपूर्वक राज्य और धन न लौटाये तो युद्ध करके उनसे अपना राज्य वापस लिया जाये। पाण्डवों के भीतर का क्रोध जाग्रत हो गया था। उन्हें अपना अपमान भूला नहीं था। भूलना तो दूर की बात, अपमान की स्मृति वैसी ही थी। यह सब देखकर मुझे अच्छा लगा। मैं नहीं चाहती थी कि पाण्डवों का क्रोध व अपमान क्षीण पड़े। मेरा मन युधिष्ठिर के विचार से कभी भी सहमत नहीं था और वनवास किसी भी प्रकार से धर्म सम्मत नहीं लगता था, इसी कारण पाण्डवों की शांति मुझे कभी कभी उनकी अकर्मण्यता और नपुंसकता तक लगने लगती थी।

पाण्डव क्यों नहीं समझते कि बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास उनकी शक्ति, पराक्रम और आयु को दिन दिन क्षीण कर रहा है और उनकी गरिमा, चारों दिशाओं में फैलने वाला यश, सब कुछ काल के गाल में समाता जा रहा है। राजसूय में युधिष्ठिर के चरणों में सिर झुकाने वाले नरेश अब दुर्योधन द्वारा राजसूय किये जाने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। बारह वर्ष किसी भी प्रकार कट भी गये तो अज्ञातवास कैसे पूर्ण होगा? भीम का असामान्य शक्तिशाली शरीर छुप पायेगा? शरीर पर गाण्डीव की रगड़ से उत्पन्न चिह्नों को पार्थ कैसे छिपायेंगे? नकुल सहदेव का सौन्दर्य और पराक्रम और मैं, विधाता के दिये इस अभिशप्त सौन्दर्य को कैसे छिपा पाऊँगी?

दोपहर के पश्चात मैं सूखे वस्त्रों को उतारकर तह कर रही थी कि सखा पीछे आकर खड़े हो गये। आभास पाकर घूमी तो सखा को चुपचाप खड़ा देखा, जैसे मुझसे कुछ कहना चाह रहे हों। मैंने अपनी प्रश्नवाचक दृष्टि उनके मुख पर टिका दी।

“कृष्ण! अपने नीलाभ केशों को समेटकर बाँध लो; ब्रीष्म ऋतु है तुम्हें कष्ट हो रहा होगा।” “नहीं सखा” मैंने दृढ़ता से उत्तर दिया। मन में आया कि सखा से कहूँ कि, सखा मैंने आपको अपना सर्वस्व सौंप दिया है किन्तु उसके बाद भी मेरे पास कुछ बचा रह गया है, वह मेरा अपना है नितांत अपना, जिस पर किसी का अधिकार नहीं है... कोई प्रेम संबंध उसमें भागीदार नहीं हो सकता, आप भी नहीं... वह मेरा स्वाभिमान है, जिसे मैं स्वयं कभी आहत नहीं करूँगी, किन्तु चुप रही।

“मत बाँधना सखी, मैं तो तुम्हारी दृढ़ता को परखने के लिये कह रहा था; तुम दृढ़ हो मैं जानता हूँ, किन्तु इन घटनाओं ने तुम्हारे विश्वास में दरार तो नहीं डाल दी है, बस यही देखना चाहता था और इसी कारण इन्हें बाँधने के लिये कहा... तुम्हारे ये खुले केश पाण्डवों को अपने

कर्तव्य का आभास कराते रहेंगे, तुम इनकी शक्ति, ऊर्जा, अपमान और घृणा को कम मत होने देना; तेरह वर्षों का समय बहुत अधिक होता है, किन्तु मुझे विश्वास है कि तुम अपनी ऊर्जा से इनके अंतःकरण की ज्वाला को कभी मद्धिम नहीं पड़ने दोगी। इन वर्षों में अर्जुन तप करके विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करेंगे, मैं और धृष्टद्युम्न अपनी शक्तियों का विस्तार करेंगे, ताकि...। सखा मौन हो गये। कुछ क्षण रुक कर उन्होंने पुनः कहना आरम्भ किया... “यह युद्ध सामान्य युद्ध नहीं होगा; इससे कोई भी अछूता नहीं बचेगा... पूरा विश्व इस युद्ध में आहुतियाँ डालेगा, मूल कारण लुप्त हो जायेंगे, अहंकार और अधर्म ही कारण होगा; हम सब लोग बहुत कुछ खोयेंगे यह निर्विवाद है, किन्तु पायेंगे क्या? यह नहीं ज्ञात, क्योंकि कोई जीतकर भी सब कुछ खो देता है और कोई हार कर भी बहुत कुछ बचा लेता है।

“मैं समझी नहीं?”

सखा हँसने लगे। “जब मैं ही सब कुछ स्पष्ट नहीं समझ पा रहा हूँ तो तुम्हें क्या बतलाऊँ। अभी सब कुछ भविष्य के गर्भ में है और भावी तो सदैव ही प्रबल होती है।”

सखा और पार्थ दोनों ने साथ ही विदा ली। पार्थ तप करके शक्तियाँ और अस्त्र-शस्त्र एकत्र करेंगे और सखा द्वारिका जाकर अपने आवश्यक कार्य पूरा करके पुनः हमारे बीच आयेंगे। मैंने पार्थ को, “आपके समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति हो” और सखा से शीघ्र लौटने की मौन याचना करते हुए विदा दी।

मुझे लगता है कि मैं कभी भी पाण्डवों की पत्नी नहीं थी। पाँच पतियों से विवाह को मैंने स्वीकार कर लिया था, किन्तु मेरे अपमान के समक्ष खड़ा युधिष्ठिर का धर्म और शेष पाण्डवों द्वारा उस धर्म का मौन अनुमोदन मुझे एक बार फिर से याद करा गया कि मैं कभी पाण्डवों की पत्नी नहीं थी, केवल भोग की ही वस्तु थी। वस्तु, जिसका न तो हृदय होता है और न मान-सम्मान... होता है तो केवल स्वामी का अधिकार, अतः वे क्यों मेरे स्वाभिमान की रक्षा करेंगे, मेरे अपमान का बदला लेने के लिये क्यों शस्त्र उठायेंगे? वस्तु के अपमान के समक्ष बड़े भाई का धर्म तो सदैव ही सम्मान के योग्य होगा।

मन संदेह पालता है, लोगों पर अविश्वास भी करता है; जब एक लम्बे समय तक कुछ भी नहीं होता, किसी योजना पर चर्चा नहीं होती, सब कुछ एक जैसा चलता रहता है, तो मन के भीतर छुपा संदेह सिर उठाने लगता है, यत्न से जमाया गया विश्वास हिलने लगता है, प्रश्न मन को मथने लगते हैं और इन प्रश्नों के साथ ही मेरे हृदय में शत्रुओं के लिये छिपी घृणा उभर आती है। तब लगता है कि मेरी घृणा कभी समाप्त नहीं होगी। समय की दीर्घ अवधि ‘यदि’ “कहीं घृणा कम तो नहीं हो गयी है? का प्रश्न उठती है तो स्मृतियों का प्रदोत प्रहार उस घृणा को जागृत कर देता है, वह घृणा मेरे हृदय में जलने वाली अग्नि की समिधा बनती है और प्रतिशोध की अग्नि क्षीण नहीं पड़ने पाती है। यही मेरी ऊर्जा है जो युधिष्ठिर के भीतर गहरी पैठ गयी अकर्मण्यता को झकझोरेंगी, अपने धर्म की पुनः समीक्षा करवायेगी और युद्ध में क्रोध के साथ शस्त्र उठवायेगी... भीम के भीतर अपने बल को लेकर बैठे अहंकार पर प्रहार करेगी और युद्ध में शस्त्र उठाने को प्रेरित करेगी; एक साथ पाँच सौ बाणों का संचालन करने वाले अर्जुन को प्रोत्साहित करती रहेगी, जब तक कि उन्हें एक साथ सहस्र बाणों के संचालन की क्षमता प्राप्त न हो जाये। वह नकुल और सहदेव के शक्ति और शौर्य का प्रखर करती रहेगी और मैं इन तेरह वर्षों में उनके बल और मनोबल को क्षीण नहीं होने दूँगी, सबको एक सूत्र में बाँध उनके आत्म विश्वास को बढ़ाती

रहूंगी, किसी के हृदय में कभी भी किसी हताशा को प्रवेश नहीं करने दूँगी। मैं अपने प्रेम और सेवा से ऐसी भूमि तैयार करूँगी जहाँ शक्ति और आत्मविश्वास का हर क्षण विकास हो, यही वनवास के जीवन का मेरा लक्ष्य है।

अदृश्य विधाता और अज्ञात उसकी इच्छायें उसने इस जगत में किसके लिये क्या रचा हैं यह तो वही जानता है, किन्तु अब मुझे विधाता से सब कुछ चाहिये... अपने अपमान का बदला, अपने पतियों का पूर्व पराक्रम और अपना राज्य भी; सब कुछ चाहिये कैसे भी किसी भी मूल्य पर। अब मैं अपना सर्वस्व होम करने के लिये प्रस्तुत हूँ, आधा अधूरा मुझे स्वीकार नहीं; न आज और न ही कल... यहाँ तक कि अपनी मृत्यु के बाद भी नहीं।

मैं प्रतिशोध की अग्नि को पाण्डवों के हृदय में इतनी गहराई से स्थापित करूँगी कि यदि मेरी मृत्यु भी हो जाये तो भी मेरे अपमान और अन्याय की ज्वाला उनके हृदय में शीतल नहीं होगी। पतियों को ही क्यों, मैं अपने पुत्रों के हृदय में भी यही अग्नि स्थापित करूँगी। भले ही मैं सबकी सम्मिलित पत्नी थी, किन्तु पुत्र मेरे अपने हैं, केवल मेरे, उनके शैशव काल में उनके पिताओं ने कौन सा कर्तव्य पूरा किया था और वन में रह कर वे उनकी किशोरावस्था तक कौन से कर्तव्य का निर्वाह कर लेंगे? मैंने अकेले ही उनकी देखभाल की है, उन्हें केवल माँ का स्नेह मिला है और आगे की शिक्षा दीक्षा मेरे पिता व भाई ही कर रहे हैं।

द्युम्न मेरे पुत्रों को लेकर वन में आते रहते हैं। उनके प्रश्नों के उत्तर में मैं उनके हृदय में अग्नि के लिये स्थान बनाती रहती हूँ और समय आने पर मैं इस अग्नि को स्थापित भी करूँगी। वे यज्ञ की वेदी से उत्पन्न याज्ञसेनी की संतानें हैं, यज्ञ कुण्ड की अग्नि का कुछ अंश तो उनके हृदय में भी होना चाहिये... उनको मैं अपने पक्ष से वंशानुगत में यह अग्नि ही तो दे सकती हूँ।

* * *

सखा का यह रूप अपूर्व था। मैंने पिछले कुछ वर्षों में सखा को कभी भी इतना आनंदित और हास-परिहास की मुद्रा में नहीं देखा था। तर्जनी पर चिपके चावल के टुकड़े को देखकर मैं लज्जित होती, इसके पूर्व सखा को न जाने क्या हुआ “हाँ... हाँ... रुको! अभी यह गिर जायेगा” कहते हुए अपने बलिष्ठ हाथों से मेरा हाथ पकड़कर मेरी तर्जनी अपने मुँह में डाली ली और मैं भौंचक्की सी कुछ समझ पाती कि देखा, सखा मेरी तर्जनी मुँह में दबाये हँस रहे हैं। सखा का यह रूप अपूर्व था। मैं लज्जित हो गयी। मुझे इतना भी भान नहीं रहा कि मैं अपना हाथ वापस खींचती। मैं देखती रह गयी। सखा का रूप क्या था उसमें? एक चतुर नट प्रणयी की भाँति सखा अपने इस कृत्य पर मुझे लज्जित देखकर आनंदित हो रहे थे। “क्या कर रहें हैं” मैं इतना ही कह पायी। “नहीं करना चाहिये?” मैं क्या कहती। “अच्छा नहीं लगा?” मैं चुप रही। “सखी! मैं तो ऐसा ही हूँ, बुरा लगा तो आगे से परिहास नहीं करूँगा” कह कर हँस पड़े। मैं भी हँस दी। सखा ने एक तृप्ति की डकार ली तो मैं चौंक गयी। सखा ने आते ही कहा था कि, “बड़ी भूख लगी है, खाना खिलाओ” मैंने उसी समय अक्षय पात्र साफ करके रखा था। मैं संध्या के समय भोजन करती थी और मेरे भोजन करने के बाद वह पात्र प्रातः सूर्योदय तक के लिये खाली हो जाता था। सखा आधी घड़ी पहले आये होते तो मैं भोजन करवा देती... उसी समय कक्ष में सहदेव आकर कहने लगे, “पांचाली! सरोवर पर दुर्वाशा ऋषि अपने शिष्यों के साथ स्नान करके कुटिया पर भोजन के लिये आयेगे, अभी अभी उनका संदेश आया है।”

मैं चिंतित हो गयी। दुर्वाषा ऋषि का क्रोध और शाप सहने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैंने सखा से

कहा। सहदेव भी चिंतित हो गये... किन्तु सखा... जैसे उन्हें मेरी समस्या से कुछ लेना देना ही नहीं है। सखा ने अक्षय पात्र उठा लिया और उसे ध्यान से देखने लगे। उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर पात्र के कोने में लगे एक चावल के छोटे से टुकड़े को दिखाया, जो बर्तन की सफाई के समय मेरी लापरवाही से रह गया था। मैंने पात्र सखा के हाथ से लेकर तर्जनी से उस अन्न के कण को निकाला और सखा ने मेरा हाथ पकड़कर वह तर्जनी अपने मुँह में डाल ली थी।

मैं चिंतित थी... चाहती थी कि सखा ऋषियों के भोजन की व्यवस्था का कोई उपाय बतायें, किन्तु सखा ने कहा, “पानी नहीं पिलाओगी, बहुत प्यास लगी है।”

मैंने पानी का पात्र लाकर सखा के सामने रख दिया। सखा ने एक ही साँस में पात्र खाली कर दिया और उठकर कोने में लपेटकर रखी गयी पार्थ की चटाई भूमि पर बिछा कर लेट गये और बोले, “मैं थक गया हूँ अब मैं सोऊँगा।”

“किन्तु, ऋषि दुर्वाषा अपने शिष्यों के साथ भोजन के लिये आते होंगे...” मैंने चिंतित स्वर में कहा। “वह भोजन से तृप्त होकर सरोवर से ही लौट गये।”

‘क्या!’ मैं आश्चर्य चकित थी।

सखा मेरे आश्चर्य के उत्तर में मुस्कुरा दिये और चटाई पर लेटकर विश्राम करने लगे, जैसे कि वे द्वारका में अपनी शय्या पर सो रहे हों। कक्ष में उमस थी, सखा का श्वासोच्छ्वास बता रहा था कि सखा धीरे धीरे प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो रहे हैं। मैं उठकर पंखा ले आयी और निकट ही भूमि पर बैठकर उन्हें पंखा झलाने लगी।

कैसा मायावी व्यक्तित्व है सखा का! इतनी विकट स्थिति में, जबकि चिंता से मेरे प्राण कंठ में अटके थे तो परिहास करने बैठ गये और स्वयं तृप्त हो ऋषि और उनके शिष्यों को तृप्त करके सरोवर तट से ही लौटाकर मुझे उनके कोप से बचा लिया।

सखा आज भी मेरे लिये वही चिर परिचित सखा हैं... मैं भी तो नहीं बदली। सखा को देखते ही वर्तमान चोला उतारकर पुराना चोला धारण कर लेती हूँ और उनकी वही चिर परिचित सखी कृष्णा बन जाती हूँ। हाँ, वे मेरे भी चिर परिचित हैं। सब तो बदल गये... सारे नाते सारे परिजन इष्ट मित्र, यहाँ तक कि मेरे पति भी। सबने अपनी अपनी भूमिकाएँ बदल ली मेरे लिये, यदि कोई नहीं बदला तो वह मेरे सखा... अब मैं ‘सखा’ का अर्थ भली भाँति समझ गयी हूँ।

हर विषम परिस्थिति में सखा मेरे समक्ष होते हैं तो लगता है ईश्वर ने मेरे भाग्य में इतनी विडंबनाओं के साथ साथ सखा को भी लिख दिया था या पूर्व जन्म में मैंने महादेव से सखा को भी माँगा था? पता नहीं। मुझे तो अपने बारे में सुनी पूर्वजन्म की कथा पर रती भर विश्वास न तब था और न अब है, किन्तु सखा... अवश्य ही किसी पूर्व जन्म के सत्कर्मों का फल है।

मैंने आज तक स्त्री को ही जीवन में विविध रूप धारण करते देखा सुना था, किन्तु मैं देख रही हूँ कि पुरुष भी विविध रूप धारण करता है; कम से कम मेरे जीवन में श्रीकृष्ण ने अनेक रूप धारण किये हैं और सारे रूपों को एक ही रूप ‘सखा’ में समेट लिया है। मेरे जी में आ रहा है कि मैं भी अपने सखा के चरणों में सिर रखकर सो जाऊँ।

पंखा झलते हुए मैं सोच रही हूँ कि मैं किसकी पत्नी हूँ? कौन है मेरा रक्षक? कौन है जिसका मैं स्वाभिमान हूँ? कौन है जिसका मैं धर्म हूँ? कोई नहीं, आज पाण्डवों में से कोई भी नहीं है जो मेरा है। तो फिर मेरा अपना कौन है? सखा क्या केवल आप ही मेरे हैं, जो रक्षक बनकर मेरी रक्षा की, मुझे अपना स्वाभिमान बनाया और सख्य धर्म का पालन किया?

सखा! क्यों इस जगत में मेरे सारे संबंध आप पर आकर समाप्त हो जाते हैं? मेरे आहत होते स्वाभिमान को आप सम्मान स्थापित करते हैं; क्यों मेरे उजाड़ तप्त मन को अपने आगमन से नम कर देते हैं, क्यों मेरे भीतर जम गयी कृष्णा को अपने परिहास से बाहर निकाल देते हैं, क्यों मेरी उलझनों को सुलझाते हो, क्यों मेरी भावनाओं को सहलाते हो? क्यों मेरे अस्तित्व को आपने अपने हाथों में सँभाल रखा है; मैं कौन हूँ आपकी? आप कौन हो मेरे? यदि इतना अपनापन और स्नेह देना था तो अपना क्यों नहीं लिया? क्यों इस संसार में निंदित अपमानित लांछित होने के लिये पंच भर्तारी बनाया?

सखा! आप मन पर पड़े छाप हैं, देह पर पड़ा कपड़ा नहीं, जो अगले दिन उतर जाये। वह तो अंकित हो गया है हाथ की रेखाओं की भाँति, जो जन्म से ही होती है। सखा की छाप खाली और रंग उड़े मन पर बहुत नया और चमकीला सा है, जिसकी न तो चमक फीकी पड़ती है और न ही उसका नयापन। हाँ सखा, यह नयापन सदैव रहेगा भी।

सखा! आवश्यक है इनका नया बना रहना; तभी इनके नीचे मेरा दुःखद अतीत छुपा रहेगा। यदि ये धुँधला गयीं तो बेरंग खुरदुरा अतीत उभर आयेगा। उन्हें दबाने या भुलाने के लिये या ये कहें कि उन्हें अपने जीवन से उखाड़ फेंकने के लिये इस छाप को नया बनाये रखना मेरे लिये आवश्यक है। सखा! यदि कुछ समय के लिये इसे परे करती हूँ तो पिछला सब कुछ उभर कर सामने आ जाता है, प्रश्न खड़े हो जाते हैं, कारण ढूँढ़ना प्रारम्भ हो जाता है और फिर उनसे मुक्ति के लिये अंतर्मन में युद्ध आरम्भ हो जाता है। इतने दुःखद और उलझे हुए जीवन से कैसे मुक्ति पाऊँ सखा?

* * *

पार्थ को गये महीनों बीत गये। पार्थ के जाने के बाद मुझे ही नहीं वरन् सभी भाइयों को सूना सूना लगने लगा था, साथ ही दुर्योधन के गुप्तचर सदैव हम लोगों के ऊपर अपनी दृष्टि जमाये रहते थे और हमारी प्रत्येक गतिविधियों की सूचना दुर्योधन तक पहुँचाते रहते थे, इस कारण पार्थ का प्रस्थान भी दुर्योधन से छिपा नहीं था। युधिष्ठिर के शुभचिंतकों, संन्यासियों, तीर्थ यात्रियों और व्यापारियों से हम लोगों को भी हस्तिनापुर की सूचना मिलती रहती थी।

पाण्डवों के वनवास के पश्चात, कर्ण की शक्ति पर दुर्योधन, पाण्डवों के विषय में अनर्गल प्रलाप करता रहता था। साथ ही महाराज का पुत्र प्रेम व राज्य तृष्णा भी किसी से छिपी नहीं था, इसी कारण महामंत्री विदुर की नीति उन्हें अच्छी नहीं लगती थी। हाँ कुटिल कणक की मंत्रणा का वे अवश्य अनुसरण करते हैं। दुर्योधन अपने मामा शकुनि से कुटिलता का पाठ पढ़कर महाराज पर अनुचित दबाव डालता रहता है। यद्यपि महाराज का प्रयास यह रहता है कि लोग उन्हें एक धर्मान्वित एवं कर्तव्यपरायण शासक के रूप में जानें, इसके लिये वे सदैव नाटकीय आचरण भी करते रहते हैं। वस्तुतः महाराज, दुर्योधन, शकुनि एवं कणक के हाथों खिलौना बनकर रह गए हैं।

एक दिन गुप्तचरों से मिली सूचना से तो मेरे प्राण ही सूख गए। दुर्योधन के उकसाने पर कर्ण ने सार्वजनिक रूप से अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की थी। कर्ण शक्तिशाली हैं, अर्जुन के समकक्ष ही हैं; किन्तु वे अपने जन्मजात अभेद्य कवच कुण्डलों के कारण सुरक्षित हैं, जबकि पार्थ के ऊपर ऐसी कोई ईश्वरीय कृपा नहीं है। जब से मैंने कर्ण की प्रतिज्ञा के विषय में सुना है, मेरा हृदय प्रतिक्रिया भय से काँपता रहता है। मेरा अपमान, दुःख और वन का कष्ट इस भय के आगे नगण्य हो गया

है। इस भय के साथ जीते हुए मैं पार्थ के वापस लौटने तक जीवित रहूँगी, इसमें भी मुझे कभी-कभी संदेह होता है।

ऐसे समय में एक दिन नारद मुनि का आगमन हुआ। नारद मुनि ने युधिष्ठिर को बताया कि अब पार्थ, कर्ण से सुरक्षित हैं; इतना ही नहीं वरन् अब कर्ण का जीवन विपन्न है। नारद मुनि कहने लगे, जब पार्थ ने दिव्यास्त्रों को प्राप्त करने के लिये हिमालय की ओर प्रस्थान किया और दुर्योधन को इसकी सूचना मिली तो उसके कुछ दिन पश्चात् ही कर्ण ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की। कर्ण की प्रतिज्ञा के कुछ दिन पश्चात् इन्द्र देवता ब्राह्मण का रूप धारण करके कर्ण के पास पहुँचे। कर्ण का नियम था कि वह किसी ब्राह्मण याचक को निराश नहीं करते थे। कर्ण नित्य की भाँति प्रातःकाल सूर्य की उपासना के पश्चात् ब्राह्मणों को दान दे रहे थे। उन्हीं याचक ब्राह्मणों में ब्राह्मण रूप धारी इन्द्र ने अपनी बारी आने पर कर्ण से उनके जन्मजात कवच और कुण्डलों को माँग लिया। कर्ण को तत्काल कुछ दिन पूर्व का स्वप्न याद आ गया, जिसमें सूर्यदेव ने कर्ण से कहा था कि इन्द्र तुम्हारे पास याचक ब्राह्मण का रूप धारण करके तुम्हारे कवच और कुण्डल को माँगने के लिये आयेंगे, किन्तु तुम उन्हें मना कर देना। इस पर कर्ण ने कहा कि ऐसा मैं नहीं कर सकता, तो सूर्यदेव ने कहा कि तुम उनसे वरदान में अमोघ 'शक्ति' एकादिन माँग लेना और कर्ण की निद्रा भंग हो गई।

इन्द्र ने उसकी प्रतिज्ञा को ही आधार बनाकर उससे छल किया था। कर्ण आश्चर्यचकित थे, किन्तु विचलित नहीं हुए। कर्ण ने इन्द्र को पहचान लिया था उसने कहा कि, “मेरा अहोभाग्य कि मेरे समक्ष साक्षात् इन्द्रदेव अपनी इच्छा लेकर उपस्थित हुए हैं।” कर्ण ने अपने हाथों से अपने शरीर के कवच को काट काटकर अपने शरीर से अलग करके इन्द्र के चरणों में रख दिया। इन्द्र अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए और अपने स्पर्श से कर्ण के शरीर को स्वस्थ कर दिया। कर्ण ने सूर्यदेव के आदेशानुसार इन्द्र से उनकी 'शक्ति' एकादिन माँग ली। इन्द्र ने यह कहते हुए कि, एक बार प्रयोग में आने के पश्चात् यह मेरे पास वापस लौट आयेगी, वह शक्ति कर्ण को प्रदान कर दी।

मैं सुन रही थी नारद मुनि से महादानी कर्ण से उनके 'दान' की कथा। कर्ण अब 'वैकर्तन' हैं। मेरा हृदय सिहर उठा। कैसे कर्ण ने अपने ही हाथों से अपने शरीर के आवरण कवच को काट काट कर स्वयं अलग किया होगा! वह कवच उनके शरीर पर त्वचा जैसा ही तो था। कितनी पीड़ा हुई होगी कर्ण को? कोई देवता कैसे छद्म रूप धारण करके छल से किसी के जीवन के आधार को बिना किसी लाभ के 'याचक' बनकर छीन सकता है? क्या स्वार्थ था इन्द्र देव का? कर्ण की मृत्यु या पार्थ का जीवन? मन भी विचित्र होता है। एक बार कर्ण के कवच कुण्डल विहीन हो जाने के विषय में सुनकर मन पार्थ की सुरक्षा से आश्वस्त हो गया था, तो 'शक्ति' एकादिन के विषय में सुनकर मैं पुनः भयभीत हो गई।

* * *

वर्षों बाद लोमश ऋषि का आगमन हुआ। उन्होंने युधिष्ठिर को बताया कि अर्जुन सर्वप्रथम हिमालय पर्वत पर गए और वहाँ से स्वर्गलोक में इन्द्र देवता के पास। इन्द्र देवता अर्जुन को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन का सत्कार किया। कुछ दिनों के पश्चात् अर्जुन ने इन्द्र से अपनी इच्छा के विषय में बताया कि वे विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को प्राप्त करने उनका संचालन व शमन के ज्ञान की इच्छा से इन्द्रलोक में इन्द्रदेव के पास आये हैं, अतः वे उन्हें दैवीय अस्त्र शस्त्रों को प्रदान करने की कृपा करें। इन्द्र देव ने उन्हें भाँति भाँति के प्रलोभन दिये, किन्तु

अर्जुन ने उन्हें नम्रता पूर्वक मना कर दिया। उनका दृढ़ निश्चय देखकर इन्द्र ने उनसे भगवान शिव की आराधना करने के लिए कहा।

अर्जुन, इन्द्र देवता से विदा लेकर हिमालय पर्वत पर आकर शंकर भगवान की आराधना करने लगे। शिव आराधना करते हुए उन्हें वर्षों बीत गए। एक दिन उन्होंने एक विशाल वन सूकर को देखा और उसका आखेट करने के उद्देश्य से उस पर बाण चला दिया। बाण सूकर को लगा। वह भाग कर झाड़ियों में जा छिपा और अर्जुन ने उस सूकर का पीछा किया। कुछ दूर आगे जाकर उन्हें मृत सूकर दिखाई दिया और उसके निकट एक विशाल किरात, धनुष लिए खड़ा था। मृत सूकर के शरीर में दो बाण लगे थे। उस किरात ने सूकर को अपना आखेट बताया और कहा कि सूकर उसके बाण से मरा है, किन्तु अर्जुन ने कहा कि पहले उन्होंने सूकर को देखा और उसके ऊपर बाण चलाया; किरात ने बाद में उसके ऊपर बाण छोड़ा होगा जो कि आखेट के नियम के विरुद्ध है और यह मृत सूकर मेरा आखेट है। अर्जुन के इस प्रकार कहने पर वह किरात क्रुद्ध हो गया। विवाद बढ़ने लगा। अर्जुन ने किरात पर मुष्टिका से प्रहार किया किन्तु आश्चर्य! अर्जुन के प्रहार से वह किरात अपने स्थान से हिला तक नहीं और हँसता रहा। किरात ने भी अर्जुन पर प्रहार किया। उसके प्रहार से अर्जुन मूर्छित हो गये। चेतना लौटने पर अर्जुन अपने गांडीव से किरात के ऊपर बाणों की बौछार करने लगे। आश्चर्य! बाण उस किरात के शरीर का स्पर्श करने से पहले ही भूमि पर गिर पड़े। अर्जुन का तुणीर खाली हो गया तो वे क्रुद्ध होकर गांडीव से ही उस किरात पर आक्रमण करने लगे। किरात ने अर्जुन को पकड़ लिया और अथक प्रयास करके भी अर्जुन उस किरात के बंधन से स्वयं को मुक्त करने में असमर्थ रहे, तब जाकर उन्होंने महादेव शिव का ध्यान किया। ध्यान में अर्जुन ने देखा कि प्रातःकाल शिव आराधना के समय उन्होंने पुष्प की जो माला पार्थिव शिव पर चढ़ाई थी, वही माला किरात के गले में पड़ी थी। तब जाकर उन्हें वास्तविकता का आभास हुआ कि किरात वेश में साक्षात् शिव ही उनके साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। अर्जुन, किरात के बंधन से मुक्त हो चुके थे। उन्होंने किरात रूपधारी शिव को साष्टांग प्रणाम किया। भगवान शंकर ने अपने स्पर्श से उनकी पीड़ा को दूर कर दिया और अर्जुन सौ गुनी स्फूर्ति व शक्ति से भर गये। भगवान शिव ने उन्हें अपना 'पाशुपात' अस्त्र प्रदान किया। उसी समय इन्द्र वहाँ प्रकट हुए और अर्जुन को अपने साथ लेकर इन्द्रपुरी चले गये। अर्जुन वहाँ पाँच वर्षों तक रह कर भाँति भाँति के युद्ध कौशल और अस्त्र शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करेंगे और निपुण होकर लौटेंगे।

पार्थ को गये वर्षों बीत गये थे। मैं उदास रहती थी। लोमश ऋषि से भेंट होने के पश्चात् मन में एक इच्छा उठी कि क्यों न हम सब लोग भी ऋषि के साथ साथ तीर्थ यात्रा करें। युधिष्ठिर को भी मेरा विचार उपयुक्त लगा। काम्यक वन की एक ही प्रकार की दिनचर्या ने हम सबके जीवन में एक नीरसता भर दी थी।

यात्रा आरम्भ हुई। ऋषि के साथ साथ हम लोग नैमिषारण्य, प्रयाग और गया होते हुए गंगा सागर पहुँचे। गंगा सागर पहुँचकर विचार आया कि क्यों न सागर के किनारे किनारे चलते हुए पूरे जम्बू द्वीप का भ्रमण किया जाये? सभी चल पड़े। लगभग एक वर्ष के उपरान्त हम लोग प्रभास तीर्थ पहुँचे और वहाँ पर यादवों और सखा ने हमारा स्वागत किया। लगभग एक मास की अवधि सखा के साथ बिताकर किशोर अभिमन्यु की स्मृति को मन में सँजोकर हम लोग उत्तर दिशा की ओर चलते चलते विपाशा के निकट पहुँचे। कुछ दिन विपाशा के निकट व्यतीत करके हम सब ने विपाशा को पार किया और उत्तर की ओर बढ़ चले, जहाँ हिमालय के क्षेत्र में स्थित गंधमादन

पर्वत पर पार्थ स्वर्ण से लौटकर पृथ्वी पर आने वाले थे।

हम लोग विपाशा पार करके थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि भयानक आँधी ने हम सबको अपनी चपेट में ले लिया। निरन्तर चलते रहने के कारण मेरी काया क्षीण व शक्ति शिथिल हो गयी थी। पार्थ से भेंट की प्रसन्नता में मैं अपने कष्टों को दबाकर अपने पतियों के साथ साथ चलती रहती थी, किन्तु भयानक आँधी में फँसने पर मैं अचेत होकर गिर पड़ी।

जब मेरी चेतना लौटी तो मैंने स्वयं को चारों ओर से हिम आच्छादित शिखरों से घिरे शांत मनोरम पर्वत क्षेत्र में पाया। मेरा शरीर स्वस्थ लग रहा था। शीतल पवन ने मेरे शरीर में एक नई स्पृहीर्ति भर दी थी। मेरे पैरों के निकट एक युवक बैठा था। उसने मुझे सचेत देखकर मुझे माता कह कर प्रणाम किया। भीमसेन ने मुझे बताया कि यह हिडिम्बा पुत्र घटोत्कच हैं। एक क्षण के लिये मुझे लगा कि घटोत्कच नहीं वरन् मेरा पुत्र सुतसोम ही मेरे पैरों के निकट बैठा है। मैं उठकर बैठ गई और घटोत्कच को अपने निकट बुलाकर स्नेह से उसके सिर पर हाथ रख कर चिरंजीवी होने का आशीर्वाद दिया।

भीमसेन ने मुझे बताया कि जब मैं अचेत हो गई तो सभी लोग चिंतित हो गए कि अब तुम्हें साथ लेकर किस प्रकार से यह कठिन यात्रा पूरी की जाए; सौभाग्य से उसी क्षण घटोत्कच का आगमन हो गया और उसने हम सबको अपनी भुजा, कंधे और पीठ पर बिठाकर कुछ ही समय में बदरी क्षेत्र में इस स्थान पर पहुँचा दिया। मुझे स्वस्थ देखकर घटोत्कच ने हम सबसे विदा माँगी।

दुर्गम मार्ग को हम सबने घटोत्कच की सहायता से पार कर लिया था और अब आगे का मार्ग सुगम था। गंधमादन पर्वत पर पहुँचकर हम लोग पार्थ की प्रतीक्षा करने लगे। गंधमादन पर्वत का वातावरण बहुत मनोरम था। चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत शिखर दिखाई देते थे। उनमें से निकलने वाले जल प्रपात के फेनिल जल को देखकर लगता था कि पर्वत शिखरों से बहकर दूध की धारायें नीचे आ रही हैं। लम्बी यात्रा का श्रम उस सुरम्य वातावरण में पहुँचकर समाप्त हो गया था। शेष था तो केवल पार्थ का आगमन।

एक दिन मैं भीमसेन के साथ बैठकर पार्थ के विषय में चर्चा कर रही थी कि हवा के झोंके के साथ एक सहस्र दलों वाला स्वर्ण कमल मेरे निकट आकर गिरा और मैंने उठकर उस पुष्प को उठा लिया। दिव्य था वह पुष्प और वैसी ही मनोहारी थी उसकी गंध। उस स्वर्ण कमल को देखकर मेरे हृदय में कामना उठी कि यदि मुझे इस प्रकार के ढेर सारे स्वर्ण कमल मिल जाते तो मैं उसकी माला गूँथकर पार्थ के आगमन पर उन्हें पहनाती। मैंने तत्काल अपनी इच्छा भीमसेन के समक्ष प्रकट कर दी। भीमसेन मुस्कराकर खड़े हो गए और उसी समय स्वर्ण कमलों की खोज में पवन की दिशा का अनुमान करके चल पड़े।

भीमसेन के इस प्रकार चले जाने के बाद मुझे उनकी चिंता होने लगी। युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव भी दिन बीतने के साथ साथ चिंतित होने लगे। कुछ दिनों की प्रतीक्षा के बाद सहदेव ने उन्हें ढूँढ़ने का निश्चय किया। मैं स्वयं को अपराधिनी मान रही थी। मेरा मन दुःखी और चिंतित था कि कहीं मैंने अपनी लालसा के कारण भीमसेन को विपत्ति में तो नहीं डाल दिया? कैसा था वह स्वर्ण कमल; वास्तविक था या सीता के स्वर्ण मृग की भाँति मायावी। दुर्योधन, पाण्डवों को नष्ट करने के लिये कुछ भी कर सकता है; कहीं यह स्वर्ण कमल भी दुर्योधन द्वारा प्रेरित माया जाल तो नहीं था? अब तो पश्चाताप ही शेष रह गया था। मैं सहदेव को भीमसेन को ढूँढ़ने के लिये न तो भेज पा रही थी और न ही मैं उन्हें रोक पा रही थी। एक दिन भीमसेन, सहदेव के साथ ढेर सारे

स्वर्ण कमलों के साथ मेरे सम्मुख उपस्थित हो गये। भीम को सकुशल देखकर मैं प्रसन्न हो गई। भीम ने बताया कि वे स्वर्ण कमल का पता करते करते कुबेर के सरोवर तक पहुँच गये, जहाँ पर हजारों की संख्या में स्वर्ण कमल खिले थे और भीमसेन उस सरोवर में घुसकर स्वर्ण कमलों को तोड़ने लगे। अपने प्रहरियों से सूचना पाकर कुबेर स्वयं सरोवर तट पर आये और यह जानकर कि वे भीमसेन हैं, प्रसन्नतापूर्वक उनका स्वागत करके अपने भवन में आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध करने लगे। भीमसेन ने एक रात्रि का आतिथ्य स्वीकार किया। विदा के समय कुबेर ने देवी द्रौपदी के लिये अतिरिक्त सहस्र स्वर्ण कमल देने की इच्छा प्रकट की, किन्तु भीमसेन ने मना कर दिया। अपनी आवश्यकता के अनुसार वे कमल पहले ही तोड़ चुके थे। मैंने उन स्वर्ण कमलों की एक सुन्दर माला बनाई। दिव्य थे वे कमल... न तो उनकी कांति ही मद्धिम पड़ती थी और न ही उनकी गंध। उन स्वर्ण कमलों के हार को मैं देखती हुई पार्थ के आगमन की प्रतीक्षा करती रही।

एक दिन जब हम सभी लोग पार्थ की प्रतीक्षा में आकाश की ओर देख रहे थे कि बादलों को चीरकर इन्द्र का सुसज्जित दिव्य रथ गंधमादन पर्वत पर उतरने लगा। रथ के उतरते ही पार्थ रथ से नीचे उतरे और युधिष्ठिर ने आगे बढ़ कर पार्थ को प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। सबने बारी बारी से पार्थ का आलिंगन किया। पार्थ ने युधिष्ठिर, भीम को और नकुल सहदेव ने पार्थ को प्रणाम किया। सबसे अन्त में मैंने किंचित लजाई हुई सी आगे बढ़कर स्वर्ण कमलों की माला पार्थ के गले में डाल कर उनका अभिनन्दन किया और झुक कर उन्हें प्रणाम किया।

पार्थ का मुखमण्डल अलौकिक आभा से दीप्त हो रहा था। इन्द्र ने देव लोक की बहुत सी दुर्लभ वस्तुएँ पार्थ को उपहार में दी थीं। पार्थ अपने साथ अनेक अस्त्र शस्त्र और ब्रन्थ तथा युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के लिये विशिष्ट उपहार भी लाये थे। पार्थ ने रथ और सारथी को विदा किया।

चार दिन गंधमादन पर रुकने के पश्चात हम लोग वापस लौटने लगे। मार्ग में पार्थ अपनी तपस्या एवं इन्द्रलोक के पाँच वर्षों के अनुभव के बारे में विस्तार से बता रहे थे कि किस प्रकार वहाँ रह कर उन्होंने युद्ध की कला, अस्त्र शस्त्रों का संचालन एवं दिव्यास्त्रों का आवाहन एवं शमन के विषय में ज्ञान प्राप्त किया... इसके साथ साथ देव लोक की शासन व्यवस्था को भी समझा और बहुत सारे ब्रन्थों को वे अपने साथ लेकर आये हैं। पार्थ ने बताया कि इन्द्रलोक में रहते हुए उन्होंने संगीत और नृत्य की शिक्षा भी प्राप्त की है। मैं पार्थ के संगीत को सीखने पर आश्चर्यचकित थी और पार्थ से पूछ बैठी, “आपने वहाँ पर नृत्य और गायन क्यों सीखा?”

पार्थ ने जो कुछ बताया उसका सारांश यह था कि इन्द्र के सभा की एक अप्सरा मेनका उन पर मुग्ध होकर उनसे प्रणय याचना करने लगी तो पार्थ ने मेनका से कहा कि, आप मेरे पूर्वज की वृद्ध माता हैं और आपके दौहित्र भरत हमारे पूर्वज हैं, अतः आप इस प्रकार का विचार मन में न लायें। मेनका ने कहा कि, हम अप्सरायें चिरयौवना होती हैं और हमारे लिये मृत्युलोक के इस प्रकार के सम्बन्ध कोई अर्थ नहीं रखते... हमारी संस्कृति अलग है। किन्तु पार्थ ने मना कर दिया, इस पर क्रुद्ध होकर मेनका ने उन्हें नपुंसक होने का शाप दे दिया। जब इन्द्र को इस घटना का ज्ञान हुआ तो उन्होंने मेनका से अपना शाप वापस लेने का अनुरोध किया। इन्द्र के अनुरोध पर मेनका ने अपने शाप की अवधि एक वर्ष के लिए कर दी, साथ ही यह भी कहा कि मैं अपनी सुविधा के अनुसार जब चाहूँ यह श्राप धारण कर सकता हूँ। मेनका ने यह भी कहा कि अज्ञातवास

के समय तुम्हारा शाप तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूप छिपाने में सहायक होगा और उस एक वर्ष का समय तुम नर्तकी के रूप में बिताना और इसी कारण गंधर्व चित्रसेन ने मुझे गायन, वादन और नृत्य की शिक्षा दी।

गंधमादन से लौटकर चलते-चलते हम लोग किरात राज सुबाहु के राज्य द्वैत वन में पहुँचे। वर्षा ऋतु निकट थी। किरात राज ने वर्षा ऋतु तक अपने राज्य में ही रुकने का अनुरोध किया और युधिष्ठिर ने उनका अनुरोध प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। मैंने द्वैत वन में रहते हुए अपना चौमासा व्रत पूरा किया। वर्षा ऋतु समाप्त होने पर सभी लोग काम्यक वन पहुँचे। अब वनवास और अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने में केवल दो वर्ष का समय ही शेष था।

* * *

बारह वर्ष पूरे होने में अभी तीन मास शेष थे, पर दुर्योधन के गुप्तचरों की गतिविधियाँ बहुत तेज हो गयी थीं, कि कब हम लोग अज्ञातवास के लिये प्रस्थान करेंगे। वनवासियों से हमारी मित्रता थी। वे बाहरी और संदिग्ध व्यक्तियों की उपस्थिति से हमें अवगत कराते रहते थे। गुप्तचरों की दृष्टि से छिपकर पलायन करना बड़ा कठिन लग रहा था।

आज प्रातःकाल पांचाल नगरी से दूत आया कि द्युम्न मार्ग में जाते हुए एक रात्रि काम्यक वन में विश्राम करेंगे। द्युम्न को तो एक माह बाद आना था... उनके कार्यक्रम में परिवर्तन का कारण मैं नहीं समझ पा रही थी।

संध्या होते ही द्युम्न का रथ अपने परिवारकों के साथ आकर कुटिया पर रुका। द्युम्न के साथ बहुत सारी सामग्री आयी थी, जिसमें पात्र, खाद्य पदार्थ अस्त्र शस्त्र आदि थे, मैं खाद्य सामग्री को देखकर आश्चर्य चकित थी कि इसकी क्या आवश्यकता है, जबकि सूर्यदेव के दिए पात्र से अतिथि, संन्यासियों, तीर्थ यात्रियों और वनवासियों का पेट भरता रहता था।

द्युम्न, रथ से उतरकर महाराज युधिष्ठिर के पास कुटिया में चले आये। द्युम्न ने सबको प्रणाम किया। ये क्या? द्युम्न का स्वर अपरिचित क्यों लग रहा है? मैं ध्यान से द्युम्न के मुख को देखने लगी। द्युम्न का व्यक्तित्व हूबहू होते हुए भी मुख मंडल की रेखाएँ भिन्न थीं। जो कुछ ज्ञात हुआ वह आश्चर्यजनक था। सखा ने कुशल कलाकारों को भेजा था... छह कलाकार, जिनकी कद काठी पाण्डवों जैसी थी और साथ में आया था एक किशोर, जिसे मेरा रूप धारण करना था। रात्रि में रूप परिवर्तित हुआ और प्रातःकाल द्युम्न अपने सेवकों अनुचरों के साथ लौट गये और पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ कुटीर परिसर में रह रहे थे।

तीन स्थानों पर वाहन परिवर्तित करके तीन दिन बाद महाराज युधिष्ठिर मद्र देश के राजा विराट की सभा में खड़े हुए। उनका परिचय था कंका। वे महाराज युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलकर उनका मनोरंजन करते थे। अब पाण्डवों का राज्य नहीं रहा तब से इधर उधर भटक रहे हैं और आश्रय चाहते हैं; आश्रय मिल गया। कुछ दिन पश्चात भीम, महाराज विराट के सामने खड़े थे। वे महाराज युधिष्ठिर की पाकशाला में काम करते थे ...वल्लभ उनका नाम था और महारानी द्रौपदी से उन्हें पाक कला सीखने का अवसर मिला था। वल्लभ को महाराज की पाकशाला में कार्य मिल गया। नकुल और सहदेव ने ग्रंथिक और तंत्रपाल नाम से अश्वशाला और गोशाला का कार्य सँभाला। अपने प्रिय पति अर्जुन के विषय में न सोचूँ तो अच्छा है। बृहन्नला, द्रुपद नंदिनी की सखी थी और पांचाल से ही उनके साथ आयी थी। वह गीत और नृत्य में प्रवीण है। महारानी सुदेष्णा ने उसे अपनी पुत्री को नृत्य गीत सिखाने का कार्य सौंप दिया। बृहन्नला अपने कंधे के

धनुष की प्रत्यंचा की रंग से उभरे चिह्नों को साड़ी चोली में छुपा कर रखती। केशों की लम्बी चोटी गूँथ कर फूलों से सजाती, होठ को रंगती, बिंदी, काजल चूड़ी से स्वयं को सजाकर पैरों में पायल छनकाती राजभवन में घूमती थी।

सबसे अंत में आयी मैं। मलिन वस्त्रों से अपने मुँह को छुपाये, रानी सुदेष्णा के समक्ष खड़ी हुई। मैं रानी द्रौपदी की सैरन्धी थी; पाँच गंधर्व मेरे पति हैं और आज वे विपत्ति में हैं, अतः मैं रानी की शरण में आयी हूँ, पतियों के लौटने पर मैं उनके साथ चली जाऊँगी; बस एक अनुरोध है कि मैं किसी पुरुष के समक्ष नहीं जाऊँगी और न ही उनकी आज्ञा मानूँगी और जूठा स्पर्श नहीं करूँगी, क्योंकि इससे मेरे गंधर्व पति रुष्ट हो जायेंगे।

यहाँ मुझे अर्जुन की दशा के अतिरिक्त कोई कष्ट नहीं था। दासियाँ अर्जुन को लेकर हँसी ठट्ठा करतीं तो मेरा सर्वांग दहक उठता था। यदि मैं कभी पार्थ के पास बैठती तो दासियों के एकाध व्यंग्य-बाण मुझे चुभ ही जाते थे, “जब तक तुम्हारे पाँचों पति नहीं आ जाते, बृहन्नला से ही मन बहला लो।”

मुझे क्रोध आता तो पार्थ नाटकीय ढंग से मेरा हाथ पकड़कर अन्यत्र ले जाते... समझाते कि कुछ ही समय की बात है और मैं अपने आँसू पोंछ लेती। भीम सुखी थे, कम से कम उन्हें भोजन का कष्ट नहीं था। जब वे भोजन करते तो राजभवन के कर्मचारी, दास दासियाँ उन्हें आश्चर्य से देखने लगते और उनके भाग्य की सराहना करते कि उन्हें राजा के आश्रय में भरपेट भोजन मिलता है अन्यथा बेचारा भूख से ही मर जाता। दासियाँ उनका उपहास करती और हँसती थीं।

नकुल सहदेव अपने अपने कार्य कुशलता से कर रहे थे। उनसे मेरा मिलना नहीं होता था। उत्तरा को देखकर मेरे मन में ममता उमड़ती। इतनी सुशील सुकुमार कि मन ही मन अभिमन्यु के लिये मनोनीत कर लिया और अपना मान कर उस पर अपना स्नेह उड़ेलने लगी, क्योंकि जानती थी कि अज्ञातवास समाप्त होते ही सब कुछ बदल जायेगा और अभिमन्यु को जामाता के रूप में प्राप्त करके विराट और सुदेष्णा धन्य हो जायेंगे।

यह सुखद कल्पना मुझे धैर्य देती थी। उबटन पीसते समय मेरे हाथों में जो कष्ट होता था, वह उत्तरा के मुख पर लेप लगाते ही समाप्त हो जाता था। सुदेष्णा के केशविन्यास से मेरा मन मलिन होता था, तो उत्तरा के केशों को हाथ में लेते ही मेरे हृदय का स्नेह मेरे हाथों में उतर आता था।

इतना सरल भी नहीं था मेरा जीवन। महारानी का भाई कीचक, जो कि मत्स्य देश का सेनाध्यक्ष भी था, मेरे घूँघट में छुपे रहने वाले मुख के विषय में सुनकर मेरे पीछे पड़ गया। विचित्र स्थिति थी मेरी... भाई का मोह या विवशता। मैं महारानी के आदेश से कीचक के भवन से मदिरा लेने गयी। कीचक मुझे पकड़ने के लिये मेरी ओर लपका और मैं उसे धक्का देकर जोर से दरबार की ओर भागी। कंक, महाराज के साथ पासे खेल रहे थे। मैंने महाराज से कीचक के आचरण के विषय में निवेदन किया किन्तु महाराज मौन रहे। कंक ने कहा कि दोनों पक्षों की बात सुनकर ही महाराज अपना निर्णय सुना सकते हैं। पीछे पीछे मद में मस्त कीचक भी वहाँ पहुँच गया और मेरे ऊपर प्रहार करके मुझे भूमि पर पटककर पैरों से ठोकर मारते हुए अपशब्द बोलने लगा। मैंने रोते हुए सभा को सचेत करके कहा कि, जिसने मेरे साथ ऐसा किया है मेरे गंधर्व पति उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे और अंतःपुर में चली आयी।

दासियाँ मेरे साहस पर आश्चर्यचकित थीं, क्योंकि अभी तक कीचक के विरोध में स्वर उठाने का साहस किसी पुरुष ने भी नहीं किया था तो मुझ दासी की सामर्थ्य ही क्या थी। महाराज भी जिसके सम्मुख कुछ भी कहने का साहस नहीं

कर सकते हैं, उनके समक्ष मैंने कीचक की शिकायत की थी। मेरी विवशता रुलाई बनकर फूट पड़ी। बृहन्नला मेरी बाँह पकड़कर एकांत में ले गयी। मैं रो रही थी अपने दुर्भाग्य पर, अपने पतियों की विषम स्थिति पर और पार्थ... उन्हें देखकर मेरा कलेजा फटता था।

पार्थ ने धीरे से मेरे माथे को सहलाया, गालों पर से आँसू पोंछे, मुख पर गिर आयी लट को समेट कर कानों के पीछे किया और कहने लगे, “धैर्य रखो पांचाली, अब अज्ञातवास की समय सीमा समाप्त होने वाली ही है; मैं विवश हूँ, तुम रात्रि में भीम के पास जाओ वही कोई उपाय करेंगे।”

आज पार्थ बृहन्नला के वेश में हैं और स्नेह दिखा रहे हैं। उनका स्नेह आज मेरे मन को भिगो नहीं पाया। इतने ही स्नेह के लिये इन्द्रप्रस्थ में मेरा मन तरसता रहता था और पार्थ अपनी सारी कोमल भावनाएँ सुभद्रा पर उड़ेलते रहते थे। आज जब वे मेरी लट को कानों के पीछे समेट रहे थे तो मेरे आँखों के समक्ष इन्द्रप्रस्थ का दृश्य घूम गया। पार्थ, हँसती हुई सुभद्रा की एक घुँघराली लट को उसके कानों के पीछे ले जा रहे थे और उस समय जो स्नेह उनकी आँखों में था, वह दृष्टि कभी भी मेरे लिये नहीं थी और आज वह बृहन्नला के रूप में मुझ पर स्नेह दर्शा रहे हैं। उनकी वेशभूषा मेरे हृदय में पीड़ा पहुँचा रही थी, उनका स्पर्श आज मुझे स्पर्श नहीं कर रहा था। मैं वहाँ से उठ गयी और कीचक वध के लिये दीक्षा ग्रहण कर ली। मैंने न अन्न ग्रहण किया और न ही जला रात्रि में मैं भीमसेन के पास गयी और उन्हें जगाकर बोली, “तुम्हारे जैसे बलशाली पुरुष के रहते हुए तुम्हारी पत्नी का स्पर्श करके कोई व्यक्ति जीवित कैसे रह सकता है?”

भीमसेन ने मुझे दुलराया, आश्वस्त किया। दूसरे दिन मैंने पूर्व नियोजित ढंग से कीचक को रात्रि में रंगशाला में बुलाया और प्रातःकाल कीचक की मृत्यु की सूचना भय के साथ सारे राज्य में फैल गयी। महाराज और महारानी भयभीत हो गये। उन्होंने मुझसे जाने की प्रार्थना की, किन्तु मैंने मना कर दिया कि कुछ समय पश्चात मैं स्वयं चली जाऊँगी।

कीचक के वध की सूचना जब कौरवों तक पहुँची, तो उन्हें अनुमान लगाने में देर नहीं लगी कि कीचक का वध करने में केवल भीम ही समर्थ थे। कौरवों की योजना के अनुसार उनके सैनिकों ने मद्र देश की सीमा पर चरती गायों का अपहरण कर लिया और महाराज विराट ने सेना लेकर सीमा पर गायों को छुड़ाने के लिये प्रस्थान किया। तब कौरवों ने दूसरे छोर से मत्स्य पर आक्रमण कर दिया। सभी भयभीत हो गये। कौरवों के समक्ष तो महाराज विराट व उनकी सेना खड़ी भी नहीं हो सकती थी और आज तो राजभवन में केवल युवराज उत्तर थे। मैंने महारानी से कहा कि बृहन्नला रथ चलाना जानती है, उसे सारथी बना कर उत्तर को युद्ध क्षेत्र में भेजें। रानी सुदेष्णा भयभीत थीं किन्तु उनके पास कोई विकल्प नहीं था। बृहन्नला, युवराज को रथ पर बिठाकर शीघ्रता से राजभवन से निकल गयीं।

राजभवन में उत्सव का वातावरण था। राजकुमार उत्तर, कौरव सेना को परास्त करके लौटे हैं और महाराज विराट भी गायों को छुड़ाकर राजधानी लौट आये। महाराज आश्चर्यचकित थे कि उत्तर ने यह असंभव कार्य कैसे किया।

उत्तर ने हाथ जोड़कर सत्य निवेदन किया और पूरा राजभवन आश्चर्य चकित होकर सुन रहा था। बृहन्नला ने शमी के वृक्ष के नीचे रथ रोक दिया और पेड़ पर चढ़कर शस्त्रों की पोटली उतारी; उसने मुझे रथ चलाने का आदेश दिया। मैं आश्चर्यचकित था और बृहन्नला ने तीरों की बौछार से कौरव सेना के पैर उखाड़ दिये। दुर्योधन ने चीत्कार किया, “अर्जुन! तुम अज्ञातवास में

पहचान लिये गये हो, अब पुनः वनवास और अज्ञातवास के लिये प्रस्तुत हो जाओ... किन्तु पितामह भीष्म ने गणना करके बताया कि अज्ञातवास की अवधि पूरी हो चुकी है।

पल भर में सारा दृश्य बदल गया। महाराज विराट, पाण्डवों के समक्ष हाथ जोड़कर खड़े थे, रानी सुदेष्णा लज्जित थीं। उन्होंने मुझे आसन पर बिठाया और मेरे लिये जलपान लेकर आयीं। महाराज ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन से करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु पार्थ ने मना कर दिया कि वह मेरी शिष्या है अतः पुत्री समान है; हाँ उसे मैं अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करता हूँ।

14. संधि

अभिमन्यु और उत्तरा के विवाह के पश्चात उल्लास के भीतर दबा दुःख और अपमान पुनः उभर आया। महाराज विराट ने पाण्डवों के निवास की व्यवस्था अपने राज्य के उपप्लव्य नगर में करवाई थी। वहाँ हम सभी अतिथि के रूप में रह रहे थे और वहीं से पाण्डव अपनी भावी रणनीति बनाने में लगे थे। तेरह वर्षों के उपरान्त अब मुझमें धैर्य नहीं था। मैं शीघ्र से शीघ्र अपने अपमान के बदले में युद्ध चाहती थी, किन्तु यहाँ तो संधि प्रस्ताव की रूप रेखा तैयार हो रही थी कि वनवास और अज्ञातवास पूर्ण हो जाने पर अब वे हमारा राज्य और संपत्ति वापस लौटा दें तो युद्ध नहीं होगा। अब यह 'तो' कहाँ से आ गया? मैं तेरह वर्षों से अपने हृदय की अग्नि को निरंतर जलाये बैठी थी। उसके ताप से पाण्डवों की ऊर्जा को क्षण भर के लिये भी मद्धिम नहीं होने देती थी। मेरी तेरह वर्षों की तपस्या क्या व्यर्थ ही चली जायेगी? क्यों 'याचना' की भूमिका बन रही है, रण की योजना पर विचार क्यों नहीं हो रहा है? अर्जुन के गांडीव से छूटे हुए बाणों की तीक्ष्णता, भीम का गजराज के समान बल, नकुल का पराक्रम, सहदेव का दोनों हाथों से खड्ग संचालन का कौशल, जिसे मैं तेरह वर्षों से अपने अंतःकरण की ऊर्जा से धार देती आयी हूँ, वह सब व्यर्थ जायेगा?

यदि मैं किसी कायर सामर्थ्यहीन व्यक्ति की पत्नी होती तो अपनी सीमा को समझकर स्वयं को समझा लेती, कदाचित् अपनी असमर्थता के कारण मुझे अपने अपमान की उतनी पीड़ा भी नहीं होती; किन्तु मैं पाँच सामर्थ्यशाली पतियों, श्रीकृष्ण जैसे सखा और द्युमन्यु जैसे पराक्रमी भाई के होते हुए अब क्यों अपमान की ज्वाला में जलूँ? मेरा वश चलता तो मैं उस समय भी नहीं सहती... यदि युधिष्ठिर धर्म का आलंबन लेकर दृढ़ता से युद्ध से विमुख न हो गये होते तो मैं कौरवों का अंतिम संस्कार करवाकर ही हस्तिनापुर की सीमा से बाहर पग धरती।

अब क्यों युधिष्ठिर मेरी वर्षों की तपस्या को छिन्न भिन्न करके पाण्डवों के आत्म विश्वास में दरार डालने का प्रयास कर रहे हैं? जुआ तो वनवास और अज्ञातवास की शर्त पर खेला गया था; युद्ध न करने की शर्त तो उसमें नहीं थी। उसी समय युद्ध करके सबको दास बनाया जा सकता था, या केवल शकुनि का वध करके भी अपमान का बदला ले लिया जा सकता था। ऐसी स्थिति में जब जूए का विजेता जीवित ही नहीं बचता तो शर्त की पूर्णता का बंधन किसके लिये?

आज भले ही पाण्डवों की सेना कौरवों के अधीन है, युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर चुके नरेश भी आज कौरवों के अधीन हैं और मैं यह भी समझती हूँ कि इन तेरह वर्षों में कौरवों ने भारी युद्ध की संभावना से अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार कर लिया है तथा दीर्घ अवधि के चिंतन के पश्चात अब युधिष्ठिर के भीतर युद्ध की इच्छा समाप्त हो गयी है। किन्तु मैं तो अपना अपमान नहीं भूली हूँ; केवल अपने अपमान के बदले के लिये ही तेरह वर्षों तक आठों प्रहर संतप्त करने वाले जीवन को जीती रही।

क्यों पाण्डवों को मेरे भीतर की स्त्री नहीं दिखाई देती, जो अपने सुख दुःख, मान अपमान के लिये पति का मुँह देखती रहती है। मेरे भीतर की स्त्री तेरह वर्ष से वहीं खड़ी अपने सामर्थ्यवान पतियों की ओर आशा से देख रही है कि वे उसके अपमान का बदला लेंगे; सखा कृष्ण पर विश्वास करके बैठी है कि उसके संतप्त हृदय को शीतल करने के लिये कौरवों का नाश करेंगे। वह स्त्री, जो अपने भाई शिखंडी की प्रतिज्ञा के कारण चुप होकर बैठी है... वह स्त्री, जो अपने भाई

धृष्टद्युम्न के बल और सामर्थ्य के कारण धैर्य धारण करके बैठी हैं कि वे भरी सभा में मेरे अपमान को मौन होकर देखने वाले भीष्म और द्रोण का वध करेंगे। मैं आज तक नहीं समझ पायी कि पितामह भीष्म, दुर्योधन और दुःशासन के आचरण पर मौन क्यों रहे? क्या उन्हें दुर्योधन के बल का भय था अथवा उन्हें अपने आदेश की अवहेलना का अंदेश था? दोनों ही स्थितियों में उनका अपमान मेरे अपमान से तो कम ही होता न।

मुझे न तो शांति चाहिये और न ही संधि; मुझे तो बस अपने अपमान का बदला चाहिए, जो केवल कौरवों के नाश से ही मिल सकती है। क्यों पाण्डव मुझ हाड़ माँस की कृष्णा की पीड़ा को परे ढकेलकर केवल भीष्म, द्रोणाचार्य और दुःशासन के जीवन को तुला के एक पलड़े पर रख कर लाभ-हानि का विचार कर रहे हैं।

क्या अधिकार है पाण्डवों को दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि के प्राणों का इस प्रकार से मूल्यांकन करने का? पाण्डव भी तो मेरे उतने ही दोषी हैं जितने कौरव। यदि मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार, मंत्रणा का विषय नहीं था, तो मुझे अपमानित करने वाले के जीवन पर मंत्रणा क्यों? यदि उनकी इच्छा मुझे अपमानित करने की थी तो पाण्डवों की उनके वध की क्यों नहीं? मेरे दोषी तो दोनों समान रूप से हैं किन्तु मैं सीता की भाँति इनका परित्याग नहीं कर सकती क्योंकि मुझे अपने अपमान का बदला लेने के लिये इनका ही आश्रय लेना है। युधिष्ठिर से भी अपने अपमान का बदला मैं तेरह वर्षों से उनकी धर्म की अवधारणा पर निरंतर चोट करके लेती रही हूँ। मैं उनके समक्ष प्रश्न खड़े करती हूँ, उन्हें निरुत्तर होकर मार्ग बदलते पलायन करते देखती रहती हूँ; जो भाई इनके निर्णय पर मन में भी प्रश्न नहीं उठाते थे, वह कभी मौन होकर कभी मुखर होकर उनकी भ्रष्टता कर रहे हैं और युधिष्ठिर पीड़ित, लज्जित और अपमानित सब सह रहे हैं। उनके दुष्कर्म को मैंने और समय ने तेरह वर्षों तक निरंतर दंडित किया है।

आज महाराज धृतराष्ट्र के संदेशवाहक विदुर पुत्र संजय, पाण्डवों से यह प्रश्न कर रहे हैं कि, युधिष्ठिर राजसूय करने के पश्चात् युद्ध जैसा पाप क्यों करना चाहते हैं? द्रोण, भीष्म, दुर्योधन और शकुनि का वध करके वह क्या पाना चाहते हैं?

मेरा मन कह रहा था कि मैं कहूँ कि मैं भी वही पाना चाहती हूँ जो मुझे दाँव पर लगाने के लिये प्रोत्साहित करके शकुनि ने पाया। रक्षा की आर्त पुकार को अनसुनी करके भीष्म पितामह ने पाया, चीर हरण का प्रयास करके दुःशासन ने पाया और अश्लील शब्दों और संकेतों से मुझ पर प्रहार करके दुर्योधन ने जो पाया, वही मुझे भी प्राप्त होगा। उस खेल की दूसरी पारी भी तो होगी। दूसरी पारी के खेल के बिना खेल पूरा नहीं होता। जिस क्रीड़ा का आरम्भ कौरवों ने किया था उस खेल की दूसरी पारी तो पाण्डवों को खेलनी ही पड़ेगी।

महाराज विराट की सभा में सखा ने दूत के माध्यम से महाराज धृतराष्ट्र को अवश्य चेतावनी दी थी कि, “महाराज की सभा में पाण्डवों के साथ जो भी छल अन्याय हुआ, उसे एक नरेश और कुल के श्रेष्ठ पुरुष होते हुए भी आपने न तो उसे रोकने का प्रयास किया और न ही अपराधी को दण्डित किया; भीष्म आदि गुरुजनों ने जो पांचाली के अपमान की उपेक्षा की थी, उस सारे अपमान की स्मृति किसी के मानस पटल से लुप्त नहीं हुई है, किन्तु यदि राज्य, कोष, सैन्य बल, पशुधन, तेरह वर्षों में कर के रूप में एकत्रित संपत्ति, सब कुछ सम्मान के साथ लौटा दें और दोनों पक्ष परस्पर अनुशासित ढंग से व्यवहार करें तो संधि स्वीकार होगा... मैं स्वयं बिगड़ी स्थिति को बनाने के लिये हस्तिनापुर आऊँगा; यदि संधि सफल रही तो कौरव सुख से हस्तिनापुर में

रहेंगे”

मैं हताश हो गयी। मेरे सखा आज पाण्डवों के मत से सहमत हैं, वे भी संधि और शांति के पक्ष में हैं। तेरह वर्षों की संचित अपमान की पीड़ा क्षोभ जो मेरी शक्ति के रूप में मेरे हृदय में धधक रही थी, सखा के पाण्डवों की संधि और शांति की नीति का अनुमोदन करते ही आँखों से विवशता बनकर बहने लगी। अब मैं किसको अपना संबल समझती और किससे अपनी मनोव्यथा कहती? मैं अलग कब थी सखा से? अपना मान-अपमान सुख-दुःख सब कुछ सौंप दिया था... उसके बाद जो कुछ मेरे पास बचा था वह आज आँखों से बह रहा था।

मानव अपना विश्वास किसी को सौंपकर बहुत बड़ी शक्ति पा लेता है, मैंने भी पायी थी। मेरी शक्ति सखा में छुपी हुई थी अन्यथा मुझमें कुछ भी नहीं था; किन्तु अब जो कुछ हो रहा था उसका परिणाम जानती हूँ, आजीवन अपमान की ज्वाला में जलना।

मेरे जीवन में क्यों ऐसे क्षण आते हैं जब मुझे सोच विचार, तर्क वितर्क से स्वयं को अलग कर लेना पड़ता है और तब लगता है कि मैं एकदम खोखली हो गयी हूँ कुछ भी नहीं बचा है मेरे पास। आज भी संधि की बात सुनकर लग रहा है कि मैं एकदम खोखली हूँ। जिसे मैं अपनी शक्ति समझती थी, वह नितांत मेरा भ्रम था। संधि होते ही मैं कच्ची मिट्टी की मूर्ति की भाँति बिखर जाऊँगी, जिसे पुनः नहीं जोड़ा जा सकता है।

सखा ने अपने शयनकक्ष में संजय को बुलवाया। वहाँ पार्थ, सखा सत्यभामा और मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं था। सखा के पैर को गोद में लेकर पार्थ तथा दूसरे को सत्यभामा दबा रही थीं। सखा ने संजय को शयनकक्ष में बुलवाया तो मुझे आश्चर्य हुआ दूत को सभा में संदेश व पत्र दे दिया गया था, किन्तु अब इस समय इस प्रकार शयनकक्ष में बुलाने का अर्थ मैं नहीं समझ पा रही थी।

संजय, दासी के साथ द्वार पर खड़े हुए तो मैं शय्या से उठने लगी, किन्तु सखा ने मना कर दिया। संजय ने द्वार पर खड़े होकर अभिवादन किया। सखा ने उन्हें कक्ष के भीतर अपने निकट आने का संकेत किया और बैठकर संजय से कहने लगे, “आपने सभा में महाराज धृतराष्ट्र के संदेश का उत्तर सुना और पाण्डवों के प्रस्ताव को भी, किन्तु मैं जो कह रहा हूँ उसे ध्यान से सुनें और जब भीष्म और द्रोणाचार्य सुन रहे हों, तभी मेरा संदेश महाराज से कहना कि, “सभी कौरववंशी विभिन्न प्रकार के दान यज्ञों का अनुष्ठान कर लें, पत्नी संतानों के साथ आनंद भोग लें, क्योंकि अब आप लोगों पर बहुत बड़ा संकट आ पहुँचा है। जब कृष्णा का चीर हरण हो रहा था तो मैं हस्तिनापुर से बहुत दूर था... उस समय मेरी सखी ने मुझे आर्त स्वर में अनेक आत्मीय संबोधनों से पुकारा था; उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और वह ऋण दिन-रात बढ़ता ही जा रहा है। जिसके पास गांडीव है और जिसका सहायक और मित्र मैं हूँ, उसके साथ कौरवों ने वैर बढ़ाया है। जो व्यक्ति अर्जुन को जीत सकता है वह अपनी भुजा से पृथ्वी को उठा सकता है, समस्त देवताओं को पृथ्वी पर गिरा सकता है।” सखा इतना कह कर चुप हो गये।

संजय अभिवादन करके चले गये।

मैं आश्चर्यचकित एवं अभिभूत थी। कुछ समय पूर्व की हताशा ने मुझे खोखला कर दिया था, किन्तु सखा ने मुझे टूटने से बचा लिया और क्षण मात्र में मेरे भीतर की वही पुरानी याज्ञसेनी साँस लेने लगी। सखा ने स्वयं दूत बनकर हस्तिनापुर जाने का निर्णय लिया है। युधिष्ठिर तो मेरा सर्वनाश करके सदैव से ही शांति और सद्भाव के पक्ष में हैं, किन्तु अब भीमसेन की बातों से मुझे भय लग रहा है। वे भी युधिष्ठिर की भाँति शांति की प्रशंसा, पार्थ की दया की भावना का समर्थन

और भीष्म आदि से सौहाद्र बनाये रखने की प्रार्थना करने लगे हैं। मुझे लगता है कि अब भीमसेन को अपने बल पर विश्वास नहीं रहा और वे भी अब भयवश सौहाद्र बनाये रखने की बात कर रहे हैं, या वे अपनी प्रतिज्ञा को भूल गये हैं?

मैं चुपचाप बैठी सभी लोगों की बातों को सुनकर दुःखी हो रही थी। सबके मौन हो जाने पर मैंने कहा, “हे केशव! आपके वहाँ जाने पर दुर्योधन यदि बिना राज्य दिये संधि करना चाहे तो आप उसे किसी प्रकार स्वीकार न कीजिएगा, पाण्डव लोग सृजय वीरों के साथ दुर्योधन की सेना का भली भाँति सामना कर सकते हैं। हे जनार्दन! जो वध के योग्य न हो उसका वध करने से महान पाप लगता है, किन्तु जो वध के योग्य है, उसका वध न करने से भी पाप की प्राप्ति होती है, अतः आप ऐसा प्रयास करें जिससे आपको पाप की प्राप्ति न हो। हे माधव! इस पृथ्वी पर कौन स्त्री होगी जो इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होते हुए भी केश पकड़कर सभा में लाई गयी हो और अपमानित की गई हो। ये मेरे पति सब कुछ देखते रहे, न तो इन्हें क्रोध आया और न ही इन्होंने मुझे छुड़ाने की चेष्टा की। उस समय केवल आपने ही मेरी रक्षा की और यदि आप मुझसे स्नेह करते हैं, आपकी मुझ पर कृपा है, तो शत्रुओं के साथ संधि की इच्छा से जो भी प्रयास करें, उन सब में दुःशासन द्वारा स्वींचे गये मेरे इन केशों को याद रखें।” मैंने पीठ पर पड़ी बालों की मैली मोटी लट को समेटकर सखा के आगे कर दिया। उसमें बहुत कुछ लिपटा दिखा। हस्तिनापुर के सभा का मौन, दुर्योधन का अट्टहास, दुःशासन द्वारा उन्हें स्वींचे जाने की पीड़ा, पतियों का मौन, मेरी दिव्य उत्पत्ति व पितृकुल का अपमान, सर्वशक्तिमान श्रीकृष्ण की सखी का अपमान और भी बहुत कुछ और वह बहुत कुछ मैं अपने केशों में लपेटे हुए ढो रही थी। अपने इन केशों का सौन्दर्य वर्णन पहले मैं निरंतर सुनती रहती थी। कवि लोग इनके लिये नई नई उपमाएँ और रूपक भी गढ़ते थे। किन्तु वे तेरह वर्षों से खुले, सेवा और शृंगार विहीन होकर लटों का रूप धारण कर चुके थे। सखा उन्हें देखकर दुःखी हो गये। किन्तु दूसरे ही क्षण उनके मुख पर उनका निश्चय उभर आया। उनके मुख पर दृढ़ निश्चय देखकर मेरा विश्वास भी दृढ़तर हो गया। मैंने पुनः कहा, “हे श्रीकृष्ण! यदि भीम, अर्जुन कायर होकर संधि की कामना करेंगे, तो मेरे वृद्ध पिता अपने महारथी पुत्रों और मेरे पराक्रमी पुत्र प्रतिबिन्ध्य को प्रधान बनाकर कौरवों से युद्ध करेंगे।” कहते कहते मेरा हृदय दुःखी हो गया और बाणी कंपित होने लगी।

कौरवों से प्रतिशोध की अग्नि को मैंने अपने अंतःकरण में धारण करके प्रतीक्षा करते हुए तेरह वर्ष व्यतीत किया था और आज पाण्डवों की, कौरवों के साथ संधि करने का विचार सुनकर मेरा कलेजा फटने लगा था। सखा ने मुझे सांत्वना दी, “सखी! तुम जिन पर क्रुद्ध हो, उनकी पत्नियों को तुम उनके पतियों पुत्रों के शव से लिपटकर विलाप करते देखोगी; मैं युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के साथ वही करूँगा जो तुम चाहती हो; मुझे तुम्हें दिया गया वचन और प्रतिज्ञा का स्मरण है और मैं पुनः प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम शीघ्र ही शत्रुओं का संहार देखोगी। सखी, आँसुओं को रोक लो, मैं इन्हें नहीं सह पाता हूँ और दूत कर्म तक मैं अपने धैर्य को बनाये रखना चाहता हूँ, किन्तु तुम्हारे आँसू मुझे अधीर कर देते हैं, तुम शीघ्र ही हस्तिनापुर की राज्य लक्ष्मी बनोगी।”

सखा प्रस्थान करने लगे तो मैंने सखा को प्रणाम किया। हृदय में विश्वास था। मन ही मन सखा से कहा, मेरे लिये इस विश्व में सखा केवल तुम ही हो, हर संकट में तुम्हारी ही ओर आशा से देखती हूँ कि तुम मेरे संकट को काटोगे, मेरी इच्छापूर्ति का साधन बनोगे और इसी आशा और

विश्वास के सहारे मैंने तेरह वर्ष का जीवन अपमान की अग्नि में जलते हुए बिताया है।

सखा के जाने के बाद मैं कक्ष में आकर लेट गयी। कई दिनों की दुविधा और मानसिक यंत्रणा ने मुझे थका दिया था, अब जाकर थोड़ी शांति मिली है। आज सखा हस्तिनापुर के लिये प्रस्थान करने लगे तो लगा कि सखा मात्र मेरे लिये ही हस्तिनापुर जा रहे हैं; संधि करने के लिये नहीं वरन् युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये।

मैं जब भी सखा के समक्ष अपना दुःख कहती हूँ तो सदैव उन्हें अपनी भावनाओं से जुड़ा पाती हूँ। मैंने हर बार उनके निर्णय और प्रतिज्ञा को अपने लिये दृढ़ से दृढ़तर होते देखा है, इसी कारण मैं अपनी रुलाई और क्रोध दोनों ही सखा के समक्ष नहीं रोक पाती हूँ। सखा मेरे दुःख को समझते हैं और सहृदयता से मेरे मन के साथ जुड़कर मेरे दुःख का अनुभव करते हैं तो मेरा मन हल्का हो जाता है और साथ ही साथ मैं पाण्डवों की भाँति सखा को भी अपना अपमान नहीं भूलने देती तो लगता है समय आने पर सखा समस्त कौरव कुल का संहार करके मेरे अपमान का बदला अवश्य लेंगे।

मैं किसी से अपना दुःख नहीं कह सकती हूँ। यह मेरा अपना ओढ़ा हुआ युद्ध है, उस युद्ध की चोटों को मुझे सहना ही है और इस युद्ध में कभी कभी उभर आने वाली हताशा को भी मुझे एकदम अकेले भोगना है। इस अकेले मन के एक कोने में सखा बहुत सारे अपनों से बहुत अधिक मेरे अपने और निकट हैं। उनसे मैं अपना हर सुख दुःख, हताशा, कुंठा सब कुछ बाँटती हूँ। कोई परदा नहीं है मेरे और सखा के बीच। कभी कभी तो लगता है कि सखा मेरे मन हैं, जिसके भीतर सब कुछ पूरी सच्चाई के साथ रहता है... मन में मन से तो परदा नहीं किया जा सकता है।

मैंने अपनी बात क्रोध में समाप्त की थी और अब मैं चुपचाप लेटी हूँ। जब सब कुछ ठहरा हुआ सा लगता है, कहीं कोई गतिविधि नहीं होती, पाण्डवों के हृदय का क्रोध धीमा पड़ने लगता है, संधि और सद्भावना की बातें होने लगती हैं तो मेरा मन करता है कि मैं अपना सिर सखा के पैरों पर पटक कर रोऊँ। यदि सखा के पैर पत्थर के होते तो कितना अच्छा होता; मैं उन पर अपना सिर पटक पटक कर अपने प्राण त्याग देती। मेरा मन कभी कभी स्वयं को आहत करने के लिये करता है ताकि मन की पीड़ा थोड़े समय के लिये ही सही, तन की पीड़ा से दब जाये... किन्तु सखा के पैर तो कोमल हैं, उन पर अपना सिर पटकने से मेरा दुःख कम नहीं होगा... हाँ, सखा अवश्य आहत होंगे। सखा आहत हों यह तो मैं नहीं सह सकती।

मन के दुःख को हल्का करने के लिये सखा से अपना दुःख कहती हूँ, किन्तु मन हल्का होने के साथ साथ भारी भी होने लगता है। क्यों सखा को पीड़ा देती हूँ? वे मेरा दुःख मेरे मुँह से सुनकर दुःखी हो जाते हैं। सब कुछ तो उन्हें ज्ञात है, किन्तु जब मेरी अपनी वेदना इतनी भारी हो जाती है कि मैं उसे नहीं सह पाती हूँ तो यह जानते हुए भी कि सखा से कहने के बाद मैं ही दुःखी होऊँगी, पछताऊँगी; फिर भी कहती हूँ। बस उतने समय के सुख के लिये जितने समय तक सखा सुनते हैं, मेरा दुःख बँटा हुआ सा लगता है। सखा समझाते हैं तो दुःख हल्का लगने लगता है। बाद के दुःख को मैं अकेली ही भोगती हूँ, पछताती हूँ और अधिक उदास होती हूँ।

* * *

सखा हस्तिनापुर से लौट आये। उनका मुख देखकर किसी प्रकार का अनुमान लगाना असम्भव था। वे सबके बीच इस प्रकार से सहज होकर बैठे थे कि जैसे हस्तिनापुर से नहीं, द्वारका से आये हों। सखा को इस प्रकार से देखकर सबकी उत्सुकता बढ़ रही थी। सखा ने स्नान किया,

जलपान किया और आराम से बैठकर अपनी यात्रा का वर्णन करने लगे। मैं भी सखा के पास बैठ गयी। कौरवों ने मार्ग में उनके विश्राम के लिये व्यवस्था करवायी थी, किन्तु सखा बिना उनकी व्यवस्था स्वीकार किये ही हस्तिनापुर पहुँचे। हस्तिनापुर पहुँचने पर दुर्योधन के अतिरिक्त धृतराष्ट्र के अन्य पुत्रों ने श्रीकृष्ण की अगवानी की। महाराज धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्ण को स्वर्णजड़ित रथों, घोड़ों, मदमस्त हाथियों, दास दासियों, रत्नों को उपहार में देना चाहा था, किन्तु सखा ने यह कहते हुए मना कर दिया कि जिस प्रयोजन से आया हूँ उसके सफल होने के पश्चात ही मैं उपहार स्वीकार करूँगा। दुःशासन के महल में श्रीकृष्ण के विश्राम की व्यवस्था की गयी थी। दुर्योधन ने उन्हें भोजन के लिये निमंत्रित किया था, किन्तु सखा ने यह कहते हुए कि, “किसी का अन्न दो कारणों से ग्रहण किया जाता है; या तो विपत्ति में अथवा प्रेम वश... प्रेम तुम रखते नहीं हो और विपत्ति में मैं हूँ नहीं।” दुर्योधन का निमंत्रण अस्वीकार करके महामंत्री विदुर के घर चले गये। उन्होंने माता कुंती से कुशलता का आदान-प्रदान किया और वहीं पर भोजन और शयन किया।

महात्मा विदुर ने सखा से महाराज की मंशा का वर्णन किया कि दुर्योधन किसी भी प्रकार से पाण्डवों का राज्य व धन लौटाने के लिये तैयार नहीं है और दुर्योधन की बातों और हठ से क्रुद्ध होकर वे सभा को त्यागकर घर चले आये। गांधारी ने भी उसे समझाने का प्रयास किया किन्तु व्यर्थ। विदुर ने सखा को दुर्योधन की दुर्भावना से सचेत रहने का भी संकेत किया कि वह समझता है कि कर्ण के बल पर वह सबको जीतने में समर्थ है।

दूसरे दिन सखा ने कौरवों की सभा में जाकर युधिष्ठिर का संदेश कहा कि, जुए की शर्त के अनुसार हम सबने बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास काट लिया है, अब उसी शर्त के अनुसार हमारा राज्य और धन हमें लौटा दें तो युद्ध नहीं होगा। सखा ने धृतराष्ट्र से कहा कि, आपका कुल समस्त राजकुल में श्रेष्ठ है; लोभवश आपके पुत्रों ने अमर्यादित आचरण किया है... आप अपने पुत्र पर नियंत्रण करें और संधि के लिये प्रयास करें; दोनों के एक साथ रहने से आप सम्पूर्ण जगत के लिये अजेय हो जायेंगे; युद्ध में पाण्डव मारे जायें अथवा आपके पुत्र, उस दशा में आपको कौन सा सुख प्राप्त होगा?

महाराज धृतराष्ट्र के अनुरोध पर सखा ने दुर्योधन को भी समझाने का प्रयास किया कि वह पिता की आज्ञा मान ले, जिससे उसका व सम्पूर्ण कुल का कल्याण हो। जिनकी बुद्धि के सहारे चलकर वह अपने लिये संकट उत्पन्न कर रहा है उनकी बुद्धि उसे युद्ध में भी विजय नहीं दिला पायेगी। भीष्म ने भी कहा कि तुम्हारा यह आचरण सम्पूर्ण कुल का विनाश करने वाला है। महाराज ने भी उससे कहा कि वह श्रीकृष्ण के साथ जाकर युधिष्ठिर से संधि कर ले, किन्तु दुर्योधन ने कहा कि, “पहले भी आपने जो राज्य पाण्डवों को दिया था वह अनुचित था; उस समय मैं छोटा था, किन्तु मैं अब सूर्य की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा।”

दुर्योधन के उत्तर से सखा क्रुद्ध हो गये और कहा कि, मूर्ख अब तुम्हारे कारण बहुत बड़ा संहार होगा और तुझे रणभूमि में वीरगति ही मिलेगी। तुमने पाण्डवों के प्रति जो अपराध किया है उसकी कभी तुमने अपने हृदय में विवेचना की है? बाल्यकाल में भीम को विष दिया, वरणावत में सबको जला कर मारने का प्रयास किया, कपट से जुआ खेला, द्रौपदी का अपमान किया, वनवास के समय भी कठोर वचन कहे। गांधारी ने धृतराष्ट्र की निंदा की, कि आपने समय पर दुर्योधन पर नियंत्रण नहीं लगाया, उसकी उचित अनुचित हर इच्छा को स्वीकार करते रहे, अतः आप ही इस

अनर्थ की जड़ हैं। गांधारी ने दुर्योधन को भी समझाने का प्रयास किया कि यदि तुम समझते हो कि पितामह और द्रोणाचार्य तुम्हारी ओर से युद्ध करेंगे तो यह तुम्हारा भ्रम है, क्योंकि उनके लिये राज्य चाहे तुम्हारे पास रहे चाहे युधिष्ठिर के पास, उन्हें अन्तर नहीं पड़ेगा, वे तुम्हारी ओर से अपने प्राणों की आहुति दे देंगे, किन्तु पाण्डवों की ओर वक्र दृष्टि भी नहीं डालेंगे। सब कुछ लोभ से नहीं प्राप्त होता अतः तुम पाण्डवों से संधि कर लो।

दुर्योधन ने षड्यंत्र से सखा को बंदी बनाने का प्रयास किया, किन्तु सात्यकी ने उसके षड्यंत्र का सभा में भंडाफोड़ कर दिया। तब सखा ने महाराज धृतराष्ट्र से कहा कि, दुर्योधन मुझे पकड़ना चाहता है तो आप उसे आदेश दें, फिर देखें कि कौन किसे बंदी बनाता है; मैं आज ही इसे पकड़कर पाण्डवों को सौंप दूँगा।

सखा ने कहा कि उन्होंने कर्ण को भी समझाने का प्रयास किया कि वह दुर्योधन का साथ छोड़ दे, इससे युद्ध नहीं होगा, लाखों लोगों का जीवन बच जायेगा, किन्तु कर्ण ने अस्वीकार कर दिया। मैं कर्ण के संबंध में सखा से अधिक सुनना चाहती थी, किन्तु सखा ने बहुत ही संक्षेप में अपनी बात समाप्त कर दी। मुझे लग रहा था कि कर्ण के विषय में सखा मुझसे कुछ कहना नहीं चाहते हैं। संधि का प्रयास असफल रहा, अब युद्ध अवश्यभावी था।

मैं कर्ण के विषय में पहले बहुत कम जानती थी। स्वयंवर में उन्हें अस्वीकार करने के पश्चात् मेरी जिज्ञासा कर्ण पर बढ़ने लगी थी, किन्तु लज्जावश कभी भी सखा से नहीं पूछ पायी। कर्ण मेरे स्वयंवर में एक बिजली की चमक की भाँति अवतरित हुए और मेरे समक्ष अनेक प्रश्न छोड़कर चले गये। आज सखा ने जब स्वयं कर्ण की चर्चा की तो मेरी दबी उत्कंठा जाग गयी। मैंने अवसर पाकर सखा से पूछ लिया।

सखा ने मुझे बताया कि सूतपुत्र अधिरथ को अश्व नदी में एक काष्ठ पेटी में नवजात शिशु मिला था, उस शिशु के शरीर पर दिव्य कवच और कानों में कुण्डल थे। निःसंतान अधिरथ और उसकी पत्नी राधा ने उसे अपना पुत्र मान कर उसका पालन पोषण किया। कर्ण, द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त करना चाहता था किन्तु द्रोणाचार्य उसे अपना शिष्य नहीं बना रहे थे, क्योंकि वह उन्हें अर्जुन के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में दिखाई दे रहा था। द्रोणाचार्य पहले भी उन्हें गुरु मानकर धनुर्विद्या का अभ्यास करने वाले महान धनुर्धर एकलव्य के दाहिने हाथ का अँगूठा गुरुदक्षिणा में माँग चुके थे। कर्ण इस सत्य से परिचित थे और वे परशुराम के पास चले गये।

परशुराम के विषय में सर्वाविदित था कि वे ब्राह्मणेतर जाति को शिक्षा नहीं देते... इस कारण जब उन्होंने कर्ण के तेजोदीप्त शरीर को देखा तो उन्हें लगा कि वह ब्राह्मण पुत्र ही होगा। कर्ण ने भी उनकी भ्रांति का खंडन नहीं किया और उन्होंने परशुराम से सभी प्रकार के अस्त्र शस्त्रों के संचालन की शिक्षा प्राप्त की। कर्ण के अनुरोध पर परशुराम ने उन्हें दिव्यास्त्रों के आवाहन, संचालन और शमन की भी शिक्षा दी। हस्तिनापुर में राजकुमारों के लिये आयोजित प्रतियोगिता में उसने अपने कौशल का प्रदर्शन किया और अर्जुन के साथ प्रतियोगिता की चुनौती दी, किन्तु कृपाचार्य ने जाति के आधार पर इसे अस्वीकार कर दिया। उसी समय दुर्योधन ने अपना अंग राज्य देकर उसे राजा बनाकर अपना मित्र बना लिया। तब से कर्ण, दुर्योधन का मित्र है और उसकी शक्ति भी। कुछ क्षण सखा चुप रहे। मैं भी मौन होकर उनके आगे कुछ कहने की प्रतीक्षा करने लगी। परशुराम के समक्ष कर्ण, ब्राह्मण रूप धारण करके गये थे। शिक्षा पूर्ण हो चुकी थी। एक दिन परशुराम एक वृक्ष के नीचे कर्ण की जंघा पर सिर रखकर विश्राम करने लगे। उन्हें निद्रा

आ गयी। इस बीच एक भ्रमर ने कर्ण की जंघा को काटना आरम्भ कर दिया। कर्ण अविचलित बैठे रहे ताकि गुरु की निद्रा न टूटे। जब कर्ण का रक्त परशुराम के शरीर को स्पर्श करने लगा तो उनकी निद्रा टूट गयी। उन्हें कर्ण की सहनशक्ति पर आश्चर्य हुआ। परशुराम ने कहा कि “ब्राह्मण इतनी पीड़ा नहीं सहन कर सकता है, बता तू कौन है?” कर्ण ने सत्य निवेदन किया किन्तु परशुराम संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कहा कि, “तेरे सारे लक्षण क्षत्रियों के हैं; तुमने छल करके मुझसे विद्या प्राप्त की है अतः तुम्हें जब इस विद्या की सबसे अधिक आवश्यकता होगी, उस समय तुम उसे भूल जाओगे।” कर्ण ने कहा कि उन्होंने विद्या प्राप्ति के लिये छल नहीं किया; परशुराम ने उनसे उनकी जाति नहीं पूछी, इस कारण कर्ण अपनी ओर से मौन रहे। कर्ण ने भ्रम के लिये क्षमा याचना भी की, किन्तु परशुराम ने उन्हें क्षमा नहीं किया।

थके आहत कर्ण, परशुराम के आश्रम से लौटने लगे। मार्ग में उन्हें झाड़ियों में हिंसक पशु होने का भ्रम हुआ और उन्होंने बाण छोड़ दिया। वह बाण एक गाय के हृदय में लगा और वह वहीं मृत हो गयी। गाय एक ब्राह्मण की थी, जो भटक कर चली गयी थी। उसी समय उसे ढूँढ़ता हुआ वह ब्राह्मण भी घटना स्थल पर पहुँच गया और उसने क्रोध में कर्ण को शाप दिया कि, “जब तुम्हारे पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं होगा, उस समय तुम मारे जाओगे।” कर्ण ने कहा, “मैं मरने से नहीं डरता, किन्तु एक योद्धा की भाँति मरना चाहता हूँ; कृपया आप अपना शाप वापस ले लीजिये, किन्तु क्रुद्ध ब्राह्मण ने अपना शाप वापस नहीं लिया। आज कर्ण अपनी असीम शक्ति के साथ साथ दो अभिशापों को भी ढो रहे हैं।”

मैं सोचने लगी, सखा कर्ण के विषय में सब कुछ जानते हैं किन्तु कभी भी मुझको इसका आभास नहीं होने दिया।

15. महासमर

अंततः युद्ध आरम्भ हो गया। पितामह ने इस युद्ध को धर्म की रक्षा के लिये लड़ा जाने वाला युद्ध कह कर 'धर्मयुद्ध' की संज्ञा दी थी। इसके लिये पितामह ने स्पष्ट नियम बनाये थे। सारथी, सेवकों, वाद्य वादकों पर प्रहार नहीं होगा, निःशस्त्र पर प्रहार नहीं किया जायेगा; पैदल पैदल से, रथी रथी से, अश्वारोही अश्वारोही से युद्ध करेगा। सायंकाल दोनों पक्षों के लोग एक दूसरे के पक्ष में आ जा सकेंगे और युद्ध क्षेत्र के बाहर सुरक्षित स्थानों पर दोनों पक्षों की महिलायें रह सकती हैं, उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं किया जायेगा। इसके लिये सम्राट पंचक का विशाल भूभाग युद्ध क्षेत्र के लिये चुना गया। कौरवों ने उस स्थान पर अपनी व्यवस्था प्रारम्भ कर दी। युद्ध के आरम्भ के लिये सूर्य के तुला राशि में संक्रमित होने के बीस दिन पश्चात् की तिथि निश्चित की गयी। कौरवों ने सम्राटपंचक का विशाल भूभाग अपने लिये अधिकृत करके उसे कुरुक्षेत्र का नाम दिया। कुरुक्षेत्र के थोड़े अंतर पर पाण्डवों के शिविर स्थापित होने लगे। पाण्डवों का परिवार कुरुक्षेत्र के निकट ही उपप्लव्य नगर में अपना निवास बनाकर रह रहा था।

उपप्लव्य नगर में रहते हुए पाण्डवों ने मित्रों को संदेश देकर सात अक्षौहिणी सेना एकत्र कर ली, जिसमें युयुधान, शिशुपालपुत्र, धृष्टकेतु और जरासंध पुत्र जयन्तसेन की एक एक अक्षौहिणी सेना थी। पाण्ड्य देश, विराट, द्रुपद एवं पहाड़ी राज्यों की कुल मिलाकर चार अक्षौहिणी सेना एकत्र हो गयी थी। कौरवों के पक्ष में कामरूप का राजा भगदत्त अपने चीनी और किरात सैनिक के साथ आया था। भूरिश्रवा, शल्व, कृतवर्मा एक एक अक्षौहिणी सेना के साथ आये थे, जयद्रथ सिंधु सौवीर के राजाओं के साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर आया। कम्बोज के सुदक्षिण नामक राजा शक और यवन सैनिकों की एक अक्षौहिणी सेना लेकर पहुँचा था। अवन्तिराज एवं महिष्मती के नील एक एक अक्षौहिणी सेना के साथ पहुँच रहे थे। कैकेय नरेश अपने पाँच भाइयों एवं एक अक्षौहिणी सेना के साथ कौरव दल में सम्मिलित हुए और इधर-उधर से मिलाकर तीन अक्षौहिणी सेनाओं के साथ कौरव पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हो गयी थी। हस्तिनापुर में स्थान नहीं था अतः पंचनद, कुरुजांगल, रोहितक, वाटधान, यमुना का उपरला प्रदेश, पर्वत में कालकूट जनपद एवं गंगा के किनारे तक छावनियों का ताँता लग गया। युद्ध की आवश्यकता की दृष्टि से पाण्डवों ने सेना के सात हिस्से किये और द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकी, चेकितान और भीमसेन एक एक भाग के नायक बने और सेना नायक के पद पर धृष्टद्युम्न का अभिषेक किया गया।

पार्थ और दुर्योधन दोनों ने सखा से सहायता माँगी थी। सखा ने कहा कि एक ओर मेरी नारायणी सेना है और दूसरी ओर निःशस्त्र मैं रहूँगा। पार्थ ने सखा को चुना; दुर्योधन नारायणी सेना प्राप्त करके प्रसन्न हो गया। सखा ने कहा कि मैं पार्थ का रथ चलाऊँगा। कौरवों की सेना विशाल थी। उसमें भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा आदि योद्धा थे।

एक दिन बिना किसी पूर्व सूचना के बलराम जी पधारे और युधिष्ठिर से कहने लगे “अब इस संसार का सर्वनाश होने वाला है, क्योंकि शांति के सारे प्रयास विफल हो चुके हैं; मैंने कृष्ण से कहा कि तुम जिस पक्ष में हो तो मैं उसके विपक्ष में कैसे जाऊँ? भीम और दुर्योधन दोनों ने ही मुझसे गदा विद्या सीखी है और दोनों ही मुझे प्रिय हैं; मैं दोनों को लड़ता नहीं देख सकता। मुझे

इस संसार से वैराग्य हो गया है अतः मैं तीर्थ करने जा रहा हूँ” कुछ समय विश्राम करके बलराम जी ईश्वर को स्मरण करके तीर्थ यात्रा पर चले गये।

मैंने अपने पतियों के साथ युद्ध क्षेत्र के निकट उनके शिविर में रहने का निर्णय किया और प्रातःकाल मैंने उन्हें तिलक लगाकर मंगल कामनाओं के साथ युद्ध के लिये विदा किया। कौरवों की ओर से पितामह भीष्म ने सेना नायक के रूप में युद्ध के लिये शंख घोष किया। आज पितामह एक सौ अस्सी वर्ष की आयु में भी दुर्धर्ष योद्धा हैं।

मैं पितामह पर पूरी तरह से विश्वास नहीं कर पाती हूँ। जो व्यक्ति अपनी समस्त इच्छाओं, कामनाओं को एक प्रतिज्ञा करके जीवन भर के लिये त्याग सकता है; जिसकी दृष्टि में मानव जीवन उसकी प्रतिज्ञा के आगे तुच्छ है... और मैं यह भी मानती हूँ कि पितामह हम लोगों से प्रेम करते हैं, किन्तु जब उनके समक्ष चुनाव की स्थिति आयेगी तब वे अपनी प्रतिज्ञा को ही चुनेंगे, जिसके लिये वे आजीवन जीते रहे हैं; किन्तु मेरे पति मेरे विचार से सहमत नहीं हैं।

मैं पितामह और द्रोणाचार्य की विवशताओं को समझ रही थी। वे केवल हस्तिनापुर राज्य के अंतर्गत रहने के कारण युद्ध क्षेत्र में उतर रहे हैं। उनका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। द्रोणाचार्य, जिनके जीवन में अश्वत्थामा के बाद अर्जुन ही प्रिय हैं, उसी शिष्य के विरुद्ध वे आज कितनी अनिच्छा से उतरे हैं। आज शक्ति दुर्योधन के पास है, कल युधिष्ठिर महाराज होंगे इससे इनके जीवन में कोई अंतर नहीं आयेगा, इसे मूर्ख दुर्योधन समझ ही नहीं पा रहा है; वह तो चाहेगा कि जिस प्रकार से वह पाण्डवों के साथ ईर्ष्या लोभ से भर कर युद्ध कर रहा है, उसी प्रकार पितामह और द्रोणाचार्य भी करें। पितामह ने स्पष्ट कर दिया था कि मैं कौरवों की ओर से युद्ध करूँगा, किन्तु पाण्डवों पर प्रहार नहीं करूँगा और प्रतिदिन दस हजार सैनिकों का वध करूँगा।

प्रतिदिन सायंकाल मैं, सखा और अपने पतियों से युद्ध क्षेत्र का वर्णन सुनती थी। कर्ण युद्ध क्षेत्र से बाहर हैं। पितामह द्वारा अपमानित होने पर उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि पितामह के जीते जी मैं युद्ध क्षेत्र में पैर नहीं रखूँगा। पहले दिन अभिमन्यु ने भीष्म के साथ युद्ध किया। शल्य ने विराट पुत्र उत्तर का वध कर दिया और विराट के दूसरे पुत्र श्वेत को भीष्म ने वीर गति दी। यह देखकर विराट के तीसरे पुत्र शंख ने भीष्म पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया था।

दूसरे दिन धृष्टद्युम्न ने क्रौंचारुण की रचना की और भीष्म से अर्जुन ने, द्रोणाचार्य से द्युम्न ने एवं भीमसेन ने कलिंग एवं निषादों की सेना से युद्ध किया।

तीसरे दिन कौरव सेना में भगदड़ मच गयी। दुर्योधन ने भीष्म पर आक्षेप किया, जिससे भीष्म अद्भुत पराक्रम दिखाने लगे। पाण्डव सेना विकल होने लगी। भीष्म के पराक्रम को रोकने के लिये श्रीकृष्ण रथ का चक्र लेकर उन पर झपट पड़े, इस पर उन्हें उनकी प्रतिज्ञा को स्मरण कराया गया। उस दिन कौरव सेना परास्त हुई।

चौथे दिन अर्जुन, भीष्म का द्वैरथ युद्ध हुआ। अभिमन्यु और द्युम्न ने पराक्रम दिखाया, भीमसेन ने गण सेना का संहार किया और भीष्म के साथ युद्ध किया, घटोत्कच ने भी पराक्रम दिखाया।

पाँचवें दिन दुर्योधन घबराया और उसके पक्ष से मकर व्यूह की रचना की गयी। पाण्डवों ने श्येन व्यूह रचा। पहले भीष्म और भीमसेन, उसके पश्चात भीष्म और अर्जुन का घनघोर युद्ध हुआ। विराट भीष्म, अर्जुन अश्वत्थामा, दुर्योधन भीम और अभिमन्यु एवं दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण ने आमने सामने युद्ध किया।

छठे दिन द्युम्न और द्रोणाचार्य का घोर युद्ध हुआ। भीमसेन ने दुर्योधन को परास्त किया।

अभिमन्यु और द्रौपदी पुत्रों ने कौरवों के साथ युद्ध किया।

सातवें दिन विराट ने द्रोणाचार्य को ललकारा और युधिष्ठिर ने भीष्म के साथ युद्ध किया। अन्य वीर भी परस्पर लड़े।

आठवें दिन घटोत्कच ने दुर्योधन, द्रोणाचार्य आदि के साथ युद्ध किया। उसकी माया से मोहित कौरव दल भागने लगा, तब भीष्म की आज्ञा से भगदत्त ने घटोत्कच को युद्ध में रोका। दुर्योधन ने कहा, “ऐसा कब तक चलेगा? आप पाण्डवों को मारिये या कर्ण को अनुमति दें।” अभिमन्यु ने द्रौपदी पुत्रों के साथ मिलकर राक्षसराज अलम्बुष के साथ युद्ध किया। अर्जुन ने त्रिगर्त सेना को परास्त किया। युधिष्ठिर नकुल सहदेव ने शकुनि की घुड़सवार सेना को परास्त किया और पुनः मद्वनरेश शल्य की सेना पर टूट पड़े। भीष्म के कारण पाण्डव सेना में भगदड़ मच गयी। भीष्म को रोकने के लिये कृष्ण हाथ में चाबुक लेकर भीष्म की ओर दौड़े, अर्जुन ने पुनः उन्हें शान्त किया।

नौ दिन बीत गये, युद्ध अनिर्णायक है। पितामह, पाण्डवों की सेना में भीषण त्रास उत्पन्न कर रहे थे। उनका रथ जहाँ से चलता, दोनों ओर भारी संख्या में सैनिक हताहत होते। पितामह के युद्ध क्षेत्र में रहते पाण्डवों का युद्ध जीतना असम्भव था। सेना का मनोबल दिन प्रतिदिन टूट रहा था। त्रास्त होकर सेना के पैर उखड़ जाते थे और वे भागने लगते। पुनः उन्हें बड़े प्रयास से युद्ध क्षेत्र की ओर मोड़ा जाता था।

सायं काल श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि वे पितामह के पास जायें और पूछें कि उन्हें किस प्रकार परास्त किया जा सकता है? युद्ध की समाप्ति पर युधिष्ठिर, पितामह के पास गये। उनका निवेदन सुनकर पितामह हँसने लगे और कहा कि, “पुत्र! कोई भी पुरुष मुझे परास्त नहीं कर सकता है।” युधिष्ठिर प्रणाम करके श्रीकृष्ण के पास लौट आये।

आज युद्ध का दसवाँ दिन है। सखा ने शिखंडी को निर्देश दिया कि आज शिखंडी युद्ध करेंगे और अर्जुन उनके पीछे रहेंगे और सारथी किसी प्रकार से शिखंडी के रथ को पितामह के रथ के समक्ष ले जाकर खड़ा करेगा। पितामह किसी प्रकार से भी शिखंडी पर प्रहार नहीं करेंगे, तब शिखंडी के पीछे से पार्थ पितामह पर प्रहार करके उन्हें शांत करेंगे। ऐसा ही हुआ। पितामह के शरीर को पार्थ ने सैकड़ों तीरों से बेध दिया और पितामह भूमि पर गिर गये। उन्हें देखकर लगता था मानो शर शय्या पर लेटे हैं। युद्ध रुक गया। दोनों पक्षों के लोग उन्हें घेरकर खड़े हो गये। पितामह ने दुर्योधन से कहा कि युद्ध रोक दो, बहुत हानि हो चुकी है, किन्तु दुर्योधन तैयार नहीं हुआ और क्रुद्ध होकर वहाँ से चला गया। पितामह ने कहा कि मैं सूर्य के उतरावण होने पर मकर संक्रांति को प्राण त्याग करूँगा, अर्थात् आज से अष्टावन दिन बाद। मेरे कारण युद्ध को न रोका जाये।

मैंने शिविर में पितामह के धराशायी होने की सूचना सुनी। सभी की मनःस्थिति विचित्र थी। पितामह के धराशायी होने से एक ओर दुःख था तो दूसरी ओर प्रसन्नता, कि उनके विजय की सबसे बड़ी बाधा दूर हो गयी। युद्ध के उपरान्त सायंकाल पाण्डवों का पितामह के दर्शन का कार्यक्रम था। मैंने भी सखा से अनुरोध किया कि मैं भी पितामह के दर्शन के लिये जाऊँगी। सखा ने स्वीकृति दे दी।

मेरे हृदय में तेरह वर्षों से एक प्रश्न निरंतर काटें की तरह चुभता रहा कि पितामह ने समर्थ होते हुए भी दुःशासन से मेरी रक्षा क्यों नहीं की? मुझे अपने प्रश्न का उत्तर पितामह से अवश्य चाहिये।

सायंकाल पार्थ ने मुझे टालने का प्रयास किया, किन्तु सखा ने कहा कि चलने दो। मैंने सबके

साथ जाकर पितामह को प्रणाम किया और वहीं भूमि पर बैठ गयी। मुझे देखकर पितामह आश्चर्यचकित हुए। उन्हें मेरे मुखमण्डल से कदाचित मेरे प्रश्न का भी आभास हो गया था। दोनों पक्षों के लोग बैठ गये। इधर-उधर से दो चार जिज्ञासाएँ उभरीं, पितामह उतर देने लगे। पितामह नीति पर चर्चा कर रहे थे और मैं सुन रही थी। पितामह सारे जीवन नीतियों के विरुद्ध आचरण करते रहे और आज अपने अनीतिपूर्ण आचरण की भयावह परिणति को देखकर दोनों पक्षों को नीति सिखा रहे हैं। मैं जोर से हँस पड़ी। कुछ अधिक ही जोर से हँसी थी मैं। सभी लोग अचकचा गये। पितामह बोलते बोलते रुक गये। मुझे हँसता देखकर पार्थ क्रोध में मेरी ओर झपटे। सखा ने उन्हें रोका और कहा कि, “पहले उससे पूछो कि वह क्यों हँसी?” पार्थ मुझसे कुछ पूछते, उसके पहले ही पितामह ने कहा, “द्रौपदी, तुम्हें मेरी बात पर हँसने का पूर्ण अधिकार है।”

मेरा प्रश्न मेरे पास ही रह गया। यद्यपि मेरी हँसी ने पितामह को मेरे विचार से स्पष्ट रूप से अवगत करा दिया था, किन्तु मैंने सोचा किसी दिन अकेले मैं पितामह से पूछूँगी। अभी सूर्य के उतराव होने में लगभग दो मास का समय था और मैं अपने पतियों और सखा के साथ अपने शिविर में लौट आयी।

* * *

कल से द्रोणाचार्य कौरवों के सेनापति होंगे। अब युद्ध अधिक दिनों तक नहीं चल सकता, क्योंकि कौरव पक्ष में द्रोणाचार्य और कर्ण के अतिरिक्त कोई अन्य योद्धा नहीं है जो पाण्डवों के समक्ष खड़ा रह पाये। मेरा प्रश्न मुझे एक क्षण के लिये भी अकेला नहीं छोड़ता था। मैंने निर्णय लिया कि मैं किसी से आज्ञा नहीं लूँगी और न ही किसी को कोई सूचना दूँगी। दिन भर युद्ध से थके हारे पाण्डव जब शिविर में विश्राम कर रहे होंगे, उसी समय मैं पितामह के पास जाऊँगी।

सबको सोया जानकर मैं चुपचाप शिविर से निकल आयी। द्वारपाल ने रोका तो मैंने संकेत से उसे रोक दिया और अकेली पितामह की ओर चल पड़ी। वहाँ सन्नाटा था। केवल कुछ प्रहरी दूर दूर खड़े थे, जिन्हें दुर्योधन ने जंगली पशुओं से पितामह की रक्षा के लिये नियुक्त किया था। मैं स्वयं को उनकी दृष्टि से बचाती हुई आगे बढ़ रही थी ... ये कौन है जो अकेला कौरवों के शिविर से निकलकर पितामह की ओर आ रहा है? मैं पितामह के समक्ष आते-आते रुक गयी और एक विशाल वृक्ष के पीछे स्वयं को छुपा लिया। वह पुरुष पितामह के निकट आ गया। पितामह के पास जलते प्रकाश में मैंने देखा वह कर्ण थे।

कर्ण युद्धक्षेत्र में शिविर में रह रहे थे और उन्होंने पितामह से रुष्ट होकर उनके होते हुए युद्ध क्षेत्र में पैर न रखने की प्रतिज्ञा की थी। मुझे पितामह के पास कर्ण को जाते देखकर आश्चर्य हुआ। कर्ण चुपचाप आकर पितामह के चरणों पर अपना माथा रखकर बैठ गये। पितामह पहले समझ नहीं पाये कि इस अर्धरात्रि में कौन है। उन्होंने पूछा, “कौन है?” “पितामह, मैं कर्ण हूँ।” पितामह चौंक गये। कर्ण की बाणी अवरुद्ध हो रही थी।

“तो तुम्हें ज्ञात हो गया?”

कर्ण मौन रहे।

“कैसे?”

“पहले संधि का प्रस्ताव लेकर आये श्रीकृष्ण से और पुनः अपनी जन्मदात्री माँ से। पितामह! मैंने अज्ञानतावश आपका अपमान किया था, मुझे क्षमा कर दें।”

“पुत्र, मैं इस सत्य को तुम्हारे जन्म के समय से ही जानता था; हर क्षण तुम्हारे अपमान से मैं

आहत होता था, किन्तु मैंने तुम्हारा अपमान केवल इसलिये किया कि तुम युद्ध क्षेत्र में न जाओ... कम से कम मेरे जीते जी तुमसे कोई ऐसा अनर्थ न हो जाये जिसके लिये तुम कभी भी स्वयं को क्षमा न कर सको और मैं भी... पुत्र! तुम्हें रोकने का जितना प्रयास मेरे वश में था मैंने किया, अब लौट जाओ, दुर्योधन का साथ छोड़ दो।”

“पितामह, मेरे ऊपर दुर्योधन का ऋण है क्योंकि अब मैं उसे नहीं त्याग सकता; वह मेरे भरोसे ही युद्ध ठानकर बैठा है।”

“पुत्र, तुमने दुर्योधन का ऋण कई बार उतारा है; तुमने उसके शत्रुओं से युद्ध करके उसकी सीमाओं का विस्तार किया है, इतना बहुत है, अब उसका साथ छोड़ दो; तुम्हारे साथ छोड़ने में ही उसका कल्याण है... यह हिंसा रुक जायेगी, दोनों पक्ष संधि कर लेंगे; तुम्हारे बिना दुर्योधन युद्ध नहीं कर सकेगा... अपने मित्र को जीवन दान दे दो महादानी कर्ण, अनेक लोगों के जीवन की रक्षा होगी।” पितामह का स्वर उतरोतर कातर हो रहा था।

“पितामह! दुर्योधन किसी भी प्रकार से संधि नहीं करेगा और न ही पराजय स्वीकार करेगा; पराजय के स्थान पर वह मृत्यु को चुनेगा। मृत्यु से मैं भी नहीं डरता। युद्ध में सम्मान जनक मृत्यु मुझे जीवन भर मिलने वाले अपमान से भी मुक्ति दे देगी और मैं दुर्योधन के ऋण से भी उऋण हो जाऊँगा।”

पितामह मौन रहे।

कर्ण ने पुनः कहना आरम्भ किया “पितामह! आप भी तो पाण्डवों से बहुत प्रेम करते हैं, फिर भी उनके विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं; आपने तो पाण्डवों के वध न करने की घोषणा के साथ युद्ध क्षेत्र में पैर रखा है, किन्तु मैं तो यह भी नहीं कह सकता कि मैं भी चार को जीवनदान देकर युद्धक्षेत्र में उतरूँगा; मैं आपसे अधिक विवश हूँ पितामह।”

“अन्य प्रस्ताव भी तुम्हारे मन को विचलित नहीं कर पाया?”

कर्ण क्षण भर मौन रहे, फिर उल्टे प्रश्न किया “आप से किसने कहा?” कर्ण के स्वर में आश्चर्य था।

“क्या करोगे जानकर? पितामह हँसे... तुम्हें ज्ञात है कि मेरी माँ कौन है?”

कर्ण मौन रहे।

“गंगा... यही पयस्विनी गंगा मेरी माँ है; जब मैं बहुत व्यथित हो जाता हूँ, मार्ग सुझाई नहीं देता तो मैं उनके पास जाकर उन्हें बुलाता हूँ... वे आती हैं और मेरी शंकाओं का समाधान करती हैं। उन्होंने ही मुझसे कहा था... सारा वार्तालाप उन्हीं के तट पर तो हुआ था।”

कर्ण मौन रहे।

“मैं जानता हूँ, तुम्हारे हृदय में उसका आकर्षण रहा, किन्तु जब तुम्हारे समक्ष प्रस्ताव आया तो तुमने बड़ी सरलता से अपनी कामनाओं को समेट लिया ... क्यों?”

“पितामह! मैं जानता हूँ कि माता की आज्ञा का पालन करना धर्म है, किन्तु जब आज्ञा अमर्यादित और अनुचित हो तो मैं उसे किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं करूँगा यह मेरा धर्म है। यहीं पर मैं अन्य लोगों से भिन्न हूँ... हाँ, उसे प्राप्त करने की कामना मेरे हृदय में थी। मैं स्वयं को क्षत्रिय भी मानता हूँ। मुझे किसी पर क्रोध नहीं आया... क्रोध आया तो अपने जन्म देने वाले माता-पिता पर, जो कि निःसंदेह साधारण नहीं रहे होंगे, क्यों उन्होंने मुझे इस प्रकार का लांछित जीवन जीने के लिये त्याग दिया? अपने अज्ञात माता-पिता के लिये मेरा हृदय सारे जीवन

हाहाकार करता रहा। मैं शून्य में उनसे लड़ता रहा, उनके समक्ष रोता रहा, तड़पता रहा, अनगिनत प्रश्न करता रहा किन्तु सब कुछ शून्य में मौन ही रहा।

जब मैंने अपने जन्म का इतिहास सुना तो मेरा हृदय विक्षिप्त हो गया। ऐसे दिव्य पिता की संतान को कैसा अपमान सहना पड़ रहा है। मेरे पिता सदैव मुझे अपने आँखों के समक्ष अपमानित, आहत, पीड़ित देखते रहे और मौन रहे। माता इसी हस्तिनापुर में वर्षों मेरे नेत्रों के समक्ष रहीं, उनकी आँखों में मैं वात्सल्य और करुणा देखता था, किन्तु उसे मैं एक जननी के हृदय का सहज वात्सल्य मानता था और मेरे जन्म का इतिहास किसी से भी छुपा नहीं था, इस कारण मैं उनकी आँखों की करुणा को अपने जन्म की गाथा से जोड़ता था। ...श्रीकृष्ण ने मुझसे कहा था कि, “पिता के पक्ष और माँ के पक्ष से सभी तुम्हारे सहायक होंगे, समस्त भूमण्डल तुम्हारे चरणों में होगा।” उस समय भी मैंने उन्हें यही उत्तर दिया था कि “सूत-पुत्र के रूप में मेरा लालन-पालन हुआ है। सम्पूर्ण पृथ्वी का ऐश्वर्य पाकर भी मैं उस माता-पिता से विमुख नहीं हो सकता हूँ और न ही दुर्योधन से, जिसने मेरे भरोसे ही युद्ध ठाना है।... पितामह! एक अंतिम अनुरोध और है कि मेरे जन्म के रहस्य को किसी से भी न कहें, मेरे मृत्यु के बाद भी नहीं क्योंकि मैं नहीं चाहता कि मेरे मृत्यु के बाद वे अपराधबोध से जीवन भर ग्रस्त रहे। हाँ मैं यह भी नहीं चाहता कि ‘वह’ मेरी मृत्यु के पश्चात मेरे प्रति करुणा दिखाये।”

पितामह हँसे “तुम उसे इतने वर्षों बाद भी भूल नहीं पाये; काश! मैं दुर्योधन से कह पाता कि कर्ण तुम्हारा कितना घनिष्ठ मित्र है और इस मित्रता के निर्वाह के लिये उसने कितनी पीड़ा सही है।”

दोनों मौन हो गये। कर्ण, पितामह के चरण छोड़कर उनके निकट बैठ गये लगता था कि कर्ण के हृदय में अभी भी कुछ शेष है। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात कर्ण ने पुनः कहना आरम्भ किया।

“पितामह! एक बड़ा भारी बोझ मेरे हृदय पर है; मैं उससे भी आज आपके समक्ष मुक्ति चाहता हूँ। ... यदि एक बार भी पांचाली मेरे समक्ष अपनी रक्षा के लिये याचना करती तो मैं अवश्य उसकी रक्षा करता, चाहे उसके लिये मुझे कुछ भी करना पड़ता।... मैं, संपूर्ण आर्यावर्त, जिसे महाप्रतापी कर्ण कहता है उस दिन सिर झुकाये बैठा रहा। पांचाली की रक्षा करने में समर्थ होते हुए भी उसकी रक्षा नहीं की। उस सभा के पाप में मैं सबसे अधिक भागी हूँ... केवल इसलिये कि यह दुष्कर्म दुर्योधन की इच्छा से हो रहा था और मित्रता के धर्म ने उस समय कर्ण को सारे धर्मों से, यहाँ तक कि उसके अपने धर्म से विमुख कर दिया था। उस पश्चाताप की अग्नि में मैं आज तक झुलस रहा हूँ। मैं तो पांचाली से क्षमा माँगने का भी अधिकारी नहीं हूँ। यदि मैं शक्तिहीन होता, अपनी असमर्थता के कारण रक्षा करने के लिये आने नहीं आता तो मुझे क्षमा माँगने का अधिकार था, किन्तु मैं तो पूरी सभा को यमलोक पहुँचाने में समर्थ था, फिर भी मौन रहा। मेरा मौन प्रतिपल दुर्योधन और दुःशासन को दुष्कर्म के लिये उत्साहित करता रहा। कदाचित् मेरा हल्का सा विरोध भी दुर्योधन को रोक देता। मैं जानता हूँ, जितना मैं उसके मित्रता के धर्म से बँधा हूँ उतना ही वह मेरे शक्ति और पराक्रम के कारण मेरा मान रखता है, किन्तु अब तो समय बीत गया और मेरे हिस्से में मेरे जीवन का सबसे कलुषित अध्याय जुड़ गया; यह मेरे जन्म से भी अधिक कलुषित है। जन्म तो ईश्वर के अधीन है; उससे उत्पन्न प्रश्नों को मैं झेलता हूँ... किन्तु मुझसे जो यह अनर्थ हो गया उसने मुझे दग्ध कर दिया है, इसका प्रायश्चित्त केवल मेरी मृत्यु ही है।

मेरी मृत्यु इस कुकृत्य के दाह से व मेरे जन्म को लेकर समय समय पर उठने वाले प्रश्नों दोनों से ही मुझे मुक्ति दे देगी। एक इच्छा थी कि मैं पांचाली से क्षमा माँग पाता।” कर्ण के स्वर में पश्चाताप था। कर्ण उठकर खड़े हुए। पितामह ने उन्हें अपने निकट आने का संकेत किया। कर्ण निकट आकर झुके, पितामह ने उनके मस्तक का चुंबन लिया और कहा “यशस्वी भव”

कर्ण चुपचाप अपने शिविर की ओर लौट गये।

मैं तो गयी थी पितामह के पास अपने प्रश्न का उत्तर माँगने, किन्तु जड़ खड़ी रही। कौन हैं कर्ण? दिव्य पिता, माता हस्तिनापुर में, पितामह का पुत्र संबोधन, मस्तक को चूमना। पर कर्ण तो पितामह से क्रुद्ध होकर युद्ध क्षेत्र में पैर न रखने की प्रतिज्ञा करके बैठे थे? इतने सारे प्रश्न मुझे घेरकर खड़े हो गये और मेरा प्रश्न मेरे मस्तिष्क में तिरोहित हो गया।

मेरे हृदय पर नये प्रश्न प्रहार करने लगे। गंगा के तट पर किसने कर्ण से वार्ता की थी और किन चार को कर्ण ने जीवन दान दिया है? मुझे कर्ण के जीवन के छुपे रहस्य ने व्यथित कर दिया है। मेरा हृदय अब उन रहस्यों के भीतर झाँकना चाहता है। स्थिति विषम है, इस कारण सखा से भी कुछ नहीं पूछ सकती।

द्रोणाचार्य ने कौरवों की सेना का नेतृत्व संभाला है। आज कर्ण युद्ध क्षेत्र में हैं। द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की है। पार्थ कर्ण से युद्ध कर रहे हैं, दूसरी ओर चक्रव्यूह के एक एक द्वार पर कौरव पक्ष के योद्धा पूर्ण तैयारी से खड़े हैं। कर्ण ने पार्थ को उलझा रखा था। चक्रव्यूह के भेदन की कला केवल तीन व्यक्ति ही जानते हैं। द्रोणाचार्य, कृष्ण और पार्थ। अभिमन्यु उत्साहित है; उसे चक्रव्यूह का भेदन आता है। समस्या केवल अंतिम द्वार की है। भीम ने कहा, “अंतिम द्वार को मैं अपनी गदा से तोड़ दूँगा।”

अब तक दोनों पक्षों की भारी क्षति हो चुकी थी। धृतराष्ट्र के कई पुत्रों को भीम स्वर्ग भेज चुके थे। दुर्योधन ने अपने बंधुओं को काल कवलित होते देखकर पितामह और द्रोणाचार्य को आक्षेप पूर्ण वचन भी कहा था।

अभिमन्यु तीर की भाँति चक्रव्यूह को भेदता अंतिम द्वार तक चला गया, किन्तु भीम आदि शेष पाण्डव उसके पीछे घुस नहीं सके। अंतिम द्वार पर उसे छह योद्धाओं ने घेर लिया। उसका शस्त्र टूट गया। उसने कहा, “मुझे शस्त्र दो और एक एक योद्धा मुझसे युद्ध करे।” किन्तु सभी एक साथ घेर कर उस पर प्रहार करने लगे। उसे कोई शस्त्र नहीं मिला तो उसने रथ का पहिया लेकर ही एक साथ छह छह योद्धाओं को रोकने की चेष्टा करने लगा। सिंधु नरेश जयद्रथ के ललकारने पर दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण ने पीछे से उसके सिर पर गदा से प्रहार किया। अभिमन्यु वीरगति को प्राप्त हुआ।

सुभद्रा विक्षिप्त हो गयी और उत्तरा इस आघात से सुन्न। सुभद्रा का करुण विलाप मुझे पीड़ा और ग्लानि में डुबाता जा रहा था। अभिमन्यु, यौवन की पहली सीढ़ी पर खड़ा उत्साह शौर्य और पराक्रम से भरपूर था। आज वह निर्दोष अपने ही परिवार की ईर्ष्या छल और दुष्कृत्य की बलि चढ़ गया। आज उसके जीवन के समक्ष मेरा अपमान धूल के कण के बराबर था। मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि मृत अभिमन्यु के मस्तक को जयद्रथ ने अपने पैरों से कुचला था, जिसके कारण उसका सिर उसके धड़ से अलग होकर भूमि में गड़ गया था।

पार्थ ने दूसरे दिन सूर्यास्त तक जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा की, अन्यथा स्वयं जलती चिता में जलकर प्राण देने का निश्चय किया। कर्ण, भीम से युद्ध करते करते न जाने कहाँ छुप गये। भीम

ने उन्हें ढूँढ़ने का प्रयास किया, किन्तु व्यर्थ। अर्जुन के साथ युद्ध में कर्ण घायल होकर अपने शिविर में लौट गये।

युद्ध का चौदहवाँ दिन। युद्ध क्षेत्र से जयद्रथ पलायन कर गया था। संध्या हो गयी। पार्थ के लिये कौरवों के सैनिकों ने चिता तैयार की। पार्थ चिता पर आरूढ़ हुए। सखा ने कहा कि वीर क्षत्रिय की भाँति अपने गांडीव और अक्षय तूणीर के साथ चितारोहण करो। पार्थ ने सखा की आज्ञानुसार चिता पर आरोहण किया। जयद्रथ उत्सुकतावश बाहर आकर आनंद से उछलने लगा। सहसा सखा ने कहा, “पार्थ! देखो सूर्यदेव” और अँगुली से आकाश में संकेत किया। सूर्यग्रहण का मोचन हो गया था। अगले ही क्षण जयद्रथ का शीश पार्थ के तीर पर आरूढ़ होकर अपने पिता की गोद में जाकर गिरा। जयद्रथ की मृत्यु भी हमारे शोक को कम नहीं कर पा रही थी। सुभद्रा और तीन माह की गर्भवती उत्तरा रो रोकर विह्वल थी। यह युद्ध उसके पति, भाइयों उत्तर, श्वेत, शंख सहित उसके पिता को निगल चुका था।

दुर्योधन से अपमानित द्रोणाचार्य आज भीषण युद्ध कर रहे हैं। उन्होंने धृष्टद्युम्न के सारथी सहित रथ को नष्ट कर दिया। भीम अर्जुन के प्रहार से कौरवों की सेना भागने लगी। द्रोणाचार्य अब तक विराट और द्रुपद के पुत्रों की बलि ले चुके थे। कुंतिभोज और पुरुजित भी द्रोणाचार्य के हाथों वीरगति प्राप्त कर चुके थे। द्रोणाचार्य ने हमारी सेना को भीषण क्षति पहुँचायी थी। मैं द्रोणाचार्य से अपने पिता के युद्ध के विषय में सोचती हूँ कि उसमें कितना कुछ समाया हुआ था। बचपन का प्रेम तो बहुत पीछे छूट गया था। मैं द्रोणाचार्य के समक्ष पराजित अपमानित मेरे पिता का क्रोध द्रोणाचार्य पर होने वाले प्रहार को अधिक तीक्ष्ण करता होगा। अपने पुत्री के अपमान के मौन दर्शक के प्रति घृणा उनके प्रहार में द्रोण को अवश्य स्मरण करवा रही होगी।

सायंकाल सखा ने युधिष्ठिर से कहा कि वे द्रोणाचार्य से दूर रहें। आज घटोत्कच राक्षसी माया युद्ध से कर्ण को संतुष्ट कर रहा था। कौरव दल के सैनिक भाग रहे थे। कर्ण उन्हें रोकने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु असफल। दुर्योधन के बार बार हठ करने पर अंततः इन्द्र प्रदत्त एकदिन से कर्ण ने घटोत्कच का संहार किया। घटोत्कच के वध से एक पक्ष में हाहाकार मच गया और दूसरे पक्ष में हर्षोल्लास। किन्तु कृष्ण प्रसन्न हैं कि पार्थ अब सुरक्षित हैं और कर्ण? लगता है कि उनका सर्वस्व लुट गया। दूसरी ओर भीम ने जोर जोर से कहना प्रारम्भ किया कि “मैंने अश्वत्थामा को मार डाला।” पुत्र की मृत्यु सुनकर द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से पूछा। कुछ समय पूर्व भीम ने एक अश्वत्थामा नामक हाथी मारा था। युधिष्ठिर ने कहा, “अश्वत्थामा मारा गया और आगे धीरे से किन्तु.. कहा... वह नर नहीं हाथी था।” युधिष्ठिर का उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य अपने शस्त्र त्याग कर योग समाधि लगाकर प्राण त्याग रहे थे कि द्युम्न ने कटार से उनका मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

घटोत्कच वीरगति को प्राप्त हुआ। यह युद्ध की हमारी दूसरी बड़ी क्षति थी। इसने हमें युद्ध की विभीषिका के परिणामों को सोचने के लिये विवश कर दिया था। भीमसेन के साथ साथ सभी दुःखी थे। युद्ध कुछ समय के लिये रोक दिया गया था और उसके पार्थिव शरीर को शिविर में लाया गया। हिडिंबा एक शिविर में अपने पुत्र के साथ रह रही थी। घटोत्कच के पार्थिव शरीर को देखते ही हिडिंबा का करुण चीत्कार फूट पड़ा। उनके चीत्कार से सब का हृदय फट रहा था उनके जीने का एक मात्र सहारा, उनका सर्वस्व उनका एकमात्र पुत्र कर्ण की ‘शक्ति’, से मृत पड़ा था... उस ‘शक्ति’ से, जो कर्ण ने पार्थ के लिये सहेज कर रखी थी।

हिडिंबा के हृदय की पीड़ा की मैं कल्पना नहीं कर सकती थी। वे विक्षिप्त सी अपनी भाषा में न जाने क्या क्या कह कर विलाप कर रही थीं। उन्होंने घटोत्कच के विशाल मुख को अपनी छाती में भींच लिया और हिवक हिवक कर रोने लगीं, मानों वह अपनी सारी पीड़ा घटोत्कच के कानों में उड़ेल रही हैं और उनका करुण क्रंदन सुनकर उनका पुत्र उठ बैठेगा।

किसी में भी उन्हें चुप कराने का साहस नहीं था। हम सब उनके अपराधी थे, मैं तो थी ही। मैंने अपने प्रतिशोध की धधकती ज्वाला में उनके पुत्र की आहुति दे दी थी। मुझे उनके पुत्र का जीवन छीनने का क्या अधिकार था? अपराधी तो उसके पिता भीमसेन थे... वह और उसकी माँ तो निरपराधी और निष्पाप थे। मैंने ही हिडिंबा का पति छीना और आज उसके पुत्र के भी सदा सदा के लिये छीन लिया। क्या मुझे और पाण्डवों को हिडिंबा कभी क्षमा कर पायेगी? मैं नहीं जानती, किन्तु मैं उसकी अपराधिनी थी; ऐसी अपराधिनी, जिसके अपराध की कोई क्षमा हो ही नहीं सकती थी।

भीमसेन ने प्रयास करके उन्हें घटोत्कच के शरीर से अलग किया। वे भीमसेन की बाहों में झूल गयीं किन्तु भीमसेन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

घटोत्कच का शरीर, अंतिम संस्कार के लिये ले जाया गया। सभी पुरुष साथ गये और मैं हिडिंबा के पास बैठी रही, उन्हें सांत्वना देने के शब्द मेरे पास नहीं थे। वे रह रह कर दीर्घ श्वास लेती थीं, मानों उफनकर बाहर आती पीड़ा को साँसों से खींचकर भीतर छुपा लेना चाहती हैं। उन्होंने जल भी ग्रहण नहीं किया। अंतिम संस्कार करके लौटने पर भीमसेन ने उन्हें समझाने, सांत्वना देने का प्रयास किया, किन्तु उन्होंने वितृष्णा से अपना मुँह फेर लिया, मानों उनके पुत्र की रक्षा में असमर्थ भीमसेन ने उनसे विश्वासघात किया है। अर्धरात्रि में ही हिडिंबा ने अपने सेवकों के साथ लौटने का निश्चय किया। किसी में भी उनको रोकने का साहस नहीं था।

रथ पर चढ़ते समय वह अपना चीत्कार नहीं रोक पायीं। चीखकर रथ पर अपना सिर पटक दिया। भीमसेन ने उन्हें सँभालकर रथ पर बिठाया और उन्होंने अपने करुण विलाप में ही रथ को आगे बढ़ाने का आदेश दे दिया।

रथ धीरे धीरे आगे बढ़ने लगा। बहुत कुछ था उनके सिर पटकने में... उनका करुण विलाप बहुत कुछ कह रहा था, मानो सारे जीवन का भ्रम और आशा दोनों ही टूट गयी और अब उनके पास जीने के लिये कुछ भी नहीं है। वे जा रही हैं तो केवल इसलिये कि वह यहाँ नहीं रह सकतीं और वहाँ पर तो अब उनके लिये कुछ भी नहीं बचा है, बस चली जा रही हैं लक्ष्यहीन, दिशाहीन और प्राणहीन होकर। दूर जाते रथ के साथ साथ उनका विलाप मद्धिम होकर लुप्त हो गया।

मैं हिडिंबा के भाग्य के बारे में सोचने लगी। महाबलशाली पति, चार पराक्रमी जेठ और देवर के होते हुए भी वह आज अनाथ की भाँति रोती हुई जा रही हैं। कैसे जियेंगी हिडिंबा? यह विचार भीमसेन के मन में क्यों नहीं आ रहा है? उन्हें रोक क्यों नहीं लेते भीम? कम से कम पति की छाया तो रहेगी उनके ऊपर। अब सभी पाण्डव विवाहित हैं, माता को क्यों विरोध होगा हिडिंबा से?

माँ को हिडिंबा से विरोध क्यों है, यह मैं नहीं समझ पाती। भीमसेन माँ की आज्ञा से ही तो उसके साहचर्य के लिये गये थे। उससे उत्पन्न संतान उनके पुत्र का ही अंश था; ज्येष्ठ पाण्डव पुत्र था वह। मैं भी आँसुओं और निःश्वास में अपनी पीड़ा बहा करके प्रत्यक्ष रूप में शांत हो गयी, किन्तु मेरे अंतर्मन को हिडिंबा मथ रही थी। युवावस्था के उस क्षणिक आकर्षण का कितना मूल्य चुकायेगी और कितनी लम्बी सजा भोगेगी हिडिंबा, यह ईश्वर ही जानता है।

घटोत्कच के भयानक युद्ध और द्रोण की मृत्यु से कौरव सेना के पैर उखड़ चुके थे। सारा वृत्तान्त सुनकर अश्वत्थामा ने भीमसेन के ऊपर नारायण अस्त्र छोड़ दिया। श्रीकृष्ण ने उसे शांत किया। अश्वत्थामा ने युद्ध में द्युम्न को मार डाला।

युद्ध के सत्रहवें दिन कर्ण ने सेनापति के रूप में कौरव सेना का संचालन अपने हाथ में लिया। मद्र नरेश शल्य उनके सारथी थे। सहदेव ने रात्रि में उनके शिविर में जाकर मामाश्री को प्रणाम किया था और मद्र नरेश ने उन्हें आश्वस्त किया। क्षत्रिय धर्म के अनुसार कौरवों की ओर से लड़ते हुए भी वह हृदय से माद्री और कुंती पुत्रों की ओर थे। युद्ध क्षेत्र में शल्य के शब्द, कर्ण के आत्मविश्वास में दरार डाल रहे थे। युधिष्ठिर, कर्ण से युद्ध करते हुए घायल होकर शिविर में लौट आये।

सायंकाल उन्होंने भ्रमवश कर्ण को मृत जानकर पार्थ से प्रश्न करना आरम्भ किया। अर्जुन ने वस्तु स्थिति से अवगत कराया तो अपने दुष्कर्म से अर्जित इस युद्ध को परे रखकर युधिष्ठिर क्रुद्ध होकर अर्जुन को अपमानित करने लगे। थके हारे अर्जुन, युधिष्ठिर को ही सारे विपत्ति की जड़ मान उनके वध के लिये उद्यत हो गये। सखा के समझाने पर पार्थ शान्त हुए।

प्रातःकाल पार्थ और कर्ण क्रोध से भर कर एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। कवच कुंडल न होने के कारण कर्ण विकल हो रहे थे। भीम ने कौरवों के पच्चीस हजार पैदल सैनिकों और अर्जुन ने समस्त रथ सेना का विध्वंस कर दिया था। बची खुची सेना पलायन करने लगी। दुर्योधन ने उन्हें रोकने का प्रयास किया किन्तु विफल रहा। सहदेव ने दुःशासन को परास्त किया और भीमसेन गदा से उसके वक्षस्थल को विदीर्ण कर उसकी दोनों भुजाओं को उखाड़कर अंजुली में रक्त लेकर शिविर में मेरे केशों का प्रक्षालन करने के लिये चले आये।

भीमसेन अपनी विशाल अंजुली में रक्त भरे मेरे सम्मुख खड़े हो गये। मैं भीमसेन को देखकर भय से सुन्न हो गयी। भीमसेन ने रक्तांजलि मेरे शीश पर उड़ेल दी और मैं रक्त स्नाता, घृणा से गिनगिना उठी। मेरे माथे, कपोलों, ग्रीवा और पीठ पर रक्त बहने लगा। मानव का गर्म रक्त मेरे शरीर पर बह रहा था। मेरे भीतर से एक तेज उबकाई आयी और लगा कि मैं कृष्णा नहीं हूँ, पाण्डवों की पत्नी नहीं हूँ; मानवी भी नहीं हूँ, मैं तो एक मानव रक्त पान करने वाली राक्षसी हूँ। अपनी ही घृणा से मैंने अपनी आँखें बंद कर लीं।

मेरी सेविका शीघ्रता से मेरे केश को जल से प्रक्षालित करने लगी। गाढ़ा लाल, गर्म रक्त, पानी में मिलकर मेरे पूरे शरीर को नहला रहा था। मैं अचेत सी आँखें बंद किये हुए बैठी रही। मेरी सेविका ने मेरे केशों को धोया, मुझे स्नान कराया मैं जैसे तैसे वस्त्र लपेटकर खड़ी हुई और आसन पर जाकर मूर्ति की भाँति बैठ गयी। मेरी सेविकायें मेरे केश को सुलझाने लगीं और लगभग एक प्रहर में मेरे केश सुलझ पाये। मेरी सेविका ने तेल लगाकर कंधी से सँवार करके मेरे केश की चोटी गूँथ दी। मैंने दर्पण में अपनी छवि देखी। मुझे अपनी छवि बदली बदली लग रही थी। पता नहीं प्रतिज्ञा की पूर्ति होने से या केशों के सुलझ जाने से।

प्रतिज्ञा भले ही पूरी हो गयी थी, किन्तु मन नहीं शांत हुआ था। इतने वर्षों तक जिस प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये केशों को खुला छोड़कर दुःख सहती रही, उस प्रतिज्ञा की पूर्ति मुझे प्रसन्न करना तो दूर, शांत भी नहीं कर पा रही थी। अभी भी घृणा से मेरा शरीर सिहर रहा था... हृदय अब भी क्षुब्ध था।

16. कर्ण

सत्रहवाँ दिन बीत गया। सखा, माता के कक्ष में गंभीर मुद्रा में बैठे थे। मैं और माता कुंती दोनों ही सखा की गंभीर मुद्रा को देख रहे थे। उन्हें देखकर लगता था कि वे कुछ कहना चाह रहे हैं और उसके लिये साहस एकत्र कर रहे हैं। माता अधीर हो रही थीं। उन्हें ज्ञात था कि भीष्म पितामह के शर शय्या पर लेटने और द्रोणाचार्य के शांत हो जाने के पश्चात कर्ण ही युद्ध के सेना नायक हैं।

युद्ध क्षेत्र से थोड़ी दूर एक शिविर में मैं माता कुंती के साथ रह रही थी। मेरी शेष सपत्नियाँ कुरुक्षेत्र से दूर उप्पलव्य नगर में रह रही थीं। जब कौरवों की पत्नियाँ भी शिविर में रहने के लिये आने लगीं, तो माता कुंती भी पाण्डवों के निकट शिविर में रहने के लिये आ गयीं। प्रतिदिन सायंकाल पाण्डव, मेरे पुत्र और सखा, माता के पास आते और पूरे दिन की महत्वपूर्ण गतिविधियों से परिचित कराते और थोड़ी देर माता के साथ समय व्यतीत करके वापस युद्ध क्षेत्र में बने शिविरों में चले जाते थे। युधिष्ठिर, पार्थ, भीम, नकुल, सहदेव आदि सभी सुरक्षित हैं और शिविरों में जाकर सैनिकों का निरीक्षण कर रहे हैं, घायलों को दूर सुरक्षित शिविरों में चिकित्सा के लिये भेजा जा रहा है, यह मैं सखा से सुन चुकी थी।

सखा आज अकेले कक्ष में आये थे। सखा के पास कहने के लिये शेष क्या है, इसका अनुमान लगाना कठिन लग रहा था। कुछ समय पश्चात सखा ने धीरे से बिना किसी को संबोधित करते हुए कहा, कर्ण वीरगति को प्राप्त हुए। मैं कुछ समझ पाती, इसके पहले माता वीत्कार करके विलाप करने लगीं।

मैं सन्न रह गयी। जिस कर्ण के वध की प्रतिज्ञा अर्जुन ने की थी, वह पूर्ण हुई और अब पार्थ का जीवन सुरक्षित है; यह सुखद संवाद माँ के लिये विलाप का कारण कैसे हो गया? मैं उठकर माता के लिये जल ले आयी, किन्तु उन्होंने उसे देखा भी नहीं, बस मुँह ढाँप कर विलाप करती रहीं। उनका विलाप उत्तरोत्तर करुण होता जा रहा था।

सखा दुःखी और शांत बैठे थे। उनके मुख का तनाव पिघलकर दुःख बन गया था। वे सूनी आँखों से कभी माता को कभी मुझे देख रहे थे। एक शीलवान पराक्रमी योद्धा का इस प्रकार से अन्यायी के पक्ष में युद्ध करते हुए वीर गति प्राप्त करना दुःखद था। मैंने माँ को शांत करने का प्रयास किया किन्तु उनका रुदन तीव्र हो गया।

कुछ समय तक रो लेने के पश्चात माता कुछ शांत हुईं। पाण्डव, शिविर में आकर माता को रोता देखकर आश्चर्यचकित होकर चुपचाप खड़े रहे। माता ने अपने मुख से वस्त्र हटाया। कुछ क्षण शांत रहने के पश्चात बोलीं, कर्ण मेरा ज्येष्ठ पुत्र था।

सभी सन्न रह गये।

सखा निर्विकार बैठे रहे, जैसे कि उन्हें सब कुछ पहले से ज्ञात हो... तभी तो सखा के मुख और नेत्रों में पीड़ा समाई हुई थी। कर्ण वध की प्रसन्नता लुप्त हो गयी। सभी दुःखी हो गये। कुछ समय पश्चात युधिष्ठिर ने माता से प्रश्न किया, “क्या कर्ण इस सत्य को जानते थे?” “हाँ” माता ने कहा, जब युद्ध अवश्यम्भावी हो गया तो मैं प्रातःकाल नदी के तट पर गई थी, जहाँ कर्ण, नित्य स्नान करके अपने पिता सूर्यदेव को जल अर्पित करते थे। मैंने कर्ण से उनके जन्म के रहस्य को प्रकट किया और अपने भाइयों के पक्ष में आ जाने का अनुरोध किया था, किन्तु कर्ण ने विवशता

जताई कि, “जिसने मेरी ही शक्ति के भरोसे युद्ध का निर्णय लिया है, उसे मैं नहीं छोड़ सकता; अपनी सामर्थ्य भर युद्ध अवश्य करूँगा और जो कुछ तुम मुझे बता रही हो, वह सूर्यदेव मुझे पहले ही बता चुके हैं... तुमने मेरे साथ माता का बर्ताव नहीं किया; जब कृपाचार्य ने सभा में मेरी जाति पूछी, तब भी तुम मौन रहीं।”

मैं निरुत्तर हो गयी। पुनः साहस बटोर कर कहा, “सुनती हूँ कि तू बड़ा दानी है; किन्तु आज माता को भिक्षा नहीं मिली।” तब कर्ण ने कहा, मेरे द्वार से तुम भी खाली नहीं जाओगी; अर्जुन के अतिरिक्त किसी के वध योग्य होने पर भी वध नहीं करूँगा, केवल अर्जुन के साथ ही युद्ध करूँगा। यदि विजय दुर्योधन की हुई, क्योंकि मेरे जीते जी दुर्योधन की पराजय नहीं होगी, तो मैं उसे छोड़कर तुम्हारे पास आ जाऊँगा, तुम्हारे पाँच पुत्र सदैव जीवित रहेंगे।”

सभी शोक में डूबे बैठे रहे। कुछ समय पश्चात सखा और पाण्डव अपने ज्येष्ठ भ्राता कर्ण के अंतिम संस्कार के लिये शिविर से बाहर चले गये। माता कुंती को मैंने उनकी शय्या पर लिटा दिया। उन्होंने किसी को भी कक्ष में आने से मना कर दिया। मैं कक्ष के बाहर दासी को बैठने का आदेश देकर शिविर के दूसरे कक्ष में आ गयी।

माता की स्वीकारोक्ति के पश्चात मेरे समक्ष युद्ध क्षेत्र में रात्रि के समय का दृश्य घूम गया। भीष्म पितामह और कर्ण के वार्तालाप का सारा रहस्य उजागर हो गया। ‘वो’ जिसकी स्मृति से कर्ण मुक्त नहीं हो पाये, जिसका प्रलोभन भी... तो क्या माँ ने उस दिन कर्ण से याचना करते समय उन्हें मेरा प्रलोभन भी दिया था, कि उनकी आज्ञा से जैसे उनके पाँच पुत्रों की सेवा कर रही हूँ वैसे ही उनकी भी सेवा करूँगी।

आज इतने वर्षों और जीवन में इतने उतार-चढ़ाव के बाद खुले इस रहस्य ने मुझे आश्चर्य चकित कर दिया था। कर्ण! ज्येष्ठ कौन्तेय कर्ण, राधा अधिरथ के पालित पुत्र कर्ण, परशुराम शिष्य कर्ण। कर्ण की सारी पीड़ा मेरे भीतर उतर आयी और उसके साथ साथ मुझसे हुए कर्ण के अपमान की कभी समाप्त न होने वाली ग्लानि भी। माता कुंती के साथ साथ मैं भी दग्ध हो रही थी। यदि उस दिन कर्ण के वंश पर प्रश्न न करती, तो मेरा जीवन कितना भिन्न होता। मेरा एक प्रश्न, जीवन भर कर्ण को व्यथित करता रहा और आज मैं ही उनकी मृत्यु का कारण भी बनी हूँ। हाँ मेरे ही कारण युद्ध हुआ और विरोधी पक्ष की ओर से लड़ते हुए कर्ण मारे गये और वह भी मेरे ही पति के द्वारा। मैंने ही कर्ण के जीवन को तहस-नहस कर डाला।

माता कुंती ने कर्ण के अंतिम संस्कार में उपस्थित रहने की इच्छा व्यक्त की थी। मैं भी माता के साथ श्मशान भूमि में खड़ी हूँ।

मृत्यु उदार है। कल तक जो शत्रु थे, आज स्वजन हो गये हैं। युद्ध क्षेत्र में उनकी जीवन लीला समाप्त करके अब उनके पार्थिव शरीर को मुखान्नि दी जा रही हैं। मैं सोच रही थी कि माता का वह पुत्र, जो जीवन भर उपेक्षित अपमानित होता रहा, केवल माता के मौन के कारण और आज भाई के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ।

युद्ध भूमि में अपने रथ के निकट पड़े थे सूर्य पुत्र कर्ण। मैं युद्ध क्षेत्र की विभीषिका देखकर स्तब्ध थी। हजारों रक्त रंजित, क्षत-विक्षत शव, विशाल हाथी घोड़े... सब का रक्त आपस में मिला हुआ था, कुरुक्षेत्र नर्क बना हुआ था। उसी नर्क का एक हिस्सा श्मशान बना धू धू जल रहा था।

माता कुंती रो रही थीं। सारे जीवन की पीड़ा आज कंठ, हृदय और नेत्रों से बह रही थी। युधिष्ठिर आँसू बहा रहे थे, पार्थ अपने आपको धिक्कार रहे थे। माँ कर्ण के शव के निकट बैठ

गयीं। उन्होंने उनके धूल धूसरित मुख को अपने आँचल से पोंछकर साफ किया। रोते रोते भी वह एकटक उन्हें देख रही थीं। हस्तिनापुर में रहते हुए माँ कभी कर्ण को इतने निकट से नहीं देख पायी थीं।

९मशान में सैकड़ों विताओं के बीच कर्ण का निष्प्राण शरीर धूँ धूँ करके जल उठा। मैं और माता कुंती दोनों ही अपने अपने दुःखों को अपने हृदय में समेटे शिविर में लौट आईं। इतने बड़े रहस्योद्घाटन ने हम सबको झकझोर कर रख दिया था।

मैं सोच रही थी कि क्या कर्ण ने पाण्डवों के साथ युद्ध किया था? नहीं; वे तो युद्ध क्षेत्र में अपने अनुजों को बचा रहे थे। उनका प्रहार पाण्डवों के वध के लिये नहीं वरन् कवच कुंडल विहीन अपने शरीर पर होने वाले प्रहारों को बचाने का प्रयास मात्र था; ऐसा प्रयास, जिसमें प्रतिद्वन्द्वी की रक्षा करते हुए स्वयं की रक्षा करनी थी। कैसी विचित्र स्थिति थी कर्ण आपकी? क्या भविष्य में कोई इस स्थिति को भोगेगा? कदापि नहीं। आपके अंतर्मन और बाह्य शरीर, दोनों की भूमिकाएँ सर्वथा अलग-अलग थीं। कितनी वेदना के साथ आप युद्ध क्षेत्र में युद्ध कर रहे थे, यह कोई कैसे जान सकता था?

हाँ, जानते दो व्यक्ति थे, माता कुंती और कृष्ण। सखा तो पार्थ के सारथी थे, उनकी काया के पीछे पार्थ का शरीर छिपा रहता होगा; किन्तु सखा और कर्ण दोनों ही अपना सत्य जानते थे। सखा कैसे आपके सामने आने का साहस कर पाये, मुझे सोचकर आश्चर्य होता है... और कर्ण आप; सब कुछ जानते हुए भी आप दोनों ने ये कैसी भूमिका निभाई थी।

कर्ण... आपकी मृत्यु की सूचना क्षण भर के लिये मेरे हृदय को प्रसन्न कर गयी थी। वह आपके मृत्यु के कारण नहीं, वरन् पार्थ अब सुरक्षित हैं इस कारण मेरा मन शांत हो गया था; किन्तु कर्ण! यह जानते हुए कि अर्जुन आपको मारने के लिये उद्यत हैं, आपने जीवन रक्षा के एकमात्र संबल 'एकाग्र' को घटोत्कच पर क्यों छोड़ दिया था। आप तो कवच कुंडल विहीन होकर युद्ध क्षेत्र में उतरे ही थे और अंत में 'शक्ति' हीन भी हो गये। ये कैसा चरित्र था कर्ण आपका? क्या आप अपना अंत निर्धारित करके ही युद्ध क्षेत्र में उतरे थे? क्योंकि आपके जीवन का अंत विधाता के अतिरिक्त कोई भी निर्धारित नहीं कर सकता था, ये सभी कौन्तेय और कृष्ण जानते थे... तो क्या आप केवल पाण्डवों को आनंदित करने के लिये ही युद्ध कर रहे थे? हाँ कर्ण, आप उन्हें स्वयं से युद्ध करने का अवसर दे रहे थे, ताकि वे शेष जीवन गर्व कर सकें कि उन्होंने कर्ण के साथ युद्ध किया था। युधिष्ठिर आपसे पराजित हो चुके थे, भीम हठी और क्रोधी हैं, यह आप भली भाँति जानते थे; वे युद्ध से विमुख नहीं होंगे इसमें भी दुविधा नहीं थी तो आप भीम के नेत्रों से स्वयं ओझल हो गये कि कहीं आत्मरक्षा में भीम पर कोई कठोर प्रहार न हो जाये और पार्थ? वह तो कर्ण आपका निर्णय था... पार्थ के हाथों सम्मानजनक मृत्यु। सत्त्वे योद्धा के लिये मृत्यु के साथ एक शब्द और जुड़ा रहता है, सम्मानजनक। कदाचित वह युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव के हाथों वीरगति प्राप्त होने में नहीं था इसलिए आपने इसके लिये पार्थ का चुनाव किया था। कर्ण! क्या यह परोक्ष आत्महत्या नहीं थी?

कर्ण! आप आज जिस शिखर पर हैं उसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता। पाँवों कौन्तेय आपसे युद्ध की लालसा पाले हुए जीते रहे। उन्होंने युद्ध क्षेत्र में कुछ समय आपके सम्मुख खड़े होकर अपने स्वाभिमान को संतुष्ट भी कर लिया था, किन्तु क्या वे कभी आपको समझ पाये? भविष्य में अब जब सब कुछ स्पष्ट हो चुका है तो भी क्या वे आपके भावनाओं को छू पायेंगे?

कर्ण! बहुत पीड़ा हो रही है मुझे, नहीं सह पा रही हूँ आपका बलिदान। क्यों विक्षिप्त हूँ, मुझे नहीं ज्ञात, किन्तु मैं विक्षिप्त हूँ यह सत्य है। आप वीरगति को प्राप्त हुए, सुनकर मन भय मुक्त हुआ था, किन्तु उस मुक्ति में भी पीड़ा थी कर्ण! हृदय में आपके प्रति कहीं वेदना जमी हुई थी, जो इस सूचना के साथ पिघलकर आँखों से बह रही है। मन उद्वेलित हो रहा है। अब मैं क्या चाहती हूँ? क्या करने से मेरी पीड़ा शांत होगी, यह भी मुझे ज्ञात नहीं। बस हृदय में एक वेदना भरी हुई है... उस वेदना को पिघलाकर जीना चाह रही हूँ... मुझे इस वेदना से मुक्ति नहीं चाहिए, उसे मैं भोगना चाहती हूँ, इस क्षण का तो यही सत्य है।

मैं सुनती थी कर्ण के विषय में... उस शीलवान वीर का धैर्य, उसका उदात्त चरित्र जिसमें कोई संशय नहीं था। इतने वर्षों बाद आज मस्तिष्क में एक प्रश्न कौंधने लगा कि यदि कर्ण ज्येष्ठ कौन्तेय थे और सखा इस सत्य को जानते थे तो उन्होंने क्यों स्वयंवर में मुझे संकेत करके कुल के आधार पर उन्हें शर संधान करने से मना करने के लिये कहा? उसी सभा में ब्राह्मण वेशधारी पाण्डवों से उनके कुल का परिचय नहीं पूछा गया। मैंने तो उस समय भी सखा की ओर देखा था, किन्तु वे मौन थे। मैं भी मौन रह गयी।

सखा! तुम्हारे लिये कर्ण वही थे जो कि पाण्डव; वही रक्त सम्बन्ध, फिर वासुदेव! उनके साथ यह सौतेला व्यवहार क्यों? सखा, यदि आप चाहते तो आज स्थिति दूसरी होती... तुम्हारी सखी का अतीत वर्तमान और भविष्य भिन्न होता; कर्ण की जिस शक्ति के कारण यह युद्ध हुआ है, वह भी नहीं होता।

हृदय में कर्ण के लिये संचित सम्मान, करुणा के साथ उभर आया। वह शीलवान योद्धा, माता, सखा और पितामह के मौन के कारण वर्षों तक अपने पालक पिता के साथ राधेय वपुशेण रथ चक्रों और घोड़ों के खुरों से उड़ी धूल से नहाता रहा। सखा उनके अपमान को देखते रहे... देखते रहे बढ़ते हुए वैमनस्य को इसी अज्ञानतावश कर्ण और पार्थ एक दूसरे के विरुद्ध थे। भीम अपने ज्येष्ठ भ्राता का अपमान करते रहे और कर्ण सहन करते रहे। कितना सहन कर सकता है कोई? सहन शक्ति की सीमा होती है... और जब सामर्थ्य हो तो सहन शक्ति बहुत कम हो जाती है। सहनशीलता किसी के चरित्र का अंग होती है, किन्तु इस सीमा तक? नहीं यह सहनशीलता केवल कर्ण के अज्ञानता के कारण ही थी। ऐसा दिव्य शरीर, ऐसा विलक्षण शौर्य! क्या कर्ण से उसकी वीरता और शौर्य प्रश्न नहीं करते होंगे कि मैं कौन हूँ? हाथों में प्रदोत थामे, रथ के घोड़ों की वल्गाएँ खींचने वाले अधिरथ का अंश तो कदापि नहीं। काष्ठ की पेटी में बहुत सारे स्वर्ण आभूषणों के साथ नदी में बहता हुआ नवजात शिशु, राधा और अधिरथ दंपति को मिला था, यह सत्य तो कर्ण का सारा परिवेश जानता था। कर्ण भी इससे अनभिज्ञ नहीं होंगे कि वे अपने माता-पिता के पलित पुत्र हैं किन्तु 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न उन्हें सज्जन होते ही दग्ध बाणों की तरह घायल नहीं करता होगा?

अपने जन्म का रहस्य ज्ञात होने के पश्चात कैसी मनःस्थिति हुई होगी कर्ण की? कुंती और सूर्य का पुत्र कर्ण, सूर्य पुत्र... आजीवन स्वयं को सूत पुत्र के रूप में जानता रहा और दुर्योधन ने कुटिलता का पासा फेंक कर उसे 'अंगराज' बनाकर वश में कर लिया। कर्ण भी पितामह की भाँति अपनी मौन प्रतिज्ञा से दुर्योधन के दुष्कर्मों का मौन समर्थक बने रहे। हाँ, मैंने कर्ण के मुख पर उस विवशता की पीड़ा देखी थी, जो सभा में मेरे अपमान के समय समस्त जग को प्रकाशित करने वाले सूर्य के पुत्र के मुख पर होनी चाहिए थी।

पितामह और कर्ण दोनों अपने ही प्रतिज्ञा की बेड़ियों से बँधे विवश बैठे रहे। जब क्रीड़ांगन में सूत पुत्र होने के कारण राज पुरुषों के बीच होने वाली प्रतियोगिता से उन्हें वंचित कर दिया गया और अपमानित कर्ण को दुर्योधन ने अंग देश देकर 'अंगराज' बनाकर अपना मित्र बना लिया था, उस समय कर्ण ने भी की होगी मौन प्रतिज्ञा। कैसा लगा होगा कर्ण को, दान और कृपा में अंग देश प्राप्त करके? दान और कृपा से कुछ प्राप्त करने की आशा केवल असमर्थ और दुर्बल ही करते हैं और कर्ण को दुर्बल करने का साहस कौन कर सकता है? पितामह और सखा भी नहीं। सुना था कि पितामह ने कर्ण को अपमानित किया था, अनेक आक्षेप पूर्ण वचन कहे थे; उन्हें महारथियों की श्रेणी में भी नहीं रखा था और महारथियों के बीच कर्ण की वीरता का मूल्यांकन किया था। अर्धरथी और अपमानित कर्ण ने पितामह के जीते जी युद्ध में पैर न रखने की प्रतिज्ञा कर ली। पितामह ने अपने जीवित रहते भाई भाई को शत्रु बनाकर एक दूसरे पर प्रहार से बचा लिया था। पितामह स्वयं भी तो शिखण्डी से युद्ध के लिये विमुख हो गये थे। वे चाहते तो अपनी रक्षा करते हुए शिखण्डी से दूर जा सकते थे। तो क्या पितामह इस विवश और नाटकीय स्थिति में जीवित नहीं रहना चाहते थे? मैं कितनी क्षुद्र बुद्धि हो गयी थी... भूल गयी थी कि अनायास ही जन मानस उन्हें भीष्म नहीं कहता है। उन्होंने अपने प्रयास से दस दिनों तक कर्ण को युद्ध क्षेत्र से बाहर रखा था। मैंने लेटे लेटे ही पितामह को दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

माता, कर्ण से सत्य कहने का साहस कैसे कर पायी होगी? उनका हृदय अपने सामने कर्ण को देखकर उन्हें छूने, सहलाने और आलिंगन में लेने के लिये नहीं तड़पा होगा? युधिष्ठिर को गर्भ में धारण करने पर उन्हें अपने प्रथम पुत्र का पल पल भय के साथ जिया हुआ गर्भकाल आहत न करता होगा? युधिष्ठिर को वक्ष से लगाकर स्तनपान कराते समय प्रथम पुत्र का क्षुधार्त रोदन क्या कानों में नहीं गूँजता रहा होगा? एक ओर दूध से भरी छातियों का तनाव और दूसरी ओर नदी में काष्ठ पेटी में प्रवाहित भूख से रोते अपने प्रथम पुत्र की कल्पना, दोनों को एक साथ कैसे भोगा होगा माता ने? भरपेट दूध पीकर सुख से सोये शिशु युधिष्ठिर को देखकर उन्होंने अपने और कर्ण के दुर्भाग्य पर कितने आँसू बहाये होंगे... कहाँ होगा उनका पुत्र? जीवित होगा या नहीं? और इस दुश्चिन्ता में दो चार घड़ी नहीं वरन् वर्षों तक इस पीड़ा के साथ वे जीती रहीं। ऐसे दिव्य पुत्र का ऐसा अधम परिचय? माँ ने पिटारी में स्वर्ण आभूषणों के साथ शिशु के पिता का परिचय भी लिखकर रख दिया होता तो इस प्रकार कर्ण केवल आधी यातना ही भोगते।

स्वयंवर के दिन मैंने स्वर्णिम दिव्य कवच कुण्डल से सुशोभित कर्ण को देखा था। कौरवों की सभा में भी आहत पीड़ित, सिर झुकाये विवश कर्ण को मैंने देखा था। चरित्र और मित्रता के धर्म के दृढ़ को मैंने करके मुख मण्डल की रेखाओं में पढ़ा था। उस दिन अपने कर्तव्य का गला घोटकर मित्र धर्म का निर्वाह करने पर विवश हुए थे कर्ण। उस दिन कर्ण ने स्वयं को लांछित किया था। आज तक कोई याचक उनके सामने से रिक्त हस्त नहीं गया था। मेरे प्रश्नों, मेरी याचना, मेरी प्रत्येक पुकार, उनके समक्ष हुआ मेरा अपमान, सबका आघात अपने हृदय पर सहते हुए कर्ण ने मित्र के साथ निष्ठा और अपने चरित्र के बीच के युद्ध को कैसे सहा होगा?

उस दिन के बाद कर्ण कैसे जी पाये होंगे; उनका चरित्र और नैतिकता क्या उनके ऊपर व्यंग्य नहीं करती होगी? सुना था कर्ण ने अपने शरीर के कवच और कुण्डल को ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र को उनकी याचना पर स्वयं अपने हाथों से काट काटकर अलग करके दान में दे दिया था। उस समय भी सुनकर मैं काँप गयी थी। यह जानते हुए भी कि कवच कुण्डल के साथ आपका शरीर

अर्जुन के लिये अवध्य है, उससे विहीन होने पर पार्थ आपका सरलता से वध कर सकते हैं तो भी उन्हें दान करने में आप क्षण भर भी विचलित नहीं हुए। आपने अपने कवच कुण्डलों के साथ ही कौरवों की निश्चित विजय भी दान कर दी थी। क्या इस दान के भीतर भी आपका कोई दान छुपा था, जिससे आप मेरे पति के लिये सरलता से वध्य हो गये?

कर्ण! ये कैसा चरित्र था आपका? अपने चरित्र को गढ़ते गढ़ते आपने उसे इतना उदात्त और विशाल बना डाला कि स्वयं को उसी में होम कर दिया। सच कर्ण! जहाँ आप खड़े हैं, वहाँ से हम सब आपके सामने बौने हैं। आपके चरित्र की ऊँचाई और मन की गहराई दोनों का ही माप और थाह पाना किसी के लिये भी संभव नहीं है।

स्वयंवर में मुझसे आपका अपमान हुआ था। मैं जीवन भर अपने उस आचरण पर लज्जित होती रही। आज उसकी स्मृति मुझे बहुत पीड़ा दे रही है। कर्ण उस समय मेरी आयु और जीवन का अनुभव ही क्या था? ज्येष्ठ कौन्तेय मुझे क्षमा कर दें, अपनी अनुज वधू को उसके अपराधों के लिये क्षमा कर दें, अन्यथा मैं नहीं जी पाऊँगी। शय्या पर लेटे लेटे ही मैंने आसमान की ओर अपने जुड़े हुए हाथों को उठा दिया। मेरी आँखों से आँसू बह रहे थे। मैं सोचने लगी। कर्ण मेरे कौन थे? मैं कौन थी उनकी? क्यों मैं अपने आत्मीय की मृत्यु की भाँति कर्ण की मृत्यु से दुःखी हूँ। क्या यह सूर्यपुत्र के साथ अग्नि कन्या का जन्मजात सहज आकर्षण है? अन्यथा कर्ण तो विपक्ष के सेनानी थे मेरे पति पार्थ के वध की प्रतिज्ञा की थी। उन्होंने फिर क्यों? मेरा मन कर्ण के इस प्रकार के अन्त से दुःखी हो गया?

कदाचित्त व्यक्ति में अपने-पराये, पक्ष-विपक्ष से परे भी बहुत कुछ होता है और वही कर्ण का बहुत कुछ मुझे व्यथित कर रहा है। विधाता ने क्षमा याचना का अवसर भी नहीं दिया। कल प्रातःकाल मैं सूर्यदेव से उनके मनस्वी पुत्र कर्ण के प्रति जाने अनजाने में हुए अपमान के लिये क्षमा माँगूँगी।

माता की स्वीकारोक्ति से पैदा हुआ आश्चर्य, आघात लगाकर समाप्त हो गया और साथ ही उभर आयी उनकी हृदय हीनता। क्या माता कुंती ने बार बार त्यागने के लिये ही कर्ण को जन्म दिया था? पहली बार तो लोक लाज वश परित्याग किया था। परित्याग भी कैसा? जीवित रहने की संभावना को जल में प्रवाहित करके समाप्त कर दिया था। यदि रात्रि के अंधकार में किसी के द्वार पर या मार्ग के किनारे रखवा दिया होता तो निश्चित रूप से कोई न कोई दम्पति उस दिव्य शिशु को हृदय से लगा लिया होता; किन्तु जल में प्रवाहित करके एक प्रकार से उन्हें जीवित जल समाधि ही दे दी थी।

क्या माता नहीं चाहती थी कि वह शिशु इस धरती पर जीवित रहे, अन्यथा परित्याग का ऐसा मार्ग क्यों अपनाया था? दूसरी बार भी अपने पुत्र को अपना परिचय देकर उससे उसका बचा-खुचा जीवन भी माँग लिया, मानो तुम्हें जीने का अधिकार तब भी नहीं था और उस समय जीवित बच गये तो अब आगे जीने के अधिकार से मैं, तुम्हें जन्म देने वाली माँ तुम्हें वंचित करती हूँ; साथ साथ मेरे पुत्रों को जो तुम्हारे प्राणों के प्यासे हैं, उन्हें भी जीवन दान दे दो कर्ण।

कैसा पाषाण हृदय है माता कुंती का? माता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र से अपने पाँचों पुत्रों का जीवन दान तो माँग लिया, किन्तु क्या अपने पुत्रों को कर्ण का वध न करने की आज्ञा दी? उनकी 'आज्ञा' पर तो पहले कभी प्रश्न नहीं उठा था उस दिन भी नहीं उठता। उनके आज्ञाकारी पुत्र तो पहले भ्रमवश दी गयी आज्ञा से भी किसी प्रकार विमुख नहीं हुए, तो इस समय आपकी आज्ञा की

अवहेलना कैसे करते?

कर्ण को अपने जीवन के प्रश्न 'मैं कौन हूँ?' का उत्तर प्राप्त करके कैसा लगा होगा? जन्म देने ही त्याग देने वाली माँ के लिये उनके मन में करुणा पैदा हुई होगी या घृणा? कर्ण जैसे व्यक्ति घृणा कर ही नहीं सकते थे; वह तो दानी थे... दानी और घृणा का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है। माता को उन्होंने दया का ही पात्र समझा होगा, तभी तो परोक्ष रूप से उनके ही प्राणों की याचना करने वाली अपनी माँ को उनके चार पुत्रों के जीवन का अभय दान दे दिया था।

एक ही माँ के दोनों पुत्रों के धर्म, नैतिकता और चरित्र में इतना बड़ा अंतर युधिष्ठिर ने अपने लिप्सा के कारण मिथ्या भाषण के भ्रामक उत्तर को आदेश मानकर मेरा जीवन नष्ट कर दिया और कर्ण... माँ का अपने पक्ष में आने का अनुरोध और प्रलोभन को ठुकरा कर भी पुत्र के रूप में निःसंदेह युधिष्ठिर से महान हैं। धर्म, नैतिकता और चरित्र कभी कभी अभिव्यक्ति से परे होते हैं; जो दिखाई देता है, जो कहा जाता है और जो आचरण में उतारा जाता है वह उन सबसे अलग ही भासित होता है।

क्या स्त्री केवल जननी होकर अपने संतान से प्रेम नहीं कर पाती है? स्तन पान कराने से ही प्रेम का सूत्र जुड़ता है? यदि नहीं, तो कर्ण के प्रति माता का हृदय ऐसा क्यों था?

सखा! आपने कैसे पाषाण हृदय होकर, करुण हृदय अनभिज्ञ पार्थ के हाथों कर्ण का वध करवाया होगा? मैं तो आपके भीतर इतनी कठोरता की कल्पना भी नहीं कर सकती। सुना था उनके रथ का चक्र भूमि में धँस गया था, उसे निकालते समय जब वे निःशस्त्र थे, तब आपने पार्थ से उनका वध करवाया था। अभिमन्यु भी निःशस्त्र था, जब दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण ने पीछे से उसके शीश पर गदा का प्रहार करके उसका वध किया था।

मैंने यह भी सुना था कि जब अकेले अभिमन्यु पर कई योद्धा एक साथ प्रहार करने लगे थे तो कर्ण ने विरोध किया था। जब वह निःशस्त्र हुआ तो कर्ण ने ही क्रुद्ध होकर अपने पक्ष के योद्धाओं से कहा था कि, "वह निःशस्त्र है, पहले उसे शस्त्र दो, फिर एक एक योद्धा उससे युद्ध करो।" कर्ण, अभिमन्यु के लिये विरोध करते रहे, किन्तु जयद्रथ के ललकारने पर लक्ष्मण ने पीछे से प्रहार करके उसका वध कर डाला और नीच जयद्रथ उसके मस्तक पर पद से प्रहार करके हँस रहा था। मुझे फिर से युधिष्ठिर पर क्रोध आया था। मेरे अपहरण के प्रयास में यदि जयद्रथ को वन में ही मृत्यु दे दी गयी होती तो कदाचित् अभिमन्यु आज जीवित होता। अभिमन्यु का अपराधी कौन है, युधिष्ठिर अथवा जयद्रथ? वध के योग्य विषय को अभिमन्यु को डँसने के लिये ही युधिष्ठिर ने जीवित छोड़वाया था। अभिमन्यु की मृत्यु से सबका हृदय विदीर्ण हुआ था, किन्तु मेरे हृदय में कर्ण के लिये आदर भी पैदा हो गया था। उस कर्ण के लिये, जो पार्थ के वध के लिये प्रतिज्ञाबद्ध था।

चार चार अनुजों को जीवन दान देने वाले कर्ण के हाथ अर्जुन पर प्रहार के समय अवश्य काँपते रहे होंगे; मन विमूढ़ता की स्थिति को भी प्राप्त करता रहा होगा... कैसा लगता होगा उन्हें पार्थ पर प्रहार करते समय। प्रतिज्ञा तो उन्होंने अज्ञानावस्था में की थी? मैं कर्ण की मनःस्थिति को अनुभव नहीं कर पा रही हूँ, उत्तर देने के लिये तो अब कर्ण भी नहीं हैं। क्या कोई कर्ण के मन को समझ कर मुझे समझा पायेगा?

आज कर्ण अपने चरित्र से जो मापदंड स्थापित कर गये हैं; चाहे एक योद्धा के रूप में हो या एक मित्र, दानी और एक पुत्र के रूप में। हाँ, उस माँ के पुत्र जिन्होंने उन्हें जन्म लेते ही काल के मुख में ढकेल दिया था और यह जानते हुए भी कि माँ के पुत्र के हाथों ही उनकी मृत्यु होगी,

उनकी याचना पर उनके शेष चार पुत्रों को जीवन दान भी दे दिया था। कर्ण के उदात्त चरित्र के आगे सबके चरित्र बौने हैं... सखा का भी, जिन्होंने पार्थ के हाथों निःशस्त्र कर्ण का वध करवाया था।

इस युद्ध में सबका चरित्र डगमगाया, सब में अपवाद जुड़ा... युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य की मृत्यु के लिये झूठ का आश्रय लिया, निःशस्त्र रहने की प्रतिज्ञा करने वाले कृष्ण भी पितामह पर चाबुक और रथ चक्र उठाकर दौड़ पड़े थे, पार्थ ने धर्म के विरुद्ध, निःशस्त्र कर्ण का वध किया... किन्तु कर्ण... आपके चरित्र पर तो कालिमा की एक महीन रेखा भी नहीं है।

मैं सारी रात कर्ण के विषय में सोचती रही। पाण्डव और सखा, कर्ण का अंतिम संस्कार करके रात में किस समय लौटे मैं नहीं जान पायी। युद्ध का अद्भुत दिन उदित हो रहा था।

दोनों पक्षों की अधिकांश सेना समाप्त हो चुकी थी। कौरव पक्ष के तीन सेनापति वीरगति प्राप्त कर चुके थे; मेरे पिता अपने दो पुत्रों के साथ वीरगति प्राप्त कर चुके थे। नये संबंधी विराट, अपने तीनों पुत्रों सहित स्वर्गवासी हो चुके थे, माता कुंती के दोनों भाई कुंतिभोज और पुरुजित, द्रोणाचार्य के हाथों मारे जा चुके थे, देविका के पिता शैब्य भी स्वर्ग जा चुके थे। कौरवों की सेना में केवल दुर्योधन और युद्ध से विमुख उसका भाई युयुत्स ही शेष थे। कृपाचार्य ने पुनः दुर्योधन को समझाकर संधि करने के लिये कहा, किन्तु दुर्योधन किसी भी प्रकार से तैयार नहीं हुआ। अंत में बची खुची हताश सेना के सेनापति नकुल सहदेव के मामा मद्र नरेश शल्य बने। वे भी युद्ध करते हुए युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव द्वारा मारे गये। सहदेव ने शकुनि और उनके पुत्र उलूक का भी वध कर डाला। कौरव पक्ष समाप्त हो गया... अगर नहीं समाप्त हुआ तो दुर्योधन का हठ और अहंकार। पुनः संधि की बात को ठुकरा कर वह अपनी बची सेना के साथ पलायन कर गया। उसके सैनिक जहाँ-तहाँ छिप गये और वह भी निकट के सरोवर में जाकर छुप गया।

आहत दुर्योधन, अपने जल में छुपने की विद्या के बल पर समान्त पंचक सरोवर में जाकर छुप गया। पाण्डव और सखा उसे ढूँढते हुए उस सरोवर के निकट पहुँचे। उन्हें संदेह था कि वह अपनी विद्या के आधार पर जल में छुपा होगा। निकट ही पक्षियों का आखेट करने वाले व्याध ने भी एक व्यक्ति के सरोवर में प्रवेश करने की सूचना दी थी। तट पर पहुँचकर भीम ने उसे तलकासा तलकासा सुनकर अपने को अजेय मानता दुर्योधन जल से बाहर निकल आया। उसी समय युद्ध में तटस्थ रहने वाले दुर्योधन के गुरु और कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलदेव भी पहुँच गये थे। युधिष्ठिर ने कहा, तुम अकेले हो और हम पाँच; तुम हम में से जिससे भी युद्ध करना चाहो और जिस शस्त्र से युद्ध करना चाहो, चुन लो; जो जीतेगा वही हस्तिनापुर पर राज्य करेगा। सभी भयभीत हो गये, क्योंकि दुर्योधन के समक्ष केवल भीम थे। सखा चिंतित हो गये, किन्तु दुर्योधन के अहंकार ने हमारा साथ दिया... उसने गदा युद्ध के लिये भीम को चुनौती दी।

सरोवर की शांति और पवित्रता भंग हो गयी। गदा प्रहार के भीषण स्वर को सुनकर उस क्षेत्र में निवास करने वाले पशु-पक्षी भयभीत होकर वहाँ से भागने लगे। भीम प्रहार करते, किन्तु दुर्योधन का शरीर वज्र की भाँति अविचल रहता; पर दुर्योधन के प्रहार से भीम आहत होते। दुर्योधन को इतनी शक्ति से प्रहार करते भीम ने कभी नहीं देखा था। युद्ध क्षेत्र से तो वह भीमसेन के प्रहार से आहत होकर भागा था, किन्तु आज वह विकट युद्ध कर रहा था। सभी भयभीत होकर इस दृढ़ को देख रहे थे। उसके प्रहार से भीम विकल होने लगे। दुर्योधन ने भीमसेन की छाती पर पूरी शक्ति से प्रहार किया, भीम गिरते गिरते बचे। सखा ने अर्जुन के कानों में धीरे से कुछ कहा और

अर्जुन ने तत्काल भीमसेन को संकेत किया। उसी समय सखा ने अपनी जंघा पर प्रहार करके भीम को दुर्योधन की जंघा पर प्रहार करने का संकेत किया। दुर्योधन ने सखा का संकेत देख लिया था। वह प्रहार से बचने के लिये उछला, किन्तु भीम का प्रहार अचूक था। दुर्योधन की जंघा बिजली सी कड़कती आवाज के साथ टूट गयी... तत्काल दूसरे प्रहार से भीमसेन ने उसकी दूसरी जंघा भी तोड़ दी।

बलराम गदा युद्ध के नियम के विपरीत, नाभि के नीचे भीम को प्रहार करते देखकर क्रुद्ध हो भीम को मारने के लिये उद्यत हो गये और कृष्ण के बहुत समझाने बुझाने पर ही शांत हुए। भीमसेन ने बार बार उनसे क्षमा माँगी... उनके पैरों पर अपना मस्तक रख दिया, किन्तु बलराम अटल रहे और ये कहते हुए कि, “तुमने अन्याय से दुर्योधन को मारा है, इस कारण तुम जीवन भर इस कलंक के साथ जीवित रहोगे और दुर्योधन स्वर्ग जायेगा तथा सदैव ही तुमसे श्रेष्ठ योद्धा के रूप में याद किया जायेगा।” वहाँ से चले गये।

युद्ध समाप्त हो चुका था। घायल दुर्योधन, सरोवर के तट पर अपनी अंतिम साँसें गिन रहा था। अब केवल युद्ध की समाप्ति की औपचारिक घोषणा शेष थी। भीम के अतिरिक्त सभी लोग घायल सैनिकों को देखने के लिये चले गये। माता भी अपने शिविर में चली गयीं। भीमसेन वलांत थे इसलिये वे शिविर में विश्राम करने लगे।

मैंने भीम से पूछा “उस समय सखा ने क्या कहा?”

“श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा था कि, “यह मैंने अपनी इच्छा से किया। जिस दिन दुर्योधन ने छल से युधिष्ठिर का सर्वस्व हरण कर लिया, जिस प्रकार से मेरी सखी पांचाली का अपमान हुआ, उस समय मुझे उनके लिये क्या करना चाहिए था?” बलराम चुप रहे।”

दुर्योधन, श्रीकृष्ण को कोस रहा था कि उन्होंने कुटिलता से उसकी जंघा पर प्रहार करने का संकेत किया। श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर उसको उत्तर दिया कि, “जिस प्रकार से भी संभव था, मैंने किया, जिस समय दुःशासन पांचाली के वस्त्र खींच रहा था और वह मुझे रक्षा के लिये पुकार रही थी, उसी समय मैंने तुम्हारी मृत्यु निश्चित कर दी थी... मैंने जो कुछ किया यदि वह पाप था, तो वह पाप मैं पांचाली के लिये सहर्ष अपने ऊपर लेता हूँ।”

भीमसेन की बात सुनकर मैं रोने लगी। भीमसेन घबरा गये। कहने लगे कि, “मैंने कुछ अनुचित कह दिया?”

‘नहीं!’ मन ही मन कहा, आप नहीं समझेंगे।

द्वार पर सेवक ने गुप्तचर के खड़े होने की सूचना दी। भीमसेन ने उसे शिविर में बुला लिया। उसने बताया कि पाण्डवों के शिविर में लौटने के पश्चात् अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा सरोवर के तट पर पहुँचे और दुर्योधन की दशा देखकर सभी दुःखी हो गये। दुर्योधन ने अश्वत्थामा का सेनानायक के पद पर अभिषेक किया और वह कृपाचार्य, कृतवर्मा के साथ घने जंगलों में चला गया। सखा ने शिविर में रह रही कौरव पत्नियों को युयुत्स के संरक्षण में हस्तिनापुर भेजने का प्रबन्ध किया। आज विन्तायें समाप्त हो गयी थीं... सभी निश्चिन्त होकर सोने के लिये अपने अपने शिविरों में चले गये।

रात्रि के अंतिम प्रहर में झटके से नींद खुल गयी... लगा कि मेरे पुत्र मुझे पुकार रहे हैं। शिविर के कक्ष में मद्धिम प्रकाश था और चारों ओर नीरवता व्याप्त थी। मेरी नींद स्वप्न देखते-देखते टूट गयी थी। विचित्र था स्वप्न। द्युम्न मेरे पुत्रों को रथ पर बिठाकर कहीं दूर ले जा रहे हैं। मेरे पुत्र मुझे

पुकार रहे हैं जैसे वनवास के समय द्युम्न मेरे पुत्रों को रथ में बिठाकर तेजी से परिसर से बाहर चले गये थे, वैसे ही अन्तर इतना था कि मेरे पुत्र स्वप्न में युवा थे... किन्तु उनके केश क्यों मुण्डित हैं? उठकर पानी पीया।

मन में न जाने कैसी आशंका व्याप्त हो गयी थी। मैंने पुनः सोने का प्रयास किया किन्तु निद्रा आँखों से कोसों दूर थी। मैं आँखें बंद किये लेटी रही। कक्ष में आहट हुई। आँखें खोलकर देखा तो नकुल, कक्ष में मेरी शय्या के निकट खड़े थे। नकुल को इस समय अपने कक्ष में देखकर आश्चर्य हुआ। मैं कुछ पूछती, उसके पहले ही नकुल ने कहा कि, "महाराज युधिष्ठिर ने तुम्हें बुलाया है।" और बिना उतर की प्रतीक्षा किए शिविर से बाहर चले गये। मैं भी उनके पीछे पीछे निकल आयी। शिविर के बाहर रथ खड़ा था और सारथी के स्थान पर नकुल बैठे थे। मैं रथ में बैठ गयी। मैंने नकुल से पूछा कि, "महाराज ने इस समय मुझे क्यों बुलाया है, सब कुशल तो है न?" किन्तु मेरा प्रश्न घोड़ों के चलाने के संकेत के स्वर में दब कर रह गया। मुझे लगा कि कहीं पितामह अधिक अस्वस्थ तो नहीं हो गये? मैंने पुनः नकुल से असमय मुझे बुलाने का कारण पूछा किन्तु नकुल ने कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद रथ युद्ध क्षेत्र में एक शिविर के द्वार पर खड़ा हो गया। नकुल, रथ नीड़ से उतरकर शिविर में चले गये। मैं भी नकुल के पीछे पीछे शिविर में पहुँची। सभी पाण्डव व सखा द्वार के निकट ही खड़े थे। शिविर में हल्का प्रकाश था। मैंने युधिष्ठिर से पूछा, "मुझे क्यों बुलाया है?" उत्तर में मेरे समक्ष खड़े पाण्डव व सखा एक ओर हट गये। सामने का दृश्य देखकर मैं चीख पड़ी। मेरे सभी पुत्र मृत पड़े थे। देविका, बालंधरा, केरेणुमति और विजया के पुत्रों की भी अश्वत्थामा ने सोते समय हत्या कर दी थी। अन्य शिविरों में भी उसने ताण्डव किया था। उसने भारी संख्या में पांचाल वीरों की भी सोते समय हत्या कर दी थी। मैं विक्षिप्त होकर रोने लगी, सब कुछ समाप्त हो गया था।

यदि मेरे पुत्र युद्ध करते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते तो मुझे अपने पुत्रों पर गर्व होता और एक वीर क्षत्राणी की भाँति अपने पूर्वजों के साथ उनके स्वर्ग में बैठने की कल्पना करके अपने दुःखों का निवारण कर लेती, किन्तु किसी भी प्रकार द्रोण पुत्र द्वारा अपने पुत्रों की हत्या को मैं सह नहीं पा रही थी। मैंने क्रोध में प्रतिज्ञा की, "मुझे कौरवों का सेनापति, द्रोण कुमार मृत चाहिए, अभी इसी क्षण... तभी मेरे हृदय की पीड़ा शांत होगी अन्यथा मैं अन्न जल त्याग करके प्राण त्याग दूँगी।" मेरा रुदन रुक ही नहीं रहा था। मैंने पुनः भीमसेन की ओर देखा। आज भी मुझे भीम के अतिरिक्त कोई भी नहीं दिखायी दे रहा था। भीम तत्काल नकुल को सारथी बनाकर अश्वत्थामा की खोज में चल दिये।

नकुल, अश्वत्थामा के रथ चक्र के चिह्नों का पीछा करते करते सरोवर के तट पर पहुँचे, जहाँ दुर्योधन अंतिम साँसें गिन रहा था। अश्वत्थामा ने अपना प्रतिशोध पूरा करके रात्रि में ही सरोवर के तट पर पहुँच कर दुर्योधन से सारा वृत्तान्त सुनाया था। सब कुछ सुनकर दुर्योधन मर्मांतक पीड़ा में भी अट्टहास कर उठा।

भीम के प्रस्थान करने के उपरान्त सखा, पार्थ और युधिष्ठिर भी रथ पर सवार होकर भीम के पीछे पीछे चले गये।

मेरे समक्ष अश्वत्थामा के मस्तक की मणि पड़ी थी। मैंने उसे देखकर घृणा से अपना मुँह फेर लिया। भीम ने गुरु पुत्र होने के कारण उसे जीवित रहने दिया, किन्तु उसके मस्तक की मणि निकालकर उसे शक्तिहीन करके छोड़ दिया था।

मैंने भीम से सारा वृत्तांत बताने के लिये कहा तो भीमसेन ने बताया कि, जब युधिष्ठिर सरोवर तट पर पहुँचे तो उन्हें देखकर दुर्योधन एक बार पुनः गरजा, “युधिष्ठिर! तुमने राज्य जीत लिया, अब हस्तिनापुर में किस पर शासन करोगे? विधवाओं पर, जिनके पति युद्ध में समाप्त हो गये; अनाथ बच्चों पर, जिनके पिता को तुमने युद्ध में निगल लिया? या वृद्धों पर, जिनके जीवन का अंतिम सहारा तुम लोगों ने छीन लिया? प्रातःकाल आँख खुलते ही उनका करुण रुदन तुम्हारे कानों में पड़ेगा, अपने कर्म का अपराध भाव तुम्हें रात्रि में सोने नहीं देगा। अपने सम्बन्धियों, संतानों की बलि चढ़ाकर तुम लोग अनंत काल तक हस्तिनापुर में अपने दुष्कर्मों में जलते रहोगे और मैं तो स्वर्ग जा रहा हूँ, यह कहते कहते उसकी जीवन लीला समाप्त हो गयी।

17. हस्तिनापुर

हस्तिनापुर का राजभवन स्त्रियों के विलाप से गूँज रहा था। पाण्डव और श्रीकृष्ण, महाराज धृतराष्ट्र और माता गांधारी के पास गये। पाण्डवों को देखकर उनका विलाप तीव्र हो गया। संजय और विदुर उन्हें धैर्य दे रहे थे। कृपाचार्य ने उन्हें समस्त कौरवों की मृत्यु एवं पाण्डवों द्वारा कौरव सेना के विनाश की सूचना दे दी थी। पाण्डवों को देखते ही माता गांधारी उन्हें शाप देने के लिये उद्यत हुईं किन्तु महर्षि व्यास के समझाने पर शांत हो गयीं। धृतराष्ट्र ने भीमसेन को अपने निकट बुलाया। श्रीकृष्ण ने पहले से ही दुर्योधन के भवन से भीम की लौह प्रतिमा, जिस पर दुर्योधन गदा से प्रहार करके अभ्यास करता था, मँगवाकर कक्ष में रखवा लिया था और उसे महाराज धृतराष्ट्र के समक्ष खड़ी कर दी। धृतराष्ट्र ने उस लौह प्रतिमा को अपनी भुजाओं में कस कर दबाया। वह प्रतिमा कड़क कर टूट गयी। धृतराष्ट्र उस प्रतिमा को भीम समझकर दबाते रहे और दबाव के साथ प्रतिमा के अंग टूटते रहे। अंत में धृतराष्ट्र शांत होकर बैठ गये।

युधिष्ठिर, माता गांधारी से क्षमा माँगते रहे किन्तु माता क्रुद्ध थीं। उन्होंने अपने हाथों से अपने आँखों की पट्टी खोल दी। अर्जुन, श्रीकृष्ण के पीछे छुप गये। उनकी दृष्टि से युधिष्ठिर के पैरों के नख काले पड़ गये।

पुत्र शोक से व्यथित माता गांधारी, श्रीकृष्ण से क्रोधित होकर कहने लगी, “आप इस वंश के संबंधी हैं, दुर्योधन पुत्री लक्ष्मणा आपकी पुत्रवधू हैं; आपके पुत्र साम्ब ने उसका पाणिग्रहण किया है, आप अलौकिक शक्ति से पूर्ण हैं... यदि आप चाहते तो इस वंश को विनाश से बचा सकते थे, मेरे पुत्रों की मृत्यु के लिये आप ही उत्तरदायी हैं”

“मैं अंत तक शांति के लिये प्रयास करता रहा; जानता था कि युद्ध सदा विनाशकारी ही होता है... मेरे शांति प्रयास के अवज्ञा के कारण ही कौरवों का नाश हुआ” श्रीकृष्ण ने शांत स्वर में कहा।

“हे कृष्ण! आप कितने भी तर्क दें, मुझे समझाने का प्रयास करें, किन्तु इस विनाश के कारण आप ही हैं; यदि मुझमें कुछ भी पुण्य बल है तो मैं आपको शाप देती हूँ कि जैसे मेरे वंश का नाश हुआ है वैसे ही आपके वंश का भी नाश होगा।”

सब स्तब्ध रह गये। एक स्त्री होकर, जो स्वयं अपने वंश के नाश का दुःख भोग रही है, कैसे किसी को इस प्रकार का शाप दे सकती है! उनकी पौत्री कृष्ण की पुत्रवधू है, क्रोध में उन्हें इसका भी ध्यान नहीं रहा और शाप भी किसे, जिसे वह स्वयं अलौकिक शक्ति का अधिकारी और ईश्वर का अंश मानती रही है।

श्रीकृष्ण इस स्थिति में भी मुस्कुरा उठे, “देवी! आप में पुण्य बल है, आपका शाप फलीभूत होगा; आज से छत्तीस वर्ष बाद मेरे कुटुम्ब के लोग सुरापान करके आपस में युद्ध करके समूल नष्ट हो जायेंगे और मैं भी इस पृथ्वी को त्याग कर चला जाऊँगा, उसके पश्चात एक नये युग का आरम्भ होगा।

सब आश्चर्य चकित देखे रहे थे। श्रीकृष्ण ने एक स्त्री के शाप को शिरोधार्य कर लिया, साथ ही एक युग की समाप्ति और नये युग के प्रारम्भ की घोषणा भी कर दी। सहदेव चुप हो गये और मैं स्तब्ध। पाण्डव और सखा सभी हस्तिनापुर गये थे। यद्यपि कुरुक्षेत्र में सभी मृतकों का दाह

संस्कार करवा दिया गया था, किन्तु माता गांधारी और महाराज को सांत्वना देने व समस्त कौरव बंधु का श्राद्ध करने के लिये वे हस्तिनापुर गये थे। माता, पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर चली गयी थीं। मैं भी अपनी सपत्नियों के साथ उपप्लव्य नगरी में रहने के लिये आ गयी थी। सहदेव हस्तिनापुर से लौटकर आये थे।

* * *

युद्ध की विभीषिका से युधिष्ठिर उबर नहीं पा रहे थे। उन्होंने मेरे समक्ष संन्यास लेने की इच्छा प्रकट की। मैंने उन्हें समझाया कि वे राजदण्ड धारण करके पृथ्वी पर शासन करें... इस विषम स्थिति में संपूर्ण राज्य की प्रजा को असहाय छोड़कर पलायन करना धर्म नहीं है। अंततः युधिष्ठिर तैयार हुए। उनका राज्याभिषेक हुआ और उन्होंने महाराज धृतराष्ट्र के अधीन रह कर राज्य संचालन आरम्भ किया।

महाराज युधिष्ठिर ने राजदण्ड धारण तो कर लिया, किन्तु उनका हृदय विक्षिप्त था। राज्य पाकर, राज्य खोने से भी अधिक यंत्रणा भोग रहे थे। सारा राज्य अनाथ की भाँति उनके समक्ष खड़ा था। हर क्षण पुत्रहीन माताओं, पितृहीन बालकों, विधवाओं की तिरस्कार पूर्ण और शोकाकुल दृष्टि उन्हें विकल करती रहती थी। उनकी पीड़ा और रुदन हमारे ऊपर हाव बनकर बरस रही थी। महाराज एक अधम जुआरी की भाँति अपनी पत्नी और राज्य को जुए में हार गये और पुनः उसे प्राप्त करने के लिये लाखों लोगों के जीवन को होम कर दिया।

विजय मिली थी। किसको साथ लेकर विजय का उत्सव मनाते। अभिमन्यु, घटोत्कच सहित ग्यारह पुत्र, ज्येष्ठ बंधु कर्ण, धृष्टद्युम्न, शिखंडी, युधामन्यु, उत्तमौजा आदि पुत्रों के साथ पिता द्रुपद, संबंधी विराट अपने पुत्रों के साथ युद्ध की आहुति चढ़ गये। हस्तिनापुर की भाँति पांचाल्य, मत्स्य, मथुरा और द्वारिका भी श्रीहीन हो गयी। पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना, कृष्ण की नारायणी सेना सहित कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना समाप्त हो गयी। लाखों लोगों की मृत्यु के साथ उनका सारा परिवार वर्षों तक युद्ध की यातना भोगता रहेगा... उत्सव कौन मनाता, किसको दिखाता?

जिनसे छीनकर राज्य भोगना था, वे भी तो शेष नहीं हैं। राज्य को भोगने का आनन्द तो पराजित के समक्ष ही होता है। महाराज किसके समक्ष राज्य का सुख भोगते। राज्य का वैभव और जीवन के आनन्द को तो युद्ध निगल गया।

मैं भोग रही थी सबकी मौन लांछना, अपने पुत्रों की हत्या करवा कर जीने वाली माँ, अपने पितृकुल का नाश करके जीने वाली पुत्री, सबके पतियों के जीवन को छीनकर पंचपति वरण करने वाली द्रौपदी सुख से जी रही है।

कहाँ चली जाऊँ, जहाँ मुझे इस पीड़ा से मुक्ति मिले। हस्तिनापुर की महिलाएँ तो अपनी पीड़ा, घृणा और शाप मुझ पर उड़ेल कर कुछ समय के लिये शांत हो जाती होंगी, किन्तु मैं तो एक क्षण के लिये भी इससे मुक्त नहीं हो पाती हूँ।

हाँ, युद्ध के लिये मैंने पाण्डवों को प्रोत्साहित किया था, किन्तु धन ऐश्वर्य मेरा काम्य नहीं था; थी तो प्रतिशोध की ज्वाला, जिससे मैं मुक्ति चाहती थी। सोचती हूँ कि क्या सचमुच मुझे कुछ प्राप्त हुआ? पता नहीं, पर मैं दण्ड भोग रही हूँ यह मैं भली-भाँति जानती हूँ।

कहने के लिए इस धर्मयुद्ध में धर्म की विजय हुई, किन्तु कोई भी युद्ध धर्मयुद्ध नहीं हो सकता है। जब हिंसा आरम्भ हो गयी तो धर्म कहाँ रहा? कौरवों और पाण्डवों दोनों ने ही विजय के लिये

धर्म पथ का परित्याग कर दिया था।

* * *

अद्वारह दिन में वह युद्ध तो समाप्त हो गया, बाहर से देखने पर सब कुछ शांत भी हो गया। मैं हस्तिनापुर की महारानी बनी। पहले केवल इन्द्रप्रस्थ था, अब हस्तिनापुर भी... सब कुछ दुगुना हो गया... एक विशाल साम्राज्य। सब कुछ पहले जैसा यंत्रवत चलने लगा।

मुझे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को देखकर लगता है कि इन्होंने कुछ भी नहीं खोया है... न मित्र, न पुत्र और न ही संबंधी। सोचती हूँ कि क्या इन्हें अपने पुत्रों की याद नहीं आती होगी, जिनकी अश्वत्थामा ने कायरता पूर्वक हत्या कर दी थी। उत्तरा का दुःख क्या इन्हें हल्का लगता है, जो अपने मृत पति का अंश गर्भ में सँजो करके जी रही हैं?

सभी मुझे अपने अपने ढंग से समझा जाते हैं कि मन शांत होगा, मन स्थिर होगा, मन लगेगा। ऐसे न जाने कितने वाक्य सुनते सुनते मन न जाने कैसा कैसा होता रहता है। मन शांत होगा, पर कैसे? मन तो अभी विक्षिप्त है। मन में मंथन चल रहा है; इस मंथन में सारी भावनाएँ गड़गड़ हो गयी हैं। मन के किस कोने में क्या है, किस तह में क्या था, सब कुछ इकट्ठा होकर उलझ गया है और मंथन हो रहा है। कितना टूटा-फूटा कितना बचा है, यह भी ज्ञात नहीं... बस लक्ष्यहीन दिशाहीन मंथन हो रहा है। कुछ भी साफ साफ पकड़ में नहीं आ रहा है। मन में न जाने कितने प्रश्न उठते रहते हैं पर किसी का भी उत्तर नहीं मिलता है। मन के भीतर प्रश्न क्यों उठ रहे हैं यह भी स्पष्ट नहीं है, फिर मन कैसे स्थिर होगा?

मेरा हृदय तो पहले से ही खाली था, अब इस आघात से शून्य हो गया है। इसमें न तो कोई इच्छा है न कोई मान अपमान और न ही जीवन की विसंगतियों के प्रति क्रोध। इन सबसे अलग हो चुका है मेरा मन; उसमें यदि कुछ शेष है तो केवल अपने पुत्रों की स्मृतियाँ... जन्म से लेकर वे जितने दिनों तक साथ रहे, उतने दिनों की हर क्षण की स्मृतियाँ।

मैं नहीं भूल पाती हूँ वन में सोते हुए शिशु श्रुतसेन को अपनी गोद से उठा कर दासी की गोद में सौंपना। द्युम्न मेरे पुत्रों को बहला फुसला कर रथ पर चढ़ाकर घुमाने का प्रस्ताव रख रहे हैं। शतानीक, एक अनजान व्यक्ति के साथ रथ पर बैठने से हिचक रहा है, वह बार बार मेरी ओर देखता है। मैं अपने मनोभावों को दबाकर उन्हें समझाती हूँ कि बेटा ये आपके मातुल हैं, आपने इन्हें प्रणाम किया था न! वह अनुमोदन में सिर हिला देता है पर कुछ नहीं बोलता। मैं पुनः कहती हूँ, ये अपने सुन्दर रथ पर तुम लोगों को बिठाकर दूर तक घुमायेंगे, तुम्हें अच्छे अच्छे खिलौने देंगे; देखो कितनी सारी चीजें वे तुम्हारे लिये लेकर आये हैं... मैं रथ में रखे खिलौनों को संकेत से दिखाती हूँ। शतानीक भी लालच में आ जाता है। द्युम्न ने उन्हें बहलाने के लिये भौंति-भौंति के खिलौनों को रथ में इस प्रकार से रखवाया था कि बच्चे उसे देखकर आकर्षित हों। जैसे बहेलिया जाल बिछाकर पक्षियों को पकड़ता है, ठीक वैसे ही द्युम्न ने बच्चों के लिये जाल बिछाया था। सभी मेरी ओर देखने लगते हैं। मैं उन्हें अपने अंक में भर कर चूमना चाहती हूँ, किन्तु धैर्य रखती हूँ कि बालक मुझे इस प्रकार का आचरण करते देखकर भ्रमित हो जायेंगे। द्युम्न उन्हें शीघ्रता से रथ में बिठाकर परिसर से बाहर चले गये। देर तक रथ के चक्रों और अश्वों के खुरों से उड़ी धूल दिखाई देती रही। धूल का उड़ता हुआ वह गोला कभी भी मेरी स्मृति से ओझल नहीं होता है।

उस दिन, जिस प्रकार से द्युम्न मेरे पुत्रों को लेकर पांचाल देश चले गये थे, कौन जानता था कि एक दिन इसी प्रकार मेरे पुत्र, द्युम्न के साथ स्वर्गलोक चले जायेंगे और मेरी स्मृति में दूर युद्ध

क्षेत्र में जलने वाली उनकी चिताओं की लपटें सदैव सदैव के लिये अंकित हो जायेंगी। एक बार तेरह वर्षों के लिये रथ चक्रों की धूल ने मेरे पुत्रों को ढक लिया था और तेरह वर्षों बाद अग्नि की लपटों ने मेरे युवा पुत्रों को सदा के लिये निगल लिया।

वन में रहते हुए मैंने कल्पना में प्रतिदिन उन्हें अपने हाथों से परोसकर भोजन कराया है; नित्य, रात्रि में उठ उठ कर उनके शरीर से सरक गये ओढ़ने को फिर से ओढ़ाया है, हर त्योहार को साथ मिलकर मनाया है... पुत्रों के लिये रखे गये व्रत उपवास को उनका मुँह देख देखकर पूरा किया है।

वसंतोत्सव में सब मुझे घेरकर रंगों से सराबोर कर रहे हैं। छोटी छोटी मुद्रियों में भर कर अबीर गुलाल मेरे ऊपर फेंक रहे हैं और अपनी विजय पर प्रसन्न हो रहे हैं। सबकी देखा देखी श्रुतसेन भी मेरे मुख पर गुलाल लगाना चाहता है। मैं झुक कर उसके हाथों से गुलाल लगवा लेती हूँ सभी अपनी इस विजय पर प्रसन्न होते हैं और अगले ही क्षण उनकी टोली अन्य किसी को घेरने के लिये भाग जाती है।

उनके जन्म दिनों पर मैं वन में विकल इधर-उधर घूमती हुई, कल्पना में उनके तुला दान और पर्वत दान के अन्न के ढेर को जरा सा देखकर दृष्टि फेर लेती हूँ कि कहीं दृष्टि न लग जाये। उनकी जन्म की तिथियों को मैंने वन में वनवासियों के बालकों को भोजन करवा कर उनके साथ पूरा दिन बिताया है। कल्पना यहाँ भी मेरा साथ नहीं छोड़ती थी। मैं इन्द्रप्रस्थ के भवन में अपने पुत्रों के साथ उत्सव मनाती थी, केवल एक आशा और विश्वास के कारण कि एक दिन मैं पुनः अपने पुत्रों के साथ इन्द्रप्रस्थ में रहूँगी। इसी विश्वास ने मेरी कल्पना को कभी भी निरी कल्पना नहीं रहने दिया था। मेरी कल्पनाएँ भविष्य की मेरी योजनाएँ थीं, किन्तु भाग्य में जितनी आघात लगाने की शक्ति होती है उतनी किसी और में नहीं और मैं भाग्य के आघात से आहत आज हस्तिनापुर में जीवित हूँ।

मैं अपनी संतानों का विकास अपनी आँखों से नहीं देख पाई। द्युम्न उन्हें कुछ महीने पश्चात वन में लाते रहते थे, किन्तु तब तक उनके मस्तिष्क से पुरानी स्मृतियाँ लुप्त हो जाती थीं। प्रतिबिन्ध्य एवं सुतसोम के मस्तिष्क में पुरानी स्मृतियाँ शेष थीं, किन्तु शतानीक और श्रुतसेन अपरिचित की भाँति मुझे देखते थे। जब मैं उन्हें अपनी गोद में बिठाती थी तो वे विवश होकर बैठते थे और उनकी दृष्टि अपनी धाय पर होती थी। मैं उन्हें बताने का प्रयास करती कि मैं उनकी माँ हूँ, तो वे एक क्षण मेरे मुख को देखते और अगले ही क्षण अपनी धाय के मुख को देखकर मेरे वचन की सत्यता को जानना चाहते थे। मैं उनकी माँ हूँ, मेरे कथन का विश्वास आज उन्हें अपनी धाय के कथन पर हो रहा है, यह देखकर मुझे बहुत पीड़ा होती थी। मेरे साथ सब कुछ विपरीत हो रहा था, यहाँ तक कि मेरे संतानों के संबंध में भी। संसार में शिशु अपनी माँ की गोद में बैठ कर अपने सारे नाते संबंधों को स्वीकार करता है, यहाँ तक कि पिता को भी... किन्तु आज उन्हें पालने वाली धाय के अनुमोदन से वे मुझे अपनी माँ मान रहे हैं।

मैं अपनी संतानों को कभी भी जी भर कर प्रेम नहीं कर पाई। वन में उनका और मेरा संबंध केवल दो तीन दिनों का ही होता था और वे पुनः द्युम्न के साथ लौट जाते थे। यदि मेरा जीवन सामान्य स्त्रियों की भाँति होता तो मैं भी उन्हें अपने स्नेह की छाया में प्रतिदिन बढ़ता देखती... मैं उन्हें बोलना सिखाती, अपनी बातों से उन्हें बहलाती, उनकी बातों से प्रसन्न होती।

मेरे पुत्र बड़े हो गये हैं। अब जब वे मुझसे मिलने के लिये आते हैं, तो अपने जीवन की मुझसे

चर्चा करते हैं कि किस प्रकार नानी सौत्रामणि उन्हें स्नेह करती हैं, अपने हाथों से परोस कर भोजन करवाती हैं। मामा द्युम्न प्रतिदिन अस्त्र शस्त्र संचालन की शिक्षा देते हैं और अभ्यास करवाते हैं। आचार्य उन्हें कौन कौन से विषय पढ़ाते हैं और किन किन परीक्षाओं में वे सफल हुए हैं। नाना श्री ने उनके लिये उत्तम कोटि के सधे हुए घोड़े मँगवाये हैं... वे अपने अस्त्र शस्त्र संचालन के कौशल एवं अश्वारोहण की पूरी सूचना मुझे देते। मैं आश्वस्त थी, मेरी संतानों की शिक्षा सही दिशा में हो रही थी।

अभिमन्यु के विवाह के साथ ही मैंने प्रतिबिन्ध्य के विवाह का स्वप्न देखना आरम्भ कर दिया था। अभिमन्यु के विवाह के समय परिस्थितियाँ भिन्न थीं, किन्तु प्रतिबिन्ध्य का विवाह इन्द्रप्रस्थ में पूरे राजकीय हर्षोल्लास से होगा। युद्ध के परिणाम पर मुझे कभी भी संदेह नहीं था, केवल चिंता थी कि युद्ध कब प्रारम्भ होगा? कब मेरे प्रतिशोध की धधकती चिता ठंडी होगी और इन्द्रप्रस्थ में कब मेरी वर्षों की कल्पनायें साकार रूप लेंगी।

महाराज युधिष्ठिर मेरे पुत्रों को क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध क्षेत्र में वीरगति प्राप्त किया हुआ मानते हैं, अतः मुझे उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, ऐसा कह कर वे मुझे धैर्य धरने के लिये कहते हैं, किन्तु कोई मुझे ये बताये कि क्या युद्ध शिविर में रात्रि के समय सोते हुए हत्या, क्षत्रिय धर्म और युद्ध धर्म के अनुकूल है, जो मैं उन्हें वीरगति प्राप्त मान लूँ? क्यों अधर्म को धर्म कह कर मेरे दुःख को युधिष्ठिर इस प्रकार से और अधिक बढ़ा रहे हैं? जानती हूँ, जो इस लोक से चला गया वह वापस लौटकर नहीं आता, किन्तु मेरे पुत्रों की हत्या को तो महाराज अपने धर्मानुसार व्याख्या न करें... मेरे पुत्रों को केवल मेरे लिये रहने दें, उनका दुःख भी नितांत मेरा रहने दें... कोई भी मुझे समझाने, ढाँढ़स देने का प्रयास न करे।

क्यों मैं अपने पुत्रों के हत्यारे को धर्मानुसार 'अवध्य' मान लूँ? गुरु पुत्र क्या अपने गुरुबंधुओं के संतानों के साथ ऐसा जघन्य कृत्य करता है? और उसके पश्चात भी वह 'अवध्य' कहा जायेगा, कौन सा धर्म ऐसा कहता है?

पाण्डव सब कुछ सहन कर सकते हैं... पत्नी का अपमान, छल कपट से सर्वस्व हरण, अपनी हत्या का प्रयास, अपने पुत्रों की सोते समय नृशंस हत्या... किन्तु गुरु पुत्र की हत्या का भार पाण्डव नहीं सह सकते। मैं बार बार युधिष्ठिर के धर्म के आगे परास्त और अपमानित होती रहती हूँ। आज युधिष्ठिर अपने निर्दोष पुत्रों की रात्रि में सोते समय हत्या करने वाले गुरु पुत्र को किस न्याय से अपनी धर्म तुला पर तौल कर क्षमा कर रहे हैं, मैं नहीं समझ पा रही हूँ।

युधिष्ठिर की परिस्थितियों से पलायन की प्रवृत्ति को मैं भली भाँति जानती हूँ। जब उनके पास उत्तर नहीं होता, कर्म की क्षमता नहीं होती, मार्ग नहीं सूझता, तो वे क्षत्रिय धर्म को छोड़कर अपने धर्म का आवरण ओढ़कर खड़े हो जाते हैं।

ये कैसा जीवन जिया है मैंने? मैं सदैव से ही आशावादी थी। एक आशा ... आशा... और आशा, किन्तु अब? अब तो स्वयं से ही भय लगता है; अपना ही प्रतिबिम्ब डरावना लगता है। मुझे अब अपने चारों ओर हृदयहीन और अनुभूति शून्य लोग ही क्यों दिखाई देते हैं? अब स्मृतियों का बोझ भी नहीं उठा पा रही हूँ। कहाँ रखूँ, किसे सौंपूँ? थोड़े समय के लिये ही सही और साँस ले लूँ हाँ, मैं साँस लेना भूल गयी हूँ। साँस के साथ बाहर कुछ भी नहीं निकलता है, वरन बाहर से बहुत कुछ साँसें भीतर खिंचती रहती हैं। साँसें बहुत भारी हो गयी हैं, उन्हें निकालना चाहती हूँ, बाहर फेंक देना चाहती हूँ... किन्तु उससे मुक्ति नहीं मिलती है। बहुत कुछ सँजोना भी चाहती हूँ। अपने पुत्रों

की छोटी छोटी स्मृतियों को मन के भीतर सँजो लेना चाहती हूँ, किन्तु सब आधे अधूरे ही हैं, संजोने लायक नहीं हैं। मन में टूटा फूटा, आधा अधूरा सजता नहीं है... कसकता है; पूरा हो तभी सजता है और सुख देता है; किन्तु मेरे पास तो कुछ भी पूरा नहीं है। मन भटकता ही रहता है; यह भटकाव कब समाप्त होगा, कब आयेगा जीवन में ठहराव? अभी तो कोई संभावना नहीं दिखाई देती। जीवन में कुछ न कुछ जुड़ता ही जा रहा है जो मथता रहता है, कचोटता रहता है और भीतर ही भीतर मुझे चीरता रहता है।

इस संसार में लोगों का मेरी संतान से संबंध के अनुसार, उनके मन का केवल एक छोटा सा कोना ही खाली हुआ था। बहुतों के मन का यह छोटा सा कोना भर भी गया होगा, किन्तु मेरे लिये? मैं क्यों ढूँढ़ती हूँ लोगों के मन के भीतर का वह खाली कोना, जो मेरे जीवन की वेदना को सँजोये हुए हैं? कब निकल पाऊँगी इस बोध से? सत्य तो यह है कि अब किसी को भी मेरे दुःख से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। मेरे सामने यदि किसी के मन का एक कोना क्षण भर के लिये टीसता है, तो अगले ही क्षण वह भी अपना जीवन जीने लगता है। मैं कितना प्रयास करती हूँ कि मैं अपने अतीत को भूल जाऊँ, अपनी संतानों की स्मृतियों को, जो थोड़ी सी ही हैं उन्हें भी भूल जाऊँ और संसार के नियम के अनुसार चलूँ, किन्तु नहीं हो पाता है।

जितना जटिल अतीत था, उतना ही जटिल वर्तमान भी हो गया है। यदि सब कुछ सीधा सादा और सरल होता तो कदाचित् सुलझ जाता, किन्तु क्या जीवन इतना सीधा-सादा और सरल होता है? सब कुछ उलझ गया है सूत की भाँति। जब तक उसको धैर्य से सुलझाया नहीं जायेगा, तब तक उसका गोला बनाकर नहीं रखा जा सकता है। इसके लिये बहुत सारे उलझे हिस्सों को काट कर फेंकना पड़ेगा, फिर गाँठ लगानी पड़ेगी। कुछ अनसुलझे हिस्सों को वैसे ही लपेट देना पड़ेगा। पता नहीं कैसे होगा, अभी तो खालीपन और ठहराव ही है। किन्तु, अब एक जैसा चलता हुआ नहीं सहा जा रहा है, किन्तु अब होगा क्या? जो भी होगा क्या उससे मेरे जीवन पर कोई अंतर पड़ेगा? मेरा अकेलापन, मेरी पीड़ा, अतीत की दुःसह स्थितियाँ क्या कम होगी? क्या करूँ मैं? अभी तो स्मृतियों की पञ्चाग्नि ही ताप रही हूँ।

मेरे प्रश्नों का उत्तर किसी के पास नहीं है। ये मेरे प्रश्न हैं, इनका उत्तर भी मुझे ही ढूँढ़ना है; ढूँढ़ना नहीं बनाना है। मेरी समस्याओं, दुःखों का समाधान ढूँढ़ने में नहीं मिलेगा, स्वयं बनाने से मिलेगा यह मैं भली भाँति जानती हूँ। किन्तु कोई सिरा मिले तब तो बनाऊँ? क्या बनाऊँ? किसका बनाऊँ? अभी तो कुछ भी ज्ञात नहीं है।

* * *

सूर्य ने मकर राशि में प्रवेश किया। पितामह को इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त था। आज पितामह अपनी इच्छा से अपने शरीर का त्याग करेंगे। सूर्योदय के साथ ही दान पुण्य का कार्य आरम्भ हो गया। अद्वाव न दिन तक शर-शय्या पर लेटे पितामह, अपने वरदान को अभिशप की भाँति ढो रहे थे। राजवैद्य के अथक प्रयास से भी पितामह के शरीर के घाव स्वस्थ नहीं हो रहे थे, उनमें निरंतर स्राव हो रहा था। प्रातःकाल से ही समस्त राजकुल पितामह के पास बैठा हुआ था। महाराज ने पितामह के निमित्त भारी मात्रा में भूमि, स्वर्ण, अन्न और पशु, दैनिक जीवन में उपभोग की वस्तुओं का दान करवाया। मध्याह्न से पूर्व पितामह ने योग समाधि लगायी और तलवों की ओर से प्राण वायु को ऊर्ध्वगामी किया। मैं आश्चर्य से देख रही थी कि पितामह जैसे जैसे अपने प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र की ओर खींच रहे थे, उनके क्षत-विक्षत अंग एकदम स्वस्थ होते जा रहे थे। कुछ ही

समय उनका शरीर घाव विहीन हो गया था। पितामह अपना शरीर त्याग कर चुके थे। एक युग समाप्त हो गया।

इस विषम स्थिति में व्यास जी हमारे साथ हैं, ये हमारे लिये बहुत बड़ा संबल हैं। युधिष्ठिर का साहस इस युद्ध में मानों समाप्त हो गया था। वे किसी प्रकार का महत्वपूर्ण निर्णय नहीं ले पाते हैं। व्यास जी ने युधिष्ठिर को अश्वमेध करने के लिये प्रेरित किया। मैंने और पार्थ ने उन्हें समझाया, अश्वमेध के लिये धन प्राप्ति की योजना भी बनायी गयी। अंततः महाराज अश्वमेध के लिये तैयार हुए।

सखा को द्वारका छोड़े छह मास हो गये थे। द्वारका से महाराज वसुदेव का संदेश भी आ चुका था। अभिमन्यु की मृत्यु से द्वारका का राजकुल दुःखी था। सखा ने महाराज युधिष्ठिर से सुभद्रा के साथ द्वारका जाने की आज्ञा लेकर प्रस्थान किया। तीन महीने बाद उत्तरा का प्रसव है, उस समय तक सुभद्रा को लेकर सखा हस्तिनापुर लौटे आर्येंगे।

पार्थ ने अश्वमेध के अश्व की रक्षा के लिये सैनिकों को लेकर प्रस्थान किया। व्यास जी ने भीम और नकुल को राज्य और नगर की सुरक्षा का दायित्व तथा सहदेव को सम्पूर्ण कुटुंब, जो कि कौरवों की मृत्यु के पश्चात उनकी पत्नियों और संतानों को मिलाकर बहुत बड़ा हो गया था, पालने का भार सौंपा। जीवन धीरे धीरे स्थिरता की ओर लौट रहा था। सखा और सुभद्रा द्वारिका से लौट आये। उत्तरा का गर्भ अपने अंतिम चरण में है। मैं अपने भवन से बहुत कम निकलती हूँ। मैंने युद्ध के पश्चात अपने सारे आभूषणों को सैनिकों के परिवारों के पुनर्वास के लिये राजकोष में दे दिया था, कि उन्हें बेच कर उससे प्राप्त धन को सैनिकों के परिवार के पालन-पोषण के निमित्त व्यय किया जाये। उत्तरा शृंगार विहीन हो गयी थी, मैंने और मेरी सपत्नियों ने भी अपने शृंगार त्याग दिये थे।

सखा मेरे कक्ष में मुझसे मिलने के लिये आये। उन्हें देखते ही मैं टूट गयी, सखा! मेरे बच्चे सखा! मेरे बच्चे, आगे कुछ भी नहीं बोल पायी, बस हिचक हिचक कर रोती रही। मैं अपने दुःख में सखा की विवशता की पीड़ा को भी उनके हृदय से निकालकर अपनी पीड़ा के साथ बहा देना चाहती थी। मेरे पुत्रों के लिये कुछ न कर पाने की पीड़ा को मैंने अपने साथ सखा की आँखों में भी देखा था। आज एक अंतराल के बाद मेरा क्रोध कुछ शांत हो गया था, किन्तु उसके स्थान पर दुःख और विवशता पूरे वेग से उभर आयी थी... उसमें मेरा दुर्भाग्य, मेरा अकेलापन और न जाने क्या क्या जो मेरे हृदय में भरा था, सब मेरे रुदन में फूट फूट कर बह रहा था। सखा ने तो युद्ध का आवाहन करके मेरी इच्छा की पूर्ति का प्रयास किया था, किन्तु यह युद्ध तो मेरे समूचे जीवन को ही निगल गया। द्वारका लौटते समय मैंने सखा की आँखों में विवशता देखी थी, उनमें कुछ न कर पाने की पीड़ा भरी हुई थी और जो कुछ करना चाह, उसकी अकल्पित परिणति इस प्रकार होगी उसकी कल्पना नहीं की होगी। वे आहत थे। मेरे अपराधी की भाँति उन्होंने मुझसे विदा ली थी, किन्तु आज उन्हें देखते ही महीनों तिल तिल करके मन के भीतर भोगा हुआ दुःख फूट पड़ा। सखा खड़े रहे, मैं उनके पैरों को पकड़कर रोती रही। न जाने कितनी देर तक मैं रोती रही और रोते रोते धीरे धीरे शांत हो गयी तो सखा ने सहारा देकर मुझे उठाया। मेरे आँचल से मेरे आँसुओं को पोंछा। रोने और सखा के स्नेह के कारण मेरा महीनों से घुटता मन थोड़ा सा शांत हो गया।

एक बात मैं आज भी नहीं समझ पायी। हम सब पर इतना दुःख पड़ा; अभिमन्यु का शव हमारे

समक्ष पड़ा था, मैंने अपने पतियों को दुःख से विह्वल होकर रोते देखा था, किन्तु सखा के नेत्रों में मैंने कभी अश्रु का कण भी नहीं देखा... हाँ, मुखमण्डल अवश्य धूमिल था; पीड़ा थी। तो क्या सखा आप भावी को जानते हैं, जिसके कारण आप विह्वल और दुःखी नहीं होते हैं।

उत्तरा ने मृत शिशु को जन्म दिया है, प्रसूति कक्ष से यह सूचना मिलते ही हम सब पर मानो वज्र गिर गया। विधाता क्यों हम लोगों के जीवन में आघात पर आघात लगाता जा रहा है? उत्तरा के विलाप के साथ साथ सभी स्त्रियाँ रोने लगीं। सुभद्रा प्रसूति कक्ष के द्वार पर से रोती हुई बाहर सखा के पास गयी और उन्हें पकड़कर फूट फूट कर रोने लगी। माता कुंती, सखा के समक्ष रोती हुई हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं। रोते रोते वे केवल इतना कह पायीं, हे प्रभो! उस बालक को जीवन दो।

सखा ने प्रसूति कक्ष में प्रवेश किया। उन्हें देखकर बेहाल उत्तरा जोर जोर से रोने लगी। सभी साँस रोके किसी चमत्कार की आशा में प्रसूति कक्ष में खड़े सखा को देख रहे थे। सखा ने दाई को कक्ष से बाहर भेज दिया और नाल सहित शिशु को गोद में ले लिया। द्वार की ओर सखा की पीठ थी। वे क्या कर रहे थे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। कुछ देर बाद शिशु का रुदन सुनाई दिया और सखा ने शिशु को उत्तरा के बगल में लिटा दिया। शिशु जोर जोर से रोने लगा। सखा, कक्ष के बाहर निकल आयी। एक बार पुनः रुदन का स्वर उठा, किन्तु यह रुदन अगले ही क्षण प्रसन्नता की खिलखिलाहट में बदल गया।

सायंकाल तक पार्थ भी अपने अश्व के साथ दिग्विजय करके भारी मात्रा में धन संपत्ति लेकर लौट आये। हम सबकी प्रसन्नता चौगुनी हो गयी। मैं अपने भवन में थी। सखा, पार्थ के साथ बिना किसी पूर्व सूचना के मेरे भवन में पहुँच गये। मैंने उठकर दोनों का स्वागत किया। सुभद्रा नहीं आयी थी... वह उत्तरा के पास से एक क्षण के लिये भी नहीं हटती थी। कल से मेरे मस्तिष्क में उत्तरा के पुत्र का पुनर्जीवन ही छाया हुआ था। मैंने सदा ही माता कुंती को सखा के समक्ष आदर और भक्तिभाव के साथ व्यवहार करते देखा था; उनके व्यवहार को देखकर यह कदापि नहीं लगता था कि सखा उनके भाई के पुत्र हैं, वे सदा उन्हें ईश्वर का रूप समझती थीं। मैं आज अपनी जिज्ञासा नहीं रोक पायी और पूछ बैठी, “सखा! लोग कहते हैं कि आप ईश्वर के अवतार हैं, क्या यह सत्य है?”

सखा जोर से हँस पड़े, कुछ क्षण रुक कर सखा ने कहा, “हाँ यह सत्य है, मेरे साथ साथ उलूपी भी ईश्वर का अवतार है।”

मैं सोचने लगी कि सखा आज उलूपी को लेकर ये कैसा परिहास कर रहे हैं। मैंने उनकी बहलाने वाली बात को किनारे करके पुनः कहा “आपने हम सबके समक्ष उत्तरा के पुत्र को जीवित किया है, अतः अब मुझे भी लोगों के कथन पर विश्वास होने लगा है।”

“जब तुम्हें विश्वास है तो मैं क्या कह सकता हूँ, हाँ उलूपी के बारे में तुम क्या कहना चाहोगी?”

“मैं कुछ समझी नहीं।”

सखा ने कहना आरम्भ किया, “जब तुम्हारे पति अर्जुन, मणिपुर पहुँचे तो वहाँ उन्हें अपने ही पुत्र वभ्रुवाहन के विरोध का सामना करना पड़ा। वभ्रुवाहन युवा था वीर था। कदाचित् उसके हृदय में पार्थ के लिये आक्रोश भी था, कि उसे जन्म देकर उसे और उसकी माँ को त्याग करके अर्जुन अपने संसार में लौट गये थे। वभ्रुवाहन ने भयंकर युद्ध किया और उसके एक विष बाण से अर्जुन

की मृत्यु हो गयी।”

मैं आश्चर्य चकित थी। पार्थ मेरे समक्ष बैठे थे और सखा कह रहे हैं कि पार्थ की मृत्यु हो गयी। मैंने अपनी दृष्टि सखा के मुख पर गड़ा दी। जब भी सखा इस प्रकार से किसी बात को जिज्ञासा के स्तर पर लाकर चुप हो जाते हैं, तो मैं उनके मुख पर अपनी दृष्टि गड़ा देती हूँ। सखा को मुझे इस प्रकार से उत्सुक करके चुप हो जाने में बड़ा आनन्द आता है, यह मैं भली भाँति जानती हूँ। सखा ने आगे कहना आरम्भ किया, “अर्जुन की मृत्यु से चित्रांगदा विक्षिप्त होकर विलाप करने लगी। जब उलूपी को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने एक दिन के पति को चित्रांगदा के लिये संजीवनी मणि द्वारा पुनर्जीवित किया। पार्थ स्वस्थ होकर पत्नी और पुत्र को अश्वमेध के लिये निमंत्रित करके आगे बढ़े और अपनी शेष यात्रा पूरी करके हस्तिनापुर लौटे।”

अश्वमेध सकुशल सम्पन्न हो गया। देश विदेश से सभी निमंत्रित और अधीनता स्वीकार कर चुके नरेश व सुहृद जन आये। अतिथियों के सत्कार व व्यवस्था का भार भीमसेन पर था। अर्जुन के निमंत्रण पर उलूपी और चित्रांगदा, वभ्रुवाहन के साथ हस्तिनापुर में आयी थी, किन्तु उलूपी पुत्र इरावान् निमंत्रण के बाद भी नहीं आया था। वभ्रुवाहन ने तो अपना क्रोध पार्थ से युद्ध करके उन्हें पराजित करके निकाल लिया था, किन्तु इरावान् ने यज्ञ में न आकर अपना क्रोध प्रकट कर ही दिया था। यज्ञ की समाप्ति पर सबके अनुरोध पर सखा ने उन्हें शिशु का नामकरण किया, ‘परीक्षित’ अर्थात् जिसकी चारों ओर से रक्षा की गयी हो।

आज सखा ने एक और रहस्य का उद्घाटन किया। जब भीम ने अश्वत्थामा का पीछा करते हुए उसके निकट पहुँचकर उसे ललकारा, तो उस समय अश्वत्थामा ने भीम के ऊपर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया जिसे अर्जुन ने तत्काल व्यर्थ कर दिया। अश्वत्थामा को ज्ञात था कि उत्तरा गर्भवती है; उसने उत्तरा के गर्भ पर अपना दिव्यास्त्र छोड़ दिया, उस समय सखा ने उसके प्रभाव से गर्भ की रक्षा की थी। दिव्यास्त्र के प्रभाव के कारण ही उत्तरा का शिशु मृत पैदा हुआ था और सखा ने उसे पुनर्जीवित किया था। अब मैं समझी कि सखा उत्तरा के शिशु के जन्म के समय द्वारका से हस्तिनापुर क्यों आये हैं।

सखा की दो दिन बाद ही द्वारका लौट जाने की योजना थी। मेरे मन से वह प्रश्न निकलता ही नहीं था, जिसका उत्तर पाने के लिये मैं रात्रि के समय पितामह के पास गयी थी। पता नहीं सखा पुनः कब लौटें... मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिले न मिले, अतः मैंने सखा से पूछने का निर्णय लिया।

सायंकाल मैंने सखा को अपने भवन में बुलाया। अच्छा हुआ सखा अकेले ही आये थे। मैंने सखा से पूछा, “सखा! मैं एक दुविधा से नहीं उबर पा रही हूँ; जब दुर्योधन और दुःशासन मुझे अपमानित कर रहे थे तो पितामह ने मेरी आर्त पुकार को क्यों अनसुना कर दिया, उन्होंने क्यों मेरी सहायता नहीं की? वह तो समर्थ थे... तो क्या उस समय वे भी दुर्योधन, दुःशासन के भय से मौन रह गये थे?”

“नहीं कृष्णा! पितामह किसी से भयभीत नहीं थे और न ही कोई योद्धा उनके समक्ष खड़ा रह सकता था, बस वे दुविधा में रह गये; वे पूरी तरह से आश्वस्त नहीं थे कि तुम मुक्त हो या दुर्योधन द्वारा जीती जा चुकी हो। यदि तुम दुर्योधन द्वारा जीती जा चुकी हो तो उन्हें हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है... पितामह नियम से बँधे रह गये थे।” कुछ देर रुक कर सखा ने पुनः कहा,

कभी कोई व्यक्ति स्वयं को नियम और तर्क से परे कर लेता है और उस समय वह वही करता है जो उसकी अंतर्जन्मा कहती है, भले ही उसके कर्म से कोई नियम धर्म भंग हो जाये।”

तो क्या सखा अपनी बात कह रहे थे या विदुर काका की। हाँ कर्ण की बात वे नहीं कह रहे थे... वे तो अपने मित्रता के धर्म से बँधे, ग्रीवा झुकाये पीड़ित बैठे रहे। और सखा मौन बैठे रहे, “एक बात और है।” सखा ने कहा।

मैं उनके मुख की ओर देखने लगी।

“जब मैं संधि का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गया था तो मैंने कर्ण से उसके जन्म का रहस्य बताकर उसे अपने पक्ष में आने का अनुरोध किया था, किन्तु उसने मना कर दिया था और यह कहा कि ‘मेरे जन्म के रहस्य से पाण्डवों को अवगत न कराये, क्योंकि ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर इस राज्य को मेरे लिये त्याग देंगे और मैं उस राज्य को दुर्योधन को ही अर्पित कर दूँगा। मैं भी यही चाहता हूँ कि युधिष्ठिर राजा बनें... आप युद्ध के लिये मेरे सम्मुख अर्जुन को ले आये; अब मुझे ज्ञात हो चुका है कि मैं ही ज्येष्ठ कौन्तेय हूँ, मैं नहीं चाहता कि पांचाली इस सत्य को जाने।

राधेय कर्ण से कौन्तेय कर्ण बनते ही मेरी सारी भूमिकाएँ बदल जायेंगी, श्रीकृष्ण! मुझे राधेय ही रहने दें, मैं राधेय ही रहना चाहता हूँ; कौन्तेय बनकर मैं खड़ा नहीं हो पाऊँगा, कम से कम पांचाली के समक्ष तो कभी नहीं... साथ ही लोग कहेंगे कि कृष्ण ने आपस में फूट डालने के लिये ऐसा प्रस्ताव रखा, तो आपकी कीर्ति को बड़ा लग जायेगा।”

सखा मुझसे कह रहे थे और मैं सुन रही थी। सखा की बात समाप्त होने पर मुझे लगा कि मैं कब से चुपचाप रो रही थी। सखा ने भी नहीं रोका। मैंने आँचल से अपना मुँह पोंछा और उठकर खड़ी हो गयी।

* * *

वह युद्ध तो समाप्त हो गया... कौरवों का नाश करके; मेरे पुत्र, बंधु, पिता, संबंधियों की बलि लेकर, ज्येष्ठ कौन्तेय कर्ण के जीवन के अज्ञात अध्यायों को प्रकाशित करके, भाई के हाथों भाई का वध करवा कर वह युद्ध समाप्त हो गया।

क्या सचमुच युद्ध समाप्त हो गया? नहीं, केवल कुरुक्षेत्र की भूमि पर लड़ा जाने वाला युद्ध समाप्त हुआ था। उस युद्ध के समाप्त होते ही हस्तिनापुर के राजभवन के भीतर एक नये युद्ध का सूत्रपात हो गया।

मैंने अपना सर्वस्व गँवाकर अपने अपमान का बदला लिया था। धीरे धीरे राजमहल के भीतर क्रोध और विरोध के स्वर उठने लगे कि पांचाली ने अपने अहं की तुष्टि के लिये अपनी सपत्नियों के निरपराध पुत्रों की भी बलि ले ली। द्रौपदी एक ऐसी रणचण्डी हैं जिसने लाखों मानवों का रक्त पान किया है... उनके पिता, बंधुओं और संबंधियों की बलि लेने वाली मैं ही हूँ। यदि मैं हस्तिनापुर न गयी होती तो न तो पाण्डवों को वनवास मिलता और न ही उनकी पत्नियों को तेरह वर्ष तक अपने पतियों से दूर अपने पितृकुल में रहना पड़ता। वह पांचाली का अपमान तो नहीं था, वह तो उसके कर्मों का फल था; ज्येष्ठ ससुर और उनके पुत्रों को अंधा कह कर अपमानित किया था उसने। अपमान का बदला तो अपमान ही होता है। यदि पांचाली ने बदले में मिले अपमान को सह लिया होता तो आज उनके पुत्र जीवित होते। रोज रोज ऐसे न जाने कितने आरोप और प्रहार मुझ पर हो रहे हैं। मर्यादा के आवरण में मेरा अपमान होता रहता है, मौन उपेक्षा होती रहती है... प्रत्यक्ष शब्द नहीं होते तो क्या, भाव भंगिमाएँ तो होती हैं, उनके आत्म प्रलाप में छुपे आक्षेप और कभी

कभी मुखर हो जाने वाले व्यंग्य को मैं मौन होकर सहती हूँ। सारा दोष मेरा ही है, मेरे अतिरिक्त कोई भी दोषी नहीं है।

देविका का एकमात्र पुत्र यौधेय नहीं रहा। मैंने अपने अपमान की ज्वाला को शांत करने के लिये उसकी बलि ले ली। अब देविका के जीवन का यही सत्य है। मैं ज्येष्ठा थी; महाराज युधिष्ठिर को जुए के दुर्व्यसन से विमुख करने का उत्तरदायित्व मेरा ही था... वह छोटी होने के कारण मर्यादा वश कभी कुछ कह ही नहीं पायी। ऐसी न जाने कितनी बातें दासियों के माध्यम से इधर-उधर से मेरे पास पहुँचती रहती हैं।

मैं हतप्रभ हूँ। युधिष्ठिर मुझे दो दो बार जूए में हार गये और उनके दुष्कर्मों का फल तेरह वर्ष तक मैं वन और अज्ञातवास में भटक कर भोगती रही... वहाँ भी बार बार पीड़ित व अपमानित होती रही, प्राण संकट में पड़ते रहे... यह सत्य आज लुप्त हो गया।

बालंधरा के सर्वशक्तिमान पति भीमसेन, जो एक ही प्रहार में दुःशासन की जीवन लीला समाप्त कर सकते थे, चुपचाप मेरा चीर हरण देखते रहे और जब सखा मेरे सम्मान की रक्षा कर चुके, तब जाकर इन्हें मेरे अपमान का आभास हुआ और वह भी केवल क्रोध में प्रताप करके रह गये। सुभद्रा के पार्थ, जिनके गांडीव के समक्ष कोई खड़ा नहीं हो सकता था, वे अपने बगल में गांडीव धरे बैठे रह गये। करेणुमति और विजया के पति, नकुल और सहदेव, जब मुझे दाँव पर लगाया जा रहा था तो उन्होंने अपने बड़े भाई को रोकने टोकने की अशिष्टता नहीं की... वे तो अग्रजों के समक्ष सम्मान के कारण मौन रहे।

कोई भी दोषी नहीं, सभी अपना अपना कर्तव्य कर रहे थे तो अनुचित कहाँ हुआ? किसके दुष्कर्मों का फल मैं जीवन में बार बार भोगती रही?

सुभद्रा के पास तो पार्थ हैं, अभिमन्यु का अंश परीक्षित है, किन्तु मेरे पास क्या हैं? मेरे जीवन में मेरी संतानें ही मेरे लिये एक मात्र संबल और संपत्ति थीं, उनकी मृत्यु के पश्चात मैं जीते जी मर गयी। अब मेरा कोई भविष्य नहीं रहा, वर्तमान तो कुछ है ही नहीं मेरे पास। उत्तरा के पास वर्तमान न सही भविष्य तो है; सुभद्रा के पास वर्तमान और भविष्य दोनों हैं। मेरी शेष सपत्नियों के पास उनके पति हैं, भरे पूरे छतनार पेड़ की भाँति, जिसमें फल फूल न भी हो तो जीवन की धूप से उन्हें बचाने वाली छाया तो है। जो नष्ट हो गया है, उसकी तुलना में जो बच गया है, उसे देखकर वे धैर्य धारण करती हैं, किन्तु मैं? मेरे ऊपर तो किसी वृक्ष की छाया भी नहीं है; है तो केवल पुत्रों के शोक से दग्ध हृदय।

पिछले कई महीनों ने सँभाला गया साहस टूट रहा है। जीवन की उद्देश्य हीनता, भीतर के साहस को जैसे तोड़ती जा रही है... सब कुछ मुझी में बंद रेत की भाँति तेजी से झरता जा रहा है। पैरों को भूमि पर टिकाने का साहस नहीं होता... अब पैर काँपते हैं; डर लगता है कि कहीं इस भूमि को भी कोई खींच न ले। इतनी शक्तिहीन क्यों हो गयी हूँ? मुझे भीतर ही भीतर कौन तोड़ रहा है? किन सच्चाइयों से भाग रही हूँ और कहाँ भागकर जाना चाहती हूँ? क्यों एक मिथ्या भ्रम में जीना चाहता है मन; सच्चाई को परे धकेलकर एक कल्पना का संसार रच कर उसी में जीते रहना चाहता है?

कहाँ जाऊँ कैसे जिऊँ, कुछ भी समझ में नहीं आता है। कहने के लिए तो पाँच पाँच पति हैं, किन्तु कोई हाथ अपनापन क्यों नहीं दे पाता है। न हस्तिनापुर में रहने की इच्छा होती है और न ही कहीं जाने की। कहाँ जाऊँ? पितृकुल के सर्वनाश और पांचाल वीरों की मृत्यु का कारण बनने

के पश्चात अब मैं कैसे काम्पित्य नगरी में प्रवेश करूँ? ऐसी ही न जाने कितनी बातें सोचकर आँखें भर आती हैं, दृष्टि धुँधला जाती है। कुछ समय पश्चात आँसू सूख जाते हैं, दृष्टि साफ हो जाती है फिर भी मार्ग नहीं सुझाई देता।

सब कुछ एक दूसरे में उलझ गया है... जो जीवित नहीं है, उसके पीछे जो है उससे मुँह फेरती जा रही हूँ। आधे अधूरे जिये हुए जीवन की पीड़ा से मन बाहर नहीं निकल पा रहा है। कोई सामने हो तो उससे लड़ा जाये, उस पर क्रोध किया जाये, किन्तु यहाँ तो सब कुछ अपने मन के भीतर ही है, भीतर ही भीतर डूबता उतरता रहता है।

मन मृत्यु की कामना करता है कि क्यों नहीं आती है मृत्यु? सभी कहते हैं कि एक दिन सबको जाना ही है तो मैं क्यों नहीं जाती? मेरे सभी अपने तो चले गये, अब मैं किसके लिये रुकी हूँ, कोई मुझे पहुँचाता क्यों नहीं?

जीने के प्रयास में लम्बे समय तक जीवन को ढूँढ़ते ढूँढ़ते अंत में पाया तो त्याग का मार्ग। जीवन में कभी बँध नहीं पायी। जीता जागता जीवन मिला ही नहीं कि बँध पाती और जब जीवन की समीक्षा की, तो जीने के लिये मेरे हिस्से में आया त्याग और वैराग्य। त्याग स्वयं से ग्रहण किया हुआ नहीं, अपितु इस संसार से अपने हिस्से में पाया हुआ... जैसे इस संसार ने सबको सबका हिस्सा दे दिया और मुझे स्वयं से काटकर अलग कर दिया। तब मैंने अपने लिये शब्द गढ़ा कि, 'मैंने अपने लिए त्याग का मार्ग चुना है।' भले ही वह मुझे अपने हिस्से में मिला हो, न चाहते हुए भी उसे स्वीकार करना मेरी नियति है। अब तो इसी को साधना है, इसी को जीना है और इसी में पूर्ण हो जाना है; यह जीवन अरण्य काटते काटते कब कटेगा यह भी ज्ञात नहीं।

भाग्य द्वारा निर्धारित मार्ग पर सबको चलना ही पड़ता है। मेरा मार्ग कितनी कठिनाइयों से भरा, दिशाहीन और लक्ष्यहीन है, अभी मुझे यह भी नहीं ज्ञात किन्तु अब तक जितना जीवन जिया है, उसके आधार पर अवश्य कह सकती हूँ कि, जितनी बार मुझे आहत किया गया, अपमानित किया गया और मेरे अस्तित्व को मिटाने का प्रयास किया गया, हर बार अपराजित और जीवित खड़ी होती रही हूँ। मेरी जीवन शक्ति ने मुझे कभी भी अकेला नहीं छोड़ा, हर विषम परिस्थिति में मुझे दृढ़ से दृढ़तर बनाती रही है। इसी कारण लोगों को लगता है कि मैं बहुत साहसी हूँ। कोई दुःख कोई बाधा मुझे विचलित नहीं कर सकती है... किन्तु ऐसा नहीं है, कभी-कभी मेरे भीतर की स्त्री विद्रोह कर देती है कि मैं भी चीख-चीख कर रोऊँ... इतना चीखकर कि राजभवन का सन्नाटा मेरी चीखों से भर जाये और तब तक रोऊँ जब तक कि मेरे भीतर की स्त्री शांत न हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अकेले होते ही, कभी कभी तो भरे पूरे घर में लोगों के बीच अकेली होती हूँ, मेरे अंतर्मन की चीखों से मेरा कलेजा हिलता है, रोम-रोम थरथराता है। पहले भी मैं वन में अपने पुत्रों के लिये रोती थी, आँखों से आँसू निकलते थे, किन्तु किसी को आभास तक नहीं होने देती थी कि अपने पुत्रों के लिये मेरा कलेजा तड़पता है। क्यों छिपाती थी मैं अपने पतियों से अपने आँसुओं को? उन्हीं के कारण तो मैं वन में अपनी संतानों से दूर थी... पर अब क्यों उन्हें चीख-चीखकर बताना चाहती हूँ, जबकि वे अब जीवित ही नहीं हैं।

आज न जाने कितने ही प्रश्न मुझे विक्षिप्त कर रहे हैं... उन प्रश्नों का अब कोई अर्थ नहीं है, यह भी जानती हूँ, किन्तु उनकी पीड़ा इतनी अधिक है कि उसके आगे कुछ भी नहीं ठहरता। हाँ, कभी-कभी अपने पुत्रों के न होने का दुःख भी, थोड़े समय के लिये ही सही, उसके समक्ष हल्का लगता है।

उनके न होने का दुःख तो सबको दिखाई देता है। मैं भी ईश्वर की इच्छा, अपना भाग्य और उनकी आयु मानकर संतोष करने का प्रयास करती हूँ, किन्तु उनका ऐसा जीवन तो नहीं चाहा था मैंने? एक को गर्भ में लेकर दूसरी की शर्या चढ़ती थी। एक पुत्र का दूध छाती में दूसरे पति की संतान कोख में और तीसरे की शर्या, ये दुःख मैं सहती रही, मेरी संतानें कोख और गोद दोनों में लांछित होती रही। मैं जानती थी कि मेरे पति सही अर्थों में मेरे पति कभी थे ही नहीं, किन्तु उनमें जो मेरे पुत्रों के पिता का अंश था वह पूरा क्यों नहीं था?

प्रतिबिन्ध्य थोड़ा बड़ा हुआ तो वह पार्थ को अपना पिता समझता था, क्योंकि उस समय मैं अर्जुन के साथ थी। ऐसा ही मेरी सभी संतानों के साथ हुआ, क्यों हुआ ऐसा? जब तक वह कुछ समझकर स्वीकार करते, तब तक मेरी समय सीमा समाप्त हो जाती थी। मेरी संतानें भ्रमित रहती थीं, अपनी बुद्धि से सब कुछ समझने का प्रयास करतीं, किन्तु उनके समक्ष कुछ भी स्पष्ट नहीं होता था। जितने दिन भी वे इन्द्रप्रस्थ में रहे, जन्म लेते उन्हें न तो पूरी माँ मिली और न ही पिता। भ्रमित ही वे मुझसे दूर नाना नानी के पास चले गये। माँ क्या होती है, पिता क्या होते हैं, उनका लाड़ दुलार, क्रोध अनुशासन क्या होता है, यह मेरे पुत्रों ने अपने जीवन में जाना ही नहीं और जब मैंने सोचा कि तेरह वर्षों बाद अपने स्नेह और ममता से समय के इस अंतराल को पाट दूँगी, तब विधाता ने उन्हें मुझसे छीन लिया।

सोच तो रुकती नहीं... न ही उसे जी पाती हूँ और न ही उसे झटक पाती हूँ। जीना जितना कठिन है उससे भी अधिक कठिन है उसे झटकना। बस जीवन चलता जा रहा है और जो कुछ भी जीवन में आता जा रहा है उसे जीती जा रही हूँ; आगे जो कुछ जीवन में आयेगा उसे भी जीना पड़ेगा। राह में कोई रोड़ा पत्थर होगा तो उसकी भी ठोकर खानी पड़ेगी। जीवन में गति है या ठहराव, यह भी ठीक-ठीक नहीं समझ पा रही हूँ, क्योंकि समय तो अपनी गति से चल रहा है, मैं ही अपनी गति भूलकर एक स्थान पर खड़ी हो गयी हूँ। जानती हूँ यह ठहराव बहुत लम्बा हो गया है, जीवन उलझकर वर्षों पीछे चला गया है और सब कुछ अब अपनी सामंशिकता से बाहर हो गया है।

सखा आते हैं तो मन थोड़ा सा बहल जाता है, किन्तु शांत तब भी नहीं। सच कहूँ तो उनको देखकर मेरी वेदना उभर आती है और मैं उनके समक्ष रोने लगती हूँ। मैं सखा के समक्ष ही रोती हूँ, वही मेरे सबसे निकट हैं। पतियों के समक्ष न जाने क्यों मैं कभी टूटकर नहीं रो पायी... क्यों कठोर और हृदयहीन बनी रहती हूँ, मैं नहीं जानती; कदाचित वे मेरे साथ भावनात्मक स्तर पर उतना जुड़ ही नहीं पाये कि मैं उनके सामने टूटकर रोती और वे मुझे सांत्वना दे पाते। सखा समझाते हैं तो मन जाकर थोड़ा शांत हो जाता है। अब तो यही जीवन हो गया है।

हे गोविन्द! अब मैं जीवन से हार गयी हूँ; मेरे जीवन की संचित शक्ति धीरे-धीरे लुप्त हो गयी है। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई भी आत्मीय नहीं है, यह तो तुम भली भाँति जानते ही हो। तुम कहाँ हो! कब मेरा हाथ पकड़कर रास्ते पर खड़ा करोगे, जहाँ से लक्ष्य साफ दिखाई देने लगेगा और पैर अपने आप उठने लगेंगे।

18. कुंती

महाराज युधिष्ठिर ने महाराज धृतराष्ट्र को हर प्रकार की सुख-सुविधा प्रदान की थी और मैं भी माता गांधारी की सेवा में लगी रहती थी। मैंने पाँच और माता गांधारी ने अपने निन्यानबे पुत्रों को खोया था। हमारा अंतर्मन एक दूसरे को देखकर स्वयं को समझा लेता था, किन्तु महाराज की वेदना किसी प्रकार से कम नहीं होती थी। मेरे बार-बार समझाने पर भी भीमसेन अपने को रोक नहीं पाते थे और क्रोध में आकर कभी-कभी महाराज के समक्ष तीखी बात कह ही देते थे।

एक दिन महाराज धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर के भवन में गये और कहा कि वे पन्द्रह वर्षों तक उनकी छत्रछाया में सुखपूर्वक रहे और अब वे वानप्रस्थ धारण करके वन में जाकर रहना चाहते हैं। अपने पुत्रों के कारण उन्हें कोई दुःख नहीं है; उनका अंत द्रौपदी के अपमान व तुम्हारी संपत्ति के हरण के कारण हुआ... उन्हें संतोष है कि उन्होंने युद्ध में वीरगति प्राप्त करके स्वर्ग प्राप्त किया है।

माता कुंती ने भी महाराज धृतराष्ट्र और माता गांधारी के साथ वन जाने का निर्णय लिया है, यह सुनकर सभी हतप्रभ रह गये। सबने उन्हें समझाने का प्रयास किया, अनजाने में हुई त्रुटियों के लिये क्षमा याचना की और विनती की कि वे अपना निर्णय बदल लें... किन्तु व्यर्थ। मैंने भी उनसे प्रार्थना की, कि वे हम लोगों के प्रति इतना कठोर निर्णय न लें।

माता ने मेरे मुख पर अपनी दृष्टि गड़ा दी “नहीं पांचाली, मेरा वन गमन तुम्हारे लिये कल्याणकारी ही होगा।”

“आप ऐसा क्यों सोच रही हैं?” मुझे आश्चर्य हुआ। माता चुप रहीं, कदाचित् कर्ण के जीवन रहस्य के उजागर होने की लज्जा उन्हें सहज नहीं होने दे रही थी। मैंने पुनः कुछ कहना चाहा, किन्तु माता ने रोक दिया और बोलीं, “कल दोपहर में भोजन के उपरान्त तुम मेरे पास आना, मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है... केवल तुमसे।”

मुझे आश्चर्य हुआ कि माता के हृदय में ऐसा क्या है जिसे वे केवल मुझसे कहना चाहती हैं। भोजन के उपरान्त मैं माता के भवन में गयी। माता मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं और मैं उनके साथ कक्ष से निकलकर वाटिका में आ गयी। शीत ऋतु में आकाश में खिली धूप शरीर को सुखद लग रही थी। दासी ने घास के ऊपर एक नरम ऊनी कंबल बिछा दिया। माता बैठ गयीं, मैं भी उनके सम्मुख बैठ गयी।

माता मौन थीं। उनके अंतर्मन का द्रुढ़ मुख पर स्पष्ट झलक रहा था। लगता था कि कुछ कहने के लिये उन्हें बहुत प्रयास करना पड़ रहा है। कुछ क्षणों के पश्चात् उन्होंने मेरे दोनों हाथों को पकड़ लिया और कहने लगीं, “पांचाली, मुझे क्षमा कर दो।”

मैं आश्चर्यचकित कुछ कहने का प्रयत्न कर रही थी कि माता ने मुझे रोक दिया, “कुछ मत कहो, केवल मेरी बात सुनो, पांचाली! मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ।” इतना कहकर माता शांत हो गयीं, मानों आगे कुछ कहने के लिये वे पुनः साहस एकत्र कर रही हों। मैंने धीरे से अपने हाथों को अपनी ओर खींचा। माता ने उन्हें छोड़ दिया।

मैं चुपचाप बैठी सुन रही थी। दो शताब्दी पूर्व का हस्तिनापुर धीरे-धीरे मेरे समक्ष जाग रहा था... किशोर गंगापुत्र देवव्रत, सत्यवती के पिता के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कर रहे हैं, जिससे उनकी पुत्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही हस्तिनापुर का नरेश बने। यह भीषण

प्रतिज्ञा चारों दिशाओं में गूँजकर देवव्रत में समा गयी... देवव्रत भीष्मा काल ने देवव्रत को भी ढक लिया और शेष रह गया भीष्मा

महाराज शांतनु की सत्यवती से विवाह की इच्छा तो पूर्ण हो गयी, किन्तु इससे भरतवंश का गौरव रसातल में चला गया। धीवर पुत्री के गर्भ से उत्पन्न विचित्रवीर्य और चित्रांगद को राज-समाज ने अपनी कन्याओं के विवाह के लिये आयोजित स्वयंवरों में निमंत्रण भेजना बंद कर दिया। कुलीन परिवारों के कन्याओं के विवाह के लिये भी यह कुल त्याज्य हो गया।

अखण्ड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करने वाले देवव्रत का पराक्रम चारों दिशाओं में फैल रहा है, हस्तिनापुर की सीमाएँ विस्तृत होती जा रही हैं... एक ही लक्ष्य, सारी पृथ्वी अधीन और सभी नरेशों के मस्तक नता भीष्म का पराक्रम और राज्य की सीमाओं का विस्तार भी कुल की गरिमा को पुनर्स्थापित करने में असमर्थ हैं। युवा देवव्रत, काशीराज की कन्याओं के स्वयंवर में खड़े हैं। पहली बार वे सत्यवती के पिता के समक्ष अपने पिता की कामना की पूर्ति के लिये याचक बने थे... तब देवव्रत किशोर थे और आज देवव्रत पराक्रम, बल और शौर्य से युक्त 'भीष्म' हैं। वे स्वयंवर में स्वयं के लिये नहीं, वरन् अपने भाई विचित्रवीर्य के लिये निमंत्रण न आने से अपमानित और क्रोधित होकर काशीराज की तीनों कन्याओं का हरण करने के लिये आये हैं। तीनों कन्याओं को रथ में बिठाकर भीष्म, सेना के साथ हस्तिनापुर की ओर मुड़ गये। भयभीत कन्याएँ अपने पिता के ऊपर आसन्न संकट देखकर मुँह नहीं खोल सकीं। भीष्म के भय से काशीराज एवं सभी उपस्थित नरेश चुप रहे, केवल शात्व ने हरण कर ले जायी जाती अंबा के लिये भीष्म का पीछा किया और पराजित होकर लौट गया। हस्तिनापुर पहुँचकर अंबा ने भीष्म से कहा कि वह मन ही मन में शात्व को पति के रूप में वरण कर चुकी हैं। भीष्म ने उसे सम्मान के साथ शात्व के पास भिजवा दिया, तथा दो बहनों, अम्बिका और अंबालिका का विवाह विचित्रवीर्य के साथ करवा दिया। चित्रांगद अविवाहित ही स्वर्गवासी हो चुके थे, कुछ समय पश्चात् विचित्रवीर्य भी निःसंतान स्वर्गवासी हो गये।

दृश्य परिवर्तित होता है। हस्तिनापुर का राजकुल पुनः संकट में है और माता सत्यवती, भीष्म के समक्ष इस अनुरोध के साथ खड़ी हैं कि वे विवाह कर लें। अपनी पुत्री की संतान के लिये राज्य की तालसा में देवव्रत का जीवन माँगने वाले केवट पिता की पुत्री सत्यवती आज उनसे भरतवंश को बचाने के लिये विवाह की प्रार्थना कर रही हैं।

भीष्म, सत्यवती के समक्ष मौन खड़े हैं और उनके समक्ष खड़ा है भरतवंश के वंश-क्षय का सत्या। सत्यवती विवाह पूर्व उत्पन्न अपनी संतान वेदव्यास के जन्म का सत्य उजागर करके नतमुखी बैठी हैं। उन्होंने व्यास द्वारा नियोग से अंबिका और अंबालिका के पुत्रवती होने का प्रस्ताव भीष्म के समक्ष रखा है। कोई अन्य मार्ग नहीं है, भीष्म मौन खड़े हैं।

हस्तिनापुर के अंतःपुर का एक कक्षा। सत्यवती के कठोर आदेश के कारण व्यास के समक्ष लज्जा से आँखें मूँदे अंबिका खड़ी है... भय से पीली पड़ गयी थर थर कँवापती अंबालिका। सत्यवती, अंबिका को पुनः स्वस्थ वित्त होकर व्यास के पास जाने का आदेश देती है। भयभीत अंबिका गुप्त रूप से अपने स्थान पर अपनी युवा दासी को व्यास के कक्ष में भेजकर माता के भय से अपने कक्ष में छिपकर सारी रात्रि बैठी रही।

दासी का सत्य उजागर हो चुका था। तीन तीन नवजात शिशुओं के रुदन से अंतःपुर भर गया। ज्येष्ठ संतान नेत्रहीन है, द्वितीय पुत्र दुर्बल, मानों पाण्डु रोग से ग्रसित है। दासी ने प्रसन्नचित्त

होकर ऋषि की सेवा से स्वस्थ पुत्र पाया है। यह शिशु भी माता सत्यवती का पौत्र है, इसके पालन पोषण शिक्षा दीक्षा में कोई कमी नहीं है।

राजभवन में पलते शिशु, किशोर से युवा हो गये। एक विशाल साम्राज्य भीष्म की छत्रछाया में साँस ले रहा है। पिता की मृत्यु के पश्चात् नियोग द्वारा उत्पन्न संतानों के लिये हस्तिनापुर की 'श्री' और 'शक्ति' भी राजकुलों से विवाह के लिये स्वयंवरों का निमंत्रण नहीं ला सकी। इस बार न याचना हुई और न ही हरण। भीष्म ने अपने वर्चस्व और प्रभुत्व में लपेटकर गांधार नरेश सुबल की कन्या से धृतराष्ट्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा। वह प्रस्ताव सूचना थी, कि भीष्म ने अमुक तिथि पर उनकी पुत्री का विवाह हस्तिनापुर नरेश धृतराष्ट्र से करने का निर्णय लिया है, आयोजन करें। भीष्म से प्रश्न करने का साहस किसी नरेश में नहीं था... गांधार नरेश भी नहीं कर सके, किन्तु उनका युवा पुत्र शकुनि इस प्रकार का संदेश पाकर क्रुद्ध हो गया और भीष्म से युद्ध के लिये उद्यत पुत्र को प्रौढ़ नरेश ने समझाया, “परिणाम निश्चित है, ऐसी स्थिति में हम सहस्रों निरपराध सैनिकों की हत्या नहीं करवा सकते हैं; यदि इस प्रान्त की सभी सेनाओं को एकत्र करके भी हम युद्ध करें तो भी भीष्म को परास्त करना असम्भव है... धृतराष्ट्र ज्येष्ठ हैं, किन्तु नेत्रहीन होने के कारण सारा राजकार्य उनके अनुज पाण्डु ही देखते हैं।”

‘अर्थात्?’ शकुनि ने प्रश्न किया।

“पाण्डु ही वर्तमान हस्तिनापुर के महाराज हैं।”

“क्या धृतराष्ट्र के पुत्र का युवराज के पद पर अभिषेक होगा?”

शकुनि ने भीष्म के समक्ष प्रश्न उठाया था। भीष्म ने समुचित उत्तर नहीं दिया। शकुनि हस्तिनापुर में भीष्म के समक्ष बैठे बार-बार अपना प्रश्न उठाते और तर्क देते, “यदि धृतराष्ट्र ज्येष्ठ हैं तो वही महाराज हैं; कार्य व्यवस्था तो सुयोग्य मंत्रिपरिषद आपके अधीन देख रहा है, तो उनके पुत्र के अभिषेक के प्रश्न पर कैसी दुविधा?”

भीष्म ने कोई आश्वासन नहीं दिया।

शकुनि युवा थे, उनमें ऊर्जा और कूटनीतिक बुद्धि भी थी। वे हस्तिनापुर से गांधार लौट आये और मन में एक निर्णय ले लिया।

गांधारी के साथ उनके ज्येष्ठ भ्राता भी हस्तिनापुर आये। अतिथि थे, भव्य स्वागत सम्मान हुआ। लोग उनके गांधार वापस जाने का अनुमान लगाते रहे, किन्तु उन्होंने कभी जाने का नाम नहीं लिया।

विवाह के समय गांधारी को ज्ञात नहीं था कि उसके होने वाले पति अंधे हैं। उसके प्रति हुए इस अन्याय में भीष्म के साथ-साथ उसके पिता भी दोषी थे। पिता तो सुदूर गांधार में हैं, किन्तु भाई ने उसके अधिकारों की रक्षा के लिये हस्तिनापुर में ही रहने के निर्णय से उसे अवगत करा दिया था। विवाह के समय वह विवश था विरोध नहीं कर सका, किन्तु अब कूटनीति का सहारा लेकर वह उसकी संतानों के अधिकारों की रक्षा करेगा।

गांधारी ने अंतर्मन में कई गाँठें लगा ली और दूसरे ही दिन आँखों पर पट्टी बाँध ली। लोगों के लिये कई कारण थे। वह भीष्म का मुँह नहीं देखना चाहती है, जिसने वर्चस्व दिखाकर उसके पिता को इस विवाह के लिये विवश किया। नेत्रहीन, दीन धृतराष्ट्र की दीनता हर क्षण उसे आहत और अपमानित कर रही थी, किन्तु गांधारी ने कहा, “जिस श्री और सौन्दर्य को मेरे पति नहीं देख सकते, उन्हें मैं भी नहीं देखूँगी।” गांधारी, आँखों पर पट्टी बाँध सती की महिमा से मंडित

होकर हरितनापुर के राजभवन में रहने लगी।

* * *

दृश्य बदलता है। इतिहास हरितनापुर से निकलकर यमुना के तट पर बसी मथुरा में पहुँच जाता है। मैं बालिका पृथा, अपने पिता और उनके मित्र कुंतिभोज के साथ जा रही हूँ... कहाँ? मुझे ज्ञात नहीं है। मैं भ्रमित होकर रो रही हूँ, मेरे पिता प्रलोभन दे रहे हैं, समझा रहे हैं कि कुंतिभोज ही मेरे पिता हैं। मैं नहीं समझ पा रही हूँ कि कैसे एक अपरिचित व्यक्ति मेरे पिता के पास बैठे-बैठे मेरा पिता बन गया है।

नगर पीछे छूट गया है, बाग-बगीचे भी दिखायी देने बंद हो गये हैं, रथ मथुरा के तट पर आकर रुक गया। मेरे पिता दूसरे रथ पर बैठकर वापस मुड़ गये और मेरा रथ यमुना सेतु पार करने लगा। पिता को वापस जाता देखकर मैं जोर-जोर से रोने लगी। किसी प्रकार से किसी भी प्रलोभन से मैं शांत नहीं हो रही हूँ और रोते-रोते न जाने कब सो गयी।

किशोरी पृथा, महर्षि दुर्वासा के समक्ष खड़ी है। महर्षि मेरी सेवा से प्रसन्न होकर मुझे देव आवाहन मंत्र प्रदान कर रहे हैं, साथ ही चेतावनी कि “अति आवश्यक होने पर ही आवाहन करना, अनावश्यक रूप से कदापि नहीं।”

मेरे जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है... ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे मेरे पिता ने मुझे नहीं दिया हो, अतः कुछ माँगने के लिये देवता के आवाहन की मुझे आवश्यकता ही नहीं है। राजभवन परिसर के देवालय में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं, प्रतिदिन प्रातः और सायं काल शंख और घंटे की ध्वनि के साथ उनका पूजन-अर्चन होता है। क्या वास्तव में भी देवता इन प्रस्तर प्रतिमाओं की ही भाँति होते होंगे, या भिन्न? प्रस्तर प्रतिमाओं को देखकर उन देवताओं को साक्षात् देखने की मेरी उत्कंठा बढ़ती जाती थी, किन्तु महाक्रोधी दुर्वासा के आदेश की अवहेलना का साहस मुझमें नहीं था। मेरा भय सदैव ही मेरी उत्कंठा को दबा देता था।

ब्रीष्म ऋतु है... आकाश में सूर्यदेव प्रचंड होकर तप रहे हैं। सम्पूर्ण संसार पशु, पक्षी और मानव व्याकुल हैं। चेतन ही नहीं, वरन् जड़ पेड़ पौधे, लतायें, दूब सभी ताप से मूर्छित हो रहे हैं। मैं भी उस ताप से व्याकुल हो रही हूँ। माता का देहांत मेरे आने के कुछ वर्ष बाद हो गया। अब अंतःपुर में केवल दासियाँ ही थीं... प्रौढ़ा युवा किशोरी और उन्हीं के साथ मैं अपना मन बहला लेती थी। माँ की विशेष दासी इस राजभवन में मेरी संरक्षिका है।

मेरे हृदय में बार-बार विचार आ रहा है कि मैं सूर्यदेव का आवाहन कर उनसे प्रचण्ड ताप न फैलाने का अनुरोध करूँ। कितने ही पशु-पक्षी उनके ताप से मृत हो गये हैं, कितने ही मानव ताप से अस्वस्थ हो गये हैं... क्या मेरी प्रार्थना सूर्यदेव नहीं सुनेंगे? सम्पूर्ण पृथ्वी को सूर्य देवता के ताप से मुक्ति दिलाने का विचार अनावश्यक तो नहीं है?

ज्येष्ठ मास की दोपहरी में जब सारा राजभवन अलसाया हुआ था, मैं राजभवन के सबसे ऊपरी तल पर चली गयी। सारा नगर एकदम शांत पड़ा हुआ है। मार्ग सूना है कोई पथिक नहीं, कोई पशु भी नहीं; यहाँ तक आकाश में पक्षी भी नहीं। सभी जहाँ स्थान मिला, छुपकर बैठे हैं। आकाश में केवल सूर्यदेव हैं, जो अपना प्रचण्ड ताप बरसा रहे हैं। मैंने सूर्यदेव की ओर देखने का प्रयास किया किन्तु नहीं देख पायी, आँखें चौंधिया कर बंद हो गयीं। हथेलियाँ अपने आप प्रार्थना की मुद्रा में जुड़ गयीं और होंठों से मंत्र प्रस्फुटित होने लगा। मंत्र पूर्ण होते ही एक प्रखर ज्योति पुंज मेरे समक्ष खड़ा था। उसमें से निकलती तप्त ऊर्जा मुझे झुलसाने लगी। मैंने पलटकर सीढ़ियों से उतरना

चाहा, किन्तु नहीं उतर पायी... लगा कि उस ज्योति पुंज ने मुझे घेर लिया है और मैं उस असह्य ताप से मूर्छित हो गयी।

एक प्रहर पश्चात मेरी मूर्छा टूटी तो मैं अपने शयनकक्ष में शय्या पर लेटी थी। शयनकक्ष इतना तप्त क्यों है कि मेरा शरीर झुलस रहा है? स्नानागार के शीतल जल कुंड में प्रवेश करने के पश्चात भी उदर के भीतर अग्नि जल रही थी... लगता था मैंने तप्त अंगारों का भक्षण किया है।

राजवैद्य ने ““शरीर में पित्त का प्रकोप बढ़ गया है, घड़ी भर में शांत हो जायेगा।” कहकर औषधि पिलाकर विश्राम करने के लिये कहकर चले गये। संध्या के समय ताप कुछ कम हुआ।

दूसरे दिन ताप उतर गया था, किन्तु लगता था कि उदर में जलता हुआ अग्नि पिण्ड है। उस दिन मेरे समक्ष खड़ा अग्निपुंज मेरे शरीर के आर-पार चला गया था, किन्तु लगता है उस पुंज का कोई अंश मेरे उदर में छूट गया था।

प्रौढ़ा दासी मेरे शयनकक्ष के द्वार को भीतर से बंद करके मेरे समक्ष चिंतित खड़ी थी और दासी की मर्मभेदी दृष्टि मेरे शरीर को चीर रही थी। मुझे भी अपना शरीर कुछ-कुछ भिन्न लग रहा था। भोजन तो मैं पूर्व जैसा ही करती हूँ, किन्तु न जाने क्यों मेरे कटि प्रदेश में अनावश्यक रूप से वसा की परत बढ़ रही थी। शरीर भारी लगता है, चलने-फिरने की भी इच्छा नहीं होती है और सिले हुए वस्त्र मेरे शरीर को कसने लगे हैं।

दासी के मुख पर आश्चर्य और भय के चिह्न उभर आये, “राजकुमारी! यह क्या अनर्थ हो गया है।” दासी भयभीत होकर बोल रही थी, किन्तु मैं समझ नहीं पा रही थी कि इसे क्या हो गया है और क्या ‘अनर्थ’ हो गया है। मैं उसके मुख को देखने लगी। एक भयावह सत्य नग्न होने लगा। दासी के प्रश्नों से मैं अनभिज्ञ थी, उसका उत्तर भी मुझे नहीं ज्ञात था। इस प्रकार के क्षण मेरे जीवन में कभी नहीं आये थे। मैं विमूढ़ सी खड़ी रही। मैंने दासी को छह सात महीने पूर्व की घटना बताई कि कैसे मैंने इस जगत को सूर्यदेव के भयानक ताप से बचाने के लिये दुर्वासा ऋषि द्वारा बताये गये मंत्र से उनका आवाहन किया था, किन्तु उनसे कोई प्रार्थना नहीं कर पायी और उनके भयंकर ताप को न सह पाने से मैं अचेत हो गयी थी।

शीत ऋतु का आगमन हो गया था। शीत से बचने के लिये मैंने अधिक ढीले वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था, जिससे मेरे शरीर का उष्णार ढँका रहता था। दासी मेरे समक्ष किसी को अधिक समय के लिये खड़ी नहीं होने देती थी। उनका मेरे कक्ष में आना लगभग वर्जित हो गया था और मेरे कक्ष में ढेर सारी पुस्तकों और अभ्यास पुस्तिकाओं का ढेर लग गया था। लोगों को ज्ञात है कि मैं अपने अद्भुत यादव कुलों के इतिहास एवं संस्कृति पर एक ग्रन्थ लिख रही हूँ, अब मुझे बाहर निकलने घूमने-फिरने की आवश्यकता नहीं थी। पिताश्री भी चार माह के लिये तीर्थ-यात्रा पर निकल गये थे।

रात्रि के समय कटि में विचित्र पीड़ा का अनुभव हुआ। मैंने उठकर पास में सोई दासी को जगाया। क्षण-क्षण बढ़ती पीड़ा में मैंने अपने शरीर को दासी को सौंप दिया था। रात्रि के अंतिम प्रहर में मुझे इस पीड़ा से मुक्ति मिली और मैं शक्तिहीन सी निढाल, शय्या पर लेट गयी।

पूर्व नियोजित ढंग से दासी ने शिशु को काष्ठ की पेटी में रखा। रखने से पहले उसने मुझे उस शिशु को दिखाया था, वह पुत्र था; उसके शरीर पर स्वर्णिम आभा का कवच और कानों में स्वर्णिम माँसल कुंडल थे। वह मेरा पुत्र था, सूर्य-पुत्र, अपने पिता के समान दैदीप्यमान। मुझमें उसे छूने का साहस नहीं था... भय और पीड़ा ने मुझे चेतनाशून्य कर दिया था।

मैंने पेटी में स्वर्ण मुद्राओं को भी रखने के लिये कहा था और अपने आभूषणों को भी उतारकर उस पेटी में रखने के लिये दे दिया। दासी, पेटी लेकर शीघ्रता से कक्ष के बाहर चली गयी। उसके लौटने पर मैंने उससे पूछा कि उसने शिशु का क्या किया? उसने मुझे उतर दिया कि, “मार्ग में एक निःसंतान दम्पति मिल गये थे, जो संतान के लिये नगर स्थिति शिव-मंदिर से शिव की आराधना करके लौट रहे थे, मैंने उस पेटी को उन्हें दे दिया और कहा कि मुझे स्वप्न में महादेव ने अपने प्रांगण में रखे इस शिशु को तुम्हारे पास पहुँचाने का आदेश दिया और मैं तत्काल अपने घर से निकलकर शिवालय के द्वार पर रखे इस शिशु को तुम्हें देने के लिये आयी हूँ, महादेव की आज्ञा मेरे लिये और दान तुम्हारे लिये, ग्रहण करो, कहकर मैं उन्हें शिशु को देकर चली आयी।”

मैं उससे बार-बार पूछती रही कि वह कहाँ का निवासी था? उसकी आर्थिक स्थिति कैसी थी? किन्तु दासी ने कुछ न पूछने और देखने की बात कहकर मुझे जीवन भर के लिये अनिश्चितता के भँवर में ढकेल दिया था।

हस्तिनापुर के क्रीड़ा-मण्डप में मैं कवच कुंडल के कारण ही अपने पुत्र कर्ण को पहचान सकी और तभी मुझे ज्ञात हुआ कि राधा और अधिरथ को यह शिशु एक काष्ठ की पेटी में नदी में बहता हुआ मिला था।

माता इतना कहकर चुप हो गयी। कर्ण की मृत्यु के दिन माता ने स्वीकार किया था कि कर्ण उनका और सूर्यदेव का पुत्र है। आगे न ही किसी ने कुछ पूछने का साहस किया और न ही उन्होंने किसी से कुछ कहा। अनेक प्रश्नों में लिपटा कर्ण का परिचय एक झलक दिखाकर पुनः अनेक प्रश्नों के सागर में डूब गया था। आज उस पर से एक-एक आवरण मेरे समक्ष उतर रहा था और निर्दोष पृथा की कुंठा, यातना और पीड़ा, पूरे नग्न रूप में मेरे समक्ष खड़ी थी। निर्दोष पृथा का अज्ञान और किशोरवय सुलभ कौतूहल उसके जीवन में इतनी बड़ी विडंबना रच गया था।

इतिहास इस अध्याय को समाप्त करके पुनः हस्तिनापुर आ गया। मैं पृथा, मथुरा में जन्मी पत्नी, कुंतिभोज के घर बड़ी हुई। देवव्रत का आदेश इस बार कुंतिभोज के लिये आया। मेरे पिता कुंतिभोज दुःखी हुए यद्यपि उनका वैभव एवं साम्राज्य हस्तिनापुर की तुलना में कम था, किन्तु कुलीनता पर कोई प्रश्न नहीं था। भीष्म के पराक्रम से भयभीत, मुझे जन्म देने वाले और पालने वाले दोनों पिता मौन रहे... वे भी गांधारी नरेश की भाँति विवश थे और नियत-तिथि पर मैं कुंतिभोज की पुत्री कुंती, पाण्डु की पत्नी बनकर हस्तिनापुर के राजभवन में आ गयी।

महाराजा पाण्डु हस्तिनापुर के सम्राट थे। ज्येष्ठ भ्राता के नेत्रहीन होने के कारण हस्तिनापुर के सम्राट के पद पर महाराज पाण्डु का राज्याभिषेक हुआ था और मैं हस्तिनापुर की महारानी बनी। महाराज पाण्डु नाम के अनुरूप ही रोग से ग्रस्त दुर्बल एवं पुंसत्वहीन थे। मैं मौन हो गयी। किसी को कुछ भी आभास न होने दिया, हृदय के दुःख को हृदय में ही छिपा लिया।

वर्ष पर वर्ष बीत रहे थे, न तो गांधारी के कोई संतान हुई और न ही मैं गर्भवती हुई। महाराज पाण्डु अपना अधिकांश समय मृगया में व्यतीत करते थे, वे एक बार राजभवन से निकलते तो कम से कम बीस दिन के पूर्व न लौटते। मातामही सत्यवती संतान न होने के कारण चिंतित रहने लगी।

एक बार पुनः मातामही सत्यवती व ज्येष्ठ पिताश्री भीष्म में विमर्श हुआ। इस बार पितामह ने मद्र नरेश को आदेश दिया। महाराज पाण्डु मौन रहे। किसी में भी भीष्म के निर्णय पर प्रश्न उठाने का साहस नहीं था, विरोध तो कल्पना से भी परे था। माद्री, महाराज पाण्डु की द्वितीया बनकर

हस्तिनापुर में आ गयी और महाराज पाण्डु अति आवश्यक कार्य से उसी दिन हस्तिनापुर से बाहर चले गये।

ज्येष्ठ पिताश्री भीष्म के आदेश के उपरान्त महीने भर बाद महाराज पाण्डु हस्तिनापुर लौटे और साथ में आया ऋषि का शाप। मृगया के समय पाण्डु महाराज ने मृग रूप धारण करके प्रणय-लीला करते, ऋषि दम्पति पर अपना तीर छोड़ा था, जिससे ऋषि की मृत्यु हो गयी और तब विलाप करती हुई ऋषि पत्नी ने उन्हें शाप दिया कि जिस प्रकार क्रीड़ारत मेरे पति का तुमने वध किया है, उसी प्रकार स्त्री से संसर्ग करते ही तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी। जो सत्य आज तक आवरण में था, जिसे केवल मैं जानती थी, उसे माद्री के समक्ष ऋषि के शाप के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत किया गया। मेरा अंतर्मन चीख उठा। इतना बड़ा झूठ? वर्षों से जिस पीड़ा को मैं भीतर ही भीतर भोग रही थी, मेरा वह अतीत माद्री के समक्ष मेरे सुखद दाम्पत्य जीवन के रूप में प्रस्तुत हो गया और माद्री के लिये वर्तमान और भविष्य, पति सुख से विहीन दुर्भाग्य के रूप में... एक सत्य ने हम दोनों के लिये अलग-अलग रूप धारण कर लिया था।

राजभवन का अंतःपुर कुलबुलाने लगा। मेरे हिस्से का सत्य महाराज पाण्डु को भीतर ही भीतर आहत करता था और मैंने भी उस सत्य को बाहर से ओढ़ लिया। मैं माद्री से पराजित नहीं होना चाहती थी। माद्री अद्वितीय सुंदरी थी, उसके समक्ष मेरा सौन्दर्य कुछ भी नहीं था। मैं रूप से हारकर के भी अपने हिस्से के सत्य से माद्री से जीत गयी थी। महाराज पाण्डु के लिये लोगों की मौन जिज्ञासा को सहन करना असम्भव हो गया। वे अपने काल्पनिक अपमान और उपेक्षा से दुःखी रहने लगे और उनका मन धीरे-धीरे राजकाज से विमुख होने लगा। अंततः उन्होंने सब कुछ त्याग करके वन में जाकर तपस्या करने का निर्णय लिया। अब भीष्म विवश थे। मैं राजभवन में दुःखी थी। अब तो लोगों के मुख पर मेरे लिये दया दिखाई देने लगी थी। एक पुंसत्वहीन पुरुष की पत्नी के रूप में मिलने वाली दया मुझे सह्य नहीं थी और मैं इस राजभवन से दूर चली जाना चाहती थी।

महाराज पाण्डु हम दोनों को माता सत्यवती के संरक्षण में छोड़ना चाहते थे। मैंने विरोध किया, मैं आपकी पत्नी हूँ, मैंने आपके साथ सुख भोगा है, दुःख भोगने के लिये कैसे आपको अकेला छोड़ दूँ? मैं भी आपके साथ वन जाऊँगी और आपकी सेवा करूँगी। महाराज निरुत्तर थे।

माद्री ने भी साथ चलने का निर्णय लिया और महाराज पाण्डु जिस परिस्थिति से भागना चाहते थे वह न हो सका। महाराज पाण्डु दो स्त्रियों के जीवन का विनाश करने के अपराधी थे, उनका यह अपराध भाव वन में तप करते हुए भी कम नहीं हुआ वे दुःखी रहते थे। एक दिन मैंने उन्हें दुर्वासा ऋषि द्वारा बताये गये देव आवाहन मंत्र के बारे में बताया, किन्तु विवाह से पूर्व कर्ण के जन्म के विषय में कुछ न कह पायी। महाराज पाण्डु को तो जैसे प्यासे प्राणों को जल मिल गया हो... वे प्रसन्न हो गये और उन्होंने मुझे देवताओं का आवाहन करके संतानोत्पत्ति की अनुमति दे दी। मैंने क्रमशः धर्मराज, पवन और इन्द्र देवता का आवाहन करके युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को प्राप्त किया। महाराज पाण्डु की इच्छा से मैंने माद्री को भी मंत्र बताया... उसने भी अश्विनी कुमारों का आवाहन करके नकुल और सहदेव को जन्म दिया।

संतानों के होने से वन में भी हम सबका जीवन अपेक्षाकृत सुखद हो गया। विधि का विधान, पाण्डु स्वर्गवासी हो गये और माद्री उनके साथ सती हो गयी।

* * *

पाण्डु की मृत्यु की सूचना मिलते ही भीष्म ने हम सबको हस्तिनापुर बुला लिया और मैं पाँचों पुत्रों को लेकर हस्तिनापुर आ गयी। भीष्म अब पितामह भीष्म हो गये थे। हस्तिनापुर आते ही मैंने निश्चय किया कि यह हस्तिनापुर का राज्य मेरे पति का था और अब यह मेरे पुत्र युधिष्ठिर का होगा। धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होते हुए भी महाराज बनने के योग्य नहीं थे। वहीं से उनका और उनकी संतानों का अधिकार भी हस्तिनापुर के महाराज के पद के लिये समाप्त हो गया था। पाण्डु हस्तिनापुर के सम्राट थे, इस कारण हस्तिनापुर के सिंहासन पर युधिष्ठिर का ही अधिकार है। इस अधिकार की भावना को मैंने कभी भी शिथिल नहीं होने दिया, यहाँ तक कि महाराज पाण्डु के वन-गमन के पश्चात धृतराष्ट्र के सम्राट बनने पर भी नहीं।

यदि मैं युधिष्ठिर के अधिकार का युद्ध नहीं लड़ती, तो परम्परा से युधिष्ठिर को राज्य मिलने का अधिकार समाप्त हो जाता, किन्तु मैंने हार नहीं मानी थी। मेरा अतीत दुःखद था, वर्तमान दुविधा भरा हो सकता था, किन्तु भविष्य की योजना में मैं किसी प्रकार का संशय नहीं पालना चाहती थी। मन में कभी किसी प्रश्न और दुविधा को सिर नहीं उठाने दिया... बस एक ही लक्ष्य कि युधिष्ठिर ही हस्तिनापुर के भावी सम्राट हैं।

पाण्डु, संतान उत्पन्न करने के योग्य नहीं थे, यह सत्य था, किन्तु पाण्डु और धृतराष्ट्र का जन्म भी तो सर्वाविदित था। जिस कुल में माँ की संतान पिता के राज्य का कर्णधार बनी है, उस परम्परा को आगे बढ़ाने में अब कैसी दुविधा और कौन सा प्रश्न? अब तो मेरे जीवन का यही लक्ष्य था कि युधिष्ठिर हस्तिनापुर के नरेश बनें और मैं अपने कर्तव्य से मुक्त हो जाऊँ। इस लक्ष्य ने मुझे अपने जीवन में एक दिशा दे दी थी।

राजभवन में एक अघोषित युद्ध आरम्भ हो गया था कि भावी महाराज कौन? हस्तिनापुर के युवराज का पद किसे मिलेगा? धृतराष्ट्र, शकुनि और गांधारी के लिये महाराज धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन, किन्तु मेरे लिये नहीं। नेत्रहीन विकलांग धृतराष्ट्र केवल व्यवस्था के नाम पर महाराज हैं, विकलांग का राज्याभिषेक नहीं होता है, इस कारण राज्याभिषेक युक्त महाराज पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर ही हस्तिनापुर के भावी सम्राट हैं और मैं अपने पुत्रों के हृदय में इस सत्य को स्थापित करती रही। दुर्योधन की तुलना में युधिष्ठिर को श्रेष्ठ स्थापित करती रही कि युधिष्ठिर बुद्धिमान, विवेकशील, न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ और प्रजावल्लभ हैं, गुरुजनों का सम्मान करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। जहाँ भी युधिष्ठिर के मन में अविश्वास जन्म लेता था, मैं उसके अविश्वास को समूल नष्ट कर देती थी। मुझे याद है कि बाल्यावस्था में एक बार युधिष्ठिर ने मुझसे दुर्योधन और दुःशासन के नामों का अर्थ पूछा था और मैंने उन्हें बताया... किन्तु यह अर्थ अन्य लोगों के लिये था, युधिष्ठिर के लिये नहीं। वह तो युधिष्ठिर के लिये 'सुयोधन' था जिसे युद्ध में सरलता से परास्त किया जा सकता है और 'सुशासन' जिस पर शासन करना युधिष्ठिर के लिये सरल है।

मैं हर क्षण अपने पुत्रों के हृदय में स्थापित विश्वास को दृढ़ से दृढ़तर बनाती रही और जितना ही युधिष्ठिर का लक्ष्य सुदृढ़ होता रहा, उतना ही दूसरे पक्ष का विरोध मुखर होता गया। राजभवन में संतानों की सत्ता को लेकर आरम्भ हुआ गुप्त युद्ध अब प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा। मेरे पुत्रों के अस्तित्व को मिटाने के लिये उन पर प्रहार होने लगे। महामंत्री विदुर, दुर्योधन आदि के दुष्कर्मों का विरोध करते थे और साथ ही साथ मेरे पुत्रों की रक्षा का प्रयास भी करते थे, यद्यपि पितामह 'राजा के प्रति निष्ठावान' रहने की अपनी प्रतिज्ञा के कारण मुखर होकर कुछ नहीं कहते थे,

किन्तु उनकी दृष्टि सदैव मेरे पुत्रों पर रहती थी, इस कारण दुर्योधन आदि अपने प्रयासों में सफल नहीं हो पाते थे। गांधार कुमार शकुनि की कूटनीति अब प्रखर कुटिल नीति का रूप धारण कर चुकी थी। नैतिकता के नष्ट होने से आचरण भी घृणित होने लगा।

मेरे पुत्रों के प्राणों पर अब हर क्षण संकट मँडराने लगा। मैं भली-भाँति समझ रही थी कि मेरा अपने पुत्रों के साथ कुछ समय के लिये ही सही, हस्तिनापुर को त्याग देना ही श्रेयष्कर है। अवसर मिला तो मैं वारणावत के लाक्षागृह से विदुर की योजना के अनुसार अपने पुत्रों के साथ मृत होने का भ्रम प्रकट करके वहाँ से निकलकर संसार में गुप्त हो गयी। मेरा यह पलायन इच्छाओं और निश्चय से पलायन नहीं था, यह तो अपने आपको सशक्त करने के लिये लोगों की दृष्टि से पलायन मात्र था। वर्षों तक मैं पुत्रों के साथ स्वयं को गुप्त रखकर उन्हें शक्तिशाली बनाती रही; शरीर को वे अभ्यास से शक्तिशाली बना रहे थे, मन को मैं पोष रही थी।

हस्तिनापुर का राज्य मेरे पुत्र का है और मैं उसे दिलवाकर ही रहूँगी, मेरा यह निश्चय गुप्तवास में भी एक क्षण के लिए भी क्षीण नहीं पड़ा। मैं अपने लक्ष्य के लिये सब कुछ करने के लिये तैयार थी और इसमें मुझे कोई बाधा स्वीकार नहीं थी। मैं जानती थी कि मेरी इस लालसा में बहुत कुछ भ्रम हो जायेगा... सब कुछ समाप्त भी हो सकता है, किन्तु यह सोचकर भी मेरा निश्चय नहीं ढिगा। मुझे अपना पूरा अधिकार चाहिए, अन्यथा यह जीवन भी नहीं। इस इच्छा की अग्नि में मैंने अपना सब कुछ झोंक दिया।

यदि युधिष्ठिर हैं तभी शेष पुत्रों का भी अस्तित्व है। यदि युधिष्ठिर हस्तिनापुर के महाराज नहीं हैं तो असीम बल के स्वामी होते हुए भी भीम का बल व्यर्थ है, महान धनुर्धर होते हुए भी अर्जुन का कौशल किसी राज्य का आश्रय ही पायेगा; नकुल और सहदेव का पराक्रम कुछ धन के लिये राजाओं के अधीन नित्य बिकता रहेगा और स्वयं युधिष्ठिर किसी राजा के आश्रय में राजा के समक्ष जुए में स्वयं हारकर उन्हें प्रसन्न करते रहेंगे। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के बिना शून्य है और भीम और अर्जुन युधिष्ठिर के साथ ही शक्तिशाली हैं, यही मेरे पुत्रों के जीवन का सत्य था।

मुझे ज्ञात था कि अर्जुन ने स्वयंवर में लक्ष्य भेद कर तुम्हें प्राप्त किया है। मेरा अपने पुत्रों के साथ काम्पित्य नगरी आने का प्रयोजन ही यही था कि अब हम सब एक बार प्रकट होकर अपने हस्तिनापुर के अधिकार को प्राप्त करने के लिये प्रयास करें और मैंने मंगल कामनाओं के साथ अर्जुन आदि को विदा किया था। युधिष्ठिर ने लक्ष्य भेद की सूचना भी नकुल सहदेव के साथ आकर मुझे दिया तो सुनते ही मैं प्रसन्न हो गयी, किन्तु अगले ही क्षण मुझे एक दुविधा ने घेर लिया। सभी भाइयों में परस्पर घनिष्ठता के लिये मैंने हिडिंबा को पुत्रवती होने के पश्चात भी भीम के जीवन में प्रवेश नहीं करने दिया था, वहीं आज अर्जुन, द्रुपद पुत्री कृष्णा को प्राप्त करके अपना गृहस्थ जीवन आरम्भ करेंगे तो भीम भी हिडिंबा को ले आयेंगे, ऐसे समय में उनके अपने गृहस्थ जीवन से भाइयों का परस्पर बंधन शिथिल होता जायेगा और युधिष्ठिर को लेकर देखे गये मेरे सारे स्वप्न, वर्षों तक पाली गयी इच्छाएँ, जीवन भर की तपस्या एक ही झोंके में नष्ट हो जायेगी। मुझे ज्ञात था कि कृष्णा अद्वितीय सुंदरी है और अर्जुन के साथ उसका जीवन मेरे अन्य पुत्रों को उनके जीवन के लक्ष्य से भटका देगा और सभी अपना गृहस्थ जीवन जीना चाहेंगे और कृष्णा, हिडिंबा तो नहीं थी, जिसे मैं अलग संस्कृति व प्रजाति के आधार पर नकार देती।

मैंने हँसते हुए युधिष्ठिर से कहा कि “तो आज की तुम लोगों की भिक्षा कृष्णा है?”

सभी हँस पड़े।

मैंने दूर से तुम लोगों को आते देखा, तो कुटिया के भीतर चली गयी। तुम्हारे द्वार पर आने पर उसी परिहास के परिप्रेक्ष्य में युधिष्ठिर ने कहा, “माँ, हम भिक्षा लाये हैं” और मैंने पूर्व नियोजित ढंग से कुटिया के भीतर से ही “मिल कर भोग लगाओ” का आदेश दे दिया।

मैं सुन चुकी थी कि पांचाली के जिस सौन्दर्य को देखकर स्वयंवर में उपस्थित राज समाज असहिष्णु हो उठा था, तो क्या वह सौन्दर्य भाइयों में विग्रह नहीं करा देगा? मैं जानती थी कि जिस अनुशासन के सूत्र से मैंने आज तक पाँचों को एकता के सूत्र में बाँध रखा है, वह कृष्णा के आते ही शिथिल पड़ने लगेगा। मैं अपने पुत्रों की एकता को किसी प्रकार से खंडित नहीं होने देना चाहती थी और मैंने अपने कथन के साथ ही शेष पुत्रों की आँखों में भी कृष्णा के लिये लालसा देख ली थी, इसी कारण किसी ने इस अनुचित प्रस्ताव का विरोध नहीं किया या कोई समझ ही नहीं पाया कि मैं क्या कह रही हूँ। मैंने उन्हें किसी प्रकार का अवसर दिये बिना पुनः अपने कथन को स्थापित करने के लिये कक्ष से बाहर आकर आश्चर्य प्रकट किया कि “अरे! मैंने यह क्या कह दिया” मैं भ्रम का निवारण करने के स्थान पर अपने कथन को धर्मतः दिये गये आदेश के रूप में स्थापित करने का प्रयास करती रही कि “युधिष्ठिर सब कुछ त्याग सकता है पर धर्म को नहीं। “मैंने ऐसा कहा था”... “मुझे झूठ से बड़ा भय लगता है।” कहकर मैंने आगे के प्रश्न, तर्क और दुविधाओं पर भी पूर्ण विराम लगा दिया।

मैं अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में पांचाली के जीवन का मानवीय पक्ष भूल गयी। मुझे तो केवल कौरवों की प्रतिद्वन्द्विता ही याद रही, उनके विनाश की इच्छा ही सर्वोपरि रही और मैं इस प्रतिद्वन्द्विता की आग में अपना सब कुछ होम करने को तैयार थी।

मैं जानती थी कि पांचाली अग्नि से उत्पन्न है, उसके अंतःकरण में अग्नि की उर्जा विद्यमान है, वह मेरे पुत्रों के हृदय में कौरवों के विरुद्ध अग्नि को प्रज्ज्वलित रखेगी, साथ ही वह राजकुल में पली है, अभावों का जीवन उसे स्वीकार नहीं होगा, वह भी अपने पतियों के राज्य को वापस पाने के लिये सभी को एक सूत्र में बाँधकर रखेगी, उनके हृदय की अग्नि को अपने सौन्दर्य की समिधा से प्रखर करती रहेगी।

जब हस्तिनापुर से जुआ खेलने का निमंत्रण आया, तो मैं जानती थी कि वहाँ अनर्थ ही होगा, क्योंकि राजसूय के समय मैंने दुर्योधन आदि के मुख पर पाण्डवों की समृद्धि एवं पराक्रम से उत्पन्न ईर्ष्या को देखा था, साथ ही दुर्योधन, भ्रमवश दासी की हँसी को पांचाली की हँसी मानकर मन में गाँठ लगा चुका था। मैं यह भी जानती थी कि शकुनि कपट विद्या से जुए का पासा फेंकते हैं एवं कभी भी पराजित नहीं होते हैं। युधिष्ठिर का सत्य भी मैं भली-भाँति जानती थी कि उनके लिये जुए के खेल में अपने मन को संयमित करना कठिन है... किन्तु मैंने न तो उन्हें रोका और न ही संयम विवेक से खेलने का आदेश दिया। मैं जानती थी कि मेरे प्रयास से यह अवसर टल तो जायेगा, किन्तु दुर्योधन किसी न किसी प्रकार से पाण्डवों को पीड़ित करता ही रहेगा और कपट का आश्रय लेकर इनकी जीवनलीला को समाप्त करने तक का प्रयास करने लगे तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसके अतिरिक्त सभागृह में भीष्म, द्रोणाचार्य, महाराज धृतराष्ट्र और विदुर हैं, अतः जो कुछ भी होगा, समस्त जन के सम्मुख ही होगा।

भले ही मेरे पुत्रों ने अपने वैभव व राज्य का विस्तार कर लिया था, किन्तु मैं अपने पुत्र के राज्य का एक छोटा सा टुकड़ा याचक के रूप में पाकर संतुष्ट नहीं थी। राज्य तो युधिष्ठिर का है; यदि याचना करना है तो धृतराष्ट्र पुत्र करें और उनके जीवनयापन की व्यवस्था महाराज युधिष्ठिर

करवाये। अपने ही राज्य की मैं याचक बन गयी थी और अब मैं आर-पार का युद्ध चाहती थी। तिल तिल कर प्रतिशोध की अग्नि में जलना मुझे स्वीकार नहीं था। वर्षों बीत गये, प्रतीक्षा करते-करते मेरा हृदय खोखला हो गया और दूसरा पक्ष पितामह के आश्रय में समृद्ध होता रहा। मैंने जुए को दूसरी बार भी न रोककर उसमें तुम्हें पुनः झोंक दिया, कदाचित् यह चोट उनके स्वाभिमान को जागृत करके युद्ध की ओर उन्मुख करे और युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सम्राट बनें।”

माता सब कुछ कहकर मौन हो गयीं मैंने उनकी ओर देखा, मानो उनकी छाती पर रखा भारी बोझ उतर गया हो। मैं आश्चर्य चकित थी मेरे समक्ष भरत वंश के इतिहास और माता के हृदय में छिपे सत्य का एक एक पृष्ठ खुलता जा रहा था और मैं सुन्न बैठी सब कुछ सुन रही थी। अंत में माता के हृदय का बोझ उतरकर मेरी छाती पर बैठ गया।

जीवनभर मैं महाराज युधिष्ठिर को अपने प्रति हुए अन्याय के लिये दोषी मानती रही, उनके हठ को भोगती रही, अर्जुन का मौन मुझ पर प्रहार करता रहा किन्तु माता का मौन? लगता था जैसे वे अपने आप को भाग्य के हाथों में समर्पित करके शांत हो गयी हैं... किन्तु वस्तुस्थिति कितनी भिन्न थी, वे तो पाण्डवों के अधिकार के लिये हृदय में दृढ़ निश्चय लेकर जीवन भर लड़ती रहीं। माता, पृष्ठभूमि में रहकर पुत्रों के जीवन की सशक्त सूत्रधार बनी रहीं, उनके जीवन की दिशा और गति को संचालित करती रहीं।

प्रभुता और वर्चस्व के इस खेल में ठगी तो मैं गयी। युधिष्ठिर तो वस्त्र के चौपड़ पर पाँसे फेंकते थे, किन्तु माता तो मुझ हाड़-मांस की जीती-जागती पांचाली को ही चौपड़ बनाकर अपनी इच्छाओं के पाँसे फेंकती रहीं और मुझे आभास तक नहीं हुआ।

किसे दोष दूँ मैं? माता को? उनकी लालसा को या पितामह को? सब दोषी हैं, निर्दोष तो कोई भी नहीं है। माता कुंती? क्या उनका जीवन सामान्य कन्याओं जैसा था? नहीं पृथा को उसके पिता ने निःसंतान कुंतीभोज को सौंप दिया, तब उसके बालमन पर क्या अंकित हुआ होगा? केवल आवश्यकता की पूर्ति। अपनी आवश्यकता की पूर्ति में उन्होंने मेरा जीवन भी लपेट लिया और आज अपने जीवनभर की कुंठा और ग्लानि भी मेरे समक्ष उड़ेलकर अपने अपराध बोध से मुक्त हो गयीं। हस्तिनापुर के इतिहास का अंतिम पृष्ठ पलट करके माता उठकर खड़ी हो गयीं।

अब मैं क्या करूँ? मेरे जीवन में जटिलताएँ क्या कम थीं, जो मैं लगभग दो शताब्दी के इतिहास के ज्ञात-अज्ञात अध्यायों को भी स्मृतियों में ढोती फिरूँ? क्यों हुआ यह युद्ध? माता कुंती की लालसा, कर्ण की शक्ति या मेरी प्रतिज्ञा, जो हर क्षण मेरे खुले केशों से घोषित होती रहती थी। क्यों दी विधाता ने पुरुष को इतनी शक्ति और क्यों दी युद्ध की लालसा? पुरुष की यह शक्ति ही सब विनाश की मूल है। यदि अनावश्यक शक्ति पुरुष के पास न होती तो विनाश भी नहीं होता। ईश्वर को उतनी ही शक्ति पुरुष को भी देनी चाहिये थी, जितनी कि अपने कर्तव्यों के निर्वाह के लिये स्त्री को दी थी।

क्या श्रीकृष्ण चाहते थे यह युद्ध? हाँ, श्रीकृष्ण के हिस्से का सच तो मैं जानती हूँ, कम से कम उतना, जितना मेरे अपमान से जुड़ा था। शेष मुझे ज्ञात नहीं, किन्तु एक प्रश्न मेरे समक्ष खड़ा हो गया है कि यदि पाण्डव, महाराज पाण्डु के पुत्र थे ही नहीं, जिन्हें सार्वजनिक रूप से कुरु वंश की ‘कौरव’ उपाधि तक नहीं मिली थी, तो उन्हें कुरुवंश पोषित, शासित राज्य को प्राप्त करने की इच्छा क्यों और अधिकार कैसा? यह आपका कौन सा धर्म है महाराज युधिष्ठिर?

पिछले दस दिनों से महाराज धृतराष्ट्र यज्ञ का अनुष्ठान करके दान कर रहे हैं... प्रातःकाल से

रात्रि में सोने के समय तक निरन्तर दान हो रहा है... कोई याचक खाली हाथ नहीं लौट रहा है। जिसे जो चाहिए, महाराज उसे वह प्रदान कर रहे हैं। महाराज धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से दान के लिये धन प्रदान करने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु महाराज युधिष्ठिर ने सम्पूर्ण राजकोष उनके चरणों में अर्पित कर दिया। महाराज ने अपना व गांधारी का श्राद्ध किया एवं समस्त पुत्रों के निमित्त दान किया, तथा प्रजाजनों से उनके ऊपर युद्ध के रूप में संकट लाने के लिये क्षमा याचना की।

भीमसेन महाराज के दान से क्रुद्ध हैं। पहले उनके पुत्रों ने हमारा सर्वस्व छल से हरण कर लिया, अपमानित किया और अब, जब पूरा राज्य युद्ध की विभीषिका भोगकर जर्जर हो चुका है; ऐसे समय, जब राज्य की पुनर्व्यवस्था व विकास के लिये अतिरिक्त धन चाहिये, उस समय महाराज धृतराष्ट्र के दान के लिये महाराज युधिष्ठिर ने राजकोष ही खोल दिया।

दस दिनों में सम्पूर्ण राजकोष रिक्त होने की स्थिति में पहुँच गया है। महाराज क्यों नहीं सोचते कि राज्य के निर्माण एवं व्यवस्था के लिये धन पुनः जनता पर भारी कर लगाकर प्राप्त करना पड़ेगा और हम सब जनता के क्षोभ के कारण बनेंगे। राज्य पर युद्ध का संकट थोपकर जनता के हृदय में हमने क्रोध ही पैदा किया है, ऐसी स्थिति में भारी कर लगाकर हम पाप के ही भागी बनेंगे। युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र की चाल को क्यों नहीं समझते कि वह एक भग्न राज्य के साथ-साथ हमें एक रिक्त राजकोष भी दे रहे हैं। भीमसेन क्रोध में कहते, “जब हम लोगों के माता सहित वारणावत में जल कर मरने की सूचना महाराज को मिली थी, तो उन्होंने हमारे व माता के निमित्त कितना दान दिया था?”

मैंने उन्हें समझाने का प्रयास किया कि यह धन जनता के द्वारा ही क्यों के रूप में प्राप्त था और वह धन भले ही कोष में न हो, पर जनता के पास ही है। हम देश के विकास की योजनाएँ जनता के समक्ष रखेंगे तो जनता पुनः वह धन राज्य के विकास के लिये कोष में दे देगी। हस्तिनापुर की जनता को महाराज युधिष्ठिर में विश्वास है और अब हमारे जीवन में शेष क्या है, जिसके लिये हमें भारी मात्रा में धन की आवश्यकता पड़े? भविष्य में युद्ध के लिए प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि समस्त विरोधी समाप्त हो गये हैं; वैसे स्वजन भी कितने बचे हैं? प्रजा सुखी रहे, उसी के सुख में हमारा सुख है... अकेले परीक्षित के लिये यह अखण्ड साम्राज्य किसी प्रकार से कम नहीं है।

प्रातःकाल महाराज धृतराष्ट्र ने माता कुंती व गांधारी के साथ वन के लिये प्रस्थान किया। महाराज युधिष्ठिर चाहते थे कि वन में उनके रहने के लिये सेवकों के साथ सुविधाजनक व्यवस्था करवा दें, किन्तु महाराज ने मना कर दिया। उन्होंने अपने साथ एक जोड़ी वस्त्रों के सिवाय कुछ भी नहीं लिया। सम्पूर्ण प्रजा, माता के लिये दुःखी थी, कि उन्होंने जीवन भर कितने कष्ट सहे, राजमाता के रूप में भी वे प्रजा के सुख-दुःख का एक माँ की भाँति ध्यान रखती थीं। उनके इस प्रकार से वन-गमन करने से प्रजा मातृहीन जैसी हो जायेगी। दास दासियाँ और अन्य महिलाएँ भाँति-भाँति से माता की उदारता, दया और प्रेम के विषय में चर्चा करतीं और दुःखी होतीं। मेरी सपत्नियाँ भी बारी-बारी माता के समक्ष उनके निर्णय पर पुनर्विचार के लिये प्रार्थना कर चुकी थीं। आज वे भी आँसू बहा रही हैं। परीक्षित को उनके समक्ष खड़ा करके उन्हें मोह माया में पुनः बाँधने का प्रयास भी किया, किन्तु व्यर्थ सबसे विदा लेकर वे निकल रही हैं। सबसे आगे माता कुंती हैं, उनके पीछे-पीछे आँखों में पट्टी बाँधे, उनके कंधे पर हाथ रखे माता गांधारी और

माता गांधारी के कंधे का सहारा लिये महाराज धृतराष्ट्र चल रहे हैं।

सारा राजभवन उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। स्त्रियाँ राजभवन के मुख्य द्वार पर आकर रुक गयीं, पर पुरुष नगर सीमा तक गये। महाराज युधिष्ठिर ने कुछ अनुचरों को पीछे लगा दिया था, किन्तु वन में प्रवेश करने से पूर्व माता ने उन्हें भी लौटा दिया था।

कुछ दिनों पश्चात नारद मुनि से सूचना मिली कि महाराज व दोनों माताएँ वन की अग्नि में भस्म हो गयीं। नारद मुनि ने यह भी बताया कि उन्होंने गंगा के तट पर महर्षि व्यास से अपने पुत्रों को देखने की इच्छा प्रकट की थी। व्यास जी ने महाराज को दिव्य दृष्टि देकर गंगा के जल में उनके सभी पुत्रों को प्रकट करके उनकी इच्छा पूरी की थी।

हम सब दुःखी हो गये। महाराज ने भीमसेन के द्वारा उनकी अस्थियों को गंगाजी में प्रवाहित करवाया और सबका श्राद्ध करवाया। मेरी आँखों के समक्ष हरितनापुर का दूसरा युग समाप्त हो गया था।

19. द्वारका

आज प्रातःकाल से हस्तिनापुर में विचित्र शांति व्याप्त थी। मैं दासियों के माध्यम से इतना ही जान पायी कि रात्रि तृतीय प्रहर में दारुक द्वारका से हस्तिनापुर पहुँचे थे। मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि दारुक, सखा के गरुणध्वज रथ के सारथी हैं और यहाँ अकेले ही आये हैं... तो सखा कहाँ हैं? क्योंकि सखा के रथ को केवल दारुक हाँकते थे या स्वयं सखा। सखा को द्वारिका छोड़कर दारुक के हस्तिनापुर आने का प्रयोजन मैं नहीं समझ पाई।

सभी पाण्डव, महाराज युधिष्ठिर के पास बाहरी कक्ष में ही बैठे हैं। कुछ समय पश्चात ज्ञात हुआ कि पार्थ अपने भवन में गये। मैं अपने भवन से निकलकर पार्थ के भवन की ओर जाने लगी, इतने में सुभद्रा की एक दासी भागती हुई मेरे पास आयी और इतना ही बोल पायी कि, द्वारकाधीश श्रीकृष्ण गोलोकवासी हो गये।

इतना सुनते ही मैं सुन्न हो गयी... विश्वास ही नहीं हुआ। लगा कि दासी को भ्रम हुआ है; द्वारकाधीश महाराज वसुदेव गोलोकवासी हो गये होंगे, जिन्हें वह भ्रमवश श्रीकृष्ण समझ रही है। मैं तेजी से चलती हुई पार्थ के भवन में पहुँची। सुभद्रा विक्षिप्त होकर रो रही थी और पार्थ उसे ढाँढ़स दे रहे थे। मैं सुन्न सी पार्थ के समक्ष खड़ी रही और साहस करके पार्थ से पूछा “क्या पिताश्री...? पार्थ ने न के संकेत में ब्रीचा हिलाकर उत्तर दिया। मैं कुछ पल अविश्वास की स्थिति में खड़ी रही... लग रहा था कि मैंने संकेत को भ्रमवश हाँ के स्थान पर न समझ लिया है और अभी पार्थ मेरी शंका का समाधान करेंगे। कुछ क्षण पश्चात स्वतः ही मेरे भ्रम का निवारण हो गया। सुभद्रा, सखा को याद करके रोने लगी! मैं वहाँ खड़ी नहीं हो पायी और उलटे पैरों से अपने कक्ष में आकर पलंग पर औंधे मुँह गिरकर रोने लगी।

मैं विक्षिप्त की भाँति न जाने कितनी देर तक रोती रही। सबको केवल सुभद्रा के ही दुःख का आभास था और सबने सुभद्रा के आगे दुःख प्रकट करके उसे धैर्य धारण करने के लिये कहकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। किसी को भी मेरे दुःख का आभास नहीं था... हाँ, पार्थ को भी नहीं। वे तो आज सुभद्रा के पास हैं, उसे धैर्य दे रहे हैं, अपनी सहानुभूति से उसकी पीड़ा को कम करने का प्रयास कर रहे हैं... किन्तु कोई भी मेरे पास मुझे धैर्य देने के लिये नहीं आया। युद्ध के बाद मैं धीरे-धीरे अपने को पतियों से दूर करती गयी। कुछ ही वर्षों में मेरा उनका संबंध इतना ही बचा था कि आवश्यक होने पर मैं दासियों से सूचना देकर उन्हें बुलवाती, वे कुछ समय निकालकर मेरे पास आते, मेरी बात सुनते और चले जाते थे।

आज मेरा मन कर रहा था कि इस दुःख के समय में पार्थ न सही, किन्तु भीमसेन मेरे पास होते तो मैं उनके समक्ष जी खोलकर रो पाती, किन्तु वे आवश्यक कार्य से दो दिनों के लिये नगर से बाहर हैं। मैं अकेली ही न जाने कितनी देर तक रोती रही... स्वयं ही अपने को धैर्य धारण करवाया, उठकर हाथ-मुँह धोया और दारुक को अपने पास बुलाया।

दारुक से जो कुछ सुना वह हृदय विदारक था। कृष्ण की पत्नी जाम्बवन्ती का पुत्र साम्ब, उहण्ड के साथ साथ मूर्ख भी था। उसकी मूर्खता की सूची में दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा के हरण करने का प्रयास भी था, जिसमें वह दुर्योधन के सैनिकों के द्वारा बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया गया था। सखा ने उसकी मूर्खता और दुष्टता से पीड़ित होकर उसे छुड़ाने का कोई प्रयास

नहीं किया, किन्तु बलराम ने बीच-बचाव करके दोनों का विवाह कराया था। विवाह के बाद भी उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया, वह अपने उदण्ड मित्रों के साथ पूरे नगर में अशांति फैलाता रहता था।

द्वारका में एक ऋषि का आगमन हुआ और साम्ब एवं उसके मित्रों ने मिलकर एक स्वाँग रचा। साम्ब, एक मूसल को वस्त्र में लपेटकर पेट में बाँध कर एक गर्भवती स्त्री के रूप में अपने मित्रों के साथ ऋषि के पास गया। एक मित्र ने उसे इंगित करके ऋषि से पूछा, “महाराज, इस स्त्री के गर्भ से पुत्र पैदा होगा या पुत्री?” ऋषि इस प्रकार के अमर्यादित आचरण से क्रुद्ध होकर बोले, “इसके पेट से मूसल पैदा होगा और उसी से इसके कुल का सर्वनाश होगा।” इतना सुनते ही स्त्री बने साम्ब के पेट पर बँधा मूसल गिर गया और साम्ब व उसके मित्र उदण्डता से हँसते हुए वहाँ से चले गये। ऋषि के शाप का भय भी था, अतः उन्होंने उस मूसल को काटकर जला डाला और राख को द्वारका से दूर प्रभास क्षेत्र में फेंक दिया।

महाराज के कठोर मद्य निषेध की आज्ञा के बाद भी राज्य में मद्य पान बढ़ रहा था। साम्ब के संरक्षण के कारण लोगों में निषेधाज्ञा का भय समाप्त हो गया था और नगर में धीरे-धीरे उत्पात बढ़ने लगा। दुःस्त्री महाराज श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रभास क्षेत्र में स्थित तीर्थयात्रा पर जाने का आदेश दिया। श्रीकृष्ण व बलराम के सभी पुत्र व प्रतिष्ठित यादव इस यात्रा में सम्मिलित हुए। महाराज श्रीकृष्ण एवं उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम भी इस यात्रा में सम्मिलित थे। वहाँ साम्ब आदि यादवों ने मद्यपान किया। धीरे-धीरे मद्य का प्रभाव गहराने लगा। मद्य के प्रभाव में सात्यिकी ने कृतवर्मा का अपमान करना आरम्भ कर दिया कि, “क्षत्रिय होकर किसने सोते हुए लोगों को मारा है?” मैं जानती थी कि यादवों की नारायणी सेना कौरवों के पक्ष से लड़ी थी, उसके सेनापति कृतवर्मा थे और वे मेरे पुत्रों और पांचाल वीरों की हत्या में अश्वत्थामा के साथ थे... उन्होंने प्राण बचाकर भागते पांचाल वीरों का भी शिविर के द्वार पर वध कर दिया था।

दारुक कह रहे थे... इतना सुनते ही जामवंती के पुत्र साम्ब ने सात्यिकी पर प्रहार कर दिया। सात्यिकी के ऊपर हुए प्रहार से क्षुब्ध प्रद्युम्न ने साम्ब का ही वध कर दिया। फिर क्या था, देखते ही देखते दो दल बन गये और वे आपस में एक दूसरे को अपशब्द कहने लगे। महाराज श्रीकृष्ण ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, किन्तु किसी ने उनकी बात नहीं सुनी। महाराज दुःस्त्री होकर रथ पर बैठकर वहाँ से चल पड़े। कुछ दूर जाकर उन्होंने रथ को रोकने का आदेश दिया और एक वृक्ष के नीचे लेट गये। उन्होंने एक पैर को मोड़कर उसके ऊपर दूसरा पैर रख कर अपनी आँखें बंद कर लीं... दारुक फफक-फफककर रोने लगे। मैं साँस रोके दारुक के मुख से द्वारका के विनाश की गाथा सुन रही थी...

मैं भी रथ और अश्वों के पास जाकर लेट गया। इतने में एक व्याध का विषभरा बाण आकर महाराज के तलवे में घुस गया। महाराज ने मुझे पुकारा; मैं वहाँ पहुँचा तो देखा कि तलवे में तीर घुसा है और रक्त बह रहा है। मैंने तीर को निकालकर उस घाव पर महाराज के पीताम्बर को फाड़कर पट्टी बाँध दी। महाराज ने कहा कि मेरा अंत आ गया है, मैं इस शरीर को छोड़ रहा हूँ, तुम हस्तिनापुर जाकर अर्जुन से कहो कि, वे द्वारिका वासियों को अपने राज्य में बसा लें, क्योंकि मेरे शरीर के पंचभूत में तीन होते ही समुद्र द्वारिका को निगल लेगा; जब तक हस्तिनापुर से अर्जुन आकर द्वारिका को खाली न करा लें, मेरा अंतिम संस्कार न हो।

मैंने तत्काल लोगों के सहयोग से महाराज श्रीकृष्ण के पार्थिव शरीर को रथ पर रखकर

द्वारिका भेजा और वहीं से हस्तिनापुर के लिये चल पड़ा। मैंने मार्ग में देखा कि सभी यादव कुल, वहाँ पर उत्पन्न मोटी-मोटी घास को उखाड़ कर एक दूसरे पर प्रहार करके नष्ट हो चुके थे। उस घास की जड़ मोटी, कठोर मूसल जैसी थी। तीर्थ यात्रा पर जाने के कारण यादव अपने अस्त्र-शस्त्र साथ लेकर नहीं गये थे, किन्तु वे मदिरा के प्रभाव में उस घास की मूसल जैसी जड़ को ही अस्त्र-शस्त्र की भाँति प्रयोग करके एक दूसरे की हत्या करने लगे। समस्त यदुकुल समाप्त हो गया।

द्वारिका में केवल वृद्ध महाराज वसुदेव व श्रीकृष्ण के पौत्र वज्र ही शेष हैं। यादवों के विनाश की सूचना पाकर महाराज बलराम ने वहीं प्रभास क्षेत्र में योग समाधि लगाकर अपने प्राणों को त्याग दिया। उनके मुँह से एक अलौकिक ज्योति निकलकर समुद्र में समा गयी।” दारुक चुप हो गये।

* * *

पार्थ ने प्रातःकाल ही द्वारिका जाने का निर्णय लिया। तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। मैं सोचने लगी, हस्तिनापुर में तो युद्ध के कारण विनाश हुआ, किन्तु द्वारिका अपने ही दुष्कर्मों से आज समाप्त हो गया। मैं जानती थी कि सखा ने समुद्र से अपने जीवन की अवधि तक के लिये भूमि माँगी थी और द्वारिका को बसाया था और उनके शरीर के अंतिम संस्कार के साथ ही द्वारिका को समुद्र वापस अपने में विलीन कर लेगा। माता गांधारी का शाप पूर्ण हो गया।

पिछले कुछ दिनों से हस्तिनापुर में अपशकुन हो रहे थे। रात्रि में राजभवन के परिसर के पालतू स्वान रोने लगते। सेवक उन्हें पुचकार या भगाकर शांत करने का प्रयास करते। इन अशुभ शकुनों को देखकर भी मेरे मन में यह आशंका नहीं उठी कि इस प्रकार से मेरे प्रिय का मुझसे विछोह होगा, क्योंकि जो कुछ मेरे जीवन में अशुभ होना था वह तो हो ही चुका था।

मैं पागल हो गयी हूँ... सचमुच की पागल हो गयी हूँ। पूरी तरह से चाहना... ऐसे टूटकर चाहना कि कोई इच्छा ही न बचे, बिना पागल हुए तो नहीं हो सकता है। बदले में मिला भी तो पागलपन।

आज मुझे साफ-साफ आभास हो रहा है कि वे मेरे जीवन में एक सखा से कहीं अधिक थे। वे मेरे प्रिय थे और मैं प्रेम करती थी उनसे। वे सदैव से ही मुझे एक पूर्ण पुरुष लगते थे। प्रथम दर्शन से ही मैं उनमें अनुरक्त हो गयी थी। उनका मायावी नाम कृष्ण, कृष्णा को छल गया और आगे के जीवन में भी मैं सदैव उनसे जुड़ी रही।

चीर-हरण के पश्चात पतियों की अकर्मण्यता और उनसे मिलने वाला असंतोष मेरे मन में कृष्ण के प्रति आकर्षण को बढ़ाता गया। मुझे सखा से जो प्रेम, विश्वास, सहानुभूति... सबसे अधिक मानसिक स्तर पर अपनापन मिला, उससे मैं संतुष्ट होती रही। मन लालची हो गया; जो मिला वह अच्छा लगता गया और अधिक पाने की लालसा पैदा होती गयी। थोड़ा और मिला तो लालची मन पीछे दौड़ा पड़ा आज लग रहा है कि मन कितना आगे बढ़ गया है। मुझे अपने पतियों से जो भी मिलता था, वह आधे का भी अधूरा होता था। किसी ने मुझे कभी समझने का प्रयास ही नहीं किया, पता नहीं क्यों? उनकी इच्छा नहीं होती थी या वे ही मुझसे जुड़ नहीं पाये... सत्य जो भी रहा हो, पर छली तो मैं ही गयी।

आज लग रहा है कि मैं अपने पतियों के साथ जीवन-निर्वाह भी सखा की ही इच्छा से कर रही थी। सखा के प्रति मेरा मानसिक लगाव ही मुझसे पाँच पाँच पुरुषों की पत्नी बनाकर उनकी सेवा करवा रहा था, अन्यथा मैं ऐसा घृणित जीवन कदापि नहीं जीती, जो कि मृत्यु के बाद भी मुझे युगों तक अपमानित करता रहे।

सखा थे तो मेरे पास एक संबल था। तन को तो पाण्डवों को समर्पित कर दिया था, किन्तु मेरा

मन मेरे पास था, उसे मैंने बहुत पहले से ही सखा आपके लिये अपने पास सुरक्षित रख लिया था। मातामही की इच्छा मेरे हृदय में आपके प्रति प्रेम का संचार करने लगी। मेरा प्रेम श्रद्धा और उपासना की एक एक सीढ़ी चढ़ता उस सीमा तक पहुँच गया, जहाँ तन की चाह नहीं थी, तन को पीछे छोड़कर मन आप में डूब गया। जितना मिला उसमें संतुष्ट था, आवश्यक नहीं कि इच्छाओं की हर सीढ़ी चढ़ी जाये।

आज सखा नहीं हैं तो भी मन सखा को जीता-जागता मानकर कल्पनाओं में उन्हें जीना चाहता है। कितनी पुरानी स्मृतियाँ उभर आयी हैं, जिन्हें मैं सदैव से हृदय में सँजोकर रखती रही कि जब कभी उचित अवसर आयेगा, तब सखा से कहूँगी। अवसर आता था, मन उठता भी था, किन्तु उसे मैं संकोच के कारण कह नहीं पाती थी, वैसे का वैसे ही हृदय में समेटे रहती थी, पता नहीं किस दिन के लिये?

आज सखा नहीं हैं तो सारा अतीत आँखों के सामने घूम रहा है। जब उन्हें देखा नहीं था, तो भी केवल सुन-सुनकर उनके न जाने कितने चित्र उकेर डाले थे और उनको लक्ष्य करके न जाने कितने गीत और कविताएँ लिख डाली थी और उन्हें आज तक अपने पास सँजोकर रखी हुई हूँ।

विवाह के बाद भी जब भी मन में कुछ घुमड़ता था, जिसे मैं सखा के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं बाँट सकती थी, तो उन्हें ही लक्ष्य करके इन पुस्तिकाओं में लिखती रहती थी और सखा ने जब अपनी प्रिय मुरली मुझे भेंट में दी थी, उस समय मेरे मन में अपनी इस संचित पूँजी को उन्हें देने की इच्छा उठी थी, क्योंकि उसमें सब कुछ उनका ही था... फिर भी न जाने क्यों उन्हें नहीं दे पायी।

चाहती तो यह भी थी कि मेरी मृत्यु पहले हो। प्रकृति का सामान्य नियम मृत्यु पर तो लागू नहीं होता; इसी कारण यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि मेरी मृत्यु पहले हो, क्योंकि मेरी मृत्यु मुझे सभी समस्याओं और वेदनाओं से मुक्ति दिला देगी। मैं चाहती थी कि अपनी मृत्यु निकट जानकर आपको संदेश देकर बुलाती। आप मेरे सम्मुख बैठे रहते और मैं आपको देखते हुए प्राण त्यागती। आपके इस दर्शन से मैं पूर्ण हो जाती... किन्तु पूर्ण होने से पूर्व अपनी प्रिय पुस्तिकाओं को जिसे मैंने आपसे प्रारम्भ किया था, जिसमें हर क्षण आपको जिया था, आपको सौंप देती; वैसे ही जैसे आपने अपनी प्रिय मुरली मुझे सौंपी थी। प्रेम में प्रेम की भाँति उपहार का प्रतिदान भी तो होता है। किन्तु मेरी यह इच्छा भी क्यों पूरी होती?

आज पुनः लिखने का मन कर रहा है, जबकि अब आप इसे पढ़ने के लिये हैं ही नहीं; जहाँ चले गये हैं, वहाँ कोई दूत पत्र लेकर नहीं जा सकता... तो भी लिखना चाह रही हूँ, आज अंतिम बार आपके लिये। भले ही भौतिक रूप से आप इस संसार में नहीं हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप से आप सदैव मेरे निकट हैं। आपके इसी सूक्ष्म रूप के लिये मुझे अब लिखना आवश्यक लग रहा है, क्योंकि अब कुछ भी अनकहा अपने पास रखने का साहस नहीं है। जिसके हिस्से का जो भी मेरे पास बचा है उसे उसको सौंप देना चाहती हूँ, नहीं तो यह भी जीवन भर एक बोझ रहेगा... न कहने की पीड़ा कसकती रहेगी। यदि बात को उसी समय न कहा जाय तो उसकी संवेदना उसका अर्थ समाप्त हो जाता है, अनुभूति कुंठित हो जाता है और तब मन उसे इतिहास की भाँति सोचता और कहता है।

क्या लिखूँ? कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है; सब कुछ ज्वालामुखी की भाँति फटकर बाहर निकल रहा है और दहक रहा है। मन एक ही राह पर पीड़ा, पीड़ा और केवल पीड़ा भोग रहा है। अब तो एक शून्य में खड़ी हो गयी हूँ, जहाँ से निकलना कभी होगा ही नहीं। अपने प्रेम के

पागलपन को विक्षिप्त होकर जी रही हूँ। इतनी पीड़ा कदाचित मानव, मृत्यु के समय सहता होगा... केवल मृत्यु तक; किन्तु मैं इस वेदना को अब जीवन की भाँति जी रही हूँ और अपनी मृत्यु तक इसे ऐसे ही जीती रहूँगी।

वर्षों पूर्व एक निर्णय लिया था कि अब नहीं लिखूँगी। इस निर्णय से पूर्व मुझे जब भी सखा की आवश्यकता होती थी, मैं कल्पना में उन्हें अपने पास बुलाती थी... उनको सामने बिठाकर उनसे कहते-सुनते उन्हीं के लिये लिखती थी... किन्तु जब सब कुछ समाप्त हो गया, जीवन ही पीड़ा की मूर्ति बन गया तो लिखना भी समाप्त हो गया।

आज पुनः लेखनी हाथ में लिये व्यथित हृदय, शून्य मस्तिष्क और किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में स्वयं को अतीत और वर्तमान में ढूँढ़ रही हूँ। पूर्व में इस प्रयास ने मुझे बहुत कुछ दिया था... खड़े होने की शक्ति, एक आघात से उबरने की इच्छा और सबसे अधिक एकदम अकेले पड़ जाने की त्रासदी को कुछ पल के लिये ही सही, परे ढकेल देने का साहस भी; किन्तु सखा! इस प्रयास में आप सदैव मेरे साथ रहते थे। अब कहाँ से लाऊँ इस पीड़ा को परे ढकेलने की शक्ति और पुनः चल पड़ने का साहस? मैं इस पीड़ा को अब परे नहीं ढकेलना चाहती हूँ, इस पीड़ा को तिल-तिल कर जीना चाहती हूँ, आपके न होने की पीड़ा में आपको साकार करके जीना चाहती हूँ। मैं आपको पहले की ही भाँति अनुभव करना चाहती हूँ... घर में आँगन में, आपके बैठने की जगह में, आपकी शर्या में; इस सूने कक्ष में भी आपको देखना चाहती हूँ। हाथ में लेखनी लिये हुए धड़कते हृदय काँपते होठों से आपको धीरे से पुकार रही हूँ ... 'सखा!' होठों से निकलकर यह संबोधन पूरे कक्ष में फैल गया है और मैं बीच-बीच में सहज अभ्यस्त ढंग से दुहराती रहती हूँ, इससे मुझे आपके साथ रहने जैसी अनुभूति होती है।

सखा! मेरे जीवन में आपकी अनगिनत छाप हैं; कुछ हल्के और कुछ बहुत गहरे। कुछ तो ऐसी, जिन्हें मैं चाहती हूँ कि मेरे जीवन से पिछली सारी छापें मिट जायें और उन पर केवल यही छाप रहे। कभी-कभी उसे समेट लेना चाहती हूँ, कि पता ही न चले कि यहाँ आपकी छाप है। मैं दोनों स्थितियों को अधिकतर साथ-साथ जीती हूँ... मन की भीतरी तह में आपकी शाश्वत छाप और शरीर, जो सबका लक्ष्य है... उस पर पता ही न चले कि इसके अंतःकरण में किसी की शाश्वत छाप है।

हर संबंध का एक नाम होता है और नाम के साथ होता है संबंधों का बंधन; किन्तु मानसिक संबंधों में भी मन क्यों बंधन चाहता है? क्यों एक दूसरे से कुछ पाना चाहता है? कुछ नहीं, बहुत कुछ; यहाँ तक कि वह सब कुछ जो वह पा चुका होता है, उसे भी ज्यों का त्यों जीवित रखना चाहता है। मेरे साथ भी यही है... यदि मैं इसे अपने जीवन से निकालने का प्रयास करूँ, जो कि संभव नहीं है, तो मेरा जीवन वहीं ठहर जायेगा, या तो अपने स्थान से पूरा हिल जायेगा... पता नहीं क्या होगा, पर मेरा मन उस बंधन को इस जीवन में जुड़ाव के हिसाब से मृत्यु के बाद भी पाना चाहता था। शरीर से परे जो शाश्वत है, मन उससे मृत्यु के बाद भी संबंध नहीं तोड़ना चाहता था और इसी संबंध के चलते मेरी इच्छा थी कि मेरी मृत्यु के बाद आप मेरे निमित्त एक तिलांजलि दें, तभी हमारे संबंधों की पूर्णता होती।

मैं वर्षों से अपनी मृत्यु को ढूँढ़ती, जड़ स्थिति में पड़ी हूँ... कभी हाथ की रेखाओं में कभी जन्माँग में, कभी ग्रह-नक्षत्रों की गति में... किन्तु सभी मुझे भ्रमित करके जीता-जागता छोड़कर चले जाते हैं। आप मुझसे पहले स्वर्गवासी हो जायेंगे यह कल्पना मैंने स्वप्न में भी नहीं की थी,

क्योंकि आप समर्थ थे, लगता था मृत्यु आपको छू भी नहीं पायेगी, कम से कम मेरे जीवन काल में तो कदापि नहीं, किन्तु भावी प्रबल थी। जो कर्तव्य मेरे मन ने मेरे निमित्त आपको सौंपा था, वह अब मैं आपके लिये करूँगी, मैं कृष्णा, अपने प्रिय सखा कृष्ण को अंजली भर कर तिल और जल का दान दूँगी।

सखा! यह सब लिखते समय मुझे जोर से रुलाई आ रही है और मैं रोते रोते लिख रही हूँ। सखा, अब आप इस लोक में नहीं हैं... जब तक मेरा यह जीवन है, जो पता नहीं कितना लम्बा और यातना भरा है, मैं आपको कभी भी नहीं देख पाऊँगी, आपसे कुछ भी कह नहीं पाऊँगी, आपसे कुछ सुन भी नहीं पाऊँगी... आज लग रहा है कि आपके साथ जिया गया सारा समय जैसे बिना जिये ही रह गया, सब कुछ अनकहा और अनसुना ही रह गया। अब मैं क्या करूँ? आपके बिना जीकर भी नहीं जी पाऊँगी।

सखा! मैंने कल्पना में आपको हर क्षण जिया है; भावनाओं के जिस स्तर और जितनी गहराई से मैं आपसे जुड़ी थी, निश्चित रूप से आपको उसका आभास होता रहा होगा। सखा, मुझे आभास होता था, कई बार होता था और मैं तृप्त हो जाती थी। आपसे जो भी मिला, वह सम्पूर्ण लगा; उससे अधिक की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु अब तो सब कुछ समाप्त हो गया। जो कुछ मैं जी रही थी वह मेरा वर्तमान था और आज एक झटके से अतीत के गर्भ में चला गया। अब जीवन के धूप में आपकी स्मृतियों की छाया मुझे शीतल नहीं करेगा, वरन् उस शीतलता की याद, जीवन के ताप को और अधिक बढ़ा देगी। अब सत्य तो यही है कि जिस पेड़ की छाया में मैं जी रही थी, विधाता ने वह पेड़ मुझसे छीन लिया... अब तो धूप में ही चलना है, नंगे पाँव और नंगे सिर। आज तक पेड़ की छाया को पकड़कर चलती रही; वह छाया भी सदैव मेरे साथ-साथ चल रही थी... उस पेड़ की छाया में मैं सुरक्षित और निश्चित थी। अब मैं एकदम अकेली लक्ष्यहीन दिशाहीन खड़ी हूँ। मैं आज एक बहुत लम्बे सपने से जग गयी हूँ। अभी तो स्वप्न ने ही पूरी तरह से जकड़ रखा है, इससे छूटना भी नहीं चाहती हूँ, क्योंकि इससे छूटते ही एकदम बिखर जाऊँगी। स्वप्न ने ही जकड़ कर एक आकार दे रखा है... मेरी साँसें भी इस जकड़न के साथ ही भीतर ही बंदी होकर रह गयी हैं, उन्हीं साँसों से मैं जी रही हूँ। जकड़न ढीली होते ही भीतर की साँस बाहर निकल जायेगी और बाहर तो मेरे पास साँस लेने के लिये हवा भी नहीं है। अब मुझे इस सपने का मूल्य चुकाना है, पलों का मूल्य वर्षों के हिसाब से... पता नहीं कब उज्ज्वल हो पाऊँगी या नहीं, यह भी नहीं जानती।

स्मृतियाँ कभी नहीं मरतीं। मैं जब भी अपने अंतर्मन की तहों को खोलती हूँ, अपनी भावनाओं को सहलाती हूँ, तो लगता है कि मैं आज भी वही कृष्णा हूँ, जो काँपते तन और थरथराती साँसों के साथ श्रीकृष्ण के चरणों में नमन कर रही हूँ। क्षण झट से सरक जाता है, मैं श्रीकृष्ण के रनेह से सराबोर, पुलकित भ्रमित खड़ी हूँ... अब मैं इस दिव्य पुरुष की 'सखी' हूँ। एक ही क्षण में आपने इतना मान सम्मान, अपनापन और अधिकार दे दिया और मैं चकित खड़ी हूँ, जैसे किसी अकिंचन के हाथ कोई निधि लग गयी हो और उसे विश्वास नहीं हो रहा है। अब तक वह स्वप्न अनवरत चल रहा है। आधा जीवन मैंने इसी स्वप्न में जिया था और वही जीवन सही अर्थों में मैंने जिया था; शेष जीवन तो मैं एक अदृश्य युद्ध लड़ती रही। इस युद्ध का क्षेत्र मेरा अंतर्मन था, जहाँ मैं अपने ऊपर होने वाले प्रहारों को सहती थी। वह युद्ध कभी समाप्त ही नहीं हुआ, अनवरत चलता रहा। इस युद्ध के सारे प्रहार कृष्ण की सखी कृष्णा को आहत करते रहे। आज कृष्णा का सारा शरीर भग्न है, अनवरत रक्तस्राव हो रहा है; भीतर की कृष्णा के शरीर का रक्तस्राव बाहर की

कृष्णा की आँखों से हो रहा है। मैं जीवन भर अपनी पीड़ा आप को सौंपती रही, कभी आपके समक्ष कहकर, कभी एकांत में आपके लिये इन पृष्ठों पर लेखनी के माध्यम से सहेजकर रखती रही। आज भी आपके वियोग की पीड़ा को आपको ही अर्पित करती हूँ। भविष्य में अब कुछ भी नहीं लिखा जायेगा। किसके लिये लिखूँगी? अब तो बस भोगूँगी। पहले भी कभी-कभी यह प्रश्न उपस्थित होता था, तब मेरे पास उत्तर था... कि आपके लिये; अब मेरे पास अपनी लेखनी के प्रश्न का कोई उत्तर भी नहीं है। अपनी मृत्यु से पूर्व इन्हें जल में प्रवाहित कर दूँगी। इच्छा तो है कि मेरे शरीर के साथ ही ये भी अग्नि को समर्पित हो जायें, किन्तु यह संभव नहीं है। आज तक जो कुछ भी लिखा है, अपना है; कोई कुंठा नहीं, कोई पछतावा नहीं। अपने अंतर्मन की परतों को खोलकर सहलाया है... कुछ को सुख मिला तो बहुत कुछ पीड़ा से सिहर उठा है। मन थोड़ा स्थिर हो गया है। सखा, तुम्हें अपनी सखी कृष्णा का अंतिम प्रणाम।

* * *

दो महीने से अधिक समय व्यतीत हो गया, किन्तु पार्थ की कोई सूचना नहीं मिली। महाराज युधिष्ठिर ने द्वारिका से हस्तिनापुर आने वाले यदुवंशियों और नागरिकों के लिये स्थान-स्थान पर विश्राम और भोजन की व्यवस्था करवायी थी, साथ ही प्रत्येक शिविर से सूचना लाने के लिये तीव्र धावक अश्वों व दूतों की भी व्यवस्था की गयी थी, ताकि पार्थ की यात्रा की सूचना मिलती रहे। कुछ दिन तक तो सूचना मिलती रही, किन्तु मरु प्रदेश में उनके प्रवेश के पश्चात सूचना का सूत्र टूट गया। महाराज युधिष्ठिर चिंतित होने लगे। मैं रोज राजभवन के ऊपरी मंजिल पर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर देखती रहती थी... रोज ही भ्रम होता और टूटता रहता था। सैकड़ों लोगों का समूह मुझे कहीं भी नहीं दिखाई देता और मैं नीचे उतर आती थी।

पार्थ द्वारिका से लौट आये और बाहरी खण्ड में महाराज युधिष्ठिर के पास बैठे हैं, यह सूचना कुछ ही क्षणों में अंतःपुर में फैल गयी। मैं आश्चर्य चकित थी कि पार्थ ने कोई पूर्व सूचना क्यों नहीं दी, जबकि मार्ग में स्थान-स्थान पर सूचना भेजने की व्यवस्था की गयी थी... साथ ही इतनी बड़ी संख्या में लोगों पशुओं और वाहनों का आगमन इतना शांतिपूर्ण और गुप्त कैसे रह गया था? राजभवन के बाहर के प्रांगण में भी कोई कोलाहल नहीं था।

मैं तत्काल महाराज के कक्ष में गयी। एक क्षण के लिये तो मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि महाराज के बगल में पार्थ बैठे हैं; ध्यान से देखकर ही विश्वास कर पायी। पार्थ को देखकर सब के मुख पर भय मिश्रित आश्चर्य था। पार्थ की सीधी खड़ी रहने वाली काया झुक गयी थी, बलिष्ठ शरीर कंकाल मात्र रह गया था, केश एकदम श्वेत हो गये थे, शरीर का रंग एवं कांति जैसे झुलस गयी हो और मुख-मण्डल पर कांति के स्थान पर पराजित कलंकित स्वयं को धिक्कारता हुआ पार्थ का मुख मण्डल मेरे समक्ष बैठा था। यद्यपि सखा के वियोग से हम सब आहत थे, किन्तु पार्थ की दशा देखकर मैं कुछ समय के लिये सुन्न हो गयी। धीरे-धीरे सब कुछ स्पष्ट होने लगा। पार्थ, महाराज युधिष्ठिर से द्वारिका की दशा का वर्णन कर रहे थे। सखा के शरीर में किसी प्रकार का विकार नहीं आया था... देखकर लगता था कि वे विश्राम कर रहे हैं, उनके शरीर से एक दिव्य सुगंध निकल रही थी। पार्थ ने समस्त यादवों का श्राद्ध किया। द्वारिका के नागरिकों को उनकी धन-सम्पत्ति के साथ द्वारका से बाहर निकालना आरम्भ किया गया, किन्तु श्रीकृष्ण के वृद्ध पिता-महाराज वसुदेव ने द्वारिका को छोड़ने से मना कर दिया।

द्वारिका खाली हो गयी, गिने-चुने व्यक्ति ही द्वारिका में रह गये थे। चंदन की चिताओं पर पीत

और नीले रेशमी वस्त्रों में लपेटकर श्रीकृष्ण और बलराम का शरीर रखा गया और वज्र ने दोनों चिताओं को मुखाग्नि दी। सखा की पत्नियाँ, रुक्मणी, सत्यभामा, जामवंती, वृंदा आदि चिता में कूदकर अपने प्राणों को उत्सर्ग करने लगीं। बलराम की पत्नी रेवती ने भी अपने पति की चिता का आरोहण किया। वज्र ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, किन्तु पार्थ मौन रहे। पार्थ को मौन देखकर वज्र ने भी उन्हें रोकने का प्रयास बंद कर दिया।

मेरे हृदय में एक हूक सी उठी। सारे जीवन मैं सखा से प्रेम करती रही... इतना प्रेम कि मैं स्वयं नहीं जानती थी। हाँ, सखा जानते थे, तभी तो उन्होंने मुझसे यह बात कही थी... किन्तु अधिकार? अधिकार कहाँ था मेरे पास कि मैं भी उनकी चिता में उनके साथ भस्म हो पाती। यह अधिकार सखी को नहीं मिला था, मिला था तो सोलह हजार आठ पत्नियों को। यहीं पर अंतर था, विशाल अंतर, जिसे प्रेम के आधार पर पाटा नहीं जा सकता था। सखा के वियोग की वेदना कितनी असह्य है, यह अर्थ नहीं रखता। जीवन अब कितना निरुसार हो गया है, यह भी मैं इस क्षण नहीं सोच रही हूँ; मेरे समक्ष तो इस क्षण का सत्य यह है कि मैं सखा की धधकती चिता में नहीं कूद सकती थी। एक क्षण के लिये कल्पना करती हूँ कि यदि ऐसा कर पाती तो क्या जो निंदित जीवन पाँच पाण्डवों की पत्नी सती द्रौपदी जी रही है, उससे अधिक निंदित होता?

सखा का शरीर पंचतत्व में विलीन होने लगा और शेष बचे द्वारिका नगरवासी भी नगर छोड़कर बाहर निकलने लगे और सबसे अंत में निकले पार्थ। सागर उद्वेलित हो रहा था। उनके मुड़कर चलते ही एक विशाल लहर सागर तट पर आकर सखा की भस्मीभूत हो रही चिता को बहा ले गयी। पार्थ ने शीघ्रता से लोगों को आगे बढ़ने का आदेश दिया। सागर की लहरें मानों पार्थ का पीछा करके उन्हें शीघ्रता से द्वारिका से खदेड़ देना चाह रही थीं। आगे बढ़ते पार्थ की पीठ पर हरहराते हुए आगे बढ़ते सागर के पानी की छींटे पड़ रही थीं।

नगर पीछे छूट गया। पार्थ, शेष बचे हुए लोगों के साथ वहाँ पहुँचे, जहाँ पहले से ही द्वारिका वासियों ने डेरा डाला था। पार्थ ने मुड़ कर देखा एक विशाल लहर ने नगर के मुख्य द्वार के ऊपरी हिस्से को ढक लिया और लौटती बार वह द्वार के ऊपरी भाग को अपने साथ बहा ले गयी। आधा नगर पानी में डूब चुका था। पार्थ और यादवों ने महाराज वसुदेव बलराम और श्रीकृष्ण को अंतिम प्रणाम किया।

पार्थ कह रहे थे, “एक प्रहर चलने के पश्चात हम लोग अपेक्षाकृत ऊँचे स्थान पर पहुँचे। वहाँ से पलटकर हमने द्वारिका को देखना चाहा, किन्तु पूरी द्वारिका सागर में विलीन हो चुकी थी। दूर-दूर तक केवल समुद्र ही उमड़ रहा था। सब कुछ देखकर मैं हताश और दुःखी हो गया। मेरे भीतर एक ऐसी थकान भर गयी थी जो कि मेरे लिये अनजानी थी। मैंने कभी भी स्वयं को इतना थका हुआ महसूस नहीं किया था... लग रहा था मेरे मन के साथ-साथ मेरा शरीर भी खोखला हो गया है। मैं थका-हारा चल रहा था, मेरी आत्मा मानों मेरे शव को ढो रही थी... केवल मेरे शव को नहीं, वरन् पूरी द्वारिका का बोझ मेरी आत्मा पर था और मैं चल रहा था; मेरे पीछे चल रही थी शेष द्वारिका प्राणहीन, लक्ष्यहीन दिशाहीन, जिसका गौरवशाली अतीत समुद्र के गर्भ में समा गया था... वर्तमान शून्य था और भविष्य अंधकार में छुपा हुआ था।

महाराज के साथ-साथ सभी अपनी साँस रोके द्वारिका की गाथा सुन रहे थे। सुभद्रा बीच-बीच में रोने लगती। सखा की मृत्यु ने हम सबको झकझोरकर रख दिया था, किन्तु पार्थ की दशा देखकर हम सभी एक अज्ञात भय से ग्रस्त हो गये।

पार्थ चुप हो गये, किसी में भी आगे का समाचार पूछने का साहस नहीं था... सभी मौन बैठे पार्थ के बोलने की प्रतीक्षा करने लगे। सेवक ने जल से भरा पात्र पुनः पार्थ के आगे रखा, पार्थ ने दो घूँट जल पीकर पात्र को किनारे रख दिया। पार्थ कुछ क्षण मौन बैठे रहे, मानों आगे बोलने के लिये साहस और शक्ति एकत्र कर रहे हों।

“अभी अनर्थ होना शेष था... मरु प्रदेश में एक रात्रि जब सभी लोग भोजन करके विश्राम कर रहे थे, अचानक भीलों के एक विशाल समूह ने हमारे ऊपर आक्रमण कर दिया। मैंने प्रतिकार करने के लिये अपना गांडीव उठाया ...” आगे के शब्द पार्थ के कंठ में ही घुट गये, उनका गला भर्रा उठा आँखों से अश्रु बहने लगे। पार्थ की दशा देखकर हम सब हतप्रभ हो गये। पार्थ, जिन्हें हम सब ने अभिमन्यु और पुत्रों की मृत्यु के समय भी इतना कातर नहीं देखा था, आज शोक से विह्वल होकर रो रहे थे। भीम ने उन्हें अपने अंक में भर कर सांत्वना दी। कुछ समय पश्चात् पार्थ ने आगे कहना शुरू किया... “किन्तु मैं उसकी प्रत्यंचा तक नहीं चढ़ा पाया। मैं असहाय खड़ा रहा; मेरी आँखों के सामने भीलों ने द्वारिका की सारी संपदा और युवतियों को लूट लिया। हताश और थके यादव उन बर्बर भील समूहों के आगे टिक न सके और अधिकांश मारे गये। छोटे-छोटे शिशुओं को छाती से चिपकाये युवतियाँ चीख रही थीं। उनकी आँखों के समक्ष उनके परिजनों की हत्या हो रही थी, उन्हें बताते अपने अधिकार में लिया जा रहा था और मैं विवश चीख रहा था, “भागो भागो, अपने प्राण बचाओ।” घड़ी भर में ही वे सब कुछ लूटकर हमारी ही गाड़ियों में सब सम्पत्ति और युवा स्त्रियों को लादकर लौट गये।

स्त्रियों और बालकों का करुण-क्रंदन मेरे कानों में गूँजता रहा और मैं कुछ भी नहीं कर सका। मेरा गांडीव निरर्थक रहा... मैं अपने युग का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन उन असहाय स्त्रियों की रक्षा न कर सका। उस अपमानजनक पराजय के बाद मेरी जीने की इच्छा समाप्त हो गयी थी... जी में आ रहा था कि अपनी जीवन लीला समाप्त कर लूँ, कौन सा मुँह लेकर हस्तिनापुर जाऊँ ... पार्थ की पीड़ा बाणी और आँखों से बह रही थी।

एक बार पुनः महाराज युधिष्ठिर और भीम ने उन्हें ढाँढ़स बँधाया और अपनी वेदना से निकलकर शेष द्वारिका वासियों को हस्तिनापुर ले आने के लिये उनकी सलाहना की। पार्थ पुनः कहने लगे ... मैं कैसे आत्माहुति देता, इनका क्या होता? वृद्ध, महिलाएँ, घायल यदुवंशी और अबोध शिशु, जो सखा के अपने थे, मैंने उन्हें किसी तरह सँभाला और आगे बढ़ा। मार्ग में मुझे भोजन विश्राम के लिये शिविर मिलते रहे, किन्तु संदेश वाहकों को मैं हस्तिनापुर संदेश ले जाने के लिये रोकता रहा। क्या संदेश देता कि अर्जुन पराजित, आहत, सब कुछ लुटाकर हस्तिनापुर लौट रहे हैं?” पार्थ पुनः रुआँसे हो गये।

मैं पार्थ की पीड़ा को समझ रही थी। मैंने भी पल-पल अपमान की पीड़ा को भोगा था, जो कि मृत्यु से भी अधिक पीड़ादायक होती है। मृत्यु तो प्रकृति का नियम है, उस समय मानव अपने भाग्य में लिखी पीड़ा भोगकर मुक्त हो जाता है, किन्तु अपमान...

* * *

महाराज युधिष्ठिर ने जीवन में मुझे एक प्रसन्नता तो दी। उन्होंने निर्णय लिया कि इन्द्रप्रस्थ का राज्य सखा के पौत्र वज्र को अर्पित कर दिया जाये जिससे वे द्वारिका वासियों के साथ स्वतंत्र रूप से रह सकें। सखा के पौत्र वज्र का राज्याभिषेक करके उन्हें उनके शेष परिवार एवं यादवों के साथ इन्द्रप्रस्थ में बसाने का कार्य आरम्भ हो गया। मैं संतुष्ट हो गयी। मेरा मन सखा की मृत्यु

की वेदना से मुक्त हो गया... भले ही यह मुक्ति केवल कुछ क्षणों के लिये ही थी, किन्तु वह क्षण मेरे हृदय में सुरक्षित हो गये।

हरितनापुर शासन का केन्द्र बना तो इन्द्रप्रस्थ छूट गया। युद्ध के बाद मैं एक बार इन्द्रप्रस्थ गयी थी। अपने दिव्य भवन का मोह मेरे हृदय में जीवित था। भवन की साफ-सफाई नये सिरे से की गयी थी, किन्तु उसमें प्रवेश करते ही मेरा हृदय पीड़ा से विदीर्ण होने लगा। मेरी दिव्य वाटिका भी मेरे हृदय की भाँति सूनी थी, उनमें बहने वाली कृत्रिम जल धाराएँ मेरी भावनाओं की भाँति सूख गयी थीं। भवन के कक्षों में जाने का मेरा साहस नहीं हुआ। उन कक्षों को मैंने अपने पुत्रों के लिये बनवाया था। कक्ष के खुले द्वारों को देखकर मेरा रुदन बाहर फूट पड़ा। जिन द्वारों से निकलते पैठते मैंने अपने युवा पुत्रों की कल्पना की थी वे खुले द्वार भीतर से एकदम रिक्त होने का आभास करा रहे थे। इन द्वारों में से अब किसी का आवागमन नहीं होगा। मैं बिलख-बिलखकर रोती रही। भीमसेन ने मेरी रोती-बिलखती विह्वल काया को अपनी बलिष्ठ भुजाओं में सँभाल रखा था।

उस दिन मैं टूटकर रोई थी। अच्छा था कि मेरे साथ भीमसेन थे अन्यथा मेरा स्वाभिमान किसी अन्य पति के समक्ष मुझे इस प्रकार से टूटकर रोने नहीं देता, मैं रोती रही मेरी वर्षों की जमी पीड़ा पिघलकर बहती रही। सोचकरतो गयी थी कि कुछ दिन वहाँ रहूँगी किन्तु क्षण क्षण भारी लग रहा था। भीमसेन ने घड़ी बाद ही लौटने का निर्णय ले लिया और दुबारा मैं इन्द्रप्रस्थ कभी नहीं गयी।

महाराज युधिष्ठिर ने वज्र का इन्द्रप्रस्थ के महाराज के पद पर राज्याभिषेक किया तो मुझे लगा जैसे कि जिसका था उसे सौंप दिया। वज्र को इन्द्रप्रस्थ देकर मुझे उतना ही सुख मिला जितना कि सखा से उसे पाकर मिला था।

20. महाप्रस्थान

एक पीड़ा भीतर ही भीतर सबको खाने लगी। स्पष्ट हो गया था कि पाण्डवों का जो भी अस्तित्व था, वह केवल सखा के कारण ही था... जब तक श्रीकृष्ण थे अर्जुन भी थे। श्रीकृष्ण इस पृथ्वी से चले गये उनके साथ ही अर्जुन में विद्यमान उनका अंश भी श्रीकृष्ण के साथ ब्रह्मलोक चला गया, भीलों से अपमान जनक पराजय के बाद अब अर्जुन के पास शेष क्या बचा था? जिस गांडीव की प्रत्यंचा की टंकार से कौरव सेना काँप उठती थी, जिस शरासन से एक क्षण में वे हजारों तीर छोड़ते थे, उस गांडीव पर कृष्ण की मृत्यु के पश्चात वे प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ा पाये? अब वे क्या लेकर जीते और क्या पाने के लिये जीते?

आज इतने वर्षों के बाद पार्थ मुझसे कह रहे थे कि किस प्रकार युद्ध के क्षेत्र में अपने ही लोगों, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और सभी कौरवों को देखकर मैं दुःखी हो गया और अपना गांडीव रख दिया। मैंने सारथी बने सखा से कहा कि, इन्हें मार कर राज्य भोगने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं अपने आत्मीय जनों को मार कर जीवित नहीं रह पाऊँगा और मैंने सखा के समक्ष युद्ध से विमुख होने की इच्छा प्रकट की, तो सखा ने मुझे अनेक प्रकार से समझाते हुए कहा कि, "पार्थ! जिसका शोक नहीं करना चाहिए, तू उनका व्यर्थ ही शोक कर रहा है; ये सभी लोग आज से पहले भी थे और भविष्य में भी रहेंगे, इनका मूल आत्म तत्व अविनाशी है, उस तत्व का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है... आत्मा न मरती है न मारती है और न ही जन्म लेती है। जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्याग करके नवीन वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को त्याग करके नये शरीर को धारण करती है। यदि आत्मा जन्म लेती है और मरती है, तो भी उसका शोक करना व्यर्थ है, क्योंकि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है... जिसकी मृत्यु हो चुकी है, उसका जन्म भी निश्चित है; जिस जन्म मृत्यु पर तेरा वश नहीं है उसका शोक करना भी व्यर्थ है।

क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़कर कुछ भी नहीं है। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो जीवन भर तेरी अपकीर्ति तुझे पीड़ा देती रहेगी। आज जो तेरे समक्ष युद्ध के लिये खड़े हैं, तुझे विमुख होता देखकर तेरा उपहास करेंगे; यदि इस युद्ध में तू मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीवित रहा तो यशस्वी होकर इस पृथ्वी का भोग करेगा... तू सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सबको समान मान कर युद्ध कर इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा। तेरा कर्म करने में अधिकार है फलों की प्राप्ति में नहीं, अतएव तू कर्म कर। जो दुःख से दुःखी नहीं होता, सुखों की आसक्ति नहीं रखता जो प्रीति, भय, क्रोध से परे है वह स्थितिप्रज्ञ होता है अतः तू स्थितिप्रज्ञ बनकर युद्ध कर।”

श्रीकृष्ण ने मुझे भाँति-भाँति से समझाया, तथा उन्होंने यह गुप्त रहस्य भी मेरे समक्ष प्रकट किया कि वे ही इस सम्पूर्ण जगत के कर्ता, पालक और संहारक परमब्रह्म हैं। मैंने उनके उस विराट रूप को देखने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने मुझे अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराया। मैं आश्चर्य चकित होकर उनके अनेक मुख अनेक नेत्र, अनेक अस्त्र-शस्त्रों को उठाये उनके अनेक हाथों को मैं देख रहा था। उस विराट रूप का प्रकाश ऐसा था, मानो सैकड़ों सूर्य उदित हो गये हो। मैंने उनके आदि अन्त मध्य रहित शरीर में सम्पूर्ण जगत को देखा, मैंने उनके सूर्य चन्द्र

वाले नेत्रों और प्रज्ज्वलित अग्नि के मुख वाले रूप को भी देखा, जिसमें पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण और हमारे पक्ष के प्रधान योद्धा प्रवेश करते जा रहे थे।

उन्होंने कहा कि मैं ही महाकाल हूँ और इस समय लोगों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, अतः ये लोग तेरे युद्ध न करने पर भी नहीं रहेंगे, अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग; ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मारे गये हैं, तू तो केवल निमित्त मात्र है इसलिए तू युद्ध कर। सखा के इस प्रकार से समझाने पर मैं युद्ध के लिये प्रस्तुत हुआ।

“आपने यह सब मुझसे पहले क्यों नहीं कहा?” मैं तो सखा से आजीवन झगड़ती रही, मान करती रही, क्रोध करती रही; कभी-कभी तो मैं यह भी भूल जाती थी कि वे मुझसे आयु में बड़े हैं। मैं तो उन्हें अपने समान धरातल पर सखा मानकर जीती रहती थी और आज सखा नहीं हैं तो आप इतने बड़े सत्य को उजागर कर रहे हैं क्यों?”

“पांचाली! श्रीकृष्ण ने ही मुझसे तुमसे यह सत्य छिपाने के लिये कहा था।”

“तो आज मुझसे कहने पर वचन भंग नहीं हुआ?”

“नहीं, उन्हीं का आदेश था कि जब मैं न रहूँ तभी मैं इस सत्य को तुम्हारे समक्ष उजागर करूँ।” वे नहीं चाहते थे कि तुम उन्हें ईश्वर समझो और उनके साथ ईश्वर और भक्त जैसा व्यवहार करो... वे तुम्हें अपनी सखी के रूप में और स्वयं तुम्हारा सखा ही बना रहना चाहते थे।”

मैं रोने लगी। पार्थ ने मुझे चुप कराने का प्रयास नहीं किया। थोड़ी देर बाद मैं स्वयं ही चुप हो गयी और सोचने लगी कि सखा मुझसे कितना प्रेम करते थे और इसी प्रेम के कारण वे चाहते थे कि मेरे भीतर उनके प्रति भावना में कोई अन्तर न आये, वे सदैव मेरे विर परिचित सखा ही बना रहना चाहते थे।

यदि मुझे सखा के जीते जी उनके परमब्रह्म होने का पता चलता तो मैं उनके साथ कैसा व्यवहार करती? अगले क्षण ही मुझे लगा कि निश्चित रूप से मैं परमब्रह्म की वही सहज सखी नहीं रह पाती और यह सख्य भाव मेरे लिये अतुलनीय था; ब्रह्म से भी बढ़ कर। जगत् के परमब्रह्म इस सत्य को जानते थे, अतः उन्होंने मेरे हृदय से मेरे सखा को विस्थापित नहीं किया।

* * *

कृष्ण-पौत्र वज्र का राज्याभिषेक करके द्वारिका वासियों को इन्द्रप्रस्थ में बसाया जा चुका था। पाण्डवों में मंत्रणा हुई कि छत्तीस वर्षीय परीक्षित का राज्याभिषेक करके सभी स्वर्ग के लिये प्रस्थान करेंगे। महाराज युधिष्ठिर ने विद्वानों योगियों और संन्यासियों से सुन रखा था कि जो मनुष्य सत्यवादी, पवित्र और धर्मात्मा होता है, वह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध सशरीर स्वर्ग जा सकता है।

स्वर्ग का मार्ग था हिमशिखर... जहाँ धरती समाप्त होती है और वहीं से स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। शरीर को त्यागने का इससे सम्मानजनक मार्ग दूसरा नहीं दिखाई दे रहा था। सभी भाई आजीवन बड़े भाई की इच्छा का अनुमोदन करते रहे... आज का निर्णय भी युधिष्ठिर का ही था।

“मैं भी आप लोगों के साथ स्वर्गारोहण करूँगी।” मेरी बात सुनकर सभी हतप्रभ रह गये। मैं परिहास कर रही हूँ यह कोई सोच नहीं सकता था; कुछ समय पश्चात अपना निर्णय बदल लूँगी, ऐसी कल्पना करने का साहस भी किसी में नहीं था और मुझे समझा सके ऐसा सामर्थ्य भी किसी में नहीं था। मेरे निर्णय से मेरे पति विचलित हो गये।

लोगों ने एक दूसरे के मुँह से दुबारा सुनकर मेरे निर्णय की पुष्टि की। राजभवन की महिलाओं ने मुझसे अपना निर्णय बदलने का अनुरोध भी किया; मेरे पति मेरे निर्णय से सबसे अधिक चिंतित थे, क्योंकि इस प्रकार से अभी तक किसी स्त्री ने शरीर का त्याग नहीं किया था। वे मार्ग में मेरी सुरक्षा को भी लेकर चिंतित थे, क्योंकि हिमालय बहुत दूर था, मार्ग बहुत कठिन था... यदि मैं स्वर्ग पहुँचने से पहले ही मार्ग में गिर गयी तो? यह प्रश्न महाराज युधिष्ठिर को चिंतित कर रहा था।

मेरे जीवन का अंतिम निर्णय भी महाराज युधिष्ठिर ने ही लिया। “यदि कोई मार्ग में गिर जायेगा, तो कोई भी उसे सहायता नहीं देगा और न ही उसके लिये रुकेगा, निरन्तर आगे ही बढ़ना है।”

मैं समझ गयी, यह ‘कोई’, कोई अन्य नहीं, केवल पांचाली थी। मैं स्त्री थी, उनकी दृष्टि में कमजोर थी।

हस्तिनापुर जैसे सोते-सोते जाग गया। ‘महारानी द्रौपदी सती हैं’ ... ‘महारानी अपने पतियों के साथ स्वर्ग में विराजेगी।’ मुझे महिमा मंडित करने वाली न जाने कितनी बातें दासियों के माध्यम से मुझ तक पहुँच रही थीं। मेरे पतियों की दृष्टि में मेरे लिये सहसा सम्मान दिखाई देने लगा और मेरे प्रति हुए उनके कर्तव्यों की अवहेलना का पश्चाताप भी मेरे सम्मुख जब-तब प्रकट होने लगा।

मेरा, मेरी सपत्नियों के साथ वर्षों से एक अघोषित मौन चल रहा था। अपने पुत्रों बांधवों की मृत्यु के पश्चात मैं उनसे हार गयी थी। उनके पति जीवित थे, जीवन में बहुत कुछ खोने के पश्चात भी उनके पास बहुत कुछ बच गया था। संतान काल-कवलित हो गयी तो कोसने के लिये मैं बची थी। रोने के लिये पतियों का वक्षस्थल था, धैर्य देने के लिये पति थे... उनका आलंबन पाकर जीवन पुनः चल पड़ा था। परीक्षित की छवि में अपने संतानों की छवि दिखाई देती थी। पतियों के साथ-साथ उन्होंने भी परीक्षित के मुख में अपना सुख ढूँढ़ लिया था, किन्तु आज मेरे निर्णय से लगता था कि वे पुनः मुझसे पराजित हो गयीं।

देखा-देखी उन्होंने भी साथ जाने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु परीक्षित के प्रति कर्तव्यों के कारण सबको हस्तिनापुर में ही रहने का आदेश उनके पतियों ने दिया था। कभी वह स्वयं को हारी हुई समझतीं, कभी उन्हें मुझे मिलने वाले गौरव से ईर्ष्या होती और कभी मेरे अंत की कल्पना उन्हें भयभीत करती थी।

मेरी सपत्नियाँ राज कुल में जन्मीं थी... सुख में पतियों के साथ रही और विपत्ति में पितृकुल में अपने पतियों को स्मरण करते हुए दिन गिनती रहीं; पतियों के साथ स्वर्गारोहण का साहस किसी में नहीं था। एक-एक पग जान बूझकर मृत्यु की ओर बढ़ाते जाना, अन्न-जल से रहित शक्तिहीन शरीर को हिमखण्डों को सौंपकर प्राण निकलने की प्रतीक्षा की कल्पना उन्हें भयभीत करती थी।

अब मैं मौन हूँ; सपत्नियों की पराजय और पतियों के आश्चर्य के समक्ष मैं मौन हूँ। मिथ्या भाषण मेरे चरित्र का अंग नहीं है, सत्य कह नहीं सकती हूँ, अतः अब मैं मिलने वाले गौरव महिमा और सम्मान के साथ मौन हो गयी हूँ। यदि पाण्डव सोचते हैं कि मैं उनके प्रति प्रेम, समर्पण और सेवाभाव के कारण उनके साथ-साथ अपने शरीर का त्याग कर रही हूँ, तो वे अपने इस सत्य के साथ प्रसन्न रहें... मेरे हिस्से का सच मेरा अंतर्मन जानता है कि मैं सखा के बिना नहीं जी

सकती। सखा थे, उनके लिये ही सब करती थी और सहती थी; अब कौन हैं, किसके लिये जिऊँ? इसलिये जब अवसर मिला; केवल अवसर ही नहीं, सम्मानजनक महिमा मंडित अवसर मिला, तो तत्काल निर्णय ले लिया। सारे जीवन पाण्डव मुझे छलते रहे, आज मैं उन्हें छल रही थी... यह छलावा मुझे सुखद लग रहा है। स्वयं को सबसे काटकर अलग कर लिया है... केवल एक लक्ष्य, शरीर का त्याग कर अपनी आत्मा को श्रीकृष्ण, अपने सखा, सबके परम ब्रह्म में विलीन कर देना।

आज मैं एक बार पुनः हस्तिनापुर के राजभवन से बाहर निकल रही थी। लगभग सत्तर वर्ष पूर्व मैं विवाह के बाद अपने पतियों के साथ नई-नवेली वधू के रूप में हस्तिनापुर आयी थी, उस समय मेरे हृदय में अनगिनत भावनाएँ हिलोरे ले रही थीं, मैं कुरुवंश की ज्येष्ठ वधू थी, हस्तिनापुर की भावी साम्राज्ञी। मेरा अंग-प्रत्यंग प्रसन्न था। मैं महाराज धृतराष्ट्र द्वारा भेजे गये उनके राजसी रथ पर बैठी थी। मेरे वस्त्र और आभूषण अद्भुत थे, मेरा शृंगार दिव्य था, राजपथ के दोनों ओर खड़े होकर नागरिक हमारा अभिनंदन कर रहे थे।

दूसरे ही दिन मैं अपने पतियों और माता कुंती के साथ इसी राजभवन से बाहर निकल रही थी... उस समय मैं एक साधारण रथ पर बैठी थी। मन अनेक दुविधाओं से भरा था और एक दिन पूर्व का उत्साह उमंग समाप्त हो गया था। नागरिक आश्चर्यचकित थे।

दूसरी बार लगभग बीस वर्षों बाद मैं कौरवों के निमंत्रण पर हस्तिनापुर अपनी सास व पतियों के साथ आयी थी और दूसरे ही दिन इसी राजभवन के द्वार से निकली थी। इस बार मैं पैदल चल रही थी। मेरे पति, महाराज युधिष्ठिर अपना सर्वस्व जुए में हार गये थे... मेरे केश खुले थे, मेरे शरीर पर कोई आभूषण नहीं था और मैं एक वस्त्रा थी। मेरे पति सिर झुकाये चल रहे थे, किन्तु मेरा मुख क्रोध और अपमान के कारण कठोर था। मैं सिर उठाकर चल रही थी... मेरे नेत्रों में पहले की भाँति कौतूहल नहीं था... था तो एक दृढ़ निश्चय। मैं देख रही थी कि आज भी नगरवासी राजपथ के दोनों ओर खड़े थे। तब भी कोलाहल था, आज भी कोलाहल है, किन्तु आज हर्ष के स्थान पर विषाद था। मैं विशाल जन समूह को देख रही थी और उन्हें दिखाना भी चाह रही थी कि किस प्रकार से इस अन्यायी राजा के राज्य में अपने ही परिवार के लोगों का छल-कपट से सर्वस्व हरण करके उन्हें वनवास दिया जा रहा है।

मैं नहीं चाहती थी कि जन-मानस एक क्षण के लिये भी पाण्डवों के अपमान और अत्याचार को भूले। मैं चाहती थी कि मेरा एक-एक पग उनकी स्मृति-पटल पर अमिट छाप छोड़ जाये, मेरी ही भाँति इस नगर के वासी भी एक क्षण के लिये इस घटना को न भूलें। मैं दीन-हीन होकर नहीं चल रही थी... मेरे दुःख-अपमान के भीतर भी मेरा आत्मविश्वास पूरी दृढ़ता से मेरे साथ चल रहा था। मानों नगरवासियों को संदेश दे रहा हो कि, देखना मैं शीघ्र ही आऊँगी।

शीघ्र तो नहीं तेरह वर्षों के पश्चात मैं लौटकर आयी थी। कह नहीं सकती कि उस समय मेरे भीतर कितना आत्मविश्वास शेष था, किन्तु दुःख अपार था। मैंने अपना सर्वस्व खो कर इस राज्य को पाया था। राज्य सोचकर एक बार पुनः छत्तीस वर्ष पूर्व की पीड़ा उभर आयी। हाँ, मेरे पतियों ने राज्य जीता था, विशाल राजभवन भी जीता था, हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ मिलकर एक विशाल साम्राज्य बन गया था। महाराज युधिष्ठिर शासक बने, किन्तु शासन किस पर करते? वृद्धों, विधवाओं और अबोध शिशुओं पर?

युद्ध के छत्तीस वर्षों बाद आज मैं अंतिम बार हस्तिनापुर के राजभवन के विशाल द्वार से निकल

रही हूँ, कभी न लौट कर आने के लिये। मेरे शरीर पर मोटा सूती वस्त्र था, जैसा कि मेरी वृद्धा दासियाँ पहनती हैं। युद्ध के पश्चात कोई भी आभूषण मैंने धारण नहीं किया, मूल्यवान वस्त्रों को भी त्याग दिया था। मेरे वस्त्र केवल उस सीमा तक मूल्यवान रहते थे, जहाँ तक कि महाराज की मर्यादा बनी रहे। उत्तरा के श्रीहीन हो जाने के पश्चात मेरी सभी सपत्नियों ने भी साधारण और निस्तेज रंगों के वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिये थे। आभूषण और चटक रंग केवल परीक्षित के जीवन में सिमट गये थे।

मैं मुख्य द्वार के बाहर खड़ी थी। आज भी लग रहा है कि बहुत कुछ अनकहा रह जा रहा है। पति मेरे साथ थे, किन्तु उनसे अब मुझे कुछ भी कहना सुनना नहीं था। पीछे छूट रही थी तो सुभद्रा, जिसके प्रति मैं आजीवन अनुदार ही रही। मैं अपनी इस सपत्नी के प्रति उदार हो ही नहीं सकती थी, क्योंकि उसने मेरा सर्वस्व, मेरे पति पार्थ, जिन्हें मैंने जीवन में कभी पाया ही नहीं और जब पाने का अवसर आया तो सुभद्रा ने उन्हें मुझसे छीन लिया था। मैं जानती थी कि सुभद्रा दोषी नहीं है, दोषी हैं पार्थ... किन्तु न जाने क्यों मैं कभी-कभी सुभद्रा के प्रति कठोर हो जाती थी... कारण कदाचित मेरे वे स्वप्न थे जिन्हें मैंने पार्थ को लेकर देखा था। यदि सुभद्रा मेरे अन्य पतियों की पत्नी होती तो मुझे कदापि उससे ईर्ष्या नहीं होती और न ही उसके प्रति मेरा हृदय ही कठोर होता, किन्तु वह पार्थ की पत्नी थी और यही उसका सबसे बड़ा दोष था।

सुभद्रा ने सदा मर्यादा का निर्वाह किया। उसने अपनी ज्येष्ठा और अपने प्रिय भाई की सखी का सदैव सम्मान किया। वह मेरे समक्ष सदैव नम्र बनी रहती और सेवा में तत्पर रहती थी। मैं उसके लिये ज्येष्ठा से अधिक उसके भाई की एकमात्र प्रिय सखी थी। उसे मेरा और सखा का संबंध सदैव स्मरण रहा, किन्तु मैं कभी-कभी स्मरण नहीं रख पाती थी कि सुभद्रा, सखा की छोटी बहन हैं।

युद्ध के पश्चात हम सबने अपनी संतानों को खोया था। खोया तो सभी ने था, किन्तु उस समय मेरा अंतर्मन सुभद्रा से अधिक जुड़ा। उस समय मैं सुभद्रा के समक्ष सब कुछ कहना चाहती थी। सुभद्रा के प्रति जाने-अनजाने में होने वाली उपेक्षा और कठोरता के लिये पश्चाताप प्रकट करना चाहती थी, किन्तु नहीं कर पायी। पता नहीं मेरे भीतर क्या था जो मुझे सुभद्रा के समक्ष अपनी पीड़ा व्यक्त करने से और उसकी पीड़ा से जुड़ने के लिये रोकता रहा। मैं इस संदर्भ में वर्षों पश्चात भी कभी अपना मुँह नहीं खोल पायी।

उत्तरा की आँखों में मुझे एक भय दिखाई देता था... वह नन्हें परीक्षित को अपनी छाती से चिपकाये रहती थी; उसे न जाने कितनी काल्पनिक चिन्ताएँ घेर रहती थीं, जैसे सब कुछ खोने के बाद जो बचा है, कहीं वह भी न खो जाये। परीक्षित बड़ा होता रहा। मैं भी उसे लाड़-दुलार करती थी, उसे अपने प्राणों से भी अधिक चाहती थी। कभी-कभी तो मुझे लगता था कि मैं भीतर ही भीतर अपना ऋण उतार रही थी। अब मैं उत्तरा और सुभद्रा को प्रसन्न देखना चाहती थी। मैं अपने दुःख को कुछ समय के लिए दबाकर उत्तरा को साहसी बनाने का प्रयास भी करती थी और देख रही थी कि उत्तरा धीरे-धीरे दुःख से उबर रही है। वह साहसी थी; उसका साहस मुझे अच्छा लगता था, क्योंकि उसे परीक्षित के लालन-पालन के लिये साहस की आवश्यकता थी। किन्तु मैं पूरी तरह से संतुष्ट नहीं थी... सबके लाड़-दुलार के कारण परीक्षित उदण्ड और लापरवाह होता जा रहा था। आज मुझे सब कुछ त्यागने पर भी उसकी चिन्ता हो रही थी, क्योंकि उत्तरा में उसे नियंत्रित करने की वह शक्ति नहीं थी, जो माता कुंती में थी।

परीक्षित पर पाण्डवों की भाँति दुःख भी तो नहीं पड़ा था, जो अपना अस्तित्व बचाये रखने के

लिये माँ के अनुशासन में रहता। उत्तरा का दण्ड भी मातामहियों के लाड़-प्यार के बीच निरर्थक हो जाता था। कभी-कभी तो वह अपनी माँ की शिकायत मुझसे करता तो मैं उसके प्रति कठोर हो जाती थी; किन्तु सुभद्रा नहीं हो पाती थी। कभी-कभी मुझे सुभद्रा और उत्तरा की आँखों में परीक्षित की उदण्डता की पीड़ा भी दिखाई देती थी।

राजभवन से निकलते समय परीक्षित मुझसे लिपट गया। उसकी आँखों में आँसू थे, बाणी अवरुद्ध थी “मातामही! आप भी चली जायेंगी तो मुझे आवश्यक दिशा-निर्देश कौन देगा?”

मैंने उत्तर में कुछ नहीं कहा। मैं जानती थी कि एक सज्जन पुत्र का पिता होने के पश्चात भी वह उतना गंभीर नहीं है जितना कि उसे होना चाहिये; इसके विपरीत उसके पुत्र जनमेजय में मुझे अधिक प्रतिभा दिखाई देती थी। मैंने उसे धैर्य देने के लिये उसके सिर पर एक बार हाथ फिरा दिया। मेरे पति पार्थ, कल तक मुझे समझाते रहे कि मेरे कारण उनका मार्ग अधिक बाधायुक्त होगा... यदि मैं धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ तो हस्तिनापुर में ही मैं अपनी इच्छा के अनुसार जीवन-यापन कर सकती हूँ। उनके बार बार कहने पर भी मैं मौन रही। मेरा मौन मेरे अटल निर्णय का उत्तर था।

महाप्रस्थान के लिये निकलते समय राजभवन महिलाओं के रुदन से भर गया था। मेरी सपत्नियों और उत्तरा के साथ-साथ राजभवन के सभी दास, दासियाँ रो रहे थे। मैं जानती थी, मेरी सपत्नियाँ अपने पतियों से सदा के लिए बिछुड़ रही थीं, उनका हृदय हाहाकार कर रहा था। मैं आज सती की महिमा से मंडित, अपने पतियों के साथ स्वर्गारोहण कर रही हूँ, पर सुख-दुःख से परे हूँ।

स्त्रियों का रुदन सुनकर क्षण भर के लिए मेरे नेत्रों में भी आँसू आ गये। सारे जीवन की मोह-माया एक क्षण में समाप्त नहीं हो सकती थी, किन्तु मैंने आँसुओं को वहीं दबा दिया था। यद्यपि मेरा अंतर्मन रो रहा था, किन्तु मैं ऊपर से मौन रही। मैं हिमखण्डों के बीच अपने शरीर को त्यागने के लिये जा रही थी इस कारण से मैंने अपनी भावनाओं को भी हिमखण्डों की ही भाँति शीतल और कठोर कर लिया था।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा था, “मोह, माया, अहंकार, लोभ सब त्याग दो; इनको साथ लेकर स्वर्ग नहीं प्राप्त किया जा सकता है।” महाराज युधिष्ठिर ने संन्यासियों के साथ चलने की योजना बनायी थी। हस्तिनापुर में शीत ऋतु समाप्त होते ही बंदी विशाल के दर्शन के लिये जाने वाले श्रद्धालुओं और संन्यासियों का झुंड चल पड़ता था।

संन्यासियों के जाने का मार्ग और उनके विश्राम के स्थल निश्चित थे। हमने महाप्रस्थान के नियम के अनुसार अपने साथ एक-एक जोड़ी वस्त्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिया था। महाराज ने नकुल और सहदेव से कहा कि शस्त्र त्याग दो, शस्त्र हमारे अहंकार के प्रतीक हैं। उन्होंने अपने-अपने शस्त्र हस्तिनापुर में ही छोड़ दिये थे। अर्जुन में अब गांडीव को स्पर्श करने का साहस नहीं था; उन्होंने अग्निदेव के आदेश से उसे वरुण देव को वापस करने के लिये जल में विसर्जित कर दिया था, किन्तु भीमसेन अपनी गदा कंधे पर उठाये ही निकले थे, महाराज ने उनसे कुछ नहीं कहा था, कदाचित्त उन्हें लगा हो कि स्वर्ग पहुँचने के पहले आने वाली बाधाओं के निराकरण में गदा सहायक रहेगी।

सब कुछ पहले ही त्याग दिया था... हस्तिनापुर से निकलते समय सामाजिक संबंधों को भी त्याग दिया और किसी के लिये मोह-माया भीतर शेष ही नहीं थी जिसको मैं त्यागती? नहीं त्याग

पायी तो सखा की स्मृतियों को, उनके चिन्हों को, कोमल भावनाओं को, जिनमें एक रत्ती का भी अंतर नहीं आया था और इन्हीं को लेकर मैं इस महाप्रस्थान के लिये निकली थी। इस समय मेरे साथ हैं मेरे अंतर्मन की अनुभूतियों का संग्रह, मेरी कविताओं की पुस्तिका। इस पुस्तिका ने मेरे साथ लम्बा जीवन जिया है... केवल मेरे साथ कहना अनुचित होगा; मेरे और सखा के साथ कहूँ तो अधिक उचित होगा। इनमें सखा को लक्ष्य करके लिखी गयी अनगिनत कविताएँ हैं; मेरे प्रेम, स्वाभिमान और दुःख की अनुभूतियाँ हैं... यदि कहूँ कि यह पुस्तिका मेरे अंतर्जीवन का साक्ष्य है तो असत्य नहीं होगा। दूसरी वस्तु थी सखा की प्रिय वंशी, जिसे सखा ने मुझे उपहार-स्वरूप दिया था... तब से मैंने उसे अपने सखा की भाँति सँभालकर रखा था, इस विश्वास के साथ, कि कभी सखा मुझे अपनी भुवन मोहिनी स्वर लहरी सुनायेंगे... और तीसरी वस्तु थी सखा का पीताम्बर, जिसे मैंने वर्षों पूर्व जानबूझ कर अपने पास रख लिया था।

सखा के पीताम्बर को पार्थ ने देखा... उसे पहचानकर एक दृष्टि मुझ पर डाली। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, मुझे कोई संकोच भी नहीं था। सखा मेरे थे, उनकी स्मृतियाँ मेरी, उनका भेंट उपहार मेरा था। मुझ पर तो सबका अधिकार था, किन्तु मेरी यह स्वतंत्रता मेरी अपनी थी, नितांत व्यक्तिगत। मेरी इस निजता में किसी का भी प्रवेश निषिद्ध है, चाहे वह मेरे पति ही क्यों न हों।

* * *

सखा! आप चार दिन वन में गाएँ चराकर बनवारी बन गये और मैं बारह वर्षों तक वन में पतियों से मिलने वाली यंत्रणा और अपमान की दावाग्नि में जलती रही, किसी ने भी मुझे वनवासिनी नहीं कहा; आपने भी नहीं। अब मेरा अंत देखो, निर्जन वन प्रदेश में केवल प्रस्तर शिलाएँ हैं और सामने है हिमाच्छादित पर्वत शिखर; मेरे पतियों का गंतव्य, जिसकी ओर वे अपनी पत्नी के बंधन से मुक्त होकर बढ़ते जा रहे हैं। उनके लिये अब मेरा कोई अर्थ नहीं है। मैं जीवन भर पाँचों के लिये जीती रही, अपने आपको पाँच भागों में विभक्त कर दिया... वह दिन और आज का दिन, मैं कभी भी स्वयं को समूची नहीं जी पायी, टुकड़ों-टुकड़ों में जीती रही, टुकड़ों टुकड़ों में साँस लेती रही, किन्तु उनसे मिले दुःख और अपमान को मैंने समूचा जिया है। उसे टुकड़ों में नहीं बाँट पायी कि मन का एक टुकड़ा पीड़ा भोग ले और शेष चारों टुकड़े सुख भोगते रहें।

कहीं भी जीवन के लक्षण नहीं हैं; न पशु और न ही आकाश में विचरते पक्षी... किन्तु आप हैं कहाँ मेरा अंत देखने के लिये? आप तो पहले ही यहाँ से चले गये। वहाँ आप कैसे हैं, कैसा है वह आपका नया संसार, वहाँ तो प्रसन्न होंगे न? हाँ प्रसन्न ही होंगे; वहाँ आपसे हठ करने के लिये आपके ऊपर क्रोध करने के लिये आपको दुःखी करने के लिये मैं जो नहीं हूँ।

मुक्ति तो सदैव सुखद ही होती है। सखा! मैं चाहती थी कि आपसे पहले इस संसार को छोड़ दूँ, किन्तु हुआ विपरीत। यही मेरा भाग्य रहा है; जो चाहा वह कभी नहीं मिला, उसके विपरीत जो कुछ भी मिला वह और भी दुःखद और दुःसह था।

एक बात कहूँ सखा! वह पुस्तिका जिसे मैंने आपके प्रथम दर्शन के पश्चात् लिखना आरम्भ किया था और आपकी मुरली को मैंने अपने वक्षस्थल पर रखकर आपके पीताम्बर को ओढ़ लिया है। तीव्र हवा आपके पीताम्बर को व पुस्तिका के पृष्ठों को उड़ा देना चाहती है, किन्तु मैंने उसे कसकर पकड़ रखा है। इस पुस्तिका, वंशी और पीताम्बर का स्पर्श आपके स्पर्श का आभास दे रहा है, लग रहा है कि आप मेरे पास ही बैठे हैं। किन्तु आप हैं कहाँ? इस निर्जन प्रदेश में मैं अकेली क्लांत, भयानक पीड़ा सहन कर रही हूँ। प्राण कब और कैसे निकलेंगे, यह भी नहीं पता।

प्यास से कंठ सूख रहा है, जल के एक बूँद की भी आशा नहीं है। सूर्यदेव प्रचण्ड होकर तप रहे हैं, मैं जिस शिला पर पड़ी हूँ वह भी तप्त हो गयी है। प्रतीक्षा कर रही हूँ कि कोई हिंसक पशु आकर अपनी भूख प्यास मिटा ले तो इस पीड़ा से मुक्ति मिले।

युग परिवर्तित हो रहा है। आपके निर्वाण के साथ ही द्वापर युग समाप्त हो गया और परीक्षित के राज्याभिषेक के साथ ही कलियुग ने इस धरा को अपने चरण से स्पर्श कर दिया है। सखा! इस अंतिम क्षण में आपसे एक प्रार्थना है... सखा नहीं, प्रभु! सखा तो आप मेरे थे, इस संसार के तो आप प्रभु हैं; इस क्षण मैं आपकी सखी नहीं एक अकिंचन भक्त की भाँति आपसे प्रार्थना कर रही हूँ।

प्रभु! इस सृष्टि के सृजक पालक और संहारक आप ही हैं और भविष्य में भी आप ही होंगे; आपने मानव रूप में सब कुछ अपनी आँखों से देखा है और कुछ अंशों तक भोगा भी है, इसलिये प्रभु, इस धरा पर जो कुछ भी अकल्याणकारी है, उन बीजों को मानव के हृदय से नष्ट कर दो ताकि आगामी सृष्टि में ऐसा कोई विषवृक्ष न उगे... किसी को भी कोई पीड़ा, रोग और शोक न हो... हाँ, संतान का शोक शत्रु को भी न देना। प्रभु! किसी को भी प्रकृति के नियम के विरुद्ध जन्म न देना और न ही किसी को यह शक्ति कि वह यज्ञ तप से किसी को उत्पन्न कर सके, जैसे कि मुझे और द्युम्न को पैदा किया गया था।

प्रभु! किसी जीव को मेरी भाँति दुर्मरण भी मत देना। जीव, जीवन का भोग करके नये शरीर की कामना करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक पुराने शरीर का त्याग करे। प्रभु! आपने ही तो पार्थ से कहा था कि जैसे आत्मा पुराने शरीर को त्याग...

प्रभु! आप इस पृथ्वी को इतनी सुंदर कर दें, जिस पर मानव बार-बार जन्म लेना चाहे; इस धरा को इतना सुखी कर दें कि लोक मानस से स्वर्ग की अवधारणा ही समाप्त हो जाये; प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्तमान और अगले जन्म के लिये इसी धरा को स्वर्ग बनाता रहे।

किसी स्त्री को मेरे जैसा अपमानित और लांछित जीवन भी मत देना प्रभु! किसी भी स्त्री को एक से अधिक पुरुष की पत्नी मत बनाना और न ही किसी पुरुष को एक से अधिक स्त्री का पति। किसी पुरुष को भी यह अधिकार मत देना प्रभु कि वह अपनी पत्नी को वस्तु समझकर दाँव पर लगा सके।

प्रभु! ऐसा समाज बनाना, जहाँ स्त्री किसी के अधीन न रहे, उसकी सत्ता स्वतंत्र रहे... स्वतंत्रता का अर्थ मैं स्वच्छंदता नहीं मानती हूँ, समानता मानती हूँ और ऐसे समाज में मुझे स्त्री के रूप में जन्म अवश्य देना, मैं स्त्री जीवन को जीना चाहती हूँ।

हाँ प्रभु! मैं यह नहीं कहती कि स्त्री को रूप मत देना; रूपवती अवश्य बनाना, किन्तु पुरुष में अपनी लालसा को संयमित रखने की क्षमता भी देना। अगले जन्मों में मुझे रूपसी मत बनाना, बस इतना सौन्दर्य देना कि मेरी संतानें मेरे मुख में अपना संपूर्ण संसार प्राप्त कर लें... मेरे सौम्य मुख को देखकर मेरे पति अपनी दिन भर की थकान भूल जायें।

मुझे बुद्धिमती भी मत बनाना, केवल एक स्नेहमयी माँ और प्राणप्रिया पत्नी भर बनाना।

प्रभु! मुझे क्रोध प्रतिशोध मत देना, पर क्षमा अवश्य देना; हठ नहीं देना, उदारता और सरलता देना; धन ऐश्वर्य मत देना प्रभु, किन्तु सुख देना, विशाल साम्राज्य की साम्राज्ञी मत बनाना, केवल एक छोटे से गृह की गृहिणी बनाना। हाँ, मेरे केशों में भी कोई सौन्दर्य मत देना, इन्हें अतिसाधारण बनाना, जिससे किसी को आकर्षण या ईर्ष्या से उन्हें स्पर्श करने की कामना न

उठे।

प्रभु! आगामी युग में इस अभागी कृष्णा की जीवन-गाथा को इतिहास और आख्यानों के रूप में संसार में अवश्य प्रकट करना। मुझे और समस्त मानव को इतनी सहृदयता अवश्य देना कि मैं अपने जीवन का आख्यान पढ़कर अपने पूर्व जन्म की पीड़ा का अनुभव कर सकूँ और वह पीड़ा मेरी आँखों से अश्रु बनकर झर जाये। हाँ प्रभो! विचित्र है न मेरी इच्छा? इस जन्म में मैं अपने दुर्भाग्य पर विधाता से प्रश्न नहीं कर सकी, क्योंकि मेरा आविर्भाव ही किसी की 'इच्छा' के कारण हुआ था और मैं कुछ लोगों के लिये 'भिक्षा' की 'वस्तु' थी। निर्जीव वस्तुओं को प्रश्न करने का अधिकार नहीं होता है... प्रभु! अगले जन्म में मुझे मानवी बनाना, वस्तु नहीं।

और सबसे अंत में प्रभु! अगले जन्म में मुझे सच्चा प्रेम देना... मैं सारे जीवन प्रेम की पिपासा में भटकती रही; आज इस जीवन का अंत हो रहा है, अतः यह कामना भी मेरी आत्मा के साथ ही इस शरीर से विदा होगी।

सुनती थी कि पूर्व जन्म के कुछ संस्कार अगले जन्मों में भी रहते हैं। मेरी इस प्रेम-पिपासा को अगले जन्म में तृप्त करना... मैं इतना प्रेम चाहती हूँ कि फिर कोई इच्छा ही शेष न रहे। सखा, एक प्रार्थना और है; कलियुग के अंत में जब आप पुनः अवतार लें तो मुझे भी अपने साथ जन्म दें; मेरे साथ आप किस प्रकार का संबंध रखें यह आपकी इच्छा है, किन्तु आपकी इच्छा के बाद मेरी इच्छा है कि मैं पुनः आपकी सखी बनूँ... किन्तु सखा! पूर्व जन्म का केवल इतना ही संस्कार देना कि मुझे आभास हो कि मैं जन्म-जन्मान्तर से आपकी सखी हूँ; मेरे अभिशप्त जीवन की रचमात्र छाया भी मेरे आगामी जीवन में न पड़े, दुर्भाग्य की एक रेखा भी न दिखाई दे।

मेरे हृदय में अपने लिये अगाध प्रेम देना और मेरी प्रेम-तपस्या का फल भी। प्रेम की पीड़ा न देना प्रभु! मैं प्रेम को एक बार जी भर कर पूरी संतुष्टि और तृप्ति के साथ जीना चाहती हूँ, कि पूरी तरह से उसके प्रेम में मग्न होकर कैसा लगेगा यह जान सकूँ।

सखा! मैं आपके ब्रह्म-स्वरूप को कुछ-कुछ जानती थी; पार्थ के बताने से पूर्व भी मुझे कई बार इसका आभास भी हुआ था, किन्तु मैं आपके निकट सखी की भाँति रहना चाहती थी। परमात्मा और मेरे शरीर के भीतर की आत्मा का जो अंतर था वह मुझे स्वीकार नहीं था, वह अंतर मुझे आपसे दूर करता था। सखा! मैं तो आपके निकट रहना चाहती थी, इस कारण मेरे हृदय में आपका सखा रूप प्रधान रहा और ब्रह्म का रूप गौण हो गया। आपकी महिमामयी सत्ता मुझे अभिभूत करती थी, किन्तु अपने सखा के रूप में मैं आपसे प्रेम करती थी। आपके दोनों ही रूप मेरे हृदय में विराजमान हैं। बस इस जगत के परमब्रह्म को मैंने अपना सखा बना लिया था।

अब तो चेतना लुप्त होने लगी है। सूर्य का प्रचण्ड ताप कम हो गया है और गोधूली की बेला उतर आयी है। ये कैसा मधुर संगीत सुनाई दे रहा है! यथार्थ है या मेरा मतिभ्रम? मधुर वंशी की धुन चारों दिशाओं में गँज रही है, क्या वन क्षेत्र से गडकों का समूह घर लौट रहा है? किन्तु इस विस्तृत भूखण्ड में मुझे कहीं भी जीवन नहीं दिखाई दे रहा था। न पशु न पक्षी; फिर कौन मानव वंशी बजा रहा है? वंशी की धुन निकट आती जा रही है। एकदम मेरे निकट। मेरे क्लान्त नेत्र जरा से खुले, आश्चर्य! सखा, आप खड़े वंशी बजा रहे हैं... मैं मरते-मरते जी उठी। मुझे भली भाँति याद है कि मैंने एक बार सखा से वंशी बजाकर सुनाने का अनुरोध किया था और सखा ने हँसकर कहा था, “सुनाऊँगा... कभी केवल तुम्हारे लिये बजाऊँगा, यह वचन है मेरा।”

अंतःकरण में छुपी यही कामना मुझे हस्तिनापुर के राजभवन से खींच लायी थी। मैं पतियों के

साथ सशरीर स्वर्गारोहण के लिये निकली ही नहीं थी। जितनी पीड़ा यंत्रणा और अपमान मैंने पतियों की छत्र छाया में सहा हैं, उनसे अलग होकर उसका शतांश दुःख भी मुझे नहीं होता।

मैं तो सखा आपके बिना जी नहीं पा रही थी और हस्तिनापुर को त्याग कर पाण्डवों के साथ चली आयी केवल आपका अनुसरण करने के लिये। सारा जीवन पाण्डव मुझे छलते रहे, अपनी सुविधा के लिये मेरा उपयोग और उपभोग करते रहे; इस बार मैंने किया था अपने लिये उनका उपयोग... मैंने उन्हें छला था अपनी मुक्ति के लिये। हाँ सखा! आपके बिना जीवन से मुक्ति के लिये... आज मैं जीत गयी और पूर्ण हो गयी।

सखा! आपको हम दोनों का भविष्य ज्ञात था, इसलिये इस दिन के लिये अपने वचन को सँभालकर रखा था और आज वचन का निर्वाह करने के लिये मेरे निकट आये हैं? मैं उठकर बैठ गयी। मेरा शरीर इतना स्वस्थ और भारहीन कैसे हो गया? मैं नई चेतना और स्फूर्ति से भर गई थी। सखा मुझे देखते हुए मुस्कराकर वंशी बजा रहे हैं। मैंने हाथ बढ़ा कर सखा को प्रणाम करना चाहा, किन्तु नहीं बढ़ा पायी। सखा ने मुझे अपने हाथों के सहारे उठाकर खड़ा कर दिया। मेरे मस्तिष्क ने मुझे सारे बंधनों से मुक्त कर दिया और मैंने सखा के विशाल वक्षस्थल पर अपना मस्तक रख दिया और सखा की भुजाओं ने मुझे घेर लिया। मैं शांत खड़ी रही... अब कोई इच्छा शेष नहीं है, न जीने की और न ही मृत्यु के पश्चात जन्म या मोक्ष की। बस मैं ऐसे ही खड़ी रहना चाहती हूँ, युगों-युगों तक।

मुझे लगने लगा कि मैं कृष्ण के अधरों से लगी मुरली बन गयी हूँ। मेरे अंग-अंग से स्वर लहरी प्रस्फुटित हो रही हैं और धीरे धीरे मेरे नेत्र स्वतः बन्द होने लगे।